पं. अरुणविजय म. विरचित

# आध्यात्मिक विकास यात्रा

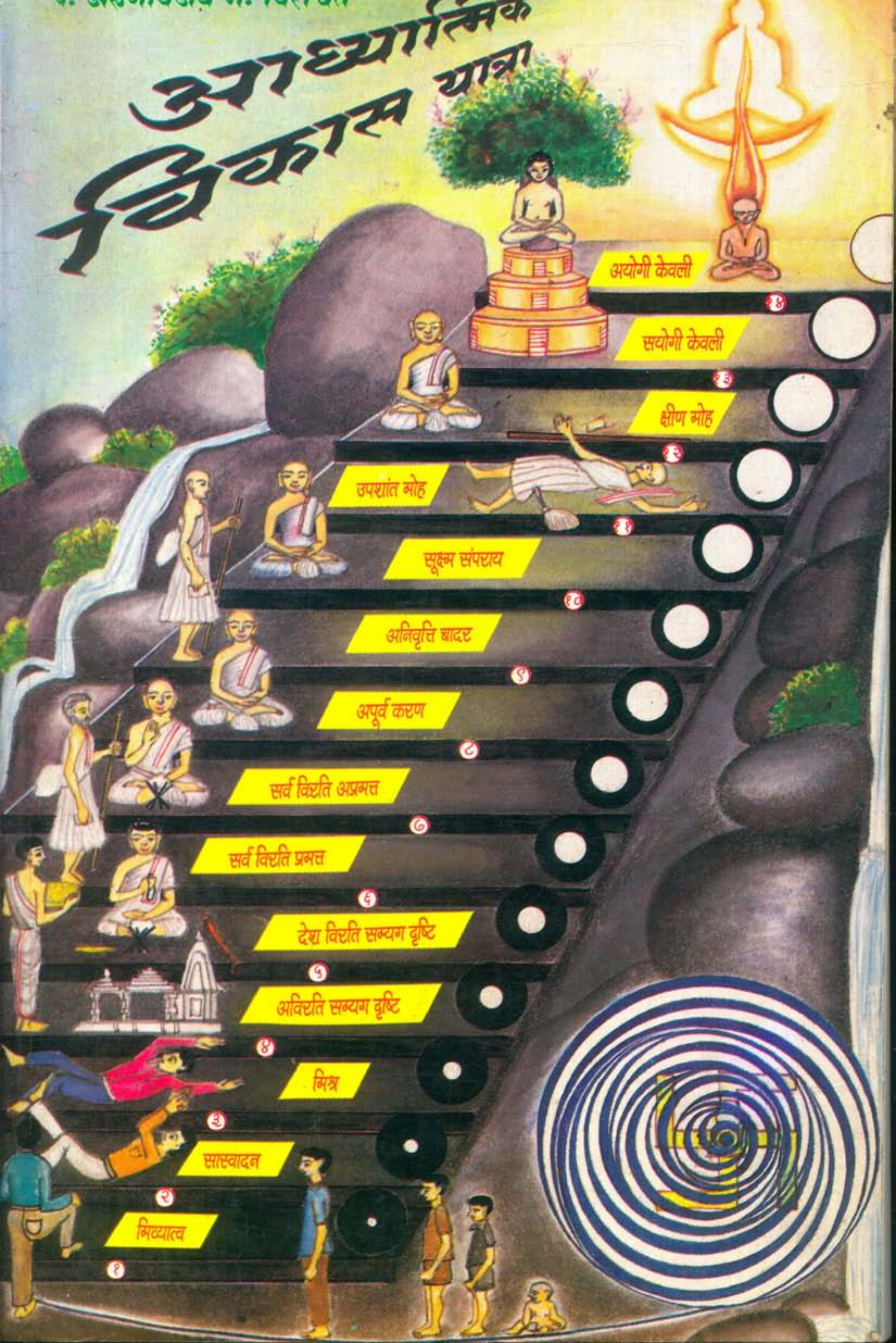

॥ श्री ॥

*पं. अरुणविजय म. विरचित . . .*

# आध्यात्मिक विकास यात्रा

## प्रथम भाग

*पं. अरुणविजय म. विरचित...*

**आध्यात्मिक विकास यात्रा — प्रथम भाग**

© पं. अरुणविजय म.

प्रथम संस्करण : १९९६

*मूल्य :*

*प्रकाशक :*

ट्रस्टी मंडल

**श्री वासुपूज्य स्वामी जैन श्वेतांबर मूर्तिपूजक संघ**

अक्कीपेठ, बेंगलोर

*अक्षर रचना एवं मुद्रण :*

**इम्प्रिट्स्**

**Imprints**
51, First Main, Tata Silk Farm
Basavanagudi, Bangalore 560 004
Phone : 080 - 662 5443

# प्रेरक की मनोभावना

## (एडवोकेट भंवरलाल बैद का निवेदन)

पूज्य पिताजी स्व. मोतीलालजी बैद राजस्थान में चूरु जिल्ला के राजलदेसर गांव के उच्चतम व संपन्न तेरापंथी जैन परिवार के सदस्य थे। चूरु के ही संपन्न घराने के स्व. गुरमुखरामजी कोठारी की संस्कारी सुपुत्री एवं स्व. तोलारामजी कोठारी की बहन स्व. पानी देवी के साथ उनका पाणिग्रहण हुआ था। पू. पिताजी एक कर्मठ कार्यकर्ता और कुशल व्यापारी थे। उनकी धार्मिक वृत्ति काफी ऊँची थी। लेकिन् आयुष्य काल अल्प था। अतः मात्र ३५ वर्ष की अल्पायु में स्वर्गवासी बन गए।

पू. मातुश्री अच्छी समझदार एवं हिम्मतवाली थी। वैसे उन्हें "बिना पगडी का मोट्यार" कहते थे। उनका समस्त जीवन त्याग-तपश्चर्यादि आध्यात्मिक विकास करने की साधना में ही बीता। संवत् २०१८ आषाढ वदि ६ के दिन हमें छोडकर चल बसी। विश्वसनीय सूत्रों का कहना है कि . . . पू. पिताजी, माताजी एवं स्व. तोलारामजी कोठारी विशेष उच्चकोटि के देव बने हैं। और वे अपनी आध्यात्मिक साधना में लीन हैं।

मेरी धर्मपत्नी लाडदेवी सरल एवं शांत स्वभावी थी। उसकी भी त्याग, तपश्चर्या एवं आत्मसाधना में काफी अच्छी रस–रुचि थी। पापभीरु आत्मा थी। मेरे साथ ७३ वर्षों का साथ निभाकर दि. ३० अक्टुबर १९९३ के दिन सबको छोडकर चली गई। ठीक इस निधन के डेढ साल बाद मेरे ज्येष्ठ पुत्र डुंगरमल बैद की धर्मपत्नी श्रीमति कानकंवर देवी का भी मात्र ५८ वर्ष की उम्र में दि २४ अप्रेल १९९४ को निधन हो गया। वह भी स्वर्ग सिधार गई। इसने भी अपने जीवन काल में त्याग–तपश्चर्या–स्वाध्याय आदि धर्माराधना में काफी अच्छी आराधना की थी।

मैं भी आज ८६ वर्ष का हो चुका हूँ। जीवन में वकालात के व्यवसाय में रहने के बावजूद भी ज्ञान–स्वाध्याय–तप–त्यागादि करता रहा। गुणस्थान के विषय में मुझे पहले से काफी जिज्ञासा थी। आत्मा और कर्म के विषय में काफी रुचि थी। जैन धर्म के १४ गुणस्थान का विषय काफी ज्यादा सुंदर रुचिकर एवं महत्वपूर्ण लग रहा था। क्योंकि संसार से लेकर मोक्ष प्राप्ति तक की सारी प्रक्रिया इसमें समायी है। धर्मशास्त्रों का केन्द्रीभूत विषय भी यही है। गुणस्थान के विषय का साहित्य प्राप्त करने के लिए मैं सतत खोज करता रहा। लेकिन् सभी संप्रदायों में गुणस्थान विषयक साहित्य अल्पप्राय ही दिखाई

दिया । एक अच्छे ऊँचे स्तर की पुस्तक का अभाव लगा कि जो जन साधारण के लिए उपयोगी हो । बस, अचानक ही मेरे मन में उत्कट भावना जगी कि... मेरे माता—पिता, पत्नी—पुत्रवधु आदि आत्मार्थी व्यक्तियों की पुण्यस्मृती में गुणस्थान विषयक अच्छी सर्वभोग्य पुस्तक प्रकाशित करूँ—कराऊँ । जिससे सर्वसाधारण लोगों की समझ में आए और सभी विशेष लाभ उठा सकें ।

बस, संकल्प ने बल दिया और मैं वृद्धावस्था में भी इसकी शोध में निकल पडा । मैं कई विद्वान संतों से मिला और गुणस्थानविषयक पुस्तक लिखने के लिए निवेदन किया । लेकिन अनेकों ने अपनी व्यस्तता के कारण असमर्थता व्यक्त की । अचानक तपागच्छ के संत पंन्यास श्री अरुणविजयजी महाराज द्वारा लिखित पुस्तक "कर्म की गति न्यारी" मुझे प्राप्त हुई । मैने पढी । कर्म का विषय बडा ही रुचिकर लगा । लेखन शैली, भाषा की सरलता, तथा चित्रोंसहित समझाने की विशिष्ट पद्धति से मेरा मन बहुत प्रभावित हुआ । अतः ऐसे विद्वान गुणस्थान विषय पर अच्छा लिख सकेंगे... मेरी मनोकामना पूर्ण कर सकेंगे, ऐसी धारणा के साथ लेखक तपागच्छीय संत पंन्यासजी श्री अरुणविजयजी महाराज की शोध की । ढूंढते—ढूंढते आखिर पता लगाया और हम बेंगलोर पहुँचे । पूज्यश्री विहार कर निकल गए थे । एक छोटे गांव में संपर्क किया । पूज्यश्री को निवेदन किया— "गुणस्थान" के विषय पर लेखन करने के लिए । पूज्यश्री बहुत प्रसन्न हुए । और लेखन करने के लिए मुझे स्वीकृति प्रदान की । इससे मेरा भी मन मयूर नाच उठा था । लेकिन पूज्यश्री विहार में लम्बे प्रवास में थे, काफी व्यस्त भी थे । अतः चाहते हुए भी नहीं लिख पाए । काफी लम्बा विहार करके पूज्यश्री मद्रास पधारे । वहाँ पुनः हम गए । पूज्यश्री ने हमें पू. अध्यात्मयोगी आचार्यश्री कलापूर्णसूरि महाराज के पास पत्र लिखकर भेजा । पूज्यश्री का निवेदन था कि इस गहन शास्त्रीय विषय को पू. आचार्यश्री ही लिखें तो अच्छा होगा । लेकिन पू. आचार्यश्री ने पुनः पंन्यासजी अरुणविजयजी महाराज को ही आज्ञा फरमायी कि आप ही लिखो । पूज्यश्री पंन्यासजी पुनः लम्बा विहार करके बेंगलोर दूसरा चातुर्मास करने पधारे । वहाँ जून १९९४ में इस पुस्तक को लिखने का कार्य हाथ में लिया । यद्यपि सेंकडों शासन के कार्यों की जिम्मेदारी सिर पर होते हुए भी... प्रातः ब्राह्म मुहूर्त में पूज्यश्री नियमित ग्रन्थ लेखन करते गए और उसकी प्रतिलिपि हमें भिजवाते रहे । मुझे भी रोज का स्वाध्याय मिलता था । आत्मा में बडी शान्ति होती थी ।

बेंगलोर में पूज्यश्री लगभग प्रथम भाग लिख पाए और इतने में पुनः विहार करने का अवसर आ गया । लगभग २५०० कि. मी. लम्बा विहार करके बेंगलोर से पूज्यश्री

को राजस्थान आना पड़ा। दूसरा–तीसरा भाग पूज्यश्री ने बिजापूर के चातुर्मास में लिखा। नियमित पढते हुए मैं समझता भी जाता था। प्रश्नादि पूछकर समाधान भी पाता था। आत्मसंतुष्टि होती थी। बीच बीच में यमराज भी आकर द्वार खटखटाता रहा। लेकिन सौभाग्य से आयुष्य बलवान रहा... और पुण्ययोग से ग्रन्थलेखन की समाप्ति हुई। तीन भाग में ग्रन्थ पूर्ण हुआ। मुझे बेहद आनन्द–संतोष हुआ।

सचमुच, मैं पूज्य पंन्यासजी महाराज जैसे विद्वान सन्त का ऋणी हूँ। सदा ही उनका बहुत बडा उपकार मानता हूँ। मेरे ऊपर महती करके अनेकों पर उपकार किया है। इनका जितना उपकार मैं मानूँ उतना कम ही है। इस ८६ वर्ष की दीर्घ वृद्धावस्था में आशा नहीं थी कि मनोभावना पूरी होगी। लेकिन पू. गुरुदेव श्री ने मेरी मनोभावना पूरी की। मैं धन्य धन्य बन गया। उनकी इस असीम कृपा से मैं संतुष्ट हो गया। ऐसी अत्यन्त उपयोगी–आवश्यक पुस्तक तैयार हुई। पू. गुरुदेव ने इस ग्रन्थ में शास्त्रों–आगमों आदि का आधार लेते हुए गहन–कठिन पदार्थों को सरलता से समझाया है। चित्रों के साथ समझाया है। तर्क युक्ति के साथ बुद्धिगम्य बनाया है। सरल भाषा में शास्त्रीय शैली से समझाते हुए... निगोदावस्था से मोक्षप्राप्ति तक का आत्मा का विकास क्रम–उत्थान की प्रक्रिया दर्शायी है। अतः मुझे पूर्ण विश्वास है कि... सर्वसाधारण जन को भी आत्मा का विकास साधते हुए ऊपर उठने–ऊपर चढने के लिए काफी अच्छी सहायता मिलेगी। आध्यात्मिक लाभ होगा।

मेरे सहयोगी मित्र श्री अजितकुमारजी पारख एवं श्री श्रीचंदजी छाजेड, बेंगलोर निवासी श्री तिलोकचन्दजी को भी मैं धन्यवाद दिये बिना नहीं रह सकता, जिन्होंने समय–समय मुझे साथ दिया है।

साथ ही श्री वासुपूज्य जैन श्वेताम्बर मूर्तिपूजक संघ, अक्कीपेठ, बेंगलोर के समस्त ट्रस्टीगण का भी मैं आभार व्यक्त करता हूँ कि जिन्होंने बडा कष्ट उठाकर भी इस पुस्तक की संपूर्ण मुद्रंण व्यवस्था संभाली और पूरी पुस्तक तीनों भाग सहित तैयार करके दी।

पाठकगण को मैं यह यकीन दिलाना चाहता हूँ कि इस पुस्तक के प्रकाशन के पीछे नामना का अंशमात्र भी मोह नहीं है मुझे। मेरी एक ही हार्दिक इच्छा है कि... वाचकवर्ग इस पुस्तक के तीनों भागों का आदि से अन्त तक ३–४ बार अध्ययन करें। यह कहानी–किस्से की पुस्तक नहीं है। शास्त्र–सिद्धान्त की गहन पुस्तक है। अतः कृपया चिन्तन–मनन करें। गहराई को समझकर सर्वज्ञ के सिद्धान्तों के रहस्यों का खजाना पाएँ।

और साथ ही साथ अपने जीवन में उतारकर चरितार्थ करें । स्वयं अपनी आत्मा का विकास साधें । जन-जन में आध्यात्मिक भावना की जागृति लाएं । समस्त आत्माओं का कल्याण हो । बस, इस उद्देश्यपूर्ति से मुझे बडी खुशी होगी । मुझे सफलता प्राप्त होगी । मेरा यह भी नम्र निवेदन है कि... पुस्तक लेखन में कहीं भी त्रुटी रही हो, कहीं सुधार की आवश्यकता हो, तो विद्वान वर्ग जरूर सुझाव देने का रखें . . . यथासंभव सुधारणा होगी । सभी आध्यात्मिक विकास साधें इसी अन्तर अभिलाषा के साथ . . . . .

भवदीय

कलकत्ता

**भंवरलाल बैद**

एडवोकेट

# प्रकाशकीय निवेदन . .

विज्ञान का यह काल यन्त्रयुग के रूप में पहचाना जाता है । कई दिशाओं में विस्तरते इस विज्ञान ने सेंकडों किस्म के यन्त्र मानव जाति समक्ष सुलभ कराए हैं । यदि मानव उनका दुरुपयोग न करे और सही सदुपयोग करे तो इन यन्त्रोंद्वारा अनेक गुना उपकार भी कर सकता है । मुद्रक यन्त्रों का उदाहरण लीजिए । आज मुद्रण-पद्धति का सारा स्वरूप ही बदल गया है । विजाणु युग में और बेहतरीन मुद्रण पद्धतियाँ आई हैं । व्यक्ति के बोलते ही समूचे विश्व में लेखन सामग्री फैलाई जा सकती है ।

योगानुयोग पूज्य पंन्यास प्रवर श्री अरुणविजयजी गणिवर्य म. सा. का चातुर्मास हमारे श्री वासुपूज्यस्वामी जैन श्वे. मू. संघ, अक्कीपेठ, बेंगलोर में हुआ । पूज्यश्री काफी अच्छे जाने—माने विद्वान संत हैं । सभी धर्मों एवं दर्शनों के तुलनात्मक अभ्यासी हैं । दर्शन शास्त्र के क्षेत्र में तुलनात्मक दृष्टि से संशोधन करते हुए शोध—प्रबंध भी लिख रहे हैं । आप समस्त जैन शासन में एक ठोस विद्वान के रूप में सुप्रसिद्ध हैं । स्व—पर शास्त्रों के अच्छे ज्ञाता हैं । कई तात्विक विषयों की सचित्र पुस्तकें आपने लिखी हैं, जिसका काफी जिज्ञासू अध्ययन—अभ्यास के रूप में पढ रहे हैं ।

वर्षों से शिक्षण शिबिरों का आयोजन करते हुए आप लेखन भी काफी अच्छा करते हैं । आप कुशल प्रवचनकार एवं सिद्धहस्त लेखक भी हैं । सचित्र प्रवचन एवं लेखन शैली आपकी अनोखी विशेषता है । अक्कीपेठ के चातुर्मास में पूज्यश्री ने शिबिर के साथ १७ रविवारीय जाहीर प्रवचनमाला भी स्वतन्त्र रूप से चलाई । १४ गुणस्थान विषयक जाहीर प्रवचनों की इस श्रेणी को "आध्यात्मिक विकास यात्रा" का शीर्षक दिया गया । पूज्यश्री के इन अनमोल प्रवचनों को चारों तरफ हजारों जिज्ञासुओं तक पहुँचाकर सम्यग्ज्ञान की आराधना की जाय ऐसी पवित्र भावना से हमारे श्री संघ के विश्वस्तगण ने... उसे पुस्तकारुढ करने का निर्णय किया ।

पूज्यश्री प्रवचन में ब्लेक बोर्ड पर इस कठिन जटिल तात्विक विषय को समझाकर स्वयं ही लिखकर देते गए । परिणामस्वरूप लगभग १५०० पृष्ठ के दलदार ग्रन्थ को हम तैयार कर सके । सुंदर कागज पर, आकर्षक मुद्रण आधुनिक शैली का कराया । सचित्र ग्रन्थ निर्माण किया । पूज्य श्री गुरुदेव की यह प्रवचन प्रसादी देश—विदेश में सर्वत्र पहुँचाने का सौभाग्य हमें प्राप्त हुआ । विशेषरूप से हिन्दी भाषा में हिन्दीभाषी जनता के लिए शायद यह अपने किसम का प्रथम ही ग्रन्थ पाठकों तक पहुँचाने का सौभाग्य हमें प्राप्त

हुआ। अतः हम विशेष भाग्यशाली हैं। हमारे श्री संघ के ज्ञानखाते में से एक हजार प्रतियाँ, तथा विभिन्न दान दाताओं के उदार सौजन्य से और एक हजार प्रतियाँ, तथा कलकत्ता निवासी जो इस ग्रन्थ निर्माण के मुख्य प्रेरक निमित्त हैं उनकी तरफ से ५०० प्रतियां, तथा बम्बई स्थित "श्री महावीर विद्यार्थी कल्याण केन्द्र" की तरफ से और ५०० प्रतियाँ छपवाई हैं। इस तरह कुल ३००० प्रतियाँ पाठकों तक पहुँचाने के श्रेय के भागीदार हम बने हैं।

पूज्य पंन्यासजी गुरुदेव ने काफी प्रयत्नपूर्वक प्रवचन दिये तथा ग्रन्थ लिखकर दिया एवं पू. मुनि हेमन्तविजयजी म. ने, प्रूफ संशोधन किया। अतः इनका हम उपकार मानते हुए ऋणी रहेंगे।

अक्कीपेठ में ही श्रीमान गौतमजी ने, तथा इम्प्रिन्ट्स् वाले श्रीमान अंशुमालिन् शहा ने सुंदर कम्पोज करके तथा सुन्दर मुद्रण करके दिया, दान दाताओं ने सुन्दर आर्थिक सहयोग प्रदान किया, इन सबके हम आभारी हैं। विशेषरूप से व्यवस्था में सहयोग देनेवाले हमारे श्री संघ के उत्साही कार्यकर्ता श्रीमान शा. तेजराजजी, यशवन्तजी, सुभाषकुमारजी आदि ने विशेष सहयोग दिया। अतः इनके भी हम विशेष आभारी हैं।

आशा है कि हिन्दी भाषी पाठक गण ऐसे सुन्दर तात्त्विक हिन्दी ग्रन्थ को पाकर आनन्दविभोर हो उठेंगे और पढकर विशेष तत्त्व समझकर अपने जीवन की दिशा को मोड देंगे। सच्चे आराधक बनेंगे। बस इसी में हम निमित्त बनने का श्रेय प्राप्त करेंगे।

अक्कीपेठ, बेंगलोर
३० नवंबर १९९५

**श्री वासुपूज्य स्वामी जैन श्वे. मू. संघ**
**ट्रस्टी मंडल**

# अक्कीपेठ–बेंगलोर की धन्यधरा पर हुआ सर्वप्रथम— "एक यशस्वी चातुर्मास"

(संक्षिप्त रूपरेखा)

उत्तर भारत की तरह ही दक्षिण भारत में भी जैन धर्म का प्रसार—प्रचार सदियों से है ही। उत्तर भारत के राजस्थान–गुजरात आदि राज्यों में से गुजराती—मारवाडी—कच्छी आदि अनेक जातियों का आगमन दक्षिण भारत में सदियों से रहा है। दक्षिण भारत में गणनान्तर्गत तामिलनाडु, केरला, कर्नाटक तथा आन्ध्रप्रदेश के ४ राज्यों में विशेषकर कर्नाटक राज्य में श्वेताम्बर जैनों का विशेष ज्यादा बोलबाला रहा है। कर्नाटक राज्य की राजधानी उद्यान नगरी बेंगलोर शहर में आज १९९६ में करीब ४० जैन श्वेताम्बर मंदिरों की गणना होती है, जो गणनापात्र विकास है।

वर्षों से सुप्रसिद्ध चिकपेठ परिसर के जिनालय के निकटवर्ती विस्तार समान अक्कीपेठ, सुलतान पेठ, कोटनपेठ, सौराष्ट्रपेठ, बिन्नी मिल रोड, पोलीसरोड, आदि परिसरों के बीच सैंकडों जैन परिवारों की आबादी वर्षों से है। परन्तु इन विस्तारों के बीच जैन मंदिर—उपाश्रयादि धर्मस्थानों की कमी वर्षों से मन में चूभ रही थी। तथा आवश्यकता महसूस की जाती थी।

योगानुयोग इ. स. १९९२ में पू. पंन्यासजी श्री अरुणविजयजी गणिवर्य म.सा. आदि मुनि मण्डल का एक अद्भुत यशस्वी चातुर्मास चिकपेठ में आदिनाथ जैन श्वे. संघ में हुआ था। चातुर्मास में नगरथपेठ के विशाल प्रवचन मण्डप में हजारों की संख्या में बेंगलोर वासियों ने पूज्यश्री की वाणी का रसपान प्रवचनों में किया था। शिबिरों तथा प्रवचनमाला के विशिष्ट आयोजन, अनुष्ठान—धर्माराधना—तपश्चर्या आदि के विविध आयोजनों ने चातुर्मास की सफलता बढाने में चार चाँद लगा दिये थे।

चिकपेठ के चातुर्मास की पूर्णाहुति के पश्चात पूज्य गुरुदेवश्री अक्कीपेठ परिसर में पधारे। जगह के अभाव में सूरज भवन की गच्छी पर पूज्यश्री के प्रवचनों का आयोजन किया। और कहते हुए हर्ष होता है कि नवंबर १९९२ के शुभ दिन "श्री वासुपूज्यस्वामी जैन श्वेताम्बर मूर्तिपूजक संघ" की स्थापना पूज्यश्री की प्रेरणा से उनकी निश्रा में हुई।

**विशाल जिनालय का निर्णय–**

वर्षों से इस विस्तार की जनता जिसकी कमी महसूस कर रही थी और रात–दिन जिसके स्वप्न देख रही थी उस भव्य शिखर बंधी विशाल जिनालय बनाने की प्रेरणा पूज्य

पंन्यासजी श्री अरुणविजयजी म.सा. ने दी । और देखते ही देखते शुभ योग में अक्कीपेठ के ही मुख्य राजमार्ग पर ३३०० चौ.फीट की विशाल जमीन खरीदी गई ।

"श्री वासुपूज्यस्वामी जैन श्वेताम्बर मूर्तिपूजक संघ" के नाम से ट्रस्ट को रजिस्टर कराया गया । संविधान श्वेताम्बर मूर्तिपूजक संघ के नियमानुसार हुआ । पूज्य पंन्यासजी म.सा. की प्रेरक प्रेरणा एवं सदुपदेश से कई भाग्यशाली उदार दान दाता श्री संघ के मानद विश्वस्थ–ट्रस्टी बने । कई सभ्य बने । विशाल जिनालय के निर्माण हेतु दानवीरों ने प्रशंसनीय दान राशी भेंट की । परिणाम स्वरूप विशाल जमीन का रजिस्ट्रेशन हुआ ।

**नूतन गृह मंदिर—**

मद्रास—वेपेरी में चातुर्मास हेतु पधारे हुए पूज्य पंन्यासजी श्री अरुणविजयजी म.सा. से विचार विमर्श करने हमारा ट्रस्ट मंडल गया । पूज्यश्री ने छोटा सा गृहमंदिर तुरंत बनाने की प्रेरणा दी, और हमारे ट्रस्टियों ने स्वीकार की । मद्रास के माम्बलम परिसर में आए श्री शान्तिनाथ जैन श्वे. मंदिर से ट्रस्टीगण श्रेष्ठीवर्य श्रीमान शा. माणेकचंदजी बेताला, एवं चन्द्रकान्तभाई टोलिया आदि ने बडी खुशी से हमें चाहिए थे वैसे श्री वासुपूज्यस्वामी भगवान की सुन्दर मूर्ति अर्पण की । पूज्यश्रीने शुभ मुहूर्त निकाल कर दिया और हमारे ट्रस्टी गण प्रतिमाजी बडे ही आदरभाव से बेंगलोर लेकर पधारे ।

चिकपेठ में प.पू. आचार्यदेव श्री हेमप्रभसूरीश्वरजी म.सा. एवं पू. आचार्यश्री स्थूलिभद्र सूरीश्वरजी म.सा. की पावन निश्रा में काफी अच्छे प्रवेश के चढावे हुए और स्वागत सामैया सह नवनिर्मित नूतन गृहमंदिर में प्रभुजी का प्रवेश हुआ । चिकपेठ श्री आदिनाथ मंदिर में से भी श्री शान्तिनाथ तथा श्री आदिनाथ भगवान की प्रतिमाजी प्राप्त हुई । इस तरह तीन प्रतिमाजीयों से नूतन गृह मंदिर सुशोभित हो गया ।

अक्कीपेठ—कोटनपेठ—सुलतानपेठ आदि चारों तरफ के परिसर के अनेक आराधक भाग्यशाली दर्शन—पूजा का लाभ लेने लगे । और देखते ही देखते पूजा करनेवालों की संख्या ३०० से ४०० हो गई । तथा दर्शनार्थियों की संख्या दिन—प्रतिदिन बढती—बढती ५०० से ८०० होती गई ।

**विशाल उपाश्रय का आयोजन—**

जितना ही जिनमंदिर आवश्यक है उतना ही उपाश्रय भी अत्यंत आवश्यक है । पू. साधु—साध्वीजी म.सा. का आगमन होता रहता है । जिनवाणी के व्याख्यानों का श्रवण होने से अनेकों के जीवन में परिवर्तन होता है । पूज्यश्री पंन्यासजी अरुणविजयजी म.सा. की प्रेरक प्रेरणा एवं मार्गदर्शनानुसार श्री संघ ने मंदिर की जगह से लगी हुई जगह खरीदी । यहाँ विशाल उपाश्रय का निर्माण करने की योजना बनाई ।

**शिखरबंधी जिनालय का खातमुहूर्त—**

पूज्य गुरुदेवश्री ने राजस्थान सुमेरपूर के सुप्रसिद्ध शिल्पशास्त्र विशारद हेमराजजी गंगाधर सोमपुरा को बुलाया । और भव्य शिखरबंधी जिनालय बनाने का नक्शा बनाया गया । नीचे भूमिगृह (तलघर) ऊपर मुख्य मूलनायक का जिनालय तथा ऊपर शिखर में भी गर्भगृह इस तरह तीन मंजिली शिखरबद्ध विशाल रंग मण्डपवाला जिनालय बनाने का निर्णय हुआ । नक्शा ट्रस्ट मण्डल में पास किया गया ।

मद्रास वेपेरी में चातुर्मास बिराजमान पूज्य पंन्यासजी म.सा. की प्रेरणा से श्रीमान शा. भभूतमलजी एवं कान्तिलालजी आदि ने खातमुहूर्त—भूमिपूजन तथा शिलान्यास का शुभ मुहूर्त निकाल कर दिया । तदनुसार २१-२-९४ के शुभ मुहूर्त में प.पू. आचार्य देव श्री स्थूलिभद्रसूरीश्वरजी म.सा. की पावन निश्रा में भूमिपूजन खात—मुहूर्त (खननविधि) सोल्लास कराया गया ।

हमारे श्री वासुपूज्यस्वामी जैन श्वे. मू. संघ अक्कीपेठ के संघ संस्थापक पू. गुरुदेव श्री अरुणविजयजी म.सा. आदि मुनिमण्डल मद्रास से विहार करके बेंगलोर पधारे । पूज्यश्री की निश्रा में शिलान्यास के सुंदर अनुमोदनीय चढावे हुए ।

सोमपुरा श्रीमान शा. हेमराजजी गंगाधरजी ने सुंदर आकर्षक नौं शिलाएं शिल्प शास्त्रानुसार बनाई । और शुभ मुहूर्त में शिलान्यास महोत्सव मनाया गया । प.पू. आचार्यश्री स्थूलिभद्रसूरि म.सा. भी पधारे एवं पू. गुरुदेव श्रीअरुणविजयजी म.सा. आदि मुनि मण्डल की संयुक्त निश्रा में शिलाओं की स्थापना विधिपूर्वक हुई । बेंगलोर के सुप्रसिद्ध धार्मिक शिक्षक श्री सुरेन्द्रभाई शाह ने सुंदर विधि विधान कराया । पू. गुरुदेव की प्रेरणा से संस्थापित श्री वासुपूज्यस्वामी जैन सेवा मण्डल ने सुन्दर व्यवस्था के आयोजन में अपनी सेवा प्रदान की ।

**सर्वप्रथम चैत्री औली की आराधना—**

पू. गुरुदेव पंन्यासजी म.सा. की प्रेरक प्रेरणा से उनकी निश्रा में श्री संघ ने सर्वप्रथम बार संघ में चैत्री आयंबिल की शाश्वती ओली करवाई । करीब २५० से ३०० आराधक आत्माओं ने नवपदजी की आयंबिल की ओली की आराधना की । साथ ही शिलान्यास विधान होने से संघ ने अष्टान्हिका जिनेन्द्र भक्ति महोत्सव का सुंदर आयोजन किया था ।

**सर्वप्रथम चातुर्मास—**

हमारे श्री संघपर जिनका महान उपकार है ऐसे हमारे श्री संघ संस्थापक पूज्य गुरुदेव पंन्यासजी श्री अरुणविजयजी म.सा. को हमारे श्री संघ ने सर्वप्रथम चातुर्मास अक्कीपेठ में करने की विनंती की । यद्यपि पूज्यश्री को श्री हथुण्डी राता महावीरजी तीर्थ की प्रतिष्ठा

व नने राजस्थान जाना अनिवार्य था । फिर भी हमारे संघ के अभ्युदय हेतु पूज्यश्री ने अन्य अनेक संघों की विनंतियां होते हुए भी हमें आदेश दिया । पू. गच्छाधिपति आचार्यदेव श्री प्रेमसूरीश्वरजी म.सा. ने आज्ञा—अनुमति प्रदान की । और चैत्र सुदि १३ के भ. महावीर स्वामी जन्म कल्याणक महोत्सव के शुभ दिन नगरथ पेठ हस्ति बिल्डर्स की विशाल जमीन पर आयोजित समारंभ में विराट जनमेदनी समक्ष चातुर्मास् की जय बोली गई । इस जय घोषणा से समस्त बेंगलोर के जैन बंधु—बहनें आनंदित हो गए । हर्षोल्लास से गद्गद् हो गए । चैत्री पूनम के शुभदिन अक्कीपेठ में पुनः जय घोषणा की गई । समस्त अक्कीपेठ आदि विस्तारों की जैन जनता इस जय घोषणा से आनन्दित हो गए । पूज्यश्री की हमारे श्री संघ पर महान कृपा बारिश हुई ।

**शासन प्रभावनार्थ पूज्यश्री का विहार—**

दक्षिण भारत की धन्य धरा पर शासन प्रभावनार्थ विचरते हुए पूज्य गुरुदेव श्री कर्नाटक राज्य के दक्षिणी जिल्लों की धरती पर विहार करते हुए पधारे। श्रवणबेलगोला—बाहूबली के बारहवर्षी महामस्तकाभिषेक महोत्सव में शरीक हुए । वहाँ से हासन पधारे । पू. दिगंबर आचार्य शान्तिसागरजी से २ दिन परामर्श किया । कर्नाटक राज्य के कठिनतम दक्षिणी घाट विस्तार में पूज्यश्री ने कठिनतम विहार किया और धर्मस्थल की भी मुलाकात ली । वहाँ से मेंगलोर । कई वर्षों बाद ऐसे प्रदेशों में साधु—सन्तों का आगमन हुआ । जिससे यहाँ की जनता गद्—गद् झूम उठी । कुछ दिनों तक धर्मोपदेश देकर पूज्यश्री मुडबिद्रि दिगंबर तीर्थक्षेत्र पधारे । भट्टारकजी से मिले । ऐतिहासिक विहंगावलोकन किया । वहाँ से वेणुर होते हुए मुडिगेरे पधारे । जटिल पहाडियों—घाटियों के बीच विहार करके मुडिगेरे पधारे । कुछ दिनों की स्थिरता के प्रभावी प्रवचनों ने मुडिगेरे में भी धर्म की बहार लाई । वहाँ भव्य जिन मंदिर... धर्मशाला निर्माण का आयोजन पूज्यश्री की पावन निश्रा में हुआ ।

चिक्कमंगलूर की धरती पर पूज्यश्री का पदार्पण हुआ । वहाँ थोडे दिनों की स्थिरता में प्रतिदिन के ३ प्रवचनों से धर्म का रंग लाया । कई भाग्यशालियों को सच्चा ज्ञान प्रदान कराके काफी अच्छी जागृति लाई । सब सम्प्रदायों के लोगों को सच्चा सम्यग् ज्ञान प्रदान कराके मन्त्रमुग्ध कर दिये । वहाँ से अरसिकेरे होते हुए टिपटुर तथा टुमकुर संघो में भी प्रभावी प्रवचनों से पूज्यश्री ने काफी धर्म प्रभावना की ।

पूज्यश्री पंन्यासजी म.सा. आदि मुनि मण्डल दक्षिण भारत के बंगाल की खाडी के पूर्वी समुद्री तट के मद्रास शहर से विहार करके दक्षिण भारत के पश्चिमी अरबी समुद्री तट—मेंगलोर तक विहार कर पुनः कर्नाटक की राजधानी बेंगलोर शहर में आगमन हुआ ।

**२ सुपुत्रों का शासन समर्पण समारोह—**

राजस्थान के सिरोही जिल्ले के सिरोडी गाँव के मूलवतनी और वर्षों से बेंगलोर में स्थायी पोरवाल जातिय श्रेष्ठिवर्य श्रीमान शा. बाबुलालजी मूलचंदजी परमार जैन परिवार के सुपुत्र धर्मप्रेमी आराधक श्री मणिभद्र मेडिकल स्टोर्स चलाते हुए दवाइयों के व्यापार में कुशल श्रेष्ठिवर्य श्रीमान शा. सागरमलजी परमार तथा उनकी धर्मपत्नी श्राविका श्रीमति भाग्यवंतीदेवी दोनों दंपति ने अपने २ सुपुत्रों को उदार भाव से पूज्य गुरुदेव को वहोराने का संकल्प किया। ९ ॥ वर्ष के कल्पेशकुमार तथा ११ वर्ष के धीरजकुमार को दि. १२ अप्रैल १९९४ चैत्र सुदि द्वि. १ वि. सं. २०४९ के शुभ मुहूर्त के दिन शुभ योग में उनके निवास स्थान एम. आर. लेन अक्कीपेट के विशाल प्रांगण में आयोजित समर्पण समारोह में अपनी स्वेच्छा से भावना पूर्वक पूज्य विद्वद्वर्य गुरुदेव पंन्यासप्रवर श्रीअरुणविजयजी म.सा. के करकमलों में सकल संघ की उपस्थिति में अर्पण किया—वहोराया। इस अर्पण समारंभ में गमगिनी छा गई। धीरज—कल्पेश दोनों बालकों ने सुन्दर भाषण से समस्त जनता की आँखे भिनी कर दी। पूज्य गुरुदेव श्री के अद्भुत संबोधन से समस्त जनता को दृढ विश्वास हुआ कि पूज्यश्री इन मासूम बालकों को पढा लिखाकर भविष्य में महान बनाएंगे। मद्रास वेपेरी संघ के अध्यक्ष, धार्मिक शिक्षक सुरेन्द्रभाई शाह, जवानमलजी, अक्कीपेठ के ट्रस्टीगण, एवं बालकों के माता—पिता आदि के उद्गार सचमुच हृदय को छूनेवाले थे। शासन के चरणों में समर्पण का एक अनोखा और अद्भुत समारंभ हुआ। श्रीमान सागरमलजी परमार ने सकल संघ की साधर्मिक भक्ति की। दोनों मासूम बच्चे गुरुदेव के साथ विहार एवं अभ्यास कर रहे हैं। करीब २००० किलोमीटर का विहार किया है। धार्मिक अभ्यास एवं व्यवहारिक शिक्षा का भी अभ्यास कर रहें हैं।

**भव्य चातुर्मास प्रवेश—**

पू. साधु—संतों का योग सकल संघ के लिए ज्ञान—आराधना आदि के लिए काफी उपयोगी एवं उपकारी सिद्ध होता है। ज्ञानी—ध्यानी त्यागी तपस्वी साधु संतो के सत्संग—संत समागम अनेकों के जीवन में अनेक प्रकार का परिवर्तन लाती है। वि.सं. २०५० के अषाढ सुदि ५, १३ जुलाई के शुभ मुहूर्त में पू. गुरुदेवों का भव्य चातुर्मास प्रवेश हुआ। नगरथपेठ के हस्ति बिल्डर्स की जगह से स्वागत सामैया प्रारंभ हुआ। बेंगलोर शहर के अनेक युवकों के सेवा मण्डल, महिला मण्डलों ने, जैन बालकों—युवकों के बैण्डमण्डल ने शासन की शोभा में अभिवृद्धि की। श्री वासुपूज्यस्वामी जैन सेवा मण्डल (अक्कीपेठ) ने सुन्दर व्यवस्था संभाली। नगरथपेठ, चिकपेठ, सुलतानपेठ, पोलीस

रोड, अक्कीपेठ मेन रोड आदि बेंगलोर के मुख्य राजमार्गों पर स्वागत यात्रा प्रदक्षिणा देते हुए विशाल धर्म—प्रेम—प्रवचन मण्डप में धर्मसभा के रूप में परिवर्तित हुई ।

कर्नाटक राज्य के मंत्री श्रीमान पेरिकल मल्लप्पाजी ने पूज्यश्री को बेंगलोर शहर में चातुर्मासार्थ आगमन प्रसंग पर भव्य स्वागत अपने भाषण में किया । श्रीमान पी. सी. मानव जैसे विद्वान ने पधारकर पूज्यश्री का अभिवादन करते हुए सत्संग की महिमा दर्शायी । श्रीमान ज्ञानराजजी ने अपने वक्तव्य में विद्वान साधुसंतो की आवश्यकता पर विशेष भार दिया । चिकपेठ के अध्यक्ष श्रीमान लक्ष्मीचंदजी कोठारी ने पूज्यश्री की विद्वत्ता का विशेष परिचय दिया । अन्य अनेक विद्वानों ने चातुर्मासार्थ पधारे हुए पूज्य पंन्यासजी म.सा. की बेंगलोर शहर में एवं दक्षिण भारत में अनेक गुनी आवश्यकता है इस पर ज्यादा भार दिया । श्री सुरेन्द्रभाई शाह ने सभा का संचालन किया । पू. मुनि प्रवर श्री मुक्तिचन्द्र—मुनिचन्द्रविजयजी म.सा. भी प्रवेश यात्रा में पधारे और उन्होंने अपने व्याख्यान में पूज्यश्री की विद्वत्ता की काफी अच्छी प्रशंसा की । अन्त में पू. पंन्यासजी श्री अरुणविजयजी म.सा. ने अपने प्रवचन में चातुर्मास की महिमा समझाई । वर्तमान काल में धर्म की कितनी ज्यादा एवं किस संदर्भ में आवश्यकता है यह भी समझाया । पूज्यश्री की प्रवचन शैली का तो पूछना ही क्या ? तात्त्विक शास्त्रीय विषयों को भी लोकभोग्य सरस—सरल शैली में समझाते हैं, और लोगों को तत्त्व के विषयों का मानों अभ्यास कराते हो ऐसा प्रवचन फरमाते हैं । एक विशेष सुधारणा यह रही कि... प्रभावना की पद्धति में परिवर्तन करके उतनी राशी या दुगुनी राशी साधर्मिक बंधुओं की भक्ति में दिलाते थे । आश्चर्य तो यह था कि बुधवार का चालु दिन होते हुए भी दोपहर को दो बजे तक उत्सुक जनता बैठी रही ।

पूरे चातुर्मास काल तक जहाँ प्रवचन की धारा बहनेवाली थी... ऐसे विशाल प्रांगण के लिए बेंगलोर के एक कन्नडभाई भास्करभाई ने अपनी विशाल जमीन चार—पाँच महीने तक प्रवचन के लिए सप्रेम अर्पण की । इस विशाल जमीन पर बनाए गए—विशाल प्रवचन मण्डप का नामकरण पूज्यश्री के गुरुदेव एवं दादा गुरुदेव के नाम के साथ "धर्म—प्रेम प्रवचन मण्डप" रखा गया । इसके लिए नामकरण का चढावा बोला गया । राजलक्ष्मी पेपर्स सुलतान पेट वाले श्रीमान शा. मोहनलालजी सालेचा परिवार ने यह लाभ लिया । और उनके नामकरण के सुन्दर बैनरों से मण्डप सुशोभित किया गया ।

**सुबोध भवन—**

अक्कीपेठ में नए—नए संघ की स्थापना से श्रीगणेश हुआ था । अतः संघ के पास गुरुदेवों को ठहराने के लिए भी उपाश्रय की व्यवस्था नहीं थी । परन्तु शासन देव की

असीम कृपा से अक्कीपेठ परिसर के वतनी "मेडिसेल्स" के व्यापारी तेरापंथी भाई ने सांप्रदायिक भेदभाव से ऊपर उठकर सांप्रदायिक एकता बढाने की दृष्टी से अपना विशाल मकान पूज्यश्री के चातुर्मास निवासार्थ सादर अर्पण किया । वे भाग्यशाली थे श्रीमान शा. कजोडीमलजी

इस भवन पर पूज्यश्री के गुरुदेव के नाम के साथ नामकरण करके "सुबोध भवन" के नाम से प्रसिद्धि प्राप्त हुई । २ विशाल हॉल में पूज्यश्री आदि मुनि मण्डल की ४ मास स्थिरता रही ।

**चातुर्मासिक सूत्र वांचन—**

आषाढ सुदि ५ से चातुर्मासिक चतुर्दशी तक पूज्यश्री ने नमस्कार महामन्त्र के रहस्यों को समझाते हुए प्रतिदिन प्रवचन दिये । चौमासी चौदश के शुभ दिन चातुर्मासिक सूत्र वांचन के चढावे बोले गए । ४५ आगम शास्त्रों में जो ११ अंगसूत्र शास्त्र हैं उनमें से ११ वाँ अंगसूत्र "श्री विपाक सूत्र" शास्त्र आगम वहोराने का चढावा श्रेष्ठिवर्य श्रीमान शा. लिया । महामहोपाध्यायजी श्री यशोविजयजी म.सा. विरचित "श्री अध्यात्मसार ग्रन्थ" वहोराने का चढावा श्रेष्ठिवर्य श्रीमान शा. परिवार ने लिया । और तीसरा ग्रन्थ "श्री गुणस्थानक्रमारोह" जो पू. रत्नशेखरसूरि म. विरचित है और प्रत्येक रविवार की प्रवचनमाला में पढा जानेवाला है उस ग्रन्थ को वहोराने का लाभ श्रेष्ठीवर्य श्रीमान शा. परिवार ने लिया । श्रावण वदि २ के शुभ दिन से सभी सूत्रों का वांचन प्रारंभ हुआ । पूज्यश्री अपनी एक अनोखी विशिष्ट शैली में और ब्लैक बोर्डपर सचित्र समझाने की पद्धति से कर्मशास्त्र, गुणस्थान के तथा आध्यात्मिक शास्त्रों के अनोखे रहस्य समझाते हुए प्रतिदिन नियमित प्रवचन फरमाते थे । चारों महिने पूज्यश्री की अमृत वाणी की वर्षा निरन्तर बरसती ही रही । बेंगलोर वासियों की व्याख्यान श्रवण की अतृप्त तृष्णा को पूज्यश्री अच्छी तरह समझकर संतुष्ट करने का भरसक प्रयत्न करते रहे । व्याख्यान रसिक जनता में अन्य सम्प्रदायों के भाग्यशाली भी काफी संख्या में शरीक होते थे । अनेक जिज्ञासु काफी दूर—सुदूर से आतुरता पूर्वक दौडते हुए आते थे और लाभ लेते थे । पूज्यश्रीभी निरन्तर नियमित समय पर प्रवचन फरमाते थे ।

**शिबिरों का अनोखा आयोजन—**

पू. पंन्यासजी श्री अरुणविजयजी म.सा. की ख्याति वैसे भी युवा शिबिरवाले महाराज के रूप में फैल चुकी है । और बात भी सही है— कई वर्षों से अनेक आध्यात्मिक ज्ञान—ध्यान की शिबिरों का आयोजन पूज्यश्री की निश्रा में होता ही रहा है । वि. सं. २०४८

वे वर्ष के चिकपेठ के चातुर्मास के समय नगरथपेठ — हस्ति बिल्डर्स के विशाल प्रवचन मण्डप में — चातुर्मासिक शिबिर में भी करीब २००० युवक — युवतियों ने लाभ उठाया था ।

श्री अक्कीपेठ संघ परिसर में भी हमने इस वर्ष चातुर्मासिक १६ रविवार की "युवा उत्कर्ष शिक्षण शिबिर" का विशिष्ट आयोजन किया था । जिसमें ५०० से ६०० की संख्या में युवक—युवतियों ने विशेष लाभ लिया था । प्रति रविवार को ही चलती इस शिबिर में पूज्यश्री जैन जीवविज्ञान, जैन कर्मविज्ञान, जैन मानसशास्त्र, जैन इतिहास, जैन भूगोल, जैन खगोलशास्त्र, जैन दर्शनशास्त्र, जैन ब्रह्माण्डशास्त्र, जैन तत्त्वज्ञानादि के अनेक विषयों पर शिक्षक की तरह ब्लेकबोर्ड पर चित्रों के साथ सचित्र पद्धति से समझाने पर युवकों की समझ में स्पष्ट उतर जाता था । कई सचित्र रंगीन चार्टों के द्वारा दिया जाता ज्ञान बडी अच्छी सरलता से सबकी समझ में आ जाता था ।

दि. २७ जुलाई १९९४ रविवार के शुभ दिन प्रारम्भ हुई इस युवा शिबिर के आयोजित उद्‌घाटन समारंभ में उद्‌घाटन कर्त्ता श्रेष्ठिवर्य श्रीमान शा. ने अपने करकमलों से ज्ञानदीप प्रज्वलित करते हुए कहा कि— युवा पीढि जो आज एक ऐसी विपरीत दिशा में ढह चुकी है उसे पुनः उठाने के लिए ऐसी शिबिरों की अत्यन्त आवश्यकता है । पूज्यश्री का यह भगीरथ प्रयास कामयाब सिद्ध हो ऐसी मंगल कामना उद्‌घाटन समारंभ में अतिथि विशेष के रूप में पधारे हुए श्रीमान आदि ने व्यक्त की । श्री संघ ने सभी अतिथि महान् भावों का माल्यार्पण एवं शालार्पण से भव्य स्वागत—सन्मान किया । नियमित रूप से शिबिर चलती रही । अनेक प्रकार के आयोजन शिबिरों में होते रहे । अन्य अनेक जिज्ञासु भी अपनी ज्ञान की पिपासा बुझाते रहे ।

**शनिवारीय बाल संस्कार शिबिर—**

युवा शिबिर की तरह ही प्रत्येक शनिवार को बाल संस्कार शिबिर का भी आयोजन विशेष रूप से श्री संघने पूज्यश्री की निश्रा में किया था । करीब ७०० के आसपास बालक बालिकाओं ने इस शिबिर में लाभ लिया । पूज्यश्री के शिष्य मुनि श्री हेमन्तविजयजी महाराज ने सूत्रों के अर्थ, चित्रों के आयोजन तथा कथा के माध्यम से बालकों में संस्कारों का सिंचन किया । ७०० बालक—बालिकाएँ जब एक साथ सामायिक लेकर अभ्यास करते थे तब बडा ही सुहावना मनोहर दृश्य लगता था । श्री संघ में अनेक उदार दान दाताओं ने प्रत्येक शनिवार को विविध वस्तुओं की प्रभावनाएँ करके बाल मानस का उत्साह बढाया । तथा परीक्षादि लेकर विशेष बडे पारितोषिकों से भी सन्मानित किये ।

**सचित्र जाहिर प्रवचनमाला—**

पूज्य विद्वद्वर्य पंन्यास प्रवर श्री अरुणविजयजी म.सा. की विद्वत्ता का लाभ हजारों जिज्ञासुओं को प्राप्त हो इसके लिए हमारे श्री संघ ने प्रत्येक रविवार को सुबह ९.३० से ११.०० की "चातुर्मासिक रविवारीय सचित्र जाहिर प्रवचनमाला" का विशेष आयोजन किया। १४ गुणस्थानों के विषय को आधार बनाकर **"आध्यात्मिक विकास यात्रा"** विषयक प्रवचन श्रेणि चलाई गई। जो चातुर्मास के चारों महीनों के १६ रविवारों तक चली। इस प्रवचनमाला में पूज्यश्री ने ज्ञान के निचोडात्मक सारभूत तत्त्वों को रोचक शैली में सरलता से समझाया। कर्म शास्त्र के गहन विषयों को लोकभोग्य बनाकर समझाने की पूज्यश्री की यह विशेषता सचमुच ही प्रशंसनीय है। और इसमें भी सबसे ज्यादा तो ब्लैकबोर्ड पर चित्रों के साथ जब समझाते हैं तब तो श्रोतावर्ग के चेहरे सच्ची समझ पाकर आनन्द से खिल उठते हैं। श्रोतावर्ग मन्त्रमुग्धसा बन जाता था। अनेकों के मुंहसे हम ऐसा सुनते थे कि... सचमुच व्याख्यान तो ऐसे ज्ञानवर्धक ही होने चाहिए। १४ गुणस्थान के ऐसे— जटिल—गहन और शास्त्रीय विषयों का ज्ञान सरलता से समझाने के कारण ही श्रोतावर्ग कुछ ज्ञान सम्पादन कर पाएगा। प्रवचनों के माध्यम से श्रोताओं का सम्यग्ज्ञान बढाकर युवकों के जीवन में परिवर्तन लाने के पूज्यश्री के इस पुरुषार्थ का हम उपकार मानते हुए भूरि—भूरि अनुमोदना करते हैं।

**"आध्यत्मिक विकास यात्रा"— पुस्तक प्रकाशन योजना—**

श्री वासुपूज्यस्वामी जैन श्वे.मू.संघ—अक्कीपेठ—विस्तार में सर्व प्रथमबार एक सुंदर चातुर्मास होने जा रहा था, और वह भी एक विद्वान वक्ता पंन्यास श्री अरुणविजयजी म.सा. जैसे सिद्धहस्त प्रवचनकार एवं लेखक महाराज का चातुर्मास हो रहा था। पूज्यश्री कलम के भी अच्छे जादूगर है। प्रवचन कला में कुशल होने के नाते प्रवचनों के माध्यम से जनता की तत्त्व जिज्ञासा संतुष्ट करते हैं, और फिर उसी विषय को अपनी कलम के जादु से पेपर पर उतारते थे। हमारे श्री संघ में चातुर्मास के १६ रविवारों तक चली १४ गुणस्थान विषयक "आध्यात्मिक विकास यात्रा" की प्रस्तुत पुस्तक प्रकाशित करने की योजना की। श्री संघ ने ज्ञानखाते में से एक हजार प्रति का प्रकाशन कराया। कुछ दान दाताओं ने मिलकर १००० प्रति का प्रकाशन कराया। तथा इसी तरह कलकत्ता निवासी श्रेष्ठीवर्य श्रीमान शा. भंवरलालजी बैद परिवार (वकील सा) की तरफ से ५०० प्रति, एवं बम्बई में

स्थित "श्री महावीर विद्यार्थी कल्याण केन्द्र — संस्था" की तरफ से अन्य ५०० प्रति इस तरह कुल मिलाकर ३००० प्रति का प्रकाशन कराया गया। हमें इस बात का विशेष हर्ष है कि हिन्दी भाषी प्रजा की जिज्ञासा को संतोषने के लिए और उसमें भी विशेषकर दक्षिण भारत में उत्कृष्ट कक्षा के हिन्दी साहित्य की जो बहुत वर्षों से कमी है उस क्षतिपूर्ति में सहयोग देने के लिए ऐसा ऊँचा ग्रन्थ लगभग १४०० पृष्ठों का, डेमी साइज में, सुंदर चित्रों से भरा सचित्र साहित्य, वह भी तीन भागों में हमारे श्री संघ ने प्रकाशित करने की योजना की। जिसके फल स्वरूप आज प्रकाशित करते हुए हम गौरव अनुभव करते हैं। हमारे श्री संघ के लिए सर्व प्रथम प्रकाशित प्रस्तुत ग्रन्थ एक विशेष गौरव एवं आनन्द का विषय है। इसी के साथ साथ हमारे श्री संघ के चातुर्मास कालावधि में अन्य भी प्रकाशन "महावीर वाणी" आदि के हुए हैं। यह और भी विशेष आनन्द की बात है।

**जैन ध्यान—योग साधना क्लास—**

पूज्य गुरुदेव श्री ने चातुर्मास प्रवेश करके प्रातःकालीन "जैन ध्यान—योग साधना" की क्लासें चलाने की शुभ शुरुआत की। जैन पद्धति से ध्यान—योग की साधना सिखाने से कई भाग्यशालियों को काफी अच्छा लाभ प्राप्त हो सकता है। सुबह—ही सुबह चलती इस क्लास में अनेक भाग्यशाली नियमित आते थे।

**सामूहिक धर्मचक्र तप की आराधना—**

तपश्चर्या करने के लिए उत्तम ऋतु चातुर्मास है। पूज्यश्री ने श्री संघ में ८३ दिन चलने वाले 'धर्मचक्र' तप की आराधना प्रारंभ कराई। श्रावण वदि में प्रारम्भ हुई इस धर्म की सामूहिक तपश्चर्या में श्री संघ में से करीब ६५ आराधक तपस्वी जुडे। कार्तिक वदि में तपश्चर्या की निर्विघ्न परिसमाप्ति हुई। सामूहिक पारणे हुए। श्री संघ की तरफ से तपस्वीयों का सन्मान किया गया।

**चातुर्मासिक क्रमिक अट्ठम—**

चातुर्मास के प्रारम्भ काल से ही श्री संघ में "सांकली अट्ठम" की तपश्चर्या आरम्भ हुई। अनेक बहनों व भाग्यशालियों ने क्रमशः अट्ठम किये। प्रतिदिन एक अट्ठम के पच्चक्खाण होते थे। श्री संघ में चढावे हुए और चढावे का लाभ लेकर भाग्यशालियों ने तपस्वीयों का विशेष सन्मान किया।

**आराधना–अनुष्ठानों की शृंखला—**

चातुर्मास काल धर्माराधना, अनुष्ठानों, एवं तपश्चर्याओं के लिए विशेषरूप से लाभ दायक रहता है। पूज्यश्री के आगमन के साथ ही श्री संघ में अनेक प्रकार की आराधनाओं—तपश्चर्याओं एवं अनुष्ठानों के विशेष आयोजन श्री संघ ने किये।

(१) श्री नमस्कार महामंत्र की आराधना नौं दिन तक एकासणे की तपश्चर्या — जापादि के साथ प्रारम्भ हुई। जिसमें करीब ४०० से ५०० भाग्यशाली तपश्चर्या कर रहे थे। नौं भाग्यशालियों ने नकरे में एकासणें कराने का लाभ लिया।

(२) श्री वीशस्थानक महापूजन के साथ सामूहिक ४०० उपवास पूर्वक श्री वीशस्थानक महातप की आराधना का आयोजन एक दिन बडा ही अनोखा रहा। यह आराधना करके अनेक पुण्यात्माओं ने जीवन में वीशस्थानक तप की ओली प्रारंभ की।

(३) श्री ऋषिमण्डल महापूजन की एक साथ सामूहिक आराधना सकल संघ में कराई गई और प्रत्येक आराधक को ऋषिमण्डल स्तोत्र की लघु पुस्तिका भेट दी गई। जिससे अनेकों के घरों में हमेशा के लिए ऋषिमण्डल स्तोत्र का नित्य पाठ के रूप में काफी अच्छी शुरुआत हुई। इसी तरह सभी आराधकों को वीशस्थानक विधि की पुस्तिका भी भेंट दी गई।

(४) श्री सिद्धचक्र महापूजन सह सामूहिक रूप से एक दिन में सभी पदों के आयंबिल की तपश्चर्या का विशेष आयोजन किया गया था। कल्याणकों की आराधना, विविध प्रकार के आयंबिलों की तपश्चर्या आदि का विशेष आयोजन अनेक बार श्री संघ में आयोजित किया गया था।

**चन्दनबाला के सामूहिक अट्ठम—**

श्री संघ में सामूहिक रूप से आयोजित चन्दनबाला के अट्ठम की तपश्चर्या में करीब १२५ की संख्या में बालिकाएँ तथा बहनें जुडी थी। "चन्दनबका" की नृत्य नाटिका का अनोखा आयोजन किया गया था। श्री लब्धिसूरी जैन संगीत मण्डल ने संगीत की धुन के साथ सुन्दर नाटक प्रस्तुत किया। पूज्य गुरुदेव ने चन्दनबाला के ऐतिहासिक कथानक का मर्म समझाया। और श्रीमान् जवानमलजी ने कोमेन्ट्री के साथ गीतगान किया। बोले गए चढावों का लाभ लेकर पात्र बनकर स्टेजपर अभिनय करके अनेक भाग्यशालियों ने लाभ लिया। संघ के साधारण खाते में काफी अच्छी आवक हुई।

**अट्ठम—**

श्री पार्श्वनाथ भगवानादि जिन नामों के जापादि के अनेकविध अट्ठमों की तपश्चर्या का आयोजन हुआ। अनेक भाग्यशालियों ने अट्ठम किये। श्री संघ ने पारणादि कराके सन्मान करने का लाभ लिया।

**"श्री वासुपूज्यस्वामी जैन धार्मिक पाठशाला"—**

नए.. नए.. संस्थापित श्री संघ में संघ के ही आद्य संस्थापक पूज्य पंन्यासजी म.सा. धार्मिक पाठशाला के भी आद्य प्रणेता बने। पूज्यश्री ने धार्मिक पाठशाला शुरु करने के लिए काफी अच्छी प्रेरणा दी ..... और योजना तैयार की गई। पूज्यश्रीने ही "श्री वासुपूज्यस्वामी भगवान" का नाम जोडकर पाठशाला का नामकरण करने का मार्गदर्शन दिया। इस तरह "श्री वासुपूज्यस्वामी जैन धार्मिक पाठशाला" ऐसा नामकरण कियां गया। श्रावण सुदि में पाठशाला का उद्‌घाटन उदार दानवीर श्रेष्ठिवर्य श्रीमान शा. दलीचन्दजी सांकरिया के करकमलों से ज्ञानदीप प्रज्वलित करके किया गया। पाठशाला की बालिकाओंने, बालकों ने सुन्दर नृत्य नाटिका, स्वागत गीत आदि प्रस्तुत किये। श्रीमान शा. मीठालालजी महात्मा धार्मिक पाठशाला के शिक्षक नियुक्त किये गए।

पूज्य गुरुदेव की प्रेरणा से ५००० रुपए की कायमी योजना में सुंदर फण्ड एकत्रित हुआ। तथा साथ ही साथ १ वर्ष के ५२ रविवारों की सामूहिक स्नात्रपूजा भी सबकी लिखी गई। दान दाताओं ने उदार हाथ से धार्मिक पाठशाला के प्रति उदार सहयोग प्रदान किया। और आर्थिक दृष्टि से पाठशाला को समृद्ध की गई।

सुबोध भवन में शुरू हुई पाठशाला सुबह, दोपहर और रात इस तरह तीनों समय चलने लगी। प्रति दिन ६ घण्टे चलनेवाली इस पाठशाला में सुबह ७ से १० तक बालक—बालिकाएँ दोपहर को २.३० से ४.०० तक में बडी महिलाएँ, युवतियाँ तथा रात्रि में ७ से ८ में बालक एवं युवक वर्ग अभ्यास करने लगा। प्राथमिक नवकार महामंत्र से लगाकर दो प्रतिक्रमण, पंच प्रतिक्रमण के सूत्र भक्तामरादि स्तोत्रादि सहित नवस्मरण, तथा जीवविचारादि ४ प्रकरण, ३ भाष्य, ६ कर्मग्रन्थों का अर्थ सहित अभ्यास चल रहा है। विद्यार्थी विद्यार्थिनियाँ—महिलादि—बालक—बालिकाएँ कुल मिलाकर ४०० के करीब संख्या में पाठशाला में धार्मिक सम्यग् ज्ञान का लाभ ले रहे हैं।

प्रत्येक महिने की प्रतिपदा -- बेसते महीने की शुभ शुरुआत के दिन... नवस्मरणों का पाठ होता है । तथा प्रत्येक रविवार को प्रभात काल में सुरीले मधुर संगीत के साथ सामूहिक रूप से सुन्दर स्नात्र पूजा पढाई जाती है । विविध दाताओं की तरफ से प्रोत्साहक प्रभावनाएँ दी जाती है । विविध प्रकार के प्रोत्साहक पारितोषिक वितरित किये जाते हैं ।

**वार्षिक ईनामी समारोह—**

धार्मिक पाठशाला के अभ्यासकों की परीक्षा पूज्य गुरुदेव पंन्यासजी म.सा., एवं मुनि श्री हेमन्तविजयजी म. ने ली । परीक्षा में उत्तीर्ण अभ्यासकों को पारितोषिक वितरण हेतु – वार्षिक ईनामी समारंभ का सुंदर आयोजन पूज्यश्री की सान्निध्यता में किया गया । पाठशाला के बालकों ने सुंदर संवादात्मक बोधप्रद नाटक, एवं बालिकाओं ने नृत्यादि—गीतादि प्रस्तुत किये । पाठशाला का रिपोर्ट धार्मिक शिक्षक श्रीमान शा. मीठालालजी महात्मा ने पढा, एवं सभा – संचालन कार्य किया । पाठशाला समिति के सदस्यों ने काफी प्रशंसनीय सहयोग प्रदान किया । कई दान दाताओं ने पुरस्कारार्थ राशी भेट की । कई बालक—बालिकाओं एवं महिलाओं को उत्तीर्णता हेतु सुंदर पारितोषिकों द्वारा पुरस्कृत किया गया ।

स्नात्रपूजा हेतु ५६ दिक्कुमारिकाओं को वेशभूषादि पारितोषिक के रूप में भेंट की गई । वाद्ययन्त्रों की साधन—सामग्री कई दानदाताओं की तरफ से पाठशाला को भेंट की गई । आए दिन पाठशाला की बालिकाएं स्नात्र पूजा, वास्तु पूजादि के लिए पूजा पढाने सर्वत्र जाती है । सुंदर संगीत क्लासें भी चलती है । इतनी अल्प अवधि में पाठशाला की इतनी सुंदर प्रगति देखकर समाज ने आनन्द एवं संतोष व्यक्त किया । श्रीमान प्रेमराजजी लूणिया आदि ने सुंदर वक्तव्य दिये । श्री वासुपूज्यस्वामी जैन धार्मिक पाठशाला के बालक विद्यार्थी के रूप में मुमुक्षु धीरज एवं कल्पेश कुमार का सविशेष सन्मान किया गया । प्रत्युत्तर में दोनों मुमुक्षुओं ने काफी सुंदर वक्तव्य दिया ।

**श्री पर्युषण महापर्व की अद्भुत आराधना—**

पर्वाधिराज श्री पर्युषण महापर्व के आगमन पूर्व ही प्रत्येक जैन मात्र आबाल—गोपाल सभी का मन—मयूर नाच उठता है । पू. पंन्यासजी महाराज जैसे विद्वद्वर्य महाराज की सान्निध्यता में पर्वाधिराज की आराधना करनी थी । पूज्यश्री ने विशेषरूप से अष्टान्हिका के प्रवचन सुबह एवं दोपहर दो समय अलग से समझाए । साथ ही स्वतंत्र रूप से साधर्मिक भक्ति के लिए सुंदर योजना पूर्वक फण्ड एकत्र किया गया ।

श्री संघ की धार्मिक पाठशाला की स्थायी योजना संघ के साधारण खाते में तथा संघ द्वारा ली गई उपाश्रय हेतु के भवन की जगह के प्रति वर्ग चौरसफुट की योजना में, चातुर्मास आराधना फण्ड में, तथा साथ ही जीवदया, प्राणी रक्षादि कई खातों में सुंदर फण्ड हुआ । पूना में निर्माणाधीन "वीरालयम्" की योजना के अन्तर्गत होनेवाले ध्यान—योग साधना केन्द्र हेतु आदि अनेक शुभ कार्यों के लिए अनेक उदार दानवीर दान दाताओं ने अपनी लक्ष्मी का सदुपयोग किया । कल्पसूत्र तथा बारसासूत्र पूज्यश्री अरूणविजयजी म.सा. को वहोराने के कल्पनातीत सुंदर चढावे बोले गए । उभरती जनता ने काफी उत्साह पूर्वक तन—मन—धन से पूरा लाभ लिया ।

कल्पसूत्र का अर्थ एवं मर्म समझाने की पूज्यश्री की हथोटी सचमुच अनुमोदनीय एवं अनुकरणीय थी । साथ साथ ब्लैक—बोर्ड पर भी चार्ट—चित्रों के साथ समझाने से स्त्री—पुरुष—बच्चों के भी गले उतरता था । बडी अच्छी शान्ति बनी रहती थी । दोनों समय प्रवचन श्रवणार्थ जिज्ञासु वर्ग दौडकर आते थे । १४ स्वप्नों का उतरना अपने आप में एक अनूठा प्रसंग था । १४ स्वप्नों की अद्भुत बोलियों के कारण देवद्रव्य की वृद्धि काफी प्रशंसनीय रही । प्रत्येक बात में अक्कीपेठ की बोलियां काफी ज्यादा रही । पूज्यश्री का गणधरवाद सुनना यह अपने आप में एक अविस्मरणीय लाभ रहता है । सचित्ररूप में ब्लैकबोर्ड पर समझाते हुए प्रस्तुतिकरण एक अद्भुत प्रशंसनीय पद्धति है । सबको तुलनात्मक दृष्टि से स्पष्ट समझाना यही पूज्यश्री की भावना अनुसरणीय है ।

**सार्थ संवत्सरी प्रतिक्रमण—**

१२ महीने का वार्षिक संवत्सरी प्रतिक्रमण छोटे—बडे सभी करने आते हैं। अक्कीपेठ में विशाल प्रवचन मण्डप में—— बडी संख्या में चारों तरफ से युवक वर्गादि काफी लोग विशेष रूप से संवत्सरी प्रतिक्रमण पूज्य गुरुदेव के पास करने हेतु पधारे । पूज्यश्रीने प्रतिक्रमण का मर्म, अर्थ तथा रहस्य समझाते हुए प्रतिक्रमण कराया । विशेषकर बृहद् अतिचार विस्तार से समझाते हुए लोगों की आंखे पश्चात्ताप के भाव से भर दी । सादी सरल भाषा में सबको बोलाते थे । सूत्रों की तथा विधि की रनिंग कोमेन्ट्री देकर पूज्यश्री ५ घण्टे तक संवत्सरी प्रतिक्रमण कराते हैं । अनेकों की आंखों में पश्चाताप की भावना की गंगा—यमुना बहने लग जाती है । प्रतिक्रमण की समाप्ति के पश्चात् बडे—बडे बुजुर्गों के मुंह से ये उद्गार निकलते थे कि... ऐसा समझाते हुए शान्ति से प्रतिक्रमण जीवन में आज ही प्रथमबार करने का अवसर मिला । अनेक तरीकों से पर्युषण महापर्व की आराधना सम्पन्न हुई ।

**पंचान्हिका जिनेन्द्र भक्ति महोत्सव—**

श्री पर्युषण महापर्व में हुई मासक्षमण, २१ उपवास तथा पासक्षमण एवं अनेक अट्ठाइयाँ अट्ठम आदि की अनेकविध तपश्चर्या के सामूहिक पारणे श्री संघ में काफी अच्छी तरह आनन्दपूर्वक सम्पन्न हुए। तपश्चर्याओं तथा धर्मचक्र तप के उपलक्ष में श्री संघ में सामूहिक पंचान्हिका जिनेन्द्र भक्ति महोत्सव का आयोजन आश्विन शुक्ल पक्ष में रखा गया। श्री सिद्धचक्रमहापूजन ३ दिन का विश्वशान्ति विधायक पौष्टिक विधान स्वरूप श्री बृहद् अर्हद् महापूजन श्री अक्कीपेठ संघ की धन्य धरा पर सर्व प्रथमबार ही रखा गया। शान्ति स्नात्र महापूजा भी साथ ही साथ पढाई गई।

अर्हद् महापूजन में जिनेश्वर परमात्मा के जन्म कल्याणक महोत्सव को विशेषरूप से मनाया गया। श्री वासुपूज्यस्वामी जैन धार्मिक पाठशाला की बालिकाओं ने सुंदर पूर्व तैयारी करके ५६ दिक्कुमारिकाओं का नृत्यभक्ति कार्यक्रम प्रस्तुत किया। सुंदर नए गीतों के साथ रास गरबा आदि के विविध नए नए नृत्यादि किये। पूज्य गुरुदेव ने आभूषण पूजा की महिमा इतनी सुंदर समझाई कि ... भक्त वर्ग ने सोने—चांदी के आभूषणों की बरसात बरसाई। और अनेक अंगूठियाँ, बंगडीयाँ, चेन आदि परमात्मा को आभूषण पूजा में चढाए। जिसमें से श्री वासुपूज्यस्वामी भगवान के मुकुटादि आभूषण बनेंगे। ५६ दिक्कुमारिकाओं का नृत्यादि करनेवाली बालिकाओं को पुरस्कारों से सन्मानित किया गया। विधिकार श्रीमान ललितभाई पंडित बम्बई से पधारे थे, एवं श्री हेमेन्द्रभाई शाह अमदावाद से पधारे थे। अनेक चढावों द्वारा देवद्रव्य की वृद्धि का लाभ सबने लिया। श्री वासुपूज्यस्वामी जैन सेवा मण्डल ने अपनी अमूल्य सेवा प्रदान की।

**सामूहिक क्षमापना समारंभ—**

क्षमायाचना यह प्रत्येक आराधक जैन मात्र का कर्तव्य है, सही धर्म है। श्री अक्कीपेठ जैन संघ के प्रांगण में विशाल प्रवचन मण्डप में सभी सम्प्रदाय—पंथों के समस्त साधु—साध्वीजी एवं श्रावक वर्ग की सामूहिक क्षमापना का समारोह श्री महावीर जैन सेवा केन्द्र ने आयोजित किया। पू. आचार्य देव श्री नयप्रभसूरि म.सा., पू. पंन्यास प्रवर श्री अरुणविजयजी म.सा., पू. मुनि श्री मुक्तिचन्द्र वि.म., मुनि श्री कुमुदचन्द्र वि.म., पू. मुनि श्री नंदिरत्न वि.म., तेरापंथी संत पू.राजकरणजी म., पू. कान्तिऋषि म., आदि बेंगलोर में विराजमान सभी सम्प्रदायों के सभी साधु—साध्वीजी, श्रावक वर्ग पधारे थे। सबके मननीय प्रवचन हुए। श्रावक वर्ग के भाषण हुए। एकता की विशेष पुष्टि सभी ने की। पू. पंन्यासजी श्री ने वर्तमान कठिन परिस्थिति में समस्त जैनों को मिलकर अपनी एकता बनाए रखने में

विशेष लाभ है । राजकीय लाभ भी एकता से ही प्राप्त किया जा सकेगा यह काफी बल देकर समझाया । पूज्य श्री अरुणविजयजी म.सा. के उपदेश, एवं प्रेरणा से नई नई संस्थापित श्री महावीर जैन सेवा केन्द्र के उत्साही युवा कार्यकर्ता श्रीमान यशवन्तजी, श्रीमान रतन पावेचा, प्रवीण कुमारजी, सुभाषजी, बाबुलालजी आदि अनेकों ने काफी प्रशंसनीय योगदान दिया ।

**श्री सम्मेतशिखर तीर्थ रक्षा अभियान—**

वर्तमान काल में सबसे जटिल प्रश्न समग्र जैन शासन के समक्ष श्री सम्मेतशिखरजी तीर्थ की रक्षा का है । पूज्य पंन्यासजी श्री अरुणविजयजी म.सा. काफी समयज्ञ—एवं सक्षम है । पूज्यश्री ने समस्त बेंगलोर शहर के ४० जिन मंदिरों के अग्रगण्य ट्रस्टीयों को बुलाया और एक कडी में जोडकर सामूहिक एकता बढाकर कार्य करना चाहा । परिणाम स्वरूप **"श्री समस्त बेंगलोर जैन श्वेताम्बर मूर्तिपूजक महासंघ"** की रचना की । स्थापना की । श्रीयुत लक्ष्मीचंदजी कोठारी, एवं रविभाई शाह अध्यक्ष निर्वाचित किये गए । श्री बाबुलालजी पारेख, एवं श्री ज्येष्ठमलजी वकील सा. मंत्री नियुक्त किए गए ।

पूज्यश्री ने सम्मेतशिखरजी का सारा स्वरूप समझाया । तथा हस्ताक्षर अभियान एवं फण्ड एकत्रित करने की योजना बनाई । चिकपेठ, गांधीनगर, राजाजीनगर, यशवंतपुर आदि सभी मंदिरों के ट्रस्टों ने देवद्रव्य खाते से बडी रकमें घोषित की । तथा अन्य ट्रस्टों ने भी तीर्थ रक्षा हेतु राशी निश्चित की ।

फण्ड एकत्रित करने के लिए महासंघ की एक अवान्तर समिति की रचना की । और कहते हुए आनन्द होता है कि — बेंगलोर के उदार दानवीर दानदाताओं ने काफी अच्छा सहयोग प्रदान किया । श्रीमान रविभाई शाह, बाबुलालजी पारेख, शा.सागरमलजी कोठारी, कान्तिलालजी जैन, आदि के पुरुषार्थ से दानवीरों ने दान की वर्षा की और देखते ही देखते बडी राशी एकत्रित हो गई ।

**अनेक मण्डलों द्वारा तीर्थ रक्षा अभियान—**

पूज्यश्रीने अनेक महिला मण्डलों, युवक मण्डलों, बालिका मण्डलों, सेवा मण्डलों को एकत्रित किया । सभी ने तीर्थ रक्षा अभियान को अपना अनिवार्य कर्तव्य समझकर पूज्यश्री का आदेश सिर पर उठाया । और हस्ताक्षर अभियान चलाया । लाखों की संख्या में हस्ताक्षर कराए । साथ ही फण्ड भी एकत्रित किया ।

**सम्मेतशिखर तीर्थ रक्षा–विराट सभा का आयोजन—**

पूज्यश्री की प्रेरक एवं अथक परिश्रम से समस्त श्वेताम्बर समाज की एक विराट सभा का आयोजन किया गया । बेंगलोर में बिराजमान सभी साधु—साध्वीजी म. पधारे । पू. आचार्य श्रीनयप्रभसूरि म., पू. पंन्यासप्रवर श्री अरुणविजयजी म.सा., पू. मुनि श्री मुक्तिचंद्र वि.म., मुनि श्री नंदिरत्न वि.म., आदि मुनिवृंद तथा समस्त साध्वीजी म. पधारे थे। अहमदाबाद से शेठ आणंदजी कल्याणजी की पेढी के एवं जैन संघ के अग्रगण्य ट्रस्टी श्रीयुत श्रेणिकभाई शाह विशेषरूप से पधारे थे । एकत्रित विराट सभा में श्रेणिकभाई शाह ने सम्मेतशिखरजी तीर्थ का इतिहास समझाते हुए सारी बात विराट सभा में उपस्थित जनता को शान्ति से समझाई । पू. आचार्यश्री ने तीर्थ रक्षा के लिए तैयार रहने की घोषणा की । पूज्य पंन्यासजी श्री अरुणविजयजी म.सा. ने हृदयस्पर्शी प्रेरक उद्बोधन किया । अपने कर्तव्य का पालन करने के लिए..... प्रत्येक जैन मात्र को सजाग किया । वर्तमान में चल रहे गंदे राजकारण के कारण कैसे सम्मेतशिखर तीर्थ के विवाद को बहकाया—भडकाया गया है यह समझाया । एवं मुनिचन्द्र म. ने भी इतिहास की तरफ इंगित किया ।

समस्त बेंगलोर के महिला मण्डल, तथा सेवा मण्डल—युवक मण्डलों ने हस्ताक्षर अभियान चलाकर जो राशी एकत्रित की थी वह श्रीयुत श्रेणिकभाई शाह को अर्पण की । साथ ही महासंघ ने विशेष बडी राशी एकत्रित कर तीर्थ रक्षा हेतु प्रदान करने की घोषणा की । अक्किपेठ में तीर्थ रक्षा अभियान में अपना सक्रिय सहयोग देनेवाले युवक कार्यकर्ताओं तथा महिला—बालिकाओं का विशेष सन्मान महासंघ की तरफ से किया गया ।

**श्री महावीर जैन धर्मार्थ निःशुल्क दवाखाना—**

आरोग्य जीवन का अनिवार्य प्रश्न है । वर्तमान काल में दवाई—उपचार काफी महंगे होते ही जा रहे हैं । ऐसी परिस्थिति में सामान्य मानव के लिए दवाई, डॉक्टर, आदि की उपलब्धि बहुत ज्यादा असंभव बनती जा रही है । सामान्य मानव का दुःख—दर्द देखकर पूज्य पंन्यास प्रवर ने विशेष उपदेश देकर.... धर्मार्थ दवाखाना खोलने के लिए समझाया । पूज्यश्री के सदुपदेश प्रेरणा एवं मार्गदर्शनानुसार निर्माण हुई एक संस्था "श्री महावीर जैन सेवा केन्द्र" के उत्साही युवा कार्यकर्ताओं में से श्रीमान यशवन्तजी, रतन पावेचा, बाबुलालजी, सुभाष कुमारजी, प्रवीणकुमारजी, आदि ने पूज्यश्री की सही बात को सिरपर उठाई । एस. एम. लेन—अक्कीपेठ में दो कमरों की नई जगह खरीदी । सुंदर सजाकर दवाखाने के अनुरूप बनायी । भरतभाई शाह ने दवाखाने के लिए फर्नीचर भेंट किया । कूपनों का आयोजन करके समाज के सहयोग से दानराशी एकत्र की ।

रविवार दिनांक २-१०-९३ के शुभ दिन भव्य उद्घाटन समारंभ का आयोजन किया ।लोकसभा उपाध्यक्ष श्रीमान मल्लिकार्जुनय्या के करकमलों से "श्री महावीर जैन धर्मार्थ दवाखाना" का विधिवत् उद्घाटन किया गया । मुख्य अतिथि के रूप में श्रेष्ठिवर्य श्रीमान शा. मोहनलालजी आदि पधारे थे । होम्योपेथिक हॉस्पिटल के डॉ. शेषाचलम् पधारे थे । जैन समाज के श्रीमान् डॉक्टर दीपकभाई शाह, डॉ. अमृता आदि डॉक्टर हमेशा के लिए नियुक्त किये हैं । जो अपनी सेवा प्रतिदिन दे रहे हैं । समस्त जनता के लाभार्थ दवाखाना प्रतिदिन खुला रहता है । निःशुल्क पद्धति से दवाई वितरित की जाती है । होम्योपॅथी एवं एक्युप्रेशर पद्धति से उपचार जारी है ।

**विजयनगर संघ में आराधना—**

बढते हुए बेंगलोर शहर के उपनगरों में विजयनगर में भी कई जैन परिवारों की बसति बढती ही जा रही है । विजयनगर संघ की आग्रह भरी विनंति को मान देकर पूज्यश्री मुनि हेमन्तविजयजी म. को चातुर्मास के कई रविवार, कई चौदश आदि के शुभ दिन व्याख्यान वाणी हेतु वहाँ भेजते रहे । श्री संघ की भावना के आधार पर विजयनगर परिसर में भव्य शिखरबंधी जिनालय बंधाने की योजना बनी । इसके लिए श्री संभवनाथ जैन श्वे. मू. संघ विजयनगरवालों को एक सद्गृहस्थ श्रेष्ठिवर्य श्रीमान सेठिया ने अपना प्लॉट मंदिर निर्माणार्थ भेट रूप में अर्पण किया । श्री संघ ने श्रावण मास में शुभ मुहूर्त में एक छोटासा गृह मंदिर निर्माण किया । मद्रास से श्री संभवनाथ भगवान की प्रतिमाजी लाई । संघ में चढावे हुए । बहुत ही अच्छे उत्साह और आनन्द के साथ प्रभूजी नूतन गृह मंदिर में बिराजमान किये । लोगों की दर्शन—पूजा आराधना प्रारंभ हुई । पूज्य पंन्यासजी श्री अरुणविजयजी म.सा. की प्रेरणा से एवं उन्हीं की पावन निश्रा में प्रभूजी बिराजमान हुए । पू. मुक्तिचन्द्र विजयजी म. आदि मुनि मण्डल एवं साधु—साध्वीजी म. पधारे थे ।

पूज्य पंन्यासजी म.सा. ने मुनि हेमन्तविजयजी म. को पर्युषण महापर्व की आराधना कराने के लिए भेजा । श्री संघ में अट्ठाई—अट्ठम आदि तपश्चर्याएँ—आराधना आदि हुई । श्री कल्पसूत्र—बारसासूत्र का श्रवण—संवत्सरी प्रतिक्रमण, पारणादि सब कुछ काफी अच्छी तरह ठाठ से हुए ।

पूज्य पंन्यासजी श्री अरुणविजयजी म.सा. का २—४ दिन के लिए विजयनगर में आगमन हुआ पूज्यश्री के पदार्पण से श्री संघ में काफी आनन्द—उत्साह आया । संघ ने नवकारशी का आयोजन किया । मंदिर बनाने का निर्णय हुआ । पूज्यश्री ने सुयोग्य

मार्गदर्शन दिया । सुमेरपुरवाले सोमपूरा श्रीमान शा. हेमराजजी गंगाधर ने शिखरबंधी मंदिर का नक्षा बनाकर दिया । और संघ ने उन्हें ओर्डर दिया । और माह महिने शुभ मुहूर्त से खात मुहूर्त भूमिपुजन एवं शिलान्यास की शुभ शुरुआत होगी और कार्य आगे बढेगा । देखते ही देखते भव्य शिखर बंधी जिनालय निर्माण होगा ।

**व्यसन मुक्ति शिबिर – एवं नेत्र यज्ञ—**

बेंगलोर के फार्मास्युटिकल होलसेल वेलफेर कमिटि ने पूज्य पंन्यासजी श्री अरुणविजयजी म. के सदुपदेश—प्रेरणा एवं मार्गदर्शनानुसार व्यसन मुक्ति शिबिर का तथा नेत्र यज्ञ का सुंदर आयोजन अक्कीपेठ संघ में किया । सचमुच जिसकी बहुत ही आवश्यकता थी । एक तरफ जनता में आँख की बीमारियाँ बढती ही जा रही हैं । दूसरी तरफ व्यसनों का प्रमाण दिन दुगुना—रात चौगुना बढता ही जा रहा है । परिणाम स्वरूप केन्सर की मात्रा बढती ही जा रही है और लोग इस केन्सर के कारण जिन्दगी से हाथ धो रहे हैं । व्यसन भी केन्सर का सबसे बडा कारण सिद्ध हो चुका है ।

ऐसी परिस्थिति में देशवासी जनता को इस मौत के मुख में से बचाने के लिए युद्धस्तर पर व्यापक कार्य करना ही हमारा पवित्र कर्तव्य बनता है । मनुष्य बीमार पडने के बाद उसकी सेवा करने के बजाय उसको बीमार होने ही न दिया जाय यह सेवा सबसे बडी सेवा है । इसी विचार के आधार पर दो मेडिकल केम्प एक साथ योजे गए । श्री वासुपूज्यस्वामी जैन श्वे. मू. संघ ने अक्कीपेठ के विशाल धर्म—प्रेम प्रवचन मण्डप की जगह प्रदान की । बेंगलोर की और वह भी जैन समाज की सुप्रसिद्ध भगवान महावीर जैन होस्पिटल के कार्यकर्ताओं ने अपने "आँख—विभाग" का पूरा साथ—सहयोग प्रदान किया । नेत्र चिकित्सक सर्जन डॉक्टर श्रीमान नरपत सोलंकी आदि की टीम ने अपना पूर्ण सहयोग प्रदान किया । अपनी सेवा देकर करीब १ हजार मरीजों की आँखे तपासकर निदान किया । और दूसरे ही दिन से श्री भगवान महावीर हॉस्पिटल में ओपरेशन भी शुरु कर दिये गए । करीब ५०० से ६०० के ऊपर ओपरेशन किये गए । श्री फार्मास्युटिकल होलसेलर्स वेलफेअर कमिटि ने अपने खर्चे से सभी ओपरेशन एवं जांच सर्वथा निःशुल्क कराके ऊपर से चश्मे भी वितरित किये । दवाइयाँ भी दी ।

सेलम शहर के विनायका मिशन होम्योपेथिक हॉस्पिटल एवं कॉलेज के विशेषज्ञ डॉक्टरों की टीम इस मेडिकल केम्प में पधारी थी । व्यसनों के आदि मरीजों की जांच की गई । साथ ही श्री महावीर जैन सेवा केन्द्र द्वारा संचालित "श्री महावीर जैन धर्मार्थ दवाखाना" का भी इस सेवा के कार्य में पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ । डॉ. दीपक शाह आदि की टीम ने भी काफी प्रशंसनीय सेवा प्रदान की । तथा सबको औषधियाँ भी दी गई । तथा

आगे के लिए "फोलो अप" व्यवस्था भी इसी धर्मार्थ दवाखाना में रखी गई । इस तरह परोपकार के क्षेत्र में भी चार चाँद लगाए ऐसे कार्य पूज्यश्री की पावन निश्रा में— पूज्यश्री की प्रेरणा से हुए हैं जो चातुर्मास को यशस्वी बनाने में चार चांद लगाते हैं ।

**श्री महावीर जैन साधर्मिक कल्याण केन्द्र—**

समग्र जैन समाज में जैन साधर्मिक बंधुओं की आर्थिक समस्या दिन—प्रतिदिन ज्यादा गंभीर बनती ही जा रही है । पूज्य पंन्यास प्रवर श्री अरुणविजयजी म.सा. ने समयसूचकता का ध्यान रखकर १०—१२ वर्षों पहले से ही इस दिशा में ज्यादा प्रयत्न किया; और समाज की सेवार्थ बम्बई, पूना, मद्रास, और बेंगलोर जैसे बडे चारों शहरों में "श्री महावीर जैन साधर्मिक कल्याण केन्द्र" की संस्थाएं स्थापित की । संस्थाओं का प्रमुख उद्देश आर्थिक स्थिति से कमजोर ऐसे जैन साधर्मिक बंधुओं के परिवारों को आजीविका की सुविधाएं उपलब्ध कराके उन्हें सक्षम बनाना । वे स्वयं अपने पैर पर खडे रहकर स्वाभिमान से जी सके । स्वयं अपनी रोजी—रोटी चलाने में समर्थ बन सके इसके लिए. उन्हें निर्व्याज १०—२०—२५ हजार तक की बडी राशी दी जा सके और उन्हें गृहउद्योग, कुटीर उद्योग की सीमा में व्यापार कराया जा सके वैसा करना । उन्हें कहीं भी हाथ लम्बा न करना पडे और भूखा भी न रहना पडे । वे स्वाभिमान से कमाते हुए अपनी इज्जत से सिर ऊंचा करके जी सके इसके लिए संस्थाओं के माध्यम से यह व्यवस्था सब जगह बैठाई गई है ।

समस्त बेंगलोरस्तर की तथा सर्वथा साम्प्रदायिक एवं ज्ञातिय भेद—भाव रहित प्रत्येक जैन परिवार को ऊपर उठाने के लिए यह संस्था बनाई गई । पूज्य पंन्यासजी म.सा. ने अथाग परिश्रम करके प्रतिवर्ष एक दाता ग्यारह हजार रुपए प्रदान कर सकें ऐसे ५० सदस्य बनाए । तथा कुछ सामान्य फण्ड भी इकट्ठा किया गया । सुव्यवस्थित ट्रस्ट गठित किया गया और व्यवस्थित रूप से इसका एक स्वतंत्र कार्यालय बनाया गया है । समाज की विधवा—त्यक्ताओं, युवकों, वृद्धों, महिलाओं—पुरुषों आदि सभी वर्ग को सिलाई मशीन, कपडा, खाखरा—पापड बनाने, आदि अनेक प्रकार का उद्योग उनकी आवश्यकता तथा इच्छानुसार कराया जाये । तथा नोकरी की इच्छावालों को नोकरी विभाग में भी नियुक्त कराया जाता है । मात्र २००—५०० की रकम देकर जान छुडाने की नीति न अपनाते हुए. एक परिवार को पूर्णरूप से दत्तक लेकर उस परिवार को पूर्ण रूप से स्थायी—स्थिर बनाने की योजना रखी है ।

मागसर वदि में गुरुवार दि. २३ नवम्बर, के शुभ दिन... पूज्य पंन्यासजी म.सा. की पावन निश्रा में श्री धर्म–प्रेम–प्रवचन मण्डप अक्कीपेठ में एक सुन्दर उद्घाटन समारंभ में विधिवत् "श्री महावीर जैन साधर्मिक कल्याण केन्द्र"–बेंगलोर शाखा का उद्घाटन कराया गया । मुख्य अतिथि के रूप में श्रीमान शा. अमीचंदजी, श्री केवलचंदजी पिरगल, श्री दूधमलजी, श्री कुशलराजजी पिरगल आदि उपस्थित रहे । सबने इस प्रकार के कार्य की खूब सराहना की । ऐसे कार्यों की आवश्यकता महसूस करके इसकी पूर्ति की काफी अनुमोदना की तथा साथ सहयोग भी प्रदान किया । कूपन योजना संस्था ने बनाई जिसका विमोचन बेंगलोर के दानवीर श्रेष्ठीवर्य श्रीमान एस. कपूरचन्दजी के करकमलों द्वारा कराया गया । उन्होंने तथा समाज के अनेक दानवीरों ने काफी सुन्दर सहयोग प्रदान किया जो सचमुच प्रशंसनीय रहा । इस तरह अन्य शहरों की तरह बेंगलोर में भी एक अपने प्रकार की स्वतंत्र संस्था अस्तित्व में आई । जो समाज का कार्य करने में सक्रिय भी बन चुकी है ।

**पुस्तक विमोचन समारंभ—**

**(१) "शाकाहार ही क्यों ?", (२) "प्रार्थना"**

पूज्य पंन्यास प्रवरजी ने शाकाहार के विषय पर प्रचार करने तथा हिंसा एवं मांसाहार की प्रवृत्ति कम कराने के पवित्र उद्देश्य से मद्रास में *Why Vegetarianism?* नामक पुस्तक अंग्रेजी भाषा में तैयार कराई थी । पूज्यश्री की विशेष प्रेरणा से बेंगलोर के सुप्रसिद्ध "जैन बंधु मण्डल" के उत्साही कार्यकर्ताओं ने कन्नड भाषा में इसी पुस्तक को पुनः छपवाई । श्रीमान खांटेड परिवार के आर्थिक सहयोग एवं राजेन्द्र पेपर्सवाले श्रीमान तेजराजजी के पेपर–सहयोग से पुस्तक की करीब ३००० प्रति प्रचारार्थ छपवाई गई है । बुधवार दि. १४ दिसंबर के शुभदिन एक विशेष आयोजित उद्घाटन समारंभ में बेंगलोर के सुप्रसिद्ध दानवीर श्रेष्ठीवर्य श्रीमान शा. एस. कपूरचन्दजी के करकमलों द्वारा विधिवत् पुस्तक का विमोचन किया गया । उनकी तरफ से भी एक हजार प्रति पुस्तक की और छपाई जाएगी । समारंभ में, श्रीमान किशोर कुमारजी दीपचंदजी तथा मोहनलालजी नाहर आदि मुख्य अतिथि के रूप में उपस्थित थे ।

"प्रार्थना" विषयक एक छोटी सी पुस्तिका पूज्यश्री ने तैयार करवाई । मद्रास–वेपेरी जैन संघ के अध्यक्ष श्रीमान शा. एस. एस. मेहता, जे. एस. मेहता परिवार के आर्थिक सहयोग से "प्रार्थना" विषयक पुस्तक श्री "महावीर विद्यार्थी कल्याण केन्द्र" नामक बम्बई की

संस्था ने प्रकाशित करवाई है । इसका विमोचन श्रेष्ठीवर्य श्रीमान उत्तमचन्दजी मेहता के करकमलों द्वारा हुआ । समाज के कई महानुभावों ने इस पुस्तक को पसंद की ।

**भ. महावीर प्रभू की अन्तिम देशना—**

दीपावली पर्व के उपलक्ष में पूज्य पंन्यासजी म.सा. ने दो दिन श्री वीर प्रभू की अन्तिम देशना स्वरूप "श्री उत्तराध्ययन सूत्र" आगम शास्त्र का सार—सार श्रवण कराया । सुबह और दोपहर इस तरह दोनों समय और दो दिन तक वीर वाणी की अन्तिम देशना श्रवण कराई । जिसे "महावीर वाणी" लघु पुस्तिका के रूप में विविध दान दाताओं के आर्थिक सहयोग से "श्री हथुण्डी तीर्थ" की तरफ से छपवाकर प्रकाशित कराई जा रही है । जिसका विमोचन २९ जनवरी रवीवार को सिकन्द्राबाद में होगा । इस तरह "महावीर वाणी" के १०८ श्लोकों का एक सामायिक में माला की तरह स्वाध्याय होगा ।

विदाय समारंभ— अक्कीपेठ—परिसर की धन्यधरा पर अकल्पनीय—अविस्मरणीय एक सुंदर यशस्वी चातुर्मास देखते ही देखते पूर्णता के शिखर पर पहुंचा । हमारी सबकी कल्पना के बाहर... अक्कीपेठ में सर्व प्रथम—पहला ही चातुर्मास और वह भी हमारे श्री संघ के प्रणेता एवं आद्य संस्थापक पू. पंन्यासप्रवर श्री अरुणविजयजी म.सा. मुनि श्री धनपालविजयजी म. एवं मुनि श्री हेमन्तविजयजी म. आदि मुनि मण्डल का हुआ । पूज्यश्री के हमारे श्री संघ पर अनेक उपकार हैं । हमारे श्री संघ में बन रहे भव्य शिखरबंधी जिनालय तथा श्री सम्मेतशिखरजी तीर्थ की प्रतिकृति—पाठशाला आदि अनेक विषयों में पूज्यश्री के असीम—अगणित उपकारों को हम कभी भूल नही सकते हैं । उसमें भी हमारे श्री संघ में स्थानादि की अनुकूलता—सुविधादि न होते हुए भी पूज्यश्री का इतना सुंदर यशस्वी चातुर्मास होगा, और वह भी इतनी शासन प्रभावना के साथ संपूर्ण होगा यह हमारी कल्पना के बाहर था फिर भी शासन देव की असीम कृपा से निर्विघ्नता पूर्वक पूर्ण हुआ ।

पूज्यश्री ने श्री संघ में मौन एकादशी की आराधना कराई... और उसके ठीक दूसरे दिन मागसर सुदि १२ बुधवार दि. १४ दिसंबर को श्री संघ ने विदाय समारंभ का आयोजन किया । बेंगलोर के अनेक प्रतिष्ठित महानुभाव श्रीमान शा. लक्ष्मीचंदजी कोठारी, एस. कपूरचन्दजी आदि अनेक संघों के अग्रगण्य महानुभाव पधारे थे । पूज्य मुनिश्री मुक्तिचन्द्रविजय म., एवं मुनिचन्द्र विजय म. ने पू. पंन्यासजी म. की शास्त्रीय गहन विषयों पर सरल व्याख्यान पद्धति की अनुमोदना की । पू. मुनि श्री नंदिरत्नविजयजी म. ने अपने व्याख्यान में दक्षिण में जैन साधुओं के विहार की बात के साथ पूज्यश्री के उपकार का

स्मरण कराया। मुनि श्री हेमन्तविजयजी म. ने दो शब्दों में गुरुदेव के ज्ञान की गरिमा का परिचय कराया। श्रीमान शा. लक्ष्मीचन्दजी कोठारी ने संस्कृत पण्डित परिषद द्वारा पूज्यश्री की प्रगट विद्वत्ता का स्मरण कराके पूज्यश्री की विद्वत्ता की मुक्तकंठ से प्रशंसा की। श्रीमान केवलचन्दजी पिरगल ने साधु के सत्संग--समागम की आवश्यकता की बात करते हुए पू. अरुणविजयजी म. जैसे विद्वान संत का बेंगलोर शहर को जो योग प्राप्त हुआ है उसकी काफी अनुमोदना की। संघ मंत्री श्रीमान शा. तेजराजजी जैन ने चातुर्मास में हुए शृंखला बद्ध शासन प्रभावना के अनेक कार्यों का विवरण देते हुए पूरे चातुर्मास के शुभ कार्यों की अनुमोदना की। तथा पूज्यश्री के उपकारों का स्मरण करते हुए चातुर्मास को सफल बनाने हेतु श्री वासुपूज्य जैन सेवा मण्डल आदि के उत्साही युवा कार्यकर्ताओं को धन्यवाद दिये। विशेषरूप से श्रीमान यशवन्तजी, सुभाषजी बुरट, प्रवीणजी, रतन पावेचा, बाबूलालजी आदि उत्साही युवा कार्यकर्ताओं को विशेष धन्यवाद प्रदान किये। श्रीमान पारसमलजी लूणिया ट्रस्टीने पूज्यश्री के उपकारों का स्मरण करते हुए प्रतिष्ठार्थ दो वर्ष पश्चात पुनः पधारने के लिए विनंति की। प्रतिष्ठार्थ पुनः पधारने के लिए अनेकों के भाव--भावुकोंने प्रेम से व्यक्त किये। पूज्यश्री बेंगलोर का प्रेम संपादन करके पधार रहे हैं अतः सबकी आंखों के तारे--जैन शासन के सितारे बने हैं ये भाव--उद्गार सबके रहे।

करीब १२.३० के विजयमुहूर्त के शुभ समय में बेंगलोर वासियों ने पूज्यश्री को अश्रुपूर्ण भीगे दिल से विदाय दी। श्रीमान मधुकर भाई शाह परिवार की विनंति से पूज्यश्री सदाशिव नगर उनके निवासस्थान पर पधारे। श्रीमान मधुकरभाई शाह ने सकल संघ की खूब सुन्दर भक्ति की। प्रवचन हुआ। दूसरे दिन वहाँ से आगे पूज्यश्री ने विहार किया---हैद्राबाद--सिकन्द्राबाद--सोलापूर--पूना--नासिक--बरोडा--सुरत--अहमदाबाद होते हुए श्री रातामहावीरजी--हथूण्डी तीर्थ की प्रतिष्ठा हेतु राजस्थान पधारने के लिए प्रयाण किया। 'श्री वासूपुज्य जैन धार्मिक पाठशाला' के बालक--बालिकाओं ने विदाय गीतों से सबकी आंखे भर दी।

"अरुणविजयजी आए हैं... नई रोशनी लाए हैं"

"अरुणविजयजी ने क्या किया ?.. युवानों का उद्धार किया... "

इस नारों से बेंगलोर शहर की गलियाँ गूंज उठी थी। और सचमुच ये नारे... मात्र नारे ही नहीं रहें.... अपितु कार्यान्वित होकर सत्य सिद्ध हुए हैं।

धन्य गुरुदेव...
धन्य हो.... धन्य हो......

## "प्रमाण–नय...." ग्रन्थ विमोचन–

दक्षिण में पधारने पर पूज्यश्री का प्रथम चातुर्मास–बेंगलोर–चिकपेठ में हुआ था। उस समय नगरथ पेठ–हस्ति बिल्डर्स की जगह में विशाल प्रवचन मण्डप में जहाँ हजारों की संख्या में बेंगलोर की प्रवचन रसिक जनता उमडती थी। श्री संघ ने "अखिल भारतीय संस्कृत पण्डित परिषद" के पाँचवे अधिवेशन का आयोजन किया था। उस समय विद्वानों–पण्डितों की मांग के अनुरूप एक जैन दार्शनिक ग्रन्थ तैयार किया जाय की इच्छानुसार, पूज्य पंन्यासजी श्री अरुणविजयजी म.सा. ने पू. वादिदेव सूरी विरचित "श्री प्रमाणनयतत्त्वालोक" ग्रन्थ को सरल संस्कृत टीका तथा हिन्दी भाषान्तर के साथ तैयार किया। पूना के पण्डित श्रीमान रामचन्द्रशास्त्री जोशी ने टीका बनाई है। पूज्यश्री ने सरल हिन्दी भाषान्तर किया। और श्री चिकपेठ–आदिनाथ जैन मंदिर के ज्ञानखाते में से यह ग्रन्थ सुंदर रूप से छपवाकर प्रसिद्ध किया है। इम्प्रिन्टस् प्रेसवाले श्रीमान अंशुमालिन् शहा ने परिश्रमपूर्वक सुंदर कंपोज करके मुद्रण व्यवस्था संभाली।

रविवार दि. २५ नवम्बर के शुभ दिन श्री आदिनाथ जैन मंदिर–चिकपेठ में आयोजित विशेष विमोचन समारंभ में बेंगलोर के सुप्रसिद्ध विद्वान पण्डित श्रीमान के. टी. पाण्डुरंगी ने समारंभ में अध्यक्षता ग्रहण की। जैन दार्शनिक साहित्य पर विशेष प्रकाश डालकर सभा को जैन दर्शन की गरिमा समझाई। पी. सी. मानव जैसे विद्वान ने जैन साहित्य की आवश्यकता पर भार दिया। विद्वान श्रीमान वरदीयाजी ने पूज्यश्री के विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थों की आवश्यकता पर भार दिया। श्रीमान केवलचन्दजी पिरगल ने ज्ञानदीप प्रगटाकर श्री प्रमाणनयतत्त्वालोक ग्रन्थ का विमोचन करके पूज्य गुरुदेवों को अर्पण किया। पूज्यश्री द्वारा लिखित –"पाप की सजा भारी" तथा "कर्म की गति न्यारी" जैसी तत्त्वों से भरी पुस्तकों की विशेष प्रशंसा की। पू. पंडितजी रामचन्द्रशास्त्री जोशी ने ग्रन्थ का परिचय दिया। पू. मुनिश्री मुनिचन्द्र विजयजी म. ने वादिदेवसूरि म. ग्रन्थकर्ता का परिचय दिया। पूज्यश्री पंन्यासजी म. ने १ घण्टे का तत्त्वपूर्ण व्याख्यान देकर सबकी आध्यात्मिक प्यास बुझाई। दार्शनिक ग्रन्थों का तथा दार्शनिक जगत के जैन विद्वानों का परिचय भी पूज्यश्री ने कराया। दार्शनिक ग्रन्थों के प्रकाशनों की योजना की रूपरेखा समझाई। बम्बई की संस्था– "श्री महावीर विद्यार्थी कल्याण केन्द्र" ने इस ग्रन्थ की दूसरी आवृत्ति प्रकाशित की तथा अन्य भी ग्रन्थ प्रकाशित कर रही है। श्री चिकपेठ के आदिनाथ जैन संघ के ज्ञानखाते के उदार आर्थिक सहयोग से प्रकाशित इस ग्रन्थ की समाज ने काफी प्रशंसा की। तथा विद्वानों में भी काफी प्रशंसनीय अभ्यासोपयोगी ग्रन्थ सिद्ध होगा।

# संपादक को भी कुछ कहना है . . .

जैसे संसार में डूबने का—कर्म का मार्ग शाश्वत है, वैसे ही संसार से तैरने का—पार उतरने का—धर्ममार्ग भी शाश्वत है । कर्म का मार्ग किसी को सिखाना नहीं पडता है, परन्तु धर्ममार्ग सिखाना अनिवार्य है । धर्ममार्ग कहो या मोक्षमार्ग कहो दोनों एक ही है । बात एक ही है । संसार से जो छुडाए—मुक्त करे वही मोक्षमार्ग है । और धृ—धारण करने अर्थ में संस्कृत की मूल धातु से बना हुआ धर्म शब्द भी **"दुर्गति प्रपतत् जन्तून् धारणात् धर्मोच्यते"** दुर्गति में पडते हुए जीव को जो धारण करे—बचाए उसे धर्म कहते हैं । संसार की दुर्गति से बचाने का कार्य ही धर्म का है ।

यदि जीव धर्म करके भी संसार से, संसार की दुर्गतियों से न बच सके, ऊपर न उठ सके तो समझिए की वह धर्म सही धर्म नहीं है, या उस धर्म का आराधन—उपयोग जीव ने सही तरीके से नहीं किया है । जैन शासन में सुप्रसिद्ध **तत्त्वार्थाधिगम सूत्र** में सर्वप्रथम सूत्र में मोक्ष मार्ग बताते हुए कहा है कि **सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्राणि मोक्षमार्गः** । इस सूत्र में पू. वाचकमुख्यजी उमास्वातिजी म. ने धर्म भी बताया और धर्म के अंग बताकर उन्हें मोक्षप्राप्ति का मार्ग भी बता दिया है । ये सच्चे सम्यग् दर्शन, ज्ञान और चारित्र . . . तीनों मोक्ष देनेवाले हैं, मोक्ष में ले जानेवाले, प्राप्त करानेवाले हैं । मोक्षप्राप्तिकारक होने के कारण यह सच्चा धर्म है ।

किसी भी संसारी जीव को मोक्ष का मार्ग बताना, दिखाना और उस जीव को मोक्ष मार्ग पर चढाना—आरूढ करना इससे बडा कोई परोपकार हो ही नहीं सकता है । यही सर्वोपरि उपकार है । स्वयं मोक्ष का उपासक हो और वह जगत् को मोक्ष का मार्ग बता सके तो अनेक जीवों का कल्याण हो सकता है । तीर्थंकर परमात्मा ने भी यही किया है और उनके अनुगामी, अनेक आचार्य उपाध्याय—साधु भगवन्तों ने भी यही कार्य किया है । इतना ही नहीं प्रत्येक गुरु का यही कर्तव्य है कि जगत् को मोक्षप्राप्ति का सही सच्चा मार्ग बताए । अरे ! मोक्षमार्ग पर चढाए और क्रमशः आगे—आगे बढाते जाए ।

बस अपने इस कर्तव्य का पालन करने की वृत्ति—भावना में से ही इस पुस्तक का जन्म हुआ है । गुणस्थान क्रमारोह ग्रंथ का अध्ययन—अभ्यास करते समय से ही यह भावना बनती थी कि इस ग्रन्थ को सरलतम करके लोकभोग्य बनाकर जगत् के सामने रखना चाहिए ताकि अनेक भव्यात्माएं गुणस्थानों के मोक्षमार्ग पर आरूढ हो सकेंगे । आज इस भावना को साकार होते देखकर बडी खुशी—आनन्द का अनुभव कर रहा हूँ ।

अक्कीपेठ—बेंगलोर के चातुर्मास में १७ रविवारों तक प्रवचन के माध्यम से ब्लेक बोर्ड पर चित्र पद्धति से सरलतम सचित्र करके श्रोताओं को समझाता रहा । लेकिन सीमित समय में कितना संभव था ? विषय अगाध था । अतः लिखना प्रारंभ किया । कलकत्तावाले श्रीमान शा. भंवरलालजी बैद ८५ वर्ष के बुजुर्ग वयोवृद्ध सुश्रावक हैं, अच्छे अभ्यासू भी हैं । उनकी उत्कट भावना थी १४ गुणस्थान के विषय पर पुस्तक लिखाने की । योगानुयोग वे प्रेरक निमित्त कारण बनें । इनकी प्रेरणा ने मुझे लिखने के लिए ज्यादा प्रेरित किया । मैं लिखता ही रहा । कुछ चित्रों को साथ जोडता गया जिससे पाठकों को समझने में और सरलता—सुविधा रहे ।

संघ के कार्यकर्ताओं ने प्रेस की व्यवस्था की । श्रीमान तेजराजजी, यशवन्तजी, सुभाषजी आदि ने विशेष सेवा की । श्रीमान गौतमजी ने कंपोज किया मुनि हेमन्तविजय ने प्रूफ संशोधन किया । श्री संघ के ज्ञानखाते के सहयोग, और संघ के अनेक दान—दाताओं के उदार आर्थिक सहयोग एवं श्रीमान भंवरलालजी बैद परिवार के तथा श्री महावीर विद्यार्थी कल्याण केन्द्र के उदार सहयोग से पुस्तक निर्माण हो सकी । सचमुच सम्यग् ज्ञान की सेवा में सभी सहयोगी धन्यवाद के पात्र हैं ।

हिन्दी भाषा में विशेष रूप से लिखने का मुख्य हेतु ही यह रहा कि हिन्दी भाषी लोगों की मांग संतोषी जा सके । उन्हें भी अच्छे—ऊँचे साहित्य से वंचित न रहना पडे । और हिन्दी भाषी लोग चारों तरफ विशेष ज्ञान उपार्जित कर सकें । अतः विशेषरूप से हिन्दी भाषा में यह ग्रन्थ तैयार किया है । १४ गुणस्थान के मूल विषय को सरल सचित्र बनाकर आनुषंगिक—अवान्तर विषयों को साथ जोडकर विषय को परिपुष्ट करने की कोशिष की है । आशा है जिज्ञासू वर्ग इस ग्रन्थ से गुणस्थान के विषय को समझ सकेगा । पाठक वर्ग पढकर गुणस्थानों के सोपानों पर आरूढ होने जाय, उत्तरोत्तर आगे बढते जाय और परंपराए मुक्त होते जाय ऐसी शुभ मनोकामना रखता हूँ ।

२४ जनवरी, १९९६
श्री संभवनाथ जैन मंदिर
बिजापूर, राजस्थान

**—पंन्यास अरुणविजय महाराज**

प्रस्तावना—

# आध्यात्मिक ज्ञान की अनिवार्य आवश्यकता

—पंन्यास अरूणविजय म.

**एवमणोरपारे संसारे सायरंमि भीमंमि ।**
**पत्तो अणंतखुत्तो जीवेहिं अपत्त धम्मेहिं ॥**

अनन्त उपकारी महानज्ञानी गीतार्थ भगवंत बिल्कुल सत्य ही फरमाते हैं कि... यह संसार सचमुच एक भयंकर महासागर जैसा है । ऐसे भयंकर महासमुद्र जैसे संसार का पार (अन्त) पाना बहुत ही असंभव जैसा है । ऐसे भयंकर संसार समुद्र में जीव का पतन—गिरना क्यों होता है ? कैसे होता है ? इसके उत्तर में एक ही कारण दर्शाया है... और वह है धर्म का अभाव, अप्राप्ति । उत्तम तारक धर्म न पाने के कारण ही जीव ऐसे भयंकर—भयावह संसार में अनन्तगुने—अगाध गहरे खड्डे में जा गिरते हैं । सचमुच संसार जीवों के पतन का ही क्षेत्र है। परिभ्रमण का क्षेत्र है। जन्मान्तर—रूपान्तर—गत्यन्तर—पर्यायान्तर करते रहने का क्षेत्र है ।

सच देखा जाय तो संसार एक नाटक की रंगभूमि है । जैसे एक नाटक के मंच पर कई पात्र होते हैं । अपना नृत्य या संवाद करके चले जाते हैं । कभी कोई किसी के साथ कैसा संबंध बनाकर आता है तो कोई कैसा । फिर संबंध बदलकर दूसरा संबंध लेकर पुनः आता है । फिर चला जाता है । इस तरह २—३ घंटे के समय में मंच पर एक नाटक की कहानी पूरी हो जाती है । नाटक समाप्त होता है ।

ठीक इसी तरह यह समस्त पृथ्वी एक रंगमंच है । अनन्त जीव यहाँ पात्र बनकर आते हैं । पति—पत्नी, माता—पिता, भाई—बहन, मित्र या शत्रु आदि अनेक प्रकार के संबंध लेकर—बनाकर अनन्त जीव इस संसार के नाटक में आते हैं । कुछ काल तक राग या द्वेष के संबंध में अपना संवाद या नृत्य प्रस्तुत करते हैं, फिर चले जाते हैं । क्रोध, मान, माया, लोभ, कामवासना, राग—द्वेषादि का आश्रय लेते हैं । कोई संग्रह—परिग्रह करते हैं । संबंध बदलते हैं, बढते—बढाते हैं । टिकते—निभाते हैं । बिगडते—बिगाडते हैं । बस छोटी सी जिन्दगी का अन्त आता है, और मृत्यु होते ही संबंध—संबंधियों का वियोग होता है और जीवों को चला जाना पडता है । नाटक पर परदा गिरता है । दूसरे जन्म में फिर दूसरे

संबंध । मित्र या शत्रु, पुत्र से शत्रु, पत्नी से पुत्री आदि के अनेक संबंध लेकर या बदलकर पुनः जीव संसार में आता है । फिर उन्हीं राग—द्वेषों काम—क्रोधादि का आश्रय लेकर संसार में काल बिताता है । फिर चला जाता है । बस इस तरह भवनाटक प्रपंच का अन्त ही नहीं आता है । अनादिकाल से यह क्रम चला आ रहा है । और अन्त के अभाव में सतत गतिमान यह संसार सदाकाल चलता ही रहता है । हाँ, कोई एक जीवविशेष समझकर अपने व्यक्तिगत संसार—भवभ्रमणा का अन्त लाकर, नाटक के बीच से निकलकर मोक्ष में चला जाता है । परन्तु संसार का नाटक तो अखण्ड रूप से निरन्तर अनन्तकाल तक चलता ही रहता है । बस इस और ऐसे भयंकर संसार समुद्र से जो जीव बचकर निकल गया वही पुण्यशाली... सर्वोत्तम... सर्वश्रेष्ठ महापुरुष है । वही सिद्ध—बुद्ध मुक्त बनता है ।

जी हाँ... भगवान बनना है तो बहुत ही सीधा—सादा और सरल उपाय है— संसार से सदा के लिए पार उतरना । इस संसारचक्र से सदा के लिए छुटकारा पाना । बस फिर आप सिद्ध भगवान बन गए । सिद्ध—बुद्ध—मुक्त परमात्मा बन गए । संसार का कोई भी जीव संसार से सदा के लिए छूटने पर सिद्ध भगवान बन ही जाता है । भावी का भूत में आरोपण करके इसीलिए कहा जाता है कि... जीव ही शिव है । प्रत्येक जीव में शिवत्व पड़ा है । शास्त्रों में **" अप्पा सो परमप्पा"** आत्मा ही परमात्मा कहा गया है । धर्म के क्षेत्र में... बस... संसारचक्र की जाल से छूटने से ज्यादा और कुछ भी अपेक्षित नहीं है । आप आसानी से भगवान बन सकते हैं । हाँ,... यदि यहाँ संसार में रहकर ही (बिना मरे) भगवान बनना है तो अरिहंत—तीर्थंकर भगवान बनना है तो बहुत कुछ करना पडेगा । यह प्रक्रिया इतनी सरल आसान नहीं है । परन्तु सिद्ध बनने के लिए संसार से छुटकारा पाने की प्रक्रिया बहुत ही सरल है । अन्त में जाकर आखिर अरिहंत को भी सिद्ध ही बनना पडता है । हाँ,... सभी अरिहंत नहीं बन सकते हैं । परन्तु सभी भव्यात्मा सिद्ध जरूर बन सकते हैं । फिर भी यदि जिस किसी जीवविशेष की अरिहंत बनने की उत्कृष्ट—प्रबल इच्छा हो तो वह विशेष प्रबल पुरुषार्थ करे तो जरूर अरिहंत बन सकता है । फिर भी सिद्ध बनना आसान है । बस... सदा के लिए संसार से मुक्ति पाइए और सिद्ध—बुद्ध—मुक्त भगवान बनिए ।

हाँ... सिर्फ संसार से मुक्त होने की प्रक्रिया ही जाननी, और तदनुरूप आचरण करना बहुत जरूरी है । संसार से मुक्त होना और सिद्ध बनना दोनों एक ही प्रक्रिया है । जी हाँ,... जो कुछ करना है वह सिद्ध बनने के पहले संसार में ही करना है । सिद्ध बनने

के बाद कुछ भी नहीं करना है । सिद्ध और संसार से मुक्ती दोनों में कोई अन्तर—भेद नहीं है । दोनों एक ही सिक्के की दो बाजू हैं । सिद्ध होना अर्थात् संसार से मुक्त होना है, और संसार से मुक्त होना अर्थात् सिद्ध बनना है । दोनों एक ही है । दोनों में कार्य—कारणभाव का संबंध है । संसार से मुक्त होना यह कारण है, और सिद्ध बनना यह कार्य है । अब आप ही सोचिए.... जो कारणरूप प्रक्रिया है उसी को प्रथम करना जरूरी है । और करने के लिए अच्छी तरह उस प्रक्रिया को जानना समझना और भी जरूरी है । जाने बिना करेंगे क्या ? और किये बिना जानना क्या काम का ? इसलिए जानने के बाद वैसा करना अत्यन्त जरूरी है और करने के लिए सही अर्थ में जानना उससे भी ज्यादा जरूरी है ।

आखिर संसार से मुक्त होने की प्रक्रिया का सच्चा सम्यग् ज्ञान किसमें से मिलेगा ? कहाँ से मिलेगा ? वह कौनसा ज्ञान है ? संसार में विषय की दृष्टि से ज्ञान के अनेक प्रकार हैं । अनेक क्षेत्र हैं, शाखाएं हैं । अतः अनेक प्रकार के ज्ञान हैं । जी हाँ,... एक नजर इन सब प्रकार के ज्ञानों पर करने से पता चलेगा कि इनमें से कौन से ज्ञान कैसे हैं ? विश्लेषण करने पर अच्छी तरह यह ख्याल आएगा । वर्तमान काल में संसार में जो ज्ञान प्रसरा—बढा है उसमें ९५% ज्ञान आजीविकालक्षी है । पेटभरू विद्या के रूप में फैल चुका है । अतः स्पष्ट ही कहावत बन चुकी है कि— *Learning is only for earning* सीखना—पढना मात्र कुछ धनोपार्जन करने के लिए ही है । आत्मलक्षी ज्ञान तो १% भी दिखना मुश्किल है, जबकि सत्य तो यह है कि... देह जड है । पौद्गलिक है । मृत्यु के बाद यहीं पडा रहेगा । जलकर राख बन जाएगा। और जीवात्मा चेतन है। नित्य—शाश्वत स्थितिवाला—अविनाशी है। सदाकाल रहनेवाला वही ज्ञान का खजाना है। जन्मान्तर—भवान्तर में जाकर पुनः दूसरा शरीर धारण करके रहेगा । जो अनन्तकाल तक सदा रहनेवाला है उसके लिए कुछ भी नहीं करना और जो क्षणिक—नाशवंत पौद्गलिक जड है उसी के लिए सबकुछ करते जिन्दगी बिता देना यह कहाँ तक उचित है ? कितना योग्य है ? अफसोस...

संसार में देहलक्षी ज्ञान, उद्योगलक्षी ज्ञान, आजीविकालक्षी ज्ञान, व्यवहारलक्षी ज्ञान, वर्तमान तकनीकी ज्ञान, विजाणु विज्ञान, शास्त्रज्ञान, व्यापारलक्षी ज्ञान, आदि ज्ञान ने मानव का विकास भले ही किया, अरे ! उसे चाँद तक भी भले ही पहुँचा दिया, व्यापार—उद्योग में चतुर बना दिया । राजनीति के ज्ञान को पाकर कोई राजकारण में कुशल मंत्री—प्रधानमंत्री बन गया, आरोग्य विज्ञान के ज्ञान से कोई शरीर के आरपार पहुँच गया, शस्त्रविद्या से कोई दुनिया पर विजय भी पा लेगा, तकनीकि ज्ञान से कोई चाँद पर भी पहुँच जाएगा ।

विज्ञानक्षेत्री ज्ञान से कोई वैज्ञानिक भी बन जाएगा । आधुनिक विज्ञान के सहारे कोई मंगल और गुरु ग्रह की अनेक उडानें भी भर लेगा । समुद्र की गहराई भी माप लेगा । शायद आकाश की ऊँचाई भी माप लेगा । संभव है शायद सबको और सबकुछ पहचान लेगा । परन्तु... अपने आप को, अपनी अंतरात्मा को पहचानने में आज का मानव असमर्थ ही सिद्ध हुआ है । आज का इन्सान उपग्रह छोड सकता है परन्तु पूर्वग्रह—परिग्रह नहीं छोड सकता है । कदाग्रह दुराग्रह छोडने में असमर्थ सिद्ध हुआ है । विज्ञान ने विकास की अपेक्षा विनाश की दिशा में अनेक गुनी ज्यादा प्रगति की है । विनाशक—घातक शस्त्रास्त्र बांबादि भयंकर विनाश—प्रलय खडा कर सकते हैं। विज्ञान ने मानव—मानव के बीच सौहार्द—मैत्री—प्रेम नहीं बढाया परन्तु द्वेष—दुश्मनी, बढाई । परिणामस्वरूप तबाही रुक न सकी । धर्म नही परन्तु यदि कोई धर्म के नाम पर झनून को लेकर संघर्ष करना है तो वह सच्चा धर्मी नहीं है । इसलिए मात्र धर्म ही पर्याप्त नहीं है । धर्म में भी अध्यात्म ज्यादा उपयोगी एवं उपकारी है ।

परमात्मा महावीर प्रभु ने स्पष्ट कहा है कि... **"जो एगं जाणई सो सव्वं जाणइ ।"** जो एक आत्मा को पहचानता है वह समस्त जगत् को जानता है । परन्तु दुनिया के सब पदार्थों को जानने के पश्चात् भी यदि एक मात्र चेतनात्म तत्त्व को सर्वांग सम्पूर्ण रूप से यदि नहीं पहचान पाया तो वह कुछ भी न जाननेवाला अज्ञानी ही कहलाएगा । ज्ञान किस विषय का है यह जानता है परन्तु ज्ञान स्वयं क्या है ? किसका गुण है ? वह गुणी कौन—कैसा है ? ज्ञान का उद्गम—स्रोत कहाँ है ? ज्ञानवान्—ज्ञानमय कौन है ? उस आत्मा को उसके सही स्वरूप को नहीं पहचाननेवाला, फिर भले ही वह दुनियाभर का कितना भी जाने, कितने भी विषयों को जाने तो भी क्या ? उसकी आत्मा के लिए क्या उपयोग में आएंगे ? वह अज्ञानी अल्पज्ञ ही कहलाएगा ।

यही कारण है कि... आज बडे से धनाढ्य श्रीमन्त—अरबों पति, राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री, राजा, वैज्ञानिक, सर्वोच्च सत्ताधीश, न्यायाधीश, अव्वल दर्जे के उद्योगपति, या चाहे कुलगुरु आदि बनने के बावजूद भी उनके जीवन में सुख—शान्ति—शाता का नामोंनिशान भी नहीं दिखाई देता है । उल्टे दुःख—अशान्ति वेदना—असंतोष ईर्ष्या—राग—द्वेष—काम—क्रोधादि सब दिखाई देते हैं । इन्सान विजय पाकर धरती का विजेता बन सकता है परन्तु अपने आप का आत्म विजेता नहीं बन रहा है । आत्म शान्ति के अभाव में दुःखी वैज्ञानिक को भी आत्महत्या करके मरना पडता है । राष्ट्रपति को भी दुःखी होकर मरना पडता है । प्रधानमंत्री को लोग कुत्तों की मौत मार डालते हैं । सर्वोच्च सत्ताधीश, न्यायाधीश को भी

रो...रो... कर मौत के घाट उतरना पडता है। सरमुखत्यारों को भी हाय... हाय.... करके जाना पडता है। अनेक सुख–सुविधाओं के बीच जीते रहते धनाढ्य–गर्भश्रीमन्तों–महन्तों को भी ऐसे विदाय लेनी पडती है कि मानों कोई उनका नाम भी लेने के लिए राजी नहीं है। अनेक राजा–महाराजाओं को भी आत्मशान्ति के अभाव में तड़प तडप कर मरना पडता है। चन्द्र और शुक्र पर जाकर आनेवालों को भी दुःखी–दुःखी होकर यमलोक जाना पडता है।

**कहाँ है सुख–शान्ति ?**

आखिर कहाँ है सुख–शान्ति ? क्या सुख के साधनों में सुख ढूँढने के लिए मानव भ्रान्त तो नहीं हो गया है ? मृगमरीचिका की तरह सुखाभास में सुख मानकर भ्रान्त होकर कहीं भटक तो नहीं रहा है ? यन्त्रयुग के विज्ञानवाद ने दिये हुए सुख के साधनों में, भौतिक सुखसामग्रियों में सुखाभास मानकर भ्रमणावश मोहित तो नहीं हुआ है ? हँसी तो इस बात की आ रही है कि... नाशवंत पदार्थों में शाश्वत सुख मान रहा है। स्वयं की स्थिरता का कोई ठिकाना नहीं है फिर भी अस्थिर जीवन में स्थिर सुख मानने की बालिश चेष्टा आज का अज्ञानी मानव करता है। जब स्वयं ही सदाकाल रहनेवाला नहीं है। फिर भी सुख सदा रहेगा ऐसी भ्रमणाएँ बनाकर जी रहा है। जिसमें सुख–शान्ति नहीं उसी में मान लेना क्या यह मूर्खता नहीं है ?

कैसा सुख चाहिए ? स्वतंत्र – स्ववश और स्वाधीन या फिर परतंत्र–परवश–पराधीन ? शायद उत्तर में तो आप सभी स्वतंत्र–स्ववश–स्वाधीन ही कहेंगे ? पसंद करेंगे। परंतु वर्तमान जीवन में जो कुछ चल रहा है बिल्कुल अलग ही चल रहा है। टी.वी., वीडियो, फोन, फ्रीज, गाडी, पत्नी, पुत्र, धन–संपत्ति, बाग–बंगला–आदि सेंकडों प्रकार की साधन–सामग्रियाँ क्या हैं ? स्व हैं कि पर ? ये सब पर हैं। बाहरी–बाह्य हैं। इन पर–पदार्थों के अधीन होकर जो सुख भोगे जाते हैं वे सब पराधीन, परवश, परतन्त्र ही कहलाते हैं। कितनी भी स्वर्ग की अप्सरासमान रूपसुन्दरी–सौन्दर्यवती पत्नी हो, उसके शरीर का उपभोग कर पराए शरीर के जरिए शारीरिक सुख भोगना, वैषयिक सुख भोगना, परवश ही कहलाएगा। कल यदि पत्नी रोगग्रस्त–बीमार रही, या न भी रही, मृत्यु पा गई या फिर आप स्वयं ही शक्तिहीन बन जाओगे तब क्या करोगे ? फोन, टी.वी., रेडीयो, वीडियो आदि साधन बिगडने पर, या बिजली चली जाने पर आपकी हालत कैसी होगी ? बिना पंखे या वातानुकूलित साधनों

के बिना नींद न आनेवालों को बिजली के अभाव में पसीने की बदबू में नरकागार लगेगा। कल मारुति के बिना न चलने वालों की "मारुति" का जब अकस्मात हो जाएगा तब वह मारुति—मारुति ही नहीं रहेगी . . . शायद पीछे "माँ—रोती" रह जाएगी। याद रखिए, संसार के प्रत्येक सुख पराधीन है, परवश है, परतंत्र है। अतः पू. हरिभद्रसूरि म. **योगबिन्दु** में ठीक ही कह रहे हैं कि—

**स्ववशैव सुखं सर्व, परवशमेव दुःखम्।**
**एतदुक्तं समासेन, लक्षणं सुखदुःखयोः॥**

याद रखिए और पाषाण की तख्तीपर लिखकर रखिए कि— सबकुछ जो स्ववश—स्वाधीन और उसी में सुख है। तथा जो जो परवश—पराधीन—परतन्त्र हैं उसमें निश्चित रूप से दुःख ही दुःख है। बस संक्षेप में यही सुख—दुःख का लक्षण है। "आत्मा" एक ही "स्व"शब्दवाच्य है। शेष सभी "पर"शब्दवाच्य है। अतः पराए हैं। तथा पर होने से बाह्य हैं। इन्द्रियाँ भी पर है। शरीर भी पर है, जी हाँ, मन भी पर है, और यह वाचा—वाणी भी पर है। इसलिए जो भी सुख शरीर, इन्द्रियों, और मन से भोगा जाता है वह सब पर—बाह्य है। अतः वह सुख नहीं अपितु दुःख ही है। आभास मात्र होने से सुखाभास कहलाता है। जिन ज्ञानेन्द्रियों या जननेन्द्रियों से जो ऐन्द्रिय सुख भोगा जाता है अन्त में इन्द्रियाँ या जननेन्द्रियों से जो ऐन्द्रिय सुख भोगा जाता है अन्त में इन्द्रियाँ क्षीण होने पर, या शक्ति क्षीण होने पर, या विकलेन्द्रिय—विकलांग बनने पर वे ही सुख के साधन दुःख रूप लगते हैं। आत्मा इन्द्रियों के अधीन बनकर सुखों को भोगती है। अतः वे सभी सुख पराधीन कहलाते हैं। पाँचों इन्द्रियों से २३ विषयों के सुख भोगे जाते हैं अतः वे सभी वैषयिक सुख कहलाते हैं। जननेन्द्रियों द्वारा भोगा जाता सुख विषय—वासना का काम—सुख कहलाता है। शरीर भी पर है। न तो शरीर आत्मा है और न ही आत्मा शरीर है। शरीर जड और आत्मा चेतन है। शरीर पुद्गल परमाणुओं का संचित पिण्ड मात्र है। मलमूत्र का घर है। रोगों का घर है। ज्ञानादि गुणों से रहित नाशवंत है। जबकि चेतनात्मा ज्ञानादि गुणयुक्त शाश्वत—नित्य है। ज्ञान—दर्शनात्मक चेतनामय पदार्थ है। अतः आत्मा शरीर से सर्वथा भिन्न है और शरीर सर्वथा आत्मा से भिन्न स्वतंत्र पदार्थ है। लेकिन संसारी अवस्था में दोनों संयुक्त हैं। एक दूसरे से जुडे हुए हैं। आत्मा ने अपने रहने के लिए संसार में शरीररूपी घर बनाया है। आत्मा शरीर को बनाती है न कि शरीर आत्मा को बनाता है। एक अनादि—अनुत्पन्न—शाश्वत जो अजर—अमर पदार्थ है उसे बनाने का प्रश्न ही खडा नहीं होता है। शरीर को ही आत्मा मान लेनेवाले मूर्ख भ्रमणा में हैं। और आत्मा

के बिना शरीर का अस्तित्व मान लेनेवाले उससे भी डबल मूर्ख है । क्योंकि आत्मा हो और वह बनाए तो ही शरीर बन सकता है । उसके बिना शरीर का अस्तित्व ही नहीं रहता है । इसीलिए गर्भ में पहले आत्मा प्रवेश करती है फिर वह वहाँ गर्भ में उपलब्ध आहार के पुद्गल परमाणुओं को ग्रहण करके स्व—कर्मानुसार देहपिण्ड की रचना करती है । और उस स्वनिर्मित शरीर में निर्धारित कालावधि तक रहने का समय आयुष्यकर्मानुसार प्राप्त होता है । बस आयुष्य कर्म की कालावधि समाप्त होने पर आत्मा इस पौद्गलिक देहपिण्ड को छोडकर चली जाती है । तत्पश्चात् संसार के नियमानुसार उस जड देह को ले जाकर राख कर दिया जाता है । आखिर आत्मा के आगमन और देह के साथ संयोग को जन्म कहा जाता है तथा देह का वियोग कर जाने को मृत्यु कही गई है । अतः यह देह स्वभिन्न—आत्मा से अलग—पराया—बाह्य है । अब आत्मा शरीर के माध्यम से जो भी सुख भोगेगी वह सब पराधीन—परतन्त्र कहलाएगा । इन्द्रियाँ ये शरीर की खिडकी दरवाजे के रूप में है । जिनके माध्यम से आत्मा बाह्य—पर पदार्थों का बोध ग्रहण कर सकती है । कल यदि शरीर शक्तिहीन निर्बल, रोगग्रस्त हो जाय तो कोई भी सुख नहीं भोगा जा सकता है । सुख भोगना तो दूर रहा लेकिन शरीर ही दुःखरूप—भाररूप लगेगा ।

**मन—इन्द्रियों से भी परे आत्मा—**

शरीर की ही तरह "मन" भी एक जड साधन मात्र है । न तो मन आत्मा है और न ही आत्मा मन है । आत्मा को मन कहना या मन रूप में मानना, या दोनों को एक ही कहना, या एक शब्द से ही वाच्य बनाकर व्यवहार करना भी मूर्खता है । सर्वथा गलत है । संसार में मन रहित—विना मन के भी अनन्त जीव हैं और मनसहित—मनवाले भी असंख्य जीव हैं । सर्वथा बिना मन के जीनेवाले असंज्ञि—अमनस्क कहलाते हैं और मनसहित मनवाले जीवों को संज्ञि समनस्क कहते हैं । चेतनात्मा ज्ञान दर्शनात्मक चेतनायुक्त चैतन्यस्वरूप पदार्थ है जबकि मन ज्ञान—दर्शनादिरहित जड—पुद्गल परमाणुओं से निर्मित पुद्गल पिण्डरूप जड पदार्थ है । जैसे आत्मा ने रहने के लिए शरीर बनाया उसी तरह सोचने विचार करने के लिए मन को बनाया है । जिसके माध्यम से सोचने—विचारने की प्रक्रिया चल सके । पानी जैसे मछली के लिए चलने—रहने के लिए माध्यम—साधन है वैसे ही सोचने—विचारने के लिए सहायक साधन मन है । फिर कैसे मन को आत्मा माना जाय या आत्मा को मन कैसे कहा जाय ? ऐसी छोटी सी भूल भी बहुत बडी भयंकर भूल बनकर संपूर्ण विकास को अवरुद्ध कर देती है । मन को बनाने के लिए आत्मा के पास स्वतंत्र

कर्म प्रकृति है । तथा प्रकार की कर्म प्रकृति के अनुसार और अनुरूप मनादि आत्मा बनाती है । आत्मा के बिना मन का अस्तित्व नहीं है परन्तु मन के बिना भी आत्मा का अस्तित्व जरूर रहता है ।

कई जीव जो १ से ४ इन्द्रिय तक के हैं वे "मन" बनाते ही नहीं है, (वैसी कर्म प्रकृति के अभाव में) अतः वे असंज्ञि—अमनस्क कहलाते हैं । चिंटी—मकोडे—मक्खी—मच्छर तक तथा पंचेन्द्रियों में भी अमनस्क होते हैं । उनके पास विचारशक्ति नहीं होती है । संज्ञि समनस्क मनुष्यों देवादि के पास सोचने—विचारने की शक्ति होती है । लेकिन इस विचारशक्ति का दुरुपयोग करके हमें गलत—विपरीत नहीं सोचना चाहिए । सत्य की ही दिशा में सोचते हुए चरम सत्य को पाना चाहिए । इसी में सार्थकता है ।

अब आप स्वयं ही सोच सकते हैं कि... जो मन से मानासिक विचारों मात्र से सुख पाते हैं वह मानसिक सुख भी आत्मा के लिए पराधीन—प्रवश है । कंई जीव शेखचिल्ली की तरह हवाई तरंगों के विचारों को करते करते अपने आपको सुख प्राप्त होता है ऐसा मान लेते हैं । निद्रावस्था में स्वप्न भी विचारमय ही है । स्वप्न में अपने आपको राजा बना हुआ देखकर क्षणभर के स्वप्न में ही सुखी मान लेता है । लेकिन नींद खुलने पर वही दरिद्रावस्था देखकर फिर अफसोस मानकर हाय मलने के सिवाय कोई विकल्प नहीं रहता है । मन विकल्पों से भरा हुआ है । मन के द्वारा किए गए मानसिक विचार अल्पकालिक हैं । विचार क्षणमात्र भी स्थिर नहीं रह पाते हैं । अतः मन के विचारों का सुख भी क्षणजीवी होता है । स्वर्ग की अप्सरा पाने का भोगने का सुख क्षणमात्र टिकता है, अतः क्षणिक है । क्षणमात्र टिकनेवाले विचार से जीव क्या सुखी होगा ? नहीं, कदापि नहीं । आत्मा का सुख शाश्वत—नित्य है, जबकि मानासिक सुख मात्र क्षणिक है । कल यदि मन सही सोच ही न पाए, या ज्यादा अशुभकर्मों के उदय के कारण मानसिक रोगों से ग्रस्त—उन्मानादि के अधीन हो जाय, तो ... या पागलपन मूर्खतादि बढ जाय तो वही मन सुख के बदले दुःख का कारण बन जाता है । अच्छे शुभ विचार स्व—पर उभय के लिए सुख का कारण बनते हैं, और अशुभ—खराब विचार स्व—पर उभय के लिए दुःखरूप बन जाते हैं । इसीलिए अशुभ—खराब विचारों को कृपया बाहर नहीं फेंकने चाहिए । शुभ—अच्छे विचारों को अनेकबार जगत् के सामने रखिए, सबको फायदा होगा ।

इसी तरह वाचा—वाणी का भी यही स्वरूप है । भाषा भी जड है । पौद्गलिक है । भाषा वर्गणा के पुद्गल परमाणुओं से ही भाषा बनती है । यह कार्य भी जीवात्मा का ही है । आत्मा ही अपनी विशिष्ट प्रकार की कर्मप्रकृति के अनुसार बोलने के लिए भाषा वर्गणा

के जड भौतिक पौद्गलिक परमाणुओं को ग्रहण करके उन्हें भाषा के रूप में परिणमन करती है । बिना चेतनात्मा के यह कार्य कोई कर ही नहीं सकता है । जड कभी भी अ—ब—क—ड आदि के सही उच्चार की भाषा का प्रयोग कर ही नहीं सकता है । अच्छी—सुंदर भाषा बोलकर बोलनेवाला तथा सुननेवाला दोनों सुख पाते हैं । परन्तु मोहनीय कर्म का उदय होने के बाद कषायादि द्वारा जब गाली—गलौच की अपशब्दों से भरी हुई भाषा जब कोई बोलता है तब स्व—पर दोनों को दुःख होता है । भाषा से सुख—सत्ता—मान—सन्मान भी पाया जा सकता है । और भाषा के ही कारण दुःख—हल्का स्थान—अपमान—तिरस्कार भी प्राप्त किया जा सकता है । दोनों का आधार भाषा पर है, और भाषा का आधार जीव पर है । यदि जीव सोच समझकर सुव्यवस्थित प्रिय—मधुर सच्ची भाषा बोले तो कहीं दुःख का प्रश्न ही खडा नहीं होगा । इसीलिए कहा है कि—

**सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात्, मा ब्रूयात् अप्रियं च सत्यं ।**

सत्य जरूर बोलिए लेकिन उसे भी मीठा बनाकर मधुर बोलिए । लेकिन अप्रिय कटु सत्य भी मत बोलिए । हो सकता है कि सत्य होते हुए भी अप्रिय कटु होने के कारण वह सत्य भी मार खा जाएगा। सामनेवाला शायद ग्रहण न भी करे। अतः हितकारी—प्रिय—आदरार्थी, मधुर ऐसी सत्ययुक्त भाषा बोलनी चाहिए । ऐसी भाषा से व्यक्ति दुश्मन को भी मित्र बना सकती है । किसी को वश में कर सकती है । अतः वशीकरण विद्या भाषा में है । भाषा सुख और दुःख दोनों में कारण बनती है । परन्तु भाषा भी आत्मा से परे है । इसलिए इससे मिलनेवाला सुख भी पर—बाह्य है यह सुख भी परवश—पराधीन है ।

इस तरह मन—शरीर—इन्द्रियाँ—वाचा आदि सभी जो पर हैं, बाह्य हैं, जडरूप हैं, इनके अधीन होकर जो भी सुख आत्मा भोगने गई उसमें आत्मा ने ज्यादा मार ही खाई है । दुःख भोगकर दुःखी ही हुई है । संसार के सभी सुख मन—वचन—काया और इन्द्रियों के अधीन हैं । इनसे भोगे जाते हैं । अतः संसार के सुखों में से एक भी सुख ऐसा नहीं है जो मनादि के बिना भोगा जा सके, नहीं है । सभी सुख मनादि द्वारा भोगे जाते हैं । और ये मनादि सभी जड हैं । पर—बाह्य हैं । अतः ये सुख पराधीन—परवश—परतंत्र हैं । स्वाधीन नहीं हैं । और जब आत्मा पराधीन बनकर सुख भोगने जाती है तब ज्यादा दुःखी बनती है। एक तरफ तो वह सुख सच्चा नहीं है। सुखाभास मात्र है। और सुखाभास दुःखरूप—दुःखदायी लगता है । परिणामस्वरूप आत्मा ज्यादा दुःखी होती है ।

अतः सही अर्थ में यदि जीव को सुखी होना ही हो, सुखानुभूति करनी ही हो तो निश्चित रूप से उसे सर्वप्रथम यह निर्णय करना ही होगा कि . . . "हर हालत में मुझे स्ववश—स्वाधीन—स्वतंत्र सुख ही भोगना चाहिए, पर—बाह्य पदार्थों के अधीन—पराधीन—परवश—बनकर सुख भोगना ही नहीं है, मन—वचन—काया और इन्द्रियों से सुख भोगना ही नहीं है" ऐसा दृढ संकल्प करके इस निर्धार के साथ सच्चे सुख की प्राप्ति की दिशा में आगे बढना चाहिए । अन्यथा नहीं ।

**आध्यात्मिक सुख—**

आत्मा से सीधे जो सुख भोगा जाय वही आत्मिक सुख है । वही स्ववश—स्वाधीन, स्वतन्त्र सुख है और वही वास्तविक सच्चा सुख कहा गया है । संसार के सुख सुखाभास होते हुए भी दुःखरूप फलदायी रह जाते हैं । जबकि आत्मा का सुख बढकर आनन्दरूप बन जाता है । आनन्द—परमानन्द बनता है । सच्चिदानन्द, आनन्दघन बनता है । याद रखिए, सुख बडा नहीं आनन्द बडा है । सुख और आनन्द के बीच की भेदरेखा को साधक समझ सकता है । सुख के आधार पदार्थ—वस्तुएं बन सकती है, जबकि आनन्द का आधार सम्यग् ज्ञान बनता है । बिना सच्चे यथार्थ ज्ञान एवं वीतराग भाव के आनन्द नहीं प्राप्त होता है । और बिना आनन्द के सच्चा सम्यग् यथार्थ ज्ञान प्राप्त नहीं होता है । आत्मा अपना ही सच्चा ज्ञान बढाकर आनन्द की अनुभूति में मस्त रह सकती है । इसीलिए आनन्द को ज्ञानानन्द कहा जाता है । संसार के पदार्थों को सुख प्राप्ति के लिए भोगने के लिए किसी भी प्रकार के सच्चे ज्ञान की कोई आवश्यकता नहीं रहती है । बिना आत्म ज्ञान के रागादि मोहभाव से भी संसार के पौद्गलिक पदार्थ भोगे जा सकते हैं । उनमें से सुख प्राप्त किया जा सकता है । जबकि आत्मा के आनन्द की प्राप्ति यदि करनी हो तो आत्मा के सच्चे वास्तविक ज्ञान को अनिवार्यरूप से प्राप्त करना ही चाहिए । बिना उसके कभी भी आनन्दानुभूति नहीं होगी ।

संसार से मुक्त सिद्धावस्था में वही आनन्द अनन्तगुना बढकर अनन्तानन्द बन जाता है । हमारी भाषा में हम उसे असीम, अमाप अगणित, अपरिमित, अनन्त आनन्द कहते हैं । जब आनन्द ही इतना अनन्त बन जाता है तो उसका आधारभूत ज्ञान कितना बढना या होना चाहिए ? स्पष्ट ही है कि ज्ञान भी असीम, अमाप, अगणित, अपरिमित, अनन्त ज्ञान होना ही चाहिए . . . . तभी आत्मा सर्वज्ञ, वीतरागी, अरिहंत—तीर्थंकर भगवान, या सिद्ध भगवान कहलाती है । या बनती है । ज्ञान और आनन्द दोनों एक—दूसरे से जुडे हुए हैं । आधार—आधेय भावसंबंध से संलग्न है ।

अनन्त ज्ञान के लिए वीतरागता उतनी ही अनिवार्य है । वीतरागभाव न हो और यदि राग—द्वेष से ग्रस्त आत्मा हो तो फिर हमारा समस्त ज्ञान राग—द्वेष से ग्रस्त कलुषित हो जाएगा । वह विकृत हो जाएगा । अतः ज्ञान में से विकृति निकालने के लिए भी राग—द्वेष का सर्वथा समूल—सर्वांशिक नाश—क्षय करना अत्यन्त आवश्यक है । क्योंकि ये राग—द्वेष जब तक अस्तित्व में रहेंगे वहाँ तक वे ज्ञान ज्ञान आनन्द को भी उत्पन्न होने या टिकने ही नहीं देंगे । राग—द्वेष विषय—कषाय—काम—क्रोधादि सब का समूल नाश—क्षय करने का ही हमारा लक्ष्य रहना चाहिए । यही हमारा धर्म बनना चाहिए । इन सबका एक सम्मिलित नाम "जैन कर्म विज्ञान" ने 'मोह' मोहनीय कर्म दिया है ।

**अध्यात्म विद्या—**

आजीविकादि निमित्तक जैसे सब तरह के अनेक विषयों का ज्ञान है वैसे ही इन राग—द्वेषात्मक, विषय—कषायात्मक मोहनीय कर्म को जीतने के लिए, सबका स्वरूप समझने और सबका समूल आत्यन्तिक क्षय करने के लिए जो ज्ञान है उसका नाम— "अध्यात्म शास्त्र" है । अध्यात्म विद्या है । इसमें आत्मा का प्रमुख लक्ष्य लेकर उस पर लगे मोहनीयादि कर्मों का स्वरूप समझाया गया है । तथा रोग ही नहीं अपितु दवाई—उपचार स्वरूप में मोहनीयादि कर्मों का सर्वांशिक—समूल नाश—क्षय करने की प्रक्रिया भी विस्तार से समझाई गई है । अतः इसे अध्यात्म या आध्यात्मिक शास्त्र *Spiritual Science* कहा गया है ।

याद रखिए, कर्म और आत्मा एक दूसरे से संलग्न हैं । एक ही सिक्के की दो बाजू की तरह हैं । संसार में कर्मरहित आत्मा नहीं है और आत्मारहित कर्म के अस्तित्व का तो सवाल ही नहीं खडा होता है । क्योंकि आत्मा बांधे तो ही कर्म बनते हैं । कर्म कहलाते हैं, अन्यथा नहीं । आत्मा ही अपने मिले हुए साधन मन—वचन—काया से जो जिस प्रकार की शुभाशुभ—पुण्य—पापात्मक प्रवृत्ति करती है । उसी के कारण बाहरी आकाश मण्डल में रही हुई कार्मण वर्गणा के पुद्गल—परमाणुओं को आकर्षित करके आश्रव द्वारा अन्दर खींचकर आत्मप्रदेशों के साथ एक—रस कर बांधती है तब कर्म बनते हैं । जैसे दूध—पानी की तरह, दूध—शक्कर की तरह या अग्नि और लोहे की तरह मिल—जुलकर एकरस बन जाते हैं, ठीक उसी तरह आकृष्ट कार्मण वर्गणा के जड पुद्गल परमाणु आत्म प्रदेशों के साथ मिल—जुलकर एक रसी भाव (बंध तत्त्व) बन जाते हैं तब वे "कर्म" संज्ञा पाते हैं । अब पानी—शक्कर या लोहे का स्वरूप स्वतंत्र रूप से स्पष्ट नहीं दिखता है । परन्तु उस

विजातीय तत्त्व के साथ घुला—मिला हुआ मिश्रीभावयुक्त दिखाई देता है । ठीक उसी तरह अब आत्मा का भी शुद्ध स्वरूप स्वतंत्र रूप से दृष्टिगोचर नहीं होता हुआ कर्म के रंग से रंगा हुआ ही दिखाई देता है । अतः आत्मा के बिना कर्म का अस्तित्व ही नहीं है । कल्पना भी नहीं की जा सकती है । अतः संसारी अवस्था में कर्म संयुक्त ही आत्मा है । अतः संसार से सदा के लिए मुक्त अर्थात् सर्वथा कर्म से मुक्त होना ही सच्ची मुक्ती है । कर्म मुक्ति कारण रूप है और संसार मुक्ति फल (कार्य) स्वरूप है । व्यवहारिक भाषा में संसार से मुक्ति ऐसे भाषा के प्रयोग में बोला जाता है, जबकि शास्त्रीय भाषा में कर्म से मुक्ति की भाषा का प्रयोग होता है ।

जैसे जेल में बंदिस्त चोर—अपराधी रात—दिन मुक्त होने के लिए दाव—पेच रचता है, या पिंजरे में बंध पशु—पक्षी दिन—रात चक्कर लगाते—उडते हुए प्रयत्नशील रहते हैं । उनसे भी हजार गुना ज्यादा कर्म रूपी पिंजरे में बंदिस्त पापासक्त यह अपराधी आत्मा निरन्तर—अविरत उस कर्मबंध से मुक्त होने के लिए तडपती रहे, सोचती—विचारती रहे, उपाय करती रहे । उस उपायभूत ज्ञान को ज्ञानियों ने "अध्यात्म विद्या, आध्यात्मिक शास्त्र" नाम दिया है । इस अध्यात्म शास्त्र *Spiritual Science* में आत्मा को मोहादि कर्मों के बंधन से कैसे मुक्त होना ? और आत्मा का पूर्ण शुद्ध स्वरूप कैसे प्रगट करना ? इसकी प्रकिया उपाय और ज्ञान दर्शाया गया है । इसलिए सब प्रकार के विज्ञानों में सर्वोपरि विज्ञान आध्यात्मिक विज्ञान है । *The Spiritual Science is the Supreme Science of all the Sciences.*

आपने यदि सब कुछ जाना है, समझा है, सेंकडों विषयों का ज्ञान सम्पादन भी किया है परन्तु यदि अध्यांत्म शास्त्र यदि नहीं जाना, नहीं समझा, या आध्यात्मिक ज्ञान नहीं सम्पादन किया तो निश्चित ही समझिए कि . . . आपका समस्त ज्ञान निरर्थक है, निष्फल है, शून्य है । **"अध्यात्मसार"** नामक ग्रन्थ में पूज्यश्री महामहोपाध्यायजी यशोविजयजी म. सा. ने इसी सार का निर्देश किया है— वे स्पष्ट कहते हैं कि . . . .

**यः किलाशिक्षिताध्यात्मशास्त्रः पाण्डित्यमिच्छति ।**
**उत्क्षिपत्यंगुलीं पंगुः स स्वर्द्रुफललिप्सया ।। ११ ।।**

— अध्यात्म शास्त्र के अध्ययन के बिना ही जो पण्डित्य—विद्वता की इच्छा करता है, वह उस पंगु के समान है, जो कल्पवृक्ष के फल लेने के लिए अंगुली ऊँची करता है । ऐसी हास्यास्पद स्थिति होती है ।

"अध्यात्मशास्त्रमुत्ताल–मोहजालवनानलः ॥

— विकट महामोहजालरूपी वन को जलाने में दावानल के समान है ।

**येषामध्यात्मशास्त्रार्थतत्त्वं परिणतं हृदि ।**
**कषाय–विषयावेश–क्लेशस्तेषां न कर्हिचित् ॥ १४ ॥**

— अध्यात्म शास्त्र के भावार्थ–रहस्य का तत्त्व जिनके भी हृदय में परिणमन हो चुका है उन्हें कभी क्रोधादि कषायों का क्लेश संताप नहीं सताता है । क्योंकि वे अपने मन–इन्द्रियों को वश में रखते हैं ।

**निर्दयः कामचण्डालः पण्डितानपि पीडयेत् ।**
**यदि नाध्यात्मशास्त्रार्थबोध–योधकृपा भवेत् ॥**

— अध्यात्म शास्त्र के अर्थबोधरूपी योद्धा की कृपा न हो तो निर्दय काम चण्डाल पंडितों को भी पीडित–दुःखी कर देता है । सोचिए पंडितों–विद्वानों की हालत ऐसी हो जाय तो फिर सामान्य बाल जीवों की तो पूछना ही क्या ?

**अध्यात्मशास्त्रहेमाद्रि–मथितादागमोदधेः ।**
**भूयांसि गुणरत्नानि प्राप्यते विबुधैर्न किम् ॥**

— अध्यात्म–शास्त्ररूपी मेरुपर्वत को दण्ड बनाकर यदि आगम सागर का मंथन किया जाय तो विद्वान–ज्ञानी भी अनेक रत्नों के निधान को पा सकते हैं ।

इस तरह अध्यात्म शास्त्र का, ज्ञान का अनेक दृष्टिकोण से अद्भुत–अनुपम माहात्म्य दर्शाया गया है । इसका महत्व समझकर सभी को अध्यात्म की दिशा में प्रगति करनी ही चाहिए ।

**आध्यात्मिक विकास यात्रा—**

हम तीर्थों की यात्रा तो करते ही हैं । "यात्रा" शब्द तीर्थभूमियों–तीर्थस्थानों में पहुँचकर परमात्मा की दर्शन–पूजा करके निकलना है । **"दर्शनं पापनाशनं"** का हेतु सार्थक करना है । यात्रा–गमन अर्थ में है । यहाँ आध्यात्मिक यात्रा है । यह भी ध्यान की प्रक्रिया के अर्थ में है । इसमें मन आत्ममंदिर में दर्शनार्थ जाता है । आत्मारूपी–परमात्मा के विराट स्वरूप का, गुणों का दर्शन करता है । गुणों के प्रति पूज्यभाव से श्रद्धासुमन चढाकर भावपूजा करता है । पूज्य भाव व्यक्त करता है । अंतर्ध्यान हो जाती है । आत्मा अपनी ही अंतर्यात्रा स्वयं करती है । उस समय दो के दर्शन होते हैं । प्रथम कर्मपडल–आवरण का ।

आत्मा पर चारों तरफ संपूर्ण रूप से लगे हुए कर्म के आवरणों का जो स्तर—पडलरूप बन गया है, उस गाढ कर्म के आच्छादक परदे के बीच से सूंई की तरह दृष्टि आरपार पहुँच जाती है। तभी आत्मराम के दर्शन कर पाती है आत्मा। तब अपने सहस्रसूर्य समान तेजस्वी ज्ञानमय—आनन्दमय शुद्धस्वरूप का दर्शन कर पाती है। बस यही करना है। एक बार आत्मानन्द का रसास्वाद कर लेने के पश्चात् वह रसास्वाद भूला नहीं जा सकता। फिर वह रसास्वाद ही जागृति लाता है, और आत्मा को अपने साध्य तक पहुँचने में सहायक बनता है। बस फिर तो सभी कर्मों का क्षय करने की पूरी कोशिश की जाती है।

अनन्त काल में जो अपूर्व शक्ति नहीं आई वह और वैसी शक्ति अब आई है। यही शक्ति काम की है। फिर शरीर की शक्तियाँ पाकर बढाकर कुश्तीबाज बनकर विश्वविजेता की उपाधियाँ प्राप्त करने का कोई अर्थ ही नहीं रहता है। सब निरर्थक—व्यर्थ है। अब आत्म विजेता की सर्वश्रेष्ठ उपाधि प्राप्त करने का लक्ष्य—साध्य रखकर आत्मविजेता बनना चाहिए। याद रखिए ऐसा आत्मविजेता—कर्मविजेता ही सच्चा विश्वविजेता कहलाता है, और ऐसा विजेता सदा के लिए... अनन्तकाल तक अजेय रहता है।

आत्मा के शुद्ध स्वरूप का विकास करने की दिशा में आगे प्रयाण करते रहना... ही आध्यात्मिक विकास यात्रा है। विकास शब्द द्व्यर्थी प्रक्रिया का सूचक है। कर्म का क्षय और आत्मा की शुद्धि। यदि गहराई में उतरकर देखा जाय तो दोनों एक ही है। यहाँ कार्य दो लगते हैं, परन्तु फलस्वरूप दोनों एक ही है। दोनों के बीच कार्य—कारण भाव का संबंध है। कर्मक्षय कारणरूप है। और आत्मशुद्धि कार्य—फलस्वरूप है। कर्मक्षय क्रियात्मक है और आत्मशुद्धि क्रिया के फलस्वरूप है। जैसे भोजन करने की क्रिया और उदरपूर्ति—तृप्ति होना दोनों कार्य—कारण भाव से एकरूप ही हैं।

जहाँ तक कर्मों का क्षय नहीं होगा वहाँ तक आत्मशुद्धि नहीं होगी, और जब तक आत्मशुद्धि नहीं होगी वहाँ तक आत्मा का विकास नहीं होगा, और जब तक आत्मा का विकास नहीं होगा तब तक आत्मा गुणश्रेणी पर आगे नहीं बढेगी। और जब तक आत्मा गुणश्रेणी पर अग्रसर नहीं होगी तब तक मुक्ति नहीं होगी। अतः मुक्ति के लिए गुणस्थानों पर आगे बढना आवश्यक है, और गुणस्थानों पर आगे बढने के लिए आत्मिक विकास साधना जरूरी है। तथा विकास साधने के लिए आत्मशुद्धि आवश्यक है। तथा आत्मशुद्धि हेतु कर्म का क्षय (निर्जरा) अनिवार्य है, और कर्मक्षय (निर्जरा) के लिए आध्यात्मिक धर्म की उपासना अत्यन्त आवश्यक है। वैसा आत्मधर्म आराधते हुए या आराधन करने के लिए पापादि की प्रवृत्ति करना सर्वथा वर्ज्य है। जब पुराने पाप—कर्मों

का क्षय ही करना है तो फिर नए पापकर्मों को कौन समझदार उपार्जन करेगा ? एक तरफ तो पुराने पापों का हिमालय जितना ढेर क्षय नहीं कर पाते हैं, तो फिर नए पाप करके उन कर्मों का प्रमाण बढाना ही क्यों चाहिए ? अतः प्रत्येक साधक का लक्ष्य एक ही होना चाहिए कि . . . "पुराने पापकर्म सिर पर रखना ही नहीं और नए पापकर्म करने ही नहीं है ।" बस इतना लक्ष्य रखकर चलनेवाला ही सच्चा साधक—मोक्षमार्ग का उपासक कहलाएगा ।

**गुणस्थानारोहण—**

"आध्यात्मिक विकास यात्रा" के सोपान स्वरूप, माइलस्टोनरूप एक—एक गुणस्थान जैन शास्त्रों में बताए गए हैं । ऐसे कुल १४ गुणस्थानों में आध्यात्मिक विकास का स्वरूप बताया गया है । पू. उपकारी आचार्य भगवंत श्री रत्नशेखरसूरि महाराज ने आगमशास्त्रों क' शास्त्रों में से सार—सार ग्रहण करके "गुणस्थान क्रमारोह" नामक स्वतंत्र ग्रन्थ की रचना की है । उसमें एक—एक गुणस्थान का सुन्दर विश्लेषण करते हुए कर्मबंध, उदय, उदीरणा, सत्ता, क्षयादि का अनोखा—अद्भुत स्वरूप दर्शाया है । गुणस्थान के विषय को समझाने में यह अपने प्रकार का एक पूर्ण ग्रन्थ है । कर्मविज्ञान के स्वरूप और रहस्यों की पूर्ण प्रक्रिया के अभ्यास के बिना इस ग्रन्थ में प्रवेश होना बहुत ही मुश्किल है । जरूर यह बडा ही जटिल ग्रन्थ है । अतः इसे समझने के लिए सरलीकरण रूप विवेचन इस "आध्यात्मिक विकास यात्रा" नामक पुस्तक में करने का रखा ।

"आध्यात्मिक विकास यात्रा" नामक प्रस्तुत पुस्तक में निगोद की प्राथमिक अवस्था से जीव की अन्तिम सिद्धावस्था तक का स्वरूप वर्णित किया गया है । प्रासंगिक स्वरूप में निगोद का स्वरूप, जगत् का स्वरूप, जगत् कर्ता ईश्वर है या नहीं ? का स्वरूप, आत्मा का स्वरूप, काल की विचारणा, मोक्ष मीमांसा, अन्य दर्शनों की मीमांसा आदि अनेक अवान्तर आनुषंगिक विषयों का समावेश भी साथ ही किया है । जो मूल विषयों को स्पष्ट समझने के लिए सहायक बन सके । साथ ही साथ समझने में सरलता—सुगमता रहे इसके लिए अनेक चित्रों द्वारा इस पुस्तक सचित्र बनाई गई है । चित्र भी तत्त्वों को समझने में काफी अच्छे सहायक बनते हैं ।

यात्रा शब्द इसलिए सार्थक लगता है कि . . . "चेतनात्मा एक—एक गुणस्थान के सोपान पर आरूढ होकर, अपना वैसा स्वरूप बनाकर पुनः आगे बढती है । एक एक गुणस्थान पर रुककर वैसी बनकर—वैसा स्वरूप धारण करके पुनः आगे बढती है । कभी

सम्यक्त्वी—शुद्ध श्रद्धालु, कभी श्रावक, कभी साधु बनकर, ध्यानी—योगी बनकर आगे—आगे बढती ही जाती है। आगे—आगे के गुणस्थानों को प्राप्त करती हुई, अपना विकास साधती है। यह निगोद के निम्नतम स्थान पर—अव्यक्तावस्था में पडी हुई आत्मा को वहाँ से ऊपर उठाते—उठाते सिद्ध की सर्वोच्च—सर्वश्रेष्ठ कक्षा तक पहुँचने—पहुँचाने की प्रक्रिया विषयक यात्रा है। जीव की विकास यात्रा की शुभ शुरुआत निगोद से होती है और सिद्ध बनने में पूर्ण होती है। अतः प्रारंभिक एवं अन्तिम दोनों किनारे दर्शाए गए हैं। तथा दोनों किनारों के बीच जैसे नदी का पानी बहता है वैसे ही दोनों किनारों के बीच के सभी गुणस्थानों का स्वरूप—अवस्थादि सभी विषयों को यहाँ वर्णित किया है।

गुणस्थान क्रमशः उत्तरोत्तर चढते हुए क्रम से हैं। एक से दूसरा श्रेष्ठ, आगे भी चौथे से पाँचवा श्रेष्ठ, छट्ठा श्रेष्ठ और सातवाँ आदि आगे—आगे के श्रेष्ठ—श्रेष्ठतर, श्रेष्ठतम कक्षा में चढते ही जाते हैं। क्रमशः इन गुणस्थानों के सोपानों पर पहुँची हुई आत्मा वैसी गुणी—गुणवान बनती है। प्रथम मिथ्यात्व के गुणस्थान पर जीव मिथ्यात्वी बनता है। चौथे पर आकर श्रद्धालु—सम्यक्त्वी बनता है। पाँचवे पर आकर व्रत—पच्चक्खाणवाला विरतिधर श्रावक बनता है। छट्ठे गुणस्थान पर चढकर जीव सर्वविरतिधारी, सर्वसंगपरित्याग कर, सर्वथा संसार का त्यागी—वैरागी साधु बनता है। आगे ध्यानी—योगी बनता हुआ आगे बढकर १३ वे गुणस्थान पर पहुँचकर जीव वीतरागी, सर्वज्ञ—केवली बनता है। तीर्थंकर भगवान बनता है। और १४ वाँ गुणस्थान पार करके सिद्धशिला पर पहुँचकर सिद्ध भगवान बनता है। बस निगोद से प्रारंभ हुई यह विकास यात्रा पूर्ण हुई। आत्मा निगोद की अवस्था से अन्त में सिद्ध परमात्मा बन गई। बस अब इसके आगे विकास का एक भी सोपान चढना अवशिष्ट नहीं रहता है। पूर्णता प्राप्त हो जाने के पश्चात् अपूर्णता—अधूरेपन का अंशमात्र भी शेष नहीं रहता है। विकास क्रम की पूर्णता आ गई।

**गुणस्थानों पर काल—**

संसार के व्यवहार में काल अपेक्षित तत्त्व है। सभी गुणस्थानों पर समानरूप से एक के जितना ही काल दूसरे पर नहीं लगता है। कुछ गुणस्थान ऐसे हैं जहाँ जीव काफी लम्बे काल तक भी रहता है। जबकि शेष कई गुणस्थान ऐसे है जहाँ पर २ घडी—अन्तुर्मुहूर्त से ज्यादा स्थिरता ही संभव नहीं है। उदाहरणार्थ १ ले मिथ्यात्व के गुणस्थान पर जीव अनन्त काल भी निकाल देता है। इस अनन्त काल में अनन्त भव बिता देता है। ४ थे

सम्यक्त्व के गुणस्थान पर निश्चय सम्यक्त्वी बनकर जीव अधिक से अधिक ६६ सागरोपम का काल भी बिता देता है । पाँचवे गुणस्थान पर देशविरतिधर—व्रतधारी श्रावक बनकर भी काफी लम्बे काल तक रह सकता है । आयुष्य लम्बा होता है । ठीक इसी तरह छट्ठे गुणस्थान पर सर्वविरतिधर साधु बनकर भी काफी लम्बा आयुष्य काल पूर्ण कर सकता है । और अन्त में १३ वे गुणस्थान पर पहुँचकर जीव ४ घनघाती कर्मों से मुक्त होकर सर्वज्ञ—वीतरागी—केवलज्ञानी तीर्थंकर भगवान बनकर भी काफी लम्बे आयुष्यकाल के वर्ष बिता सकता है । बस उसके पश्चात् गुणस्थानों के सोपान सभी पारकर सिद्ध बननेवाला सिद्ध जीव सिद्धावस्था में अनन्तानन्त काल बिताएगा। क्योंकि वह वहाँ जन्म—मरण—कर्म—सुख—दुःख इन सबसे परे हो चुका है । पार उतर चुका है । अरे ! काल से भी परे होकर अकाल—कालातीत बन जाता है । अब उसे वहाँ काल भी असर नहीं कर सकता है । इसलिए सिद्धों का पुनरागमन संसार में कभी नहीं होता है । वे कभी भी वापिस जन्म नहीं पाते हैं । न ही उन्हें पुनः कर्म बांधना है और न ही कोई सुख—दुःख भोगना है । बस जन्म—मरण—शरीर धारण करना, सुख—दुख, कर्म और संसार इन सबसे वे परे हो चुके हैं । पार पहुँच चुके हैं । इन सबके अतीत (पार) पहुँचकर सिद्धात्मा कालातीत, जन्मातीत, मरणातीत, सुखातीत, दुःखातीत एवं कर्मातीत, संसारातीत कहलाती है । अतः जिनके पार उतर कर अतीत में जो पहुँच जाता है उसे पुनः उनको प्राप्त करने का, धारण करने का सवाल ही नहीं खडा होता है ।

बीच के अवशिष्ट गुणस्थान २, ३, ७, ८, ९, १०, ११, १२ इन सभी गुणस्थानों का काल अन्तर्मुहूर्त २ घडी मात्र ही है । इन प्रत्येक गुणस्थान पर जीव २—२ घडी उत्कृष्ट रूप से रहता है । और आगे आगे बढता है । उदाहरण के लिए... सर्वथा सम्पूर्ण अप्रमत्त बनकर कोई वर्षों तक ७ वे अप्रमत गुणस्थान पर नहीं रह सकता है । इसी तरह ७, ८, ९, १०, ११, तथा १२ वे गुणस्थान पर भी २ घडी के अंतर्मुहूर्त का ही काल उत्कृष्ट से रहता है । इतना ही नहीं, अरे ! कोई ऐसी प्रबल शक्तिशाली आत्मा एकमात्र २ घडी के अंतर्मुहूर्त काल में ४ थे गुणस्थान से १३ वे गुणस्थान तक भी पहुँच सकती है । कोई ८ वे गुणस्थान से क्षपकश्रेणि प्रारंभ करके भी जीव २ घडी के सीमित काल में ध्यान की तीव्रता में कर्मक्षय करते हुए सीधे १३ वे गुणस्थान पर पहुँचकर तीर्थंकर भगवान, या अन्य सामान्य केवली भी बनता है । यह ध्यान द्वारा निर्जरा की तीव्रता आधारित है । अत्यन्त ऊँची कक्षा के विशुद्धतर अध्यवसायों पर आधार रहता है । कोई अनेक वर्षों का काल भी व्यतीत करता है । और कोई जीव अनेक जन्मों का काल भी व्यतीत करता है । भिन्न—भिन्न कक्षा के जीवों पर आधार रहता है ।

**चढाव–उतार–**

गुणस्थानों के सभी सोपान क्रमशः सुव्यवस्थित हैं । परन्तु जीव चढाव–उतार काफी करता है । समुद्र की लहरों पर चलती हुई नौका जैसे डोलती है, वैसे जीव भी अध्यवसायों–परिणामों की धारा पर डोलता हुआ चढाव–उतार करता है । चौथे अविरत सम्यक्त्व के गुणस्थान पर आकर सम्यक्त्वी जीव घडियाल के लोलक की तरह अध्यवसायों में चढाव–उतार करता है । श्रद्धा के सद्भाव सदाकाल एक समान रूप से स्थिर नहीं रह पाते हैं । अरे ! छट्ठे गुणस्थान पर पहुँचा हुआ श्रमण भी अप्रमत्त बनकर सातवें अप्रमत्त गुणस्थान पर जाता है । बडी मुश्किल से उस प्रकार की अप्रमत्तता अध्यवसायों में कुछ क्षण, कुछ ही मिनिट रहता है कि जीव पुनः छट्ठे पर आ जाता है । इस तरह चढाव–उतार होते रहते हैं ।

११ वे गुणस्थान पर पहुँचा हुआ उपशम श्रेणी का जीव गुणस्थान का अंतर्मुहूर्त का काल पूर्ण होने पर गिरता है । या फिर आयुष्य समाप्त होने पर पतन होता है । इस तरह २ रे, ३ रे गुणस्थान पर भी होता है । इस तरह आरोह–अवरोह, उत्थान–पतन की प्रक्रिया में झूलती–डोलती आत्मा की यह नौका गुणस्थानरूप सागर में चलती है ।

उपरोक्त सारी प्रक्रिया प्रस्तुत पुस्तक में दर्शायी गई है । "गुणस्थान क्रमारोह" ग्रन्थ के आधार पर विवेचन–विश्लेषणपूर्वक किया गया है । "आध्यात्मिक विकास की यात्रा" का स्वरूप वर्णन किया है । प्रस्तुत पुस्तक पढकर प्रत्येक साधक को आध्यात्मिक विकास की प्रक्रिया समझनी ही चाहिए । यह भी एक शाश्वत मार्ग है । आत्मा के विकास के लिए १४ सोपानों का यह गुणस्थान–गुणश्रेणि का राजमार्ग है । शाश्वत मार्ग है । आज तक जो अनन्त आत्माएं संसार से मुक्त होकर मोक्ष में गई हैं, सिद्ध बनी हैं वे सभी इसी १४ गुणस्थान के सोपानों पर आरूढ होकर ही गई हैं । अतः भविष्य में भी मोक्ष में जाने का मार्ग यही रहेगा । मोक्ष शाश्वत है तो मोक्ष में आत्मा को ले जानेवाला–मार्ग भी शाश्वत है । तीनों काल में एकसमान, एक ही राजमार्ग १४ गुणस्थान का यह त्रैकालिक शाश्वत मार्ग है । अतः यदि हमारी भी भावना मोक्ष में जाने की भविष्य में बन जाय तो हमें भी इन्हीं १४ गुणस्थान के सोपान चढने पडेंगे । यह निश्चित ही है... कि इसके सिवाय दूसरा कोई विकल्प ही नहीं है । जब भावि में निश्चित ही है कि... इन्हीं १४ गुणस्थानों पर आरूढ होकर... आगे बढकर ही विकास साधते हुए मोक्ष में जाना है । तो आज ही इसका स्वरूप क्यों न समझा जाय ? भावि के लिए तैयारी तो वर्तमान में ही करनी चाहिए । वर्तमान में बोए गए बीज ही भविष्य में फल देंगे । इसलिए भविष्य में जिस मोक्ष को प्राप्त करना है,

उसे और उसकी प्राप्ति के मार्गरूप गुणस्थानों के राजमार्ग पर आरूढ होना है तो फिर वर्तमान में आज से ही क्यों नहीं समझना—आचरना चाहिए ?

**मुक्ति की प्राप्ति—**

शास्त्र में सिद्धान्त जो निश्चित है कि.... भरत क्षेत्र में पाँचवे आरे के कलियुग में कोई मोक्ष में नहीं जा सकता है । अतः आज यहाँ से मुक्ति की प्राप्ति संभव नहीं है परन्तु इस सिद्धान्त को भी न मानते हुए किसी—किसी संप्रदाय ने सांप्रदायिक ममत्वभाव से, मोहवश यह भी कह दिया है कि... नहीं हमारे यहाँ मोक्ष है । आज भी यहाँ से मोक्ष मिल सकता है । इस प्रकार के सांप्रदायिक अभिनिवेषिक भाव से ऐसा प्रतीत होता है कि... मोक्ष प्राप्ति कब होती है ? कैसे होती है ? उसके लिए क्या क्या होना अनिवार्य है ? सहायक—सहयोगी क्या—क्या आवश्यक है ? इत्यादि विषयों का उन्हें रत्तीभर भी ज्ञान नहीं है । क्षेत्र और काल की प्रबल कारणता कैसे जुडती है ? इसका भी उन्हें ख्याल नहीं है । मात्र अभिनिवेशिक भाव से ही ऐसा बोलते हैं । सचमुच वे मात्र दयापात्र हैं ।

इसके आधार पर आप ऐसा मत सोचिए कि आज मोक्ष मिलता ही नहीं है, जब आज मोक्ष में जा ही नहीं सकते हैं तो फिर निरर्थक आज से हम क्यों धर्म आराधना, तप, त्याग, व्रत, पच्चक्खाण आदि करना ? जब मोक्ष आज इस काल में संभव ही नहीं है तो फिर उसके कारणभूत धर्माराधना करके भी क्या फायदा ? आज से ही क्यों गुणस्थानों पर चढने की जल्दबाजी करना ? आगे जब महाविदेह क्षेत्र में जन्म मिलेगा, सीमंधरस्वामी आदि भगवान मिलेंगे, सुयोग्य गुरु का योग प्राप्त होगा, जब मोक्ष मिलना निश्चित होगा, तब धर्म करने का, गुणस्थानों पर चढने का सोचेंगे ।

आपकी यह विचारणा कहाँ तक उचित है ? इसका निर्णय आप स्वयं ही करें । अरो !.. आज वर्तमान के इस जन्म में धर्म, गुरु, परमात्मादि जो सर्वश्रेष्ठ रत्न सभी प्राप्त हुए हैं, और फिर भी यदि आपने कोई आराधना नहीं कि... तो याद रखिए— कर्म शास्त्र का नियम ऐसा कहता है कि... जिसको जो मिला है उसे भी यदि वह अच्छी तरह आराध नहीं सका, सही सदुपयोग नहीं कर सका तो निश्चित समझिए कि.. वह चीज और वैसे सभी उत्तम योग उसे पुनः मिलने की संभावना नहींवत् हो जाती है ।

तुलना करके देखिए... आज भी महाविदेह क्षेत्र में जो धर्म सीमंधरस्वामी के पास है, जैसा है वैसा ही सब कुछ आज यहाँ भी है । सामायिक, नवकार, उपवासादि तप, जप, व्रतादि का स्वरूपादि सब कुछ यहाँ समान रूप से है । धर्म के स्वरूप में कोई फरक नहीं

है । सभी तीर्थंकर ठीक एक जैसे ही होते हैं । गुणों में, ज्ञान में, वीतरागतादि के स्वरूप में । अतः सबका बताया हुआ मोक्षमार्ग रूप धर्म का स्वरूप सब काल में, सब क्षेत्रों में एक जैसा, एक समान ही रहता है । कोई फरक नहीं है । अतः क्षेत्रकालादि की दृष्टि से भी यह धर्म सर्वत्र शाश्वत है । सर्वत्र एकरूप ही है । जी हाँ, ... इतना जरूर है कि .. आज वहाँ चौथा आरा है । अतः भगवान आज भी वहाँ सदेह रूप में विचरते हैं । आज भी वहाँ केवलज्ञानी तथा वीतरागी आदि सर्वज्ञ भगवन्तों की सदेह साक्षात् उपलब्धि है । साक्षात् प्रत्यक्ष है । यहाँ भरतादि क्षेत्रों में प्रत्यक्ष नहीं भी है तो भी उनकी मूर्ति—प्रतिमा उन्हीं के रूप—स्वरूप को प्रकट करती हुई प्रतीक समान है । द्रव्यस्वरूप से चाहे वह पाषाण की हो, या धातु की हो या काष्ठ की हो जिस किसी की भी हो, आखिर है तो उसी सर्वज्ञ वीतरागी परमात्मा की । पिता के फोटो को पिता कहकर व्यवहार होता है, कागद पर छपे १००, १०००, रुपए की अंक—संख्या से उतने रुपए के रूप में ही व्यवहार होता है । तो फिर पद्मासनस्थ या कायोत्सर्गस्थ ध्यानस्थ अवस्था में स्थित प्रतिमा मूर्ति भी उसी परमात्मा की है, उस रूप में व्यवहार हो यह कैसे गलत सिद्ध हो सकता है ? संभव ही नहीं है । गलत कहना ही मिथ्या भाव है । अतः आज भी परमात्मा के उसी प्रकार के मोक्षमार्ग रूप धर्म की पूर्णरूप से उपासना करनी चाहिए। देव—गुण का पूर्ण आलम्बन लेकर आध्यात्मिक प्रगति आगे करनी चाहिए ।

हम परमात्मा के अनुगामी हैं, अनुयायी हैं । अतः हमारा सिद्धान्त यही होना चाहिए कि .... **"महाजनो येन गतः स पन्थाः"**— हमारे पूर्वज महापुरुष जिस मार्ग पर चलकर गए हैं वही मार्ग हमारा भी होना चाहिए । हम भी उसी मार्ग पर चलकर मोक्ष में पहुँचे । १४ गुणस्थान का यह मार्ग मोक्ष का मार्ग है । यह शाश्वत है । तीनों काल में एक समान जिसका अस्तित्व और प्रचलन हो वह त्रैकालिक शाश्वत कहलाता है । इस दृष्टि से गुणस्थान का मार्ग त्रैकालिक शाश्वत है । उसमें भी ये १४ ही गुणस्थान शाश्वत स्वरूप हैं । संख्या में भी कम—ज्यादा का सवाल ही खडा नहीं होता है । १४ के बजाय १३ भी नहीं हो सकते हैं, इसी तरह १५ भी संभव नहीं हैं । १४ और ये ही १४ गुणस्थान शाश्वत हैं ।

मोक्ष शाश्वत है । और मोक्ष प्राप्त करने के लिए १४ गुणस्थान चढने का यह मोक्ष मार्ग भी शाश्वत है । अनन्त भूतकाल में जो भी ... जितने भी मोक्ष में गए हैं वे सभी इन्हीं गुणस्थानों के मार्ग से गुजरे हैं । इसी तरह भविष्य के अनन्त काल तक जो भी और जितने भी मोक्ष में जाएंगे वे सब भी इसी १४ गुणस्थान के सोपानों पर आरूढ होकर ही मोक्ष

में जाएंगे । इसके सिवाय अन्य कोई विकल्प ही नहीं है । हमें भी यह मार्ग (धर्म) अपनाना है । जगत् के समस्त जीवों की दृष्टि से यह कहा गया है ।

**धर्म–संप्रदायात्मक नहीं गुणात्मक मार्ग–**

१४ गुणस्थानों का यह मोक्ष प्राप्ति का शाश्वत राजमार्ग किसी भी सम्प्रदाय, गच्छ, पन्थ या धर्मविशेष का नहीं है । यह तो सिर्फ–एक मात्र आत्मा के आत्मिक गुणों के विकास का राजमार्ग है । किसी धर्म की, या किसी भगवान–गुरु के अधिकार या आधिपत्य का विषय ही नहीं है । इस मोक्षमार्ग पर किसी भी धर्मविशेष की या भगवान की छाप–मुहर नहीं लगी है । अतः यह प्रत्येक आत्मा की, और प्रत्येक आत्मा के लिए जिसे भी संसार से छूटकर–मोक्ष में जाना हो उसके लिए यह राजमार्ग है । इसी पर चलना होना । अन्य कोई विकल्प ही नहीं है ।

यदि भविष्य में चाहे सेंकडों–हजारों जन्मों के बाद भी इसी गुणस्थान के राजमार्ग से मोक्ष में जाना है तो फिर क्यों आज से ही क्रमशः एक–एक सोपान चढना प्रारम्भ करें ? जी हाँ, भले ही आज मोक्ष की प्राप्ति न भी हो लेकिन आज भी ७ वें गुणस्थान तक तो पहुँचा जा सकता है । १४ गुणस्थानों में से ७ की उपलब्धि आज भी संभव है, सरल है । और उपलब्ध है । मिथ्यात्व से निकलकर सम्यक्त्व प्राप्त करके शुद्ध सम्यग् दृष्टि श्रद्धालु एवं व्रतधारी–विरतिधर श्रावक आज भी बना जा सकता है । आसान है । और छट्ठे–सातवे गुणस्थान पर आरूढ होकर... प्रमत्त–अप्रमत्त साधु आज भी बना जा सकता है । और बनते भी हैं । उसमें भी अप्रमत्तता लाकर अप्रमत्त श्रमण भी बना जा सकता है । भले ही काल का प्रमाण कम हो लेकिन संभव जरूर है । सिर्फ श्रेणी चढना संभव नहीं है ।

अब आप ही सोचिए ? जब वर्तमान काल में भरत क्षेत्र में सब कुछ उपलब्ध है और हमने उपासना यदि नहीं की तो फिर आगे के जन्म में इसकी उपलबधि–प्राप्ति कहाँ से होगी ? भले ही चाहे महाविदेह क्षेत्र मिल जाय तो भी धर्म–भगवान–गुरु आदि मिलने संभव नहीं रहेंगे । और धर्म के अभाव में पुनः दुर्गति ही मिलेगी । अतः आज प्राप्त–उपलब्ध धर्म की उपासना करने में ही समझदारी है ।

१४ गुणस्थान यह साधना का मार्ग है । उपासना–आराधना का मार्ग है । अतः इसका सही शुद्ध स्वरूप समझकर साधना करने में विशेष उद्यमशील होना चाहिए । अब प्रमाद करने से नहीं चलेगा । प्रमाद भारी नुकसान कर सकता है । अतः अब साधना के विषय में प्रमाद छोडकर प्रबल पुरुषार्थ करके विकास साधना ही चाहिए ।

इसी पवित्र भावना से प्रेरित होकर १४ गुणस्थान विषयक "आध्यत्मिक विकास यात्रा" नामक प्रस्तुत पुस्तक लिखी है । इसी विषय की प्रवंचनमाला श्री वासुपूज्यस्वामी जैन श्वे. मू. अक्कीपेठ—बेंगलोर के चातुर्मास में चली । श्रोताओं को समझाने का सुअवसर प्राप्त हुआ । भव्यात्माओं को भी गहराई भरे तत्त्व समझने का अच्छा लाभ मिला । अन्त में इसका लेखन कार्य भी मैंने स्वयं ही किया, और परिणामस्वरूप छपकर प्रकाशित हुई, और पाठकवर्ग के करकमलों में आई ।

आशा है कि... पाठक, साधक और अभ्यासु वर्ग अपनी—अपनी दृष्टि से उपयोग करेंगे । ज्ञान में, अभ्यास में, और साधना में आगे बढेंगे, विकास साधेंगे । क्रमशः आगे—आगे के गुणस्थानों के सोपानों पर आरूढ होकर आत्मशुद्धि—आत्मसिद्धि साधेंगे । तब मुझे भी इस प्रयत्न की सफलता का संतोष प्राप्त होगा । सिद्धों के समक्ष अगणित वंदन करते हुए स्वयं को एवं समस्त जीवों को सिद्ध प्राप्त हो ऐसी भावना के साथ प्रार्थना करता हूँ । सभी जीव मुक्ति—मोक्ष को प्राप्त करें ऐसी शुभ भावना सतत रखता हूँ । साथ ही साथ जिन प्रवचन की प्रभावना करते हुए, प्रवचन पद की आराधना से ऐसा सामर्थ्य प्राप्त हो कि.. अनेक आत्माओं के मोक्षगमन में मुझे प्रेरक निमित्त कारण बनने का सुवर्ण अवसर प्राप्त हो, ऐसी प्रबल भावना रखता हूँ ।

सर्वज्ञ परमात्मा के सिद्धान्त के विरुद्ध अंशमात्र भी प्रमादवश लिखा गया हो तो .. अंतःकरणपूर्वक त्रिविध त्रिविध क्षमायाचना करता हुआ **मिच्छामिदुक्कडं** देता हूँ । सूज्ञ ज्ञानी गीतार्थ... मेरे अज्ञान निवारणार्थ ज्ञानप्रकाश से नेत्रांजन करके सुचक्षुरुन्मीलन करेंगे, तो जरूर अगणित उपकार मानता हुआ स्वीकार करूँगा । अतः सूज्ञ विद्वानों को मेरे अज्ञान निवारणार्थ विनंति करता हूँ ।

॥ इति सिद्धिः भवतु सर्वेषाम् ॥

**—पंन्यास अरुणविजय महाराज**

श्री अक्कीपेठ मंदिर में विराजमान
श्री आदिश्वर भगवान, मूलनायकजी श्री वासुपूज्य भगवान तथा
श्री शांतिनाथ भगवान

पू. अरुणविजय गणिवर्य म. सा.

# अध्याय १

# जगत् का स्वरूप

## सत्य के केन्द्रबिन्दु– सर्वज्ञ

आइये, सर्वप्रथम इस जगत् को समझें। यथार्थ और वास्तविक स्वरूप इस जगत् का क्या और कैसा है ? यह समझें। अनन्तज्ञानी सर्वज्ञ सर्वदर्शी अरिहन्त परमात्मा श्री महावीर प्रभु ने अपने केवल दर्शन से इस अनन्त ब्रह्माण्ड को जैसा देखा है, जैसा प्रत्यक्ष स्पष्ट देखा है और उसे ही केवलज्ञान से पूर्ण शुद्ध स्वरूप में जैसा स्पष्ट जाना है; ठीक वैसा ही अपने वीतराग भाव गुण से यथार्थ वास्तविक स्वरूप जीवों को अपने उपदेश द्वारा समझाया है। आत्मा का दर्शन गुण देखने का काम करता है। और ज्ञान गुण जानने का काम करता है। उसी के कथन के समय निर्मोह—वीतरागता का गुण सत्यकथन कराता है। इसीलिए समस्त ज्ञान का केन्द्रबिन्दु सर्वज्ञ अरिहंत परमात्मा ही है। बस, उन्हीं के कथन में—वचन में सम्पूर्ण समर्पणभावपूर्वक पूरी श्रद्धा रखनी चाहिए।

हम रागी—द्वेषी—कषायों से भरे हुए सामान्य जीव असत्य—झूठ बोल सकते हैं। क्योंकि असत्य के पीछे क्रोध—मान—माया—लोभ—हँसी—मजाक आदि कई कारण हैं। और इन कारणों से घिरा हुआ कर्मग्रस्त संसारी जीव झूठ बोलता है। परन्तु इन क्रोधादि कषायों से सर्वथा मुक्त वीतरागी तीर्थंकर भगवन्तों के लिए असत्य बोलने का कोई कारण ही नहीं है। हंबक बातें वे जीवों को कभी भी नहीं कहते हैं। वे जो भी कहेंगे चरम सत्य की ही बात कहेंगे, इसलिए इस संसार में सत्य के लिए एकमात्र सर्वज्ञ वीतरागी भगवन्तों पर ही पूर्ण विश्वास—सम्पूर्ण श्रद्धा रखनी ही चाहिए। बस, इनके सिवाय अन्य किसी पर जो उनसे विपरीत गुणवाले अल्पज्ञ एवं रागद्वेष ग्रस्त हो उनपर विश्वास या श्रद्धा रखने पर असत्य का ही ग्रहण होगा। अतः चरम—अन्तिम सत्य के लिए वीतरागी—अनन्तज्ञानी भगवन्तों पर ही पूर्ण श्रद्धा रखनी चाहिए। उन्हीं के कथन वचन को अन्तिम सत्य के स्वरूप में स्वीकारना चाहिए। और वैसा ही दूसरों को कहना चाहिए। *As it is* ठीक वैसा ही यथार्थ स्वरूप दूसरे जीवों को कहकर उनकी अज्ञानता भी दूर करते हुए उन्हें सत्य का स्वरूप दिखाना—समझाना चाहिए। इस तरह सत्य का प्रसार—प्रचार होगा। सत्य की

परंपरा चलेगी । मैं समझता हूँ कि ऐसे सर्वज्ञों के चरम सत्य को यथार्थ मानकर, जानकर सर्व जीवों को समझाना और उन्हें भी सत्य की दिशापर चलाना सर्वज्ञ जिनेश्वर भगवन्तों की सबसे बडी सेवा है । पूजा है । भक्ति है ।

## सर्वज्ञ दर्शित जगत् का स्वरूप

अनन्त ज्ञानी श्री महावीर प्रभु ने अपनी अन्तिम देशना स्वरूप उत्तराध्ययन आगम शास्त्र में जगत् का स्वरूप बताते हुए कहा है कि . . .

**धम्मो अहम्मो, आगासं, दव्वं इक्कि क्कमाहिअं ।**
**अणंताणि अ दव्वाणि, कालो पुग्गल जन्तवो ।**

अस्तिकाय शब्द का अर्थ है प्रदेश समूहात्मक पिण्ड । प्रदेशों के समूहों का बना हुआ पिण्ड । ऐसे पाँच द्रव्य हैं जिनके प्रदेशों के समूहात्मक पिण्ड-स्वरूप यह जगत् है ।

## षड्द्रव्यात्मक जगत् स्वरूप

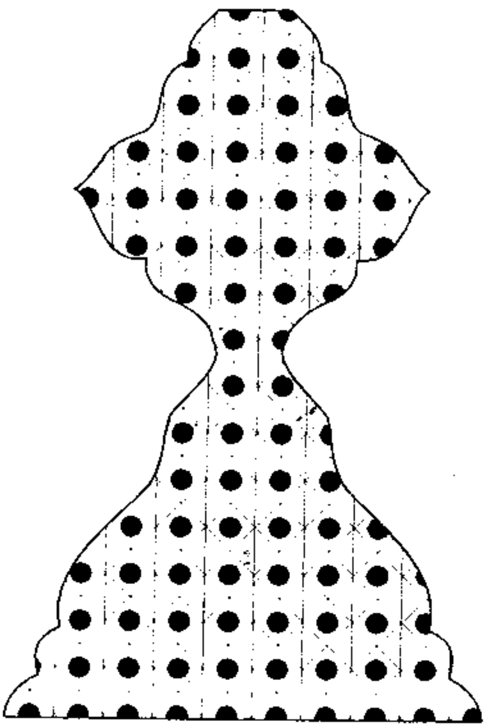

**धम्मो अहम्मो, आगासं,**
**दव्वं इक्कि कमाहि अं ।**
**अणंताणि अ दव्वाणि,**
**कालो पुगल जन्तवो ।**

समस्त जगत् ६ द्रव्यों से व्याप्त है । ६ द्रव्यों से भरा हुआ यह जगत् है । १) जीव द्रव्य २) धर्मास्तिकाय द्रव्य ३) अधर्मास्तिकाय द्रव्य ४) आकाशद्रव्य ५) कालद्रव्य और ६) पुद्गल द्रव्य ।

इन ६ द्रव्यों में ही पंचास्तिकायों का समावेश है। सिर्फ कालअस्तिकायात्मक न होने से उसकी गिनती पंचास्तिकाय में नहीं की गई है। काल एक मात्र वर्तना लक्षणवाला द्रव्य है ।

## षड् द्रव्य

| १ जीव | २ धर्मास्तिकाय | ३ धर्मास्तिकाय | ४ आकाश | ५ काल | ६ पुद्गल |
|---|---|---|---|---|---|

**धम्मो–अहम्मो–आगासं, कालो–पोग्गल–जंतवो।**
**एस लोगुत्ति पण्णत्तो, जिणेहिं वरदंसिहिं ॥ उत्तरा. २८ अ/७ ॥**

उत्तराध्ययन सूत्र आगमशास्त्र में १) धर्मास्तिकाय, २) अधर्मास्तिकाय, ३) आकाशास्तिकाय, ४) काल (समय), ५) पुद्गलास्तिकाय और ६) जीवास्तिकाय इन छह द्रव्यात्मक जगत् महावीर प्रभु ने बताया है।

## षड् द्रव्यों का स्वरूप

**१) धर्मास्तिकाय द्रव्य—**

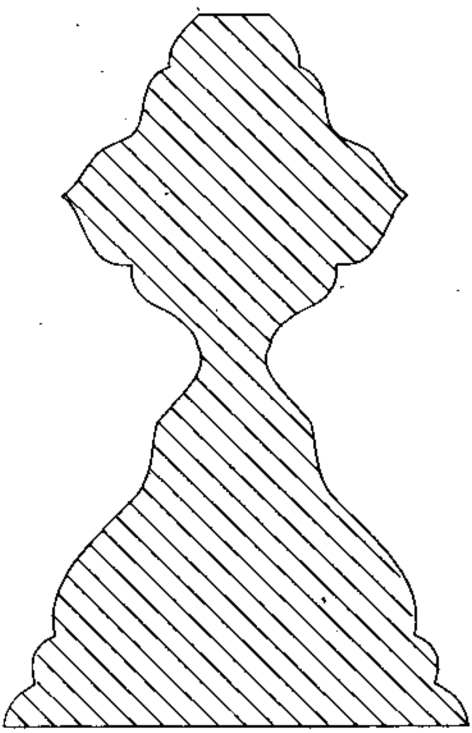

समस्त १४ राजलोक क्षेत्र में व्याप्त यह धर्मास्तिकाय द्रव्य है। जो प्रदेश समूहात्मक पिण्ड है। सर्वलोकव्यापी यह एक अखण्ड असंख्य प्रदेशी द्रव्य है। अनादि–अनन्त स्थितिवाला अनुत्पन्न–अविनाशी द्रव्य है। गुणस्वरूप में यह गति सहायक अजीव द्रव्य है। अतः इसकी गणना अजीव द्रव्य में होती है।

**गई सहावो धम्मो—**

गति सहायक धर्मास्तिकाय द्रव्य है। जो सर्वथा अदृश्य होने से दृष्टिगोचर नहीं होता है। यह अरूपी द्रव्य है। स्कंध–देश–प्रदेश ये इसके ३ भेद गिने गये हैं। १४

राजलोकव्यापी एक अखण्ड—असंख्य प्रदेशी धर्मास्तिकाय स्कंधरूप द्रव्य हैं। इसीके एक क्षेत्र भाग में छोटे भाग की देश संज्ञा की जाती है। और अविभाजित अंतिम सूक्ष्म स्वरूप एक को प्रदेश संज्ञा दी गई है। यह सूक्ष्मतम प्रदेश कभी भी स्कंध से विभाजित नहीं होता है। अतः इसके अजीव होते हुए भी अणु—परमाणुरूप भेद नहीं होते हैं। अतः स्कंध, देश और प्रदेश इन ३ भेदों की ही विवक्षा इस धर्मास्तिकाय द्रव्य की होती है। यह गतिसहायक स्वभाववाला द्रव्य समस्त लोक—क्षेत्र में जीव और पुद्गल दोनों द्रव्यों को गति में सहायता प्रदान करता है। यदि गति—सहायता स्वभावजन्य होने से स्वाभाविक है। इस में धर्मास्तिकाय का कर्तृत्व करने का स्वभाव नहीं है। जैसे पानी में रही हुई मछली को चलने में—गति करने में पानी सहायक है। परन्तु पानी गतिकारक नहीं है। क्योंकि मछली स्वयं चलती है। पानी चलता नहीं है। वैसे ही गति तो जीव और पुद्गल ये दो द्रव्य ही करनेवाले हैं। इनकी गति में सहायक धर्मास्तिकाय द्रव्य है। जैसे चलने के स्वभाववाली होते हुए भी मछली पानी न होने पर चल नहीं सकती, पानी अत्यन्त आवश्यक है, ठीक वैसे ही धर्मास्तिकाय द्रव्य के बिना लोक में जीव और पुद्गल द्रव्यों की गति कभी भी संभव नहीं है। यद्यपि धर्मास्तिकाय कुछ भी करता नहीं है, फिर भी स्वभावगत गतिसहायकता का गुण होने से दोनों को गति में सहायता करता है। अतः गति के लिए यह माध्यम है।

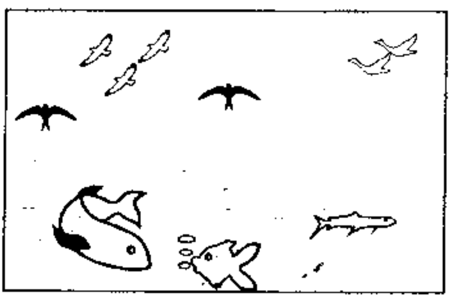

धर्मास्तिकाय द्रव्य का अस्तित्व लोक के बाहर अलोक क्षेत्र में न होने के कारण जीव—पुद्गल की अलोक क्षेत्र में गति नहीं होती है। मात्र लोक क्षेत्र में ही संभव है। जैसे समुद्रगतादि पानी में ही मछली की गति होती है। उससे उपरी आकाश क्षेत्र में जहाँ पानी नहीं है वहाँ मछली की गति नहीं होती है। वैसे ही लोक क्षेत्र के बाहर धर्मास्तिकाय द्रव्य न होने से अलोक में किसी की गमनागमनरूप गति नहीं होती है।

## २) अधर्मास्तिकाय द्रव्य—

धर्मास्तिकाय से ठीक विपरीत स्वभाववाला अधर्मास्तिकाय द्रव्य है, अर्थात् धर्मास्तिकाय गति-सहायक है तो यह अधर्मास्तिकाय स्थिति-सहायक द्रव्य है। अन्य

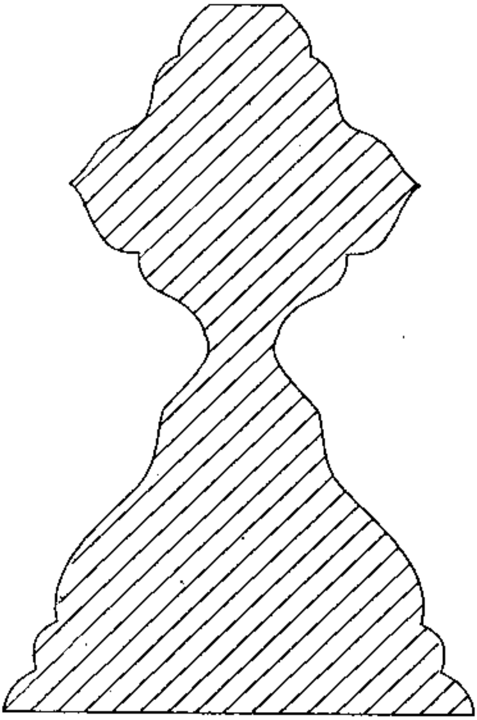

सभी विशेषण दोनों में समान हैं। अधर्मास्तिकाय द्रव्य भी समस्त १४ राजलोकव्यापी एक अखण्ड असंख्यप्रदेशी द्रव्य है। यह अजीवद्रव्य अरूपी—अदृश्य है। अतः दृष्टीगोचर नहीं होता है। सर्वज्ञगम्य है। लोक बाहर—अलोक क्षेत्र में इसका अस्तित्व ही नहीं है। अतः यह मात्र लोकव्यापी द्रव्य है। अनादि-अपर्यवसित-अनन्तकालीन स्थितिवाला—अविनाशी द्रव्य है। यह कभी भी उत्पन्न नहीं होता है। अतः अनुत्पन्न द्रव्य है। अनुत्पन्न की आदि—शुरुआत नहीं होती है। अतः अनादिद्रव्य है। और कभी भी नाश—विनाश नहीं होता है, अतः अविनाशी—अपर्यवसित द्रव्य है। इसके असंख्य प्रदेश होने से असंख्यप्रदेशी द्रव्य है। इसके भी स्कंध—देश—प्रदेश ये ३ भेद होते हैं। संपूर्ण लोकव्यापी यह एक अखण्डद्रव्य होने से लोक क्षेत्रव्यापी स्कंध गिना जाता है। इसीको एक छोटे क्षेत्र की विवक्षा करने पर देश कहा जाता है। और एक प्रदेश जो अलग नहीं होता है ऐसे अविभाजित प्रदेश को प्रदेश कहते हैं। इसका कोई सूक्ष्मतम प्रदेश भी अखण्ड स्कंध से अलग विभाजित नहीं होता है। अतः इसका परमाणु भेद विवक्षित नहीं है। परमाणु भेद एक मात्र पुद्गल द्रव्य में ही होता है।

**गुण स्वरूप से इसका गुण—अधम्मो ठिई सहावो**

स्थितिसहायकता इस का गुण है। जैसे गति करनेवाले मछली—पक्षी आदि अपने ही स्वभाव से गति

को रोककर स्थिरता में आते हैं । उस समय स्थिती में यह अधर्मास्तिकाय द्रव्य सहायक बनता है । ठीक वैसे ही जीव—पुद्गल द्रव्यों के लिए स्थितिस्थापकता में सहायक बननेवाला यह अधर्मास्तिकाय द्रव्य नहीं होता तो किसी भी पदार्थ की कहीं भी स्थिति ही नहीं होती । सबकी सदा गति ही होती रहती । कोई भी कहीं रुकता ही नहीं । अतः यह द्रव्य स्वयं किसी को रोकता नहीं है । अवरोधक नहीं है । किसी की स्थितिस्थापकता स्वयं नहीं करता है । परंतु द्रव्यों की स्थिती स्थिरता में यह सहायक माध्यम है । *Medium of rest* यह द्रव्य है । अलोक में इस द्रव्य की सत्ता नहीं है । लोक क्षेत्र में ही है । अतः लोकाग्र भाग में स्थित अधर्मास्तिकाय द्रव्य सिद्धों की स्थिरता में भी सहायक बनता है ।

**३) आकाशास्तिकाय द्रव्य—**

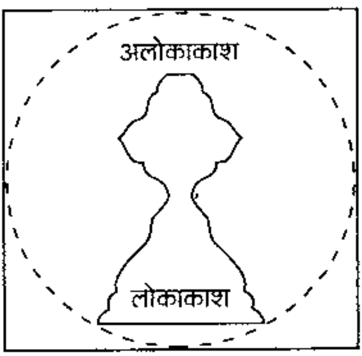


समस्त जगत के जीव—अजीवादि सभी द्रव्यों को अवगाहना जगह देने के स्वभाववाला द्रव्य आकाश द्रव्य है । यह भी अजीव द्रव्य है । यह भी अनन्त प्रदेशों के समूह का पिण्डरूप द्रव्य होने से इसे आकाशास्तिकाय कहते हैं । यह भी एक अखण्ड अनन्तप्रदेशी द्रव्य है । लोकगत आकाश और अलोकगत आकाश दोनों एक अखण्ड ही हैं । फिर भी लोक की विवक्षा से लोक क्षेत्र गत—व्याप्त आकाश को लोकाकाश एवं अलोक की विवक्षा के आधार पर लोकाकाश एवं अलोकाकाश संज्ञा दी गई है । इस तरह विवक्षा से आकाश को २ प्रकार का गिना गया है ।

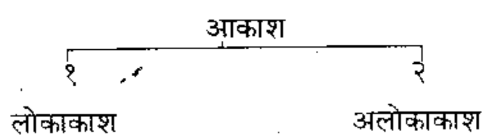


ये दो भेद सिर्फ लोक और अलोक की विवक्षा मात्र से ही किये गये हैं । परन्तु संपूर्ण आकाश द्रव्य एक अखण्ड द्रव्य है । जैसे हिंदुस्तान और पाकिस्तान दोनों देशों के आकाश अलग अलग नहीं हैं । सीमारेखा बीच में बनाकर धरती का विभाजन करके अलग—अलग देश की संज्ञा दी जा सकती है, लेकिन आकाश का विभाजन नहीं किया जा सकता । फिर भी धरती की उस सीमारेखा के उपरी भाग के आकाश की विवक्षा करके

कोई हिंदुस्तान का आकाश ऐसा व्यवहार मात्र कह सकते हैं । वैसे ही अनन्त अलोक क्षेत्रगत आकाश को अलोकाकाश और लोकक्षेत्र सीमित आकाश को लोकाकाश अपेक्षा भेद से कहा है ।

इसी तरह घट के अन्दर के आकाश भाग को घटाकाश, कोठी टंकी के अन्दर के आकाश भाग को भी कोठीगत आकाश, टंकीगत आकाश ऐसे उपाधिगत व्यवहार नाम से विवक्षा की जा सकती है । ठीक वैसे ही लोकाकाश और अलोकाकाश की विवक्षा सापेक्षभाव से की गई है । फिर भी दोनों आकाशास्तिकाय के रूप में एक अखण्डद्रव्य है । क्षेत्र भेद से भेद है । अन्यथा अभेद है ।

**आकाश प्रदेशों की व्यवस्था—**

वणकर (कपडे बुननेवाले) लोग जैसे कपडा बुनते हैं, पोवर लूम्स में कपडे के लिए धागा जैसे एक सीधा और एक आडा रखकर कपडा बुना जाता है, हजारों—लाखों मीटर लंबे कपडे में धागों की रचना जैसी होती है ठीक वैसी ही आकाश प्रदेशों की भी स्थिती होती है । जिस तरह एक सीधा धागा आडे धागे को जहाँ से स्पर्श करता हुआ जाता है उस स्पर्शांश को *Cross point* कहते हैं । वैसे ही आकाश के प्रदेश कहलाते हैं । ऐसे आकाश प्रदेश अनन्त हैं । यह अनन्त की संख्या लोकाकाश और अलोकाकाश दोनों को मिलाकर संपूर्ण आकाशास्तिकाय द्रव्य की है । इन्ही आकाश प्रदेशों के सहारे जीव एवं पुद्गल परमाणुओं की गति होती है । ऊपर से नीचे और बांए से दांए या विपरीत भी .... इस तरह गति होती है ।

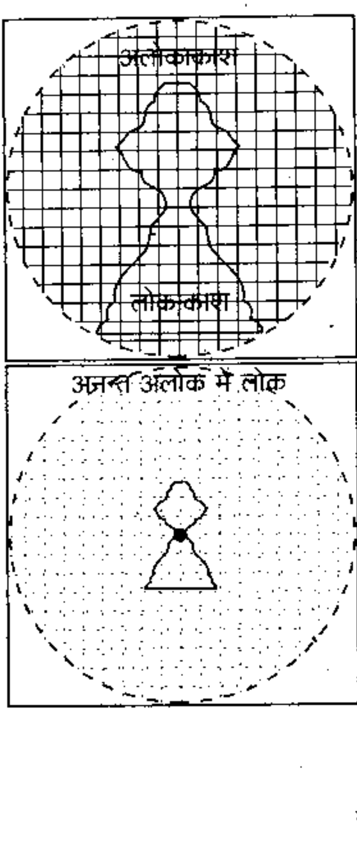


आकाश अनन्त है । इसकी कहीं कोई सीमा या अन्त ही नहीं है । अतः अनन्त है । दोनों के बीच में यदि प्रमाण का विचार किया जाय तो पता चले कि कितना बडा—छोटा कौन है ? तो कहते हैं कि . . . अलोकाकाश अनन्तगुना

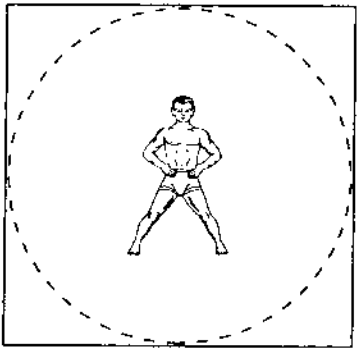

बडा–विशाल है। और इसकी तुलना में लोकाकाश अलोकाकाश के अनन्तवें भाग का ही है–सीमित है। जबकी लोकाकाश से अलोकाकाश अनन्तगुना बडा है। लोकाकाश १४ राजलोक क्षेत्र सीमित प्रदेश ही है। यह लोकाकाश एक पुरुषाकृति सदृश लगता है। अतः इसे लोक पुरुष की संज्ञा भी दी गई है। जैसे एक पुरुष अपने दोनों हाथ कटिप्रदेश पर रखकर कोनी फैलाकर एवं संतुलन के लिए पैर फैलाकर खडा हो–ठीक वैसी ही लोक की आकृति है। इस सादृश्यता को लेकर 'लोकपुरूष' संज्ञा सार्थक दी गई है। इस लोक क्षेत्र का प्रमाण १४ रज्जु प्रमाण है। अतः १४ राजलोक कहा गया है। रज्जु योजनों के मापदण्ड से मापा जाता है। असंख्य योजन परिमित क्षेत्र को १ रज्जु कहते हैं। ऐसे १४ रज्जु प्रमाण क्षेत्र को १४ राजलोक कहते हैं।

**आकाश का गुण–अवगाहो आगसं**

आकाश द्रव्य भी गुणात्मक द्रव्य है। इसका गुण अवकाश–जगह प्रदान करने का है। *(A space is a space which gives us place).* समस्त जीवों को एवं पुद्गल स्कंध–देश–प्रदेश एवं अनन्त परमाणुओं को जगह–अवकाश–आकाश ही देता है। अतः ये सभी इसी में रहते हैं। धर्मास्तिकाय–अधर्मास्तिकाय भी इसी लोकाकाश में रहते हैं। एवं जीव पुद्गल भी इसी लोक परिमित क्षेत्र में ही रहते हैं। लोकाकाश सर्वत्र–सर्व प्रदेशों में इनसे व्याप्त है–भरा पडा है। जबकी अलोकाकाश अनन्तगुना बडा–विशाल होते हुए भी .... वहाँ अन्य कोई भी द्रव्य रहता नहीं है। हाँ, आकाश वहाँ भी है। परन्तु आकाशेतर अन्य किसी भी द्रव्य की सत्ता वहाँ नहीं है। वह संपूर्ण रिक्त–खाली है। जबकी लोकाकाश जीव–पुद्गल–परमाणुओं एवं धर्मास्तिकाय–अधर्मास्तिकाय द्रव्यों से व्याप्त

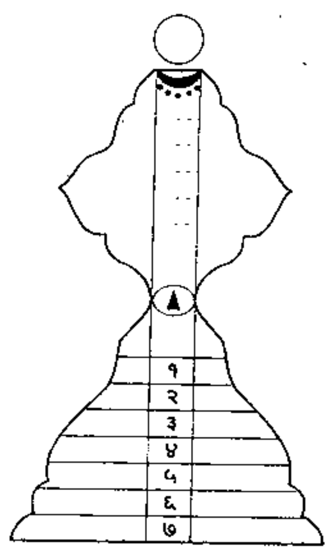

है—भरा हुआ है । समस्त लोकाकाश का एक कोना भी खाली नहीं है जहाँ जीव पुद्गलादि द्रव्यों का अस्तित्व न हो । जीव एवं पुद्गल परमाणु अनन्तानन्त की संख्या में भरे पडे हैं । इसी से लोक व्याप्त है । सबको अवकाश जगह देने का विशाल गुण इस आकाश का है । सबका अपने में समावेश करनेवाला यह आकाश क्षेत्र है । और अन्य आकाश के आश्रित रहनेवाले सभी द्रव्य क्षेत्री हैं । इन सब द्रव्यों का रहना भी इसी लोकाकाश में है तथा गति भी इसी में होती है । इस तरह यह आकाश भी अनादि द्रव्य है । इसकी—आदि या शुरुआत नहीं है । अतः अनुत्पन्न है । किसी के भी द्वारा उत्पन्न नहीं किया गया है । इसी तरह अनन्त है । जिसका कभी अन्त नहीं होगा वैसा अनन्त द्रव्य है । क्षेत्र सीमा भी नहीं है इसलिए भी अनन्त सीमातीत—असीम है । नाश—विनाश भी संभव नहीं है । अतः अविनाशी—अपर्यवसित द्रव्य है । यहीं इसका विशाल—विराट स्वरूप है ।

**४) पुद्गलास्तिकाय द्रव्य**

'पुद्गल' जैन वाङ्मय में ही प्रयुक्त यह एक विशिष्ट शब्द है । इस शब्द का प्रयोग अन्यत्र कहीं भी नहीं है । पूरण एवं गलन स्वभाववाले द्रव्य को पुद्गल द्रव्य कहते हैं । पूरण—गलन का अर्थ है बनना—एवं बिगडना । अतः पुद्गल में बनने—बिगडने रूप परिवर्तन की प्रक्रिया रहती है । परमाणुओं के संयोग से एक स्कंध—पिण्ड बनता है । उसे पुद्गल द्रव्य कहते हैं । इसके लिए अंग्रेजी में *matter* शब्द प्रयुक्त है । यह अजीव—जड द्रव्य है । अचेतन द्रव्य है । अतः ज्ञान दर्शन एवं सुख—दुःख की संवेदनारहित द्रव्य है । यह भी प्रदेश समूहात्मक पिण्ड होने से पुद्गलास्तिकाय कहलाता है ।

**पुद्गल के ४ प्रकार—**

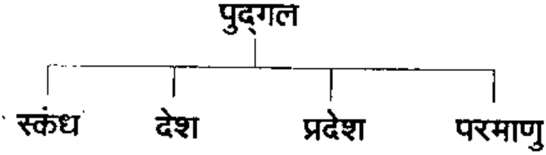


१. स्कंध— *Molecule* संख्यात असंख्यात या अनन्त परमाणुओं के बने हुए पिण्ड को स्कंध कहते हैं । यह एक अखण्ड द्रव्य है । पूर्ण द्रव्य है । आकार प्रकार एवं माप—प्रमाण से यह एक छोटा—बडा भी होता है । उदा. के लिए— (१) लकडी अपने आप में जो पूर्ण—अखण्ड है वह असंख्य—परमाणुओं की बनी हुई है । इसे स्कंध कहते

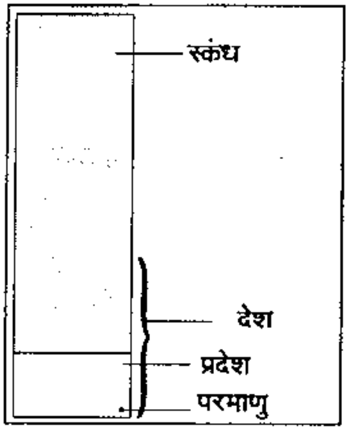


हैं । (२) इसी स्कंध के आधे—पौने या पाव भाग या इससे भी छोटे भाग को देश संज्ञा दी गई है । (३) यही स्कंध जो असंख्य अनन्त परमाणुओं से बना हुआ है उसका एक परमाणु जो अभी स्कंध—देश से अलग नहीं हुआ है उसे प्रदेश की संज्ञा दी गई है । प्रदेश एक छोटे से छोटे सूक्ष्मतम परमाणु स्वरूप को कहते हैं, परन्तु वह स्कंध देश से अलग—भिन्न नहीं हुआ है। अतः वह अविभक्त प्रदेश कहलाता है। (४) परमाणु—स्कंध देश की सूक्ष्मतम स्वतंत्र इकाई को परमाणु कहा है । प्रदेश जब स्कंध देश से अलग—भिन्न होकर स्वतंत्र हो जाता है तब वह परमाणु की संज्ञा पाता है । उसे चाहे अणु कहो या परमाणु कहो दोनों एक ही बात है । अणु का अर्थ है सूक्ष्मतम इकाई, और परमाणु का भी ठीक वही अर्थ है । संस्कृत भाषा के व्याकरण के नियमानुसार आगे परम विशेषण जुडा है । इससे परमाणु शब्द बना है । व्याख्या इस प्रकार बनेगी— **परमश्चासौ अणु = परमाणु** अर्थात् अत्यन्त—सूक्ष्मतम अणु वह परमाणु कहलाता है । पुद्गल स्कंध की अन्तिम सूक्ष्मतम स्वतंत्र इकाई को परमाणु कहते हैं ।

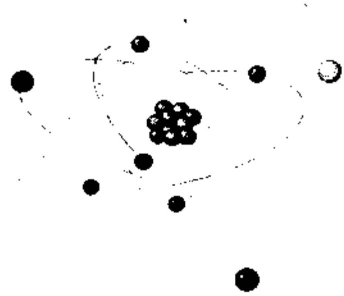

अणु के लिए विज्ञान में *atom* शब्द का प्रयोग किया है । विज्ञान ने *atom* की परिभाषा में *electron + proton, neutron & positron* का संमिलित स्वरूप बताया है ।

परन्तु यह भी स्थूल व्याख्या लगती है । इसमें एक ही परमाणु की अपेक्षा ३—४ का सम्मिलित रूप लगता है । एक ही स्वतन्त्र अणु हो तभी वह परमाणु है और एक से अनेक परमाणु मिलने पर द्व्यणुक, त्र्यणुक, चतुर्णुक, इस तरह आगे संज्ञा बनती जाती है । आगे संख्यात, असंख्यात एवं अनन्त परमाणुओंके भी मिलने पर संयोग से स्कंध बनता है । इस तरह ऐसा लगता है कि . . . विज्ञान की परमाणु की परिभाषा स्कंध के अनुरूप है । स्कंध *molecule* जो है, वह एक से ज्यादा २, ३, ४, १०,

२०,१००,१००० या सख्यात–असंख्यात–अनन्त परमाणुओं का भी बनता है । जबकी परमाणु तो एक अखण्ड–स्वतंत्र अविभाज्य इकाई है ।

ये परमाणु अदाह्य अर्थात् जलकर नष्ट नहीं होते हैं । अविभाज्य अर्थात् जिसका विभाजन–विभागीकरण कभी भी संभव नहीं है । परमाणु को फिर से तोडा नहीं जा सकता है । अतः वह अछेद्य–अभेद्य, अकाट्य है । अब आगे फिर से इसका छेदन–भेदन नहीं हो सकता है । विज्ञान के क्षेत्र में काफी वर्षों पहले यही ऐसी ही मान्यता थी । लेकिन अब विज्ञान में यह व्याख्या बदल गई है । *Atom can be blast* अणु का विभाजन होता है । अणु का विस्फोट किया जाता है । यह अणु की अखंडितता को सिद्ध नहीं करता है अपितु खंडितता को सिद्ध करता है । इससे विज्ञान के घर में परमाणु छेद्य–भेद्य–दाह्य–काट्य रहेगा । जोकि स्कंध का लक्षण है । इससे परमाणु की व्याख्या को धक्का लगता है । अतः सर्वज्ञोपदिष्ट–सर्वज्ञ के ज्ञान में जो स्वरूप परमाणु का स्पष्ट हुआ है उसकी व्याख्या करते हुए सर्वज्ञ भगवंत ने कहा है कि— अछेद्य–अभेद्य–अदाह्य–अकाट्य–अविभाज्य सूक्ष्मतम इकाई ही परमाणु है । यह परमाणु अजीव–जडद्रव्य है । ज्ञान–दर्शनादि चेतना रहित है । सुख–दुःख की संवेदना रहित है । अतः जीव आत्मा से सर्वथा विपरीत गुणधर्मवाला यह पुद्गल द्रव्य है । पुद्गलरूपी द्रव्य है ।

**पुद्गल के गुण—**

पुद्गल गुणात्मक द्रव्य है । यह भी द्रव्य है । अतः गुणपर्याय-युक्त ही है । पुद्गल के मुख्य गुण वर्ण—गंध—रस—स्पर्श हैं । और भी बताते हुए लिखा है कि—

**सद्दंधयार–उज्जोअ–पभा–छाया–तवेहि य ।**
**वण्ण–गंध–रसा–फासा–पुग्गलाणं तु लक्खणं ॥**

शब्द—अंधकार—उद्योत—प्रभा—छाया—आतप ये सभी पुद्गल ही हैं, जो वर्ण—गंध—रस—स्पर्शादि गुणयुक्त हैं । यह पुद्गल का लक्षण है ।

**१. शब्द**

ध्वनि यह पुद्गल द्रव्य ही है । यह १) सचित्त, २) अचित्त, ३) मिश्र तीन प्रकार की ध्वनि

है । १. जीवों के मुख से निकली ध्वनि— सचित्त, २. वस्तु के गिरने आदि आपात—प्रत्याघात से उत्पन्न ध्वनि— अचित्त शब्दध्वनि है । और ३. मनुष्यादि द्वारा ढोल—वाद्ययंत्र द्वारा उत्पन्न ध्वनि मिश्र ध्वनि है । यह पौद्गलिक है । अतः यंत्र-गाह्य है, श्राव्य है । यह आकाश गुण नहीं है ।

**२. अंधकार**

यह भी एक स्वतंत्र पौद्गलिक द्रव्य है । तेज का अभाव तम अर्थात् प्रकाश के अभाव को अंधकार नहीं कहा गया है । यह भी वर्णादि युक्त स्वतंत्र पुद्गल द्रव्य है ।

**३. उद्योत**

उजाला, प्रकाश यह भी वर्णादि गुणयुक्त स्वतंत्र पौद्गलिक द्रव्य है ।

**४. प्रभा**

बाहरी प्रकाश सीधा अन्दर आते हुए भी उसकी प्रभा रहती है । इसके भी वर्णादि हैं ।

**५. छाया**

एक पदार्थ पर पडनेवाले प्रकाश के पीछे जो छाया रहती है वह भी पौद्गलिक है ।

**६. आतप**

सूर्य के प्रकाश को आतप कहते हैं । यह उष्णतादि गुणयुक्त पौद्गलिक द्रव्य है ।

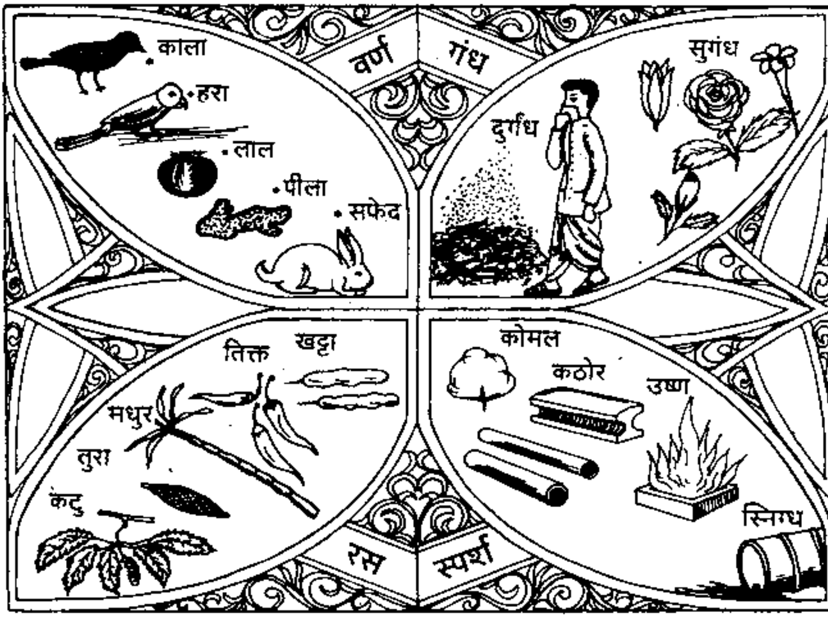


वर्ण — (कलर)

लाल—पीला—हरा—काला—सफेद ये मुख्य ५ रंग हैं । इन पाँचों वर्णों से युक्त पुद्गल द्रव्य सवर्णी वर्णयुक्त होता है । इसीलिए पुद्गल द्रव्य वर्णवाला कहा जाता है । जितने भी लाल पीले आदि रंगयुक्त पदार्थ होते हैं वे पौद्गलिक होते हैं । अतः रूपी द्रव्य है ।

गंध

सुगंध—दुर्गंध दोनों प्रकार की गंधवाला भी पुद्गल द्रव्य ही होता है । इससे सुगंध एवं दुर्गन्ध युक्त पौद्गलिक द्रव्य है ।

**रस**

खट्टा—मीठा—तीखा—खारा—तूरा इन पाँच रसों से युक्त पुद्गल द्रव्य होता है । ये रस पौद्गलिक द्रव्य में निश्चित रूप से होते ही हैं ।

**स्पर्श**

चिकना—खुरदरा, ठन्डा—गरम, इस प्रकार के ८ स्पर्श हैं । प्रत्येक पौद्गलिक द्रव्य इन स्पर्शों से युक्त ही होता है । ये स्पर्श प्रतिद्वन्दी हैं । अतः सबका एक साथ होना जरूरी नहीं है । अलग अलग रहते हैं ।

जो भी पौद्गलिक द्रव्य है वह निश्चित रूप से वर्ण—गंध—रस—स्पर्शादि युक्त होता ही है और जो वर्णादि युक्त होता है वह पौद्गलिक द्रव्य ही कहलाता है । स्कंध—देश—प्रदेश और परमाणु पुद्गल की चारों अवस्थाएं वर्णादि युक्त हमेशा ही रहती है । एक परमाणु में भी वर्ण, गंध, रस एवं स्पर्श गुण रहता ही है । यह पुद्गल पदार्थ अपने वर्णादि गुणों के कारण ही चेतन—आत्मा से सर्वथा भिन्न एवं विपरीत द्रव्य है । चेतन—आत्मा ज्ञानादि गुणवान् है । उसमें वर्णादि सर्वथा नहीं है । और पुद्गल में ज्ञानादि सर्वथा नहीं होने से दोनों एक दूसरे के सर्वथा विपरीत एवं भिन्न हैं ।

## जैन विज्ञान की श्रेष्ठता—

वर्तमान विज्ञान के क्षेत्र में जितने भी १११ या इससे भी कम ज्यादा तत्त्व *elements* जो माने गए हैं वे सभी जैन धर्म के एकमात्र पुद्गल द्रव्य के ही प्रकार हैं । जैन विज्ञान ने उन सबका समावेश एक मात्र पुद्गल द्रव्य के अन्तर्गत ही कर दिया है । ये सब पौद्गलिक द्रव्य हैं । भौतिक द्रव्य हैं । अतः वर्तमान विज्ञान *(science)* मात्र भौतिक विज्ञान है । पौद्गलिक विज्ञान है । उसमें भी अजीव तत्त्व के सभी प्रकार धर्मास्तिकाय—अधर्मास्तिकाय आदि को तो विज्ञान अभी तर्क भी समझ ही नहीं पाया है । अतः विज्ञान की अपूर्णता प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होती है । दूसरी ओर जैन तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में अजीव और जीव दोनों पदार्थों के स्वरूप को अनन्त ज्ञानियों ने पूर्ण रूप से बताया है । दोनों के चरम सत्य का स्वरूप भी पूर्ण बता दिया है । अतः सर्वज्ञोपदिष्ट जैन विज्ञान ही अपने आप में पूर्ण—संपूर्ण विज्ञान है । जैन विज्ञान मात्र भौतिक विज्ञान ही नहीं है अपितु यह श्रेष्ठ आध्यात्मिक विज्ञान है । भौतिक पौद्गलिक विज्ञान का स्वरूप बताकर भी उसकी विनाशिता—अनित्यता समझाकर उसे गौण कर दिया है जब कि चेतन—जीवात्मा की अविनाशिता—

नित्यता—शाश्वतता समझाकर सर्वज्ञ परमात्मा ने इसी का विशिष्ट महत्व समझाया है। अतः जैन विज्ञान भौतिक विज्ञान न रहकर आध्यात्मिक विज्ञान कहलाया। यही इसकी विशेषता—श्रेष्ठता रही है। इसी कारण जगत् को मात्र भौतिक सुख—साधनों की तरफ ही जैन विज्ञान ने नहीं मोडा . . . लेकिन भौतिक—पौद्गलिक सुख-साधनों की विनाशिता—अनित्यता—क्षणिकता—नाशवंतता समझाकर उसे गौण करके आध्यात्मिक विज्ञान को प्राधान्यता दी। क्योंकि चेतनात्मा द्रव्य नित्य शाश्वत है, अविनाशी है। इसी का ज्ञानानन्द परमानन्द है। शाश्वत सुख है। पौद्गलिक—भूत भौतिक सुख—साधनों में सुख की मात्रा १% भी मुश्किल से होगी जबकी दुःख की मात्रा ९९% दिखाई देती है। ठीक इससे विपरीत आध्यात्मिक विज्ञान में जैन दर्शन ने आत्मिक सुख—आनन्द की मात्रा १००% बताई है। और भूत—भौतिक पौद्गलिक सुख—साधनों में दुःख ही दुःख बताया है। सिर्फ क्षणिक सुख और दीर्घकालीन दुःख है। क्योंकि वे सभी पौद्गलिक—भौतिक सुख—साधन अनित्य—नाशवन्त—क्षणिक हैं। अतः उससे शाश्वत सुख की प्राप्ति की कल्पना भी करना मूर्खता—अज्ञानता है। अतः मानव को इन दोनों विज्ञानों का, इन दोनों पदार्थों का भेद समझकर भी सच्ची दिशा में ही प्रयाण करना चाहिए। यही श्रेयस्कर है।

## जीवास्तिकाय का स्वरूप

वर्तमान आधुनिक विज्ञान ने जिसका सर्वथा स्पर्श भी नहीं किया है वह है—जीवात्मा—चेतन द्रव्य। अलोक में जिसका सर्वथा अस्तित्व भी नहीं है और लोक क्षेत्र में जिसका सर्वत्र—सर्वक्षेत्र में अस्तित्व है ऐसा चेतन जीवात्मा एक अद्भुत विशिष्ट द्रव्य है। समस्त लोकगत जीव द्रव्य की एक जाति गिननेपर जीवास्तिकाय एक समझा जाता है। जीव द्रव्य भी असंख्य प्रदेशात्मक हैं। अतः इसे भी प्रदेश समूहात्मक पिण्ड—जीवास्तिकाय कहते हैं। अस्तिकाय शब्द का प्रयोग जीव शब्द के साथ इसीलिए किया गया है, क्योंकि वह प्रदेश समूहात्मक पिण्ड—द्रव्य है। ऐसे जीवद्रव्य की संख्या अनन्त है। समग्र लोक में अनन्तानन्त जीव है, अतः यह लोक सर्वत्र—सर्व क्षेत्र में अनन्तानन्त जीवों से व्याप्त है। यह सप्रदेशी द्रव्य है। जिस तरह वस्त्र में धागे बुने गए हैं, एक धागा दूसरे धागे को जहाँ क्रॉस करता है वह *Cross Point* कहलाता है। ठीक वैसी ही जीवगत प्रदेशों की रचना संभव है। इस तरह जीवद्रव्य सप्रदेशी द्रव्य है। ये प्रदेश असंख्यात की संख्या में हैं। अतः जीवद्रव्य असंख्य प्रदेशी द्रव्य है। प्रदेश समूहात्मक रूप अस्तित्व होने से इसे जीवास्तिकाय द्रव्य कहते हैं।

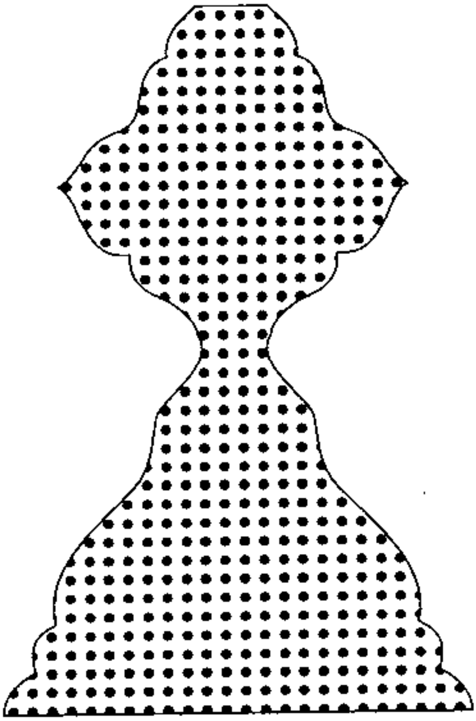

**द्रव्य की व्याख्या—**

पू. उमास्वाति वाचकवर्यजी ने तत्त्वार्थाधिगम सूत्र में द्रव्य की व्याख्या करते हुए सूत्र इस प्रकार बनाया है कि **गुण-पर्यायवद्-द्रव्यम्—** गुण और पर्याय वाला द्रव्य कहलाता है। गुणों से ही द्रव्य अलग पडते हैं। गुणों की भिन्नता के कारण द्रव्यों की भिन्नता होती है। अतः कोई भी द्रव्य गुणात्मक—पर्यायात्मक ही होता है। गुण पर्यायरहित जगत में एक भी द्रव्य नहीं है। जो जो द्रव्य है वह वह गुण पर्यायात्मक है ही और जो जो गुण पर्यायात्मक होता है वह वह द्रव्य ही होता है। अतः द्रव्य हो और गुण पर्यायरहित हो यह संभव नहीं है। अतः गुणपर्याययुक्त ही द्रव्य होता है। अपने अपने भिन्न गुणों के कारण ही द्रव्यों में भिन्नता आती है। जैसे धर्मास्तिकाय द्रव्य का गतिसहायकता का गुण है अतः वह दूसरे द्रव्यों से भिन्न द्रव्य अलग ही गिना जाता है। ठीक वैसे ही अधर्मास्तिकाय द्रव्य का स्थितीसहायकता गुण है। आकाश द्रव्य का अवकाश—देने का विशिष्ट गुण है। ये गति-स्थिति-सहायकता और अवकाश प्रदानता के गुण अपने अपने नियत द्रव्य में ही रहते हैं। एक दूसरे में संक्रमित नहीं होते हैं। इसी तरह जड—चेतन के भिन्न-भिन्न गुण हैं जिससे वे अलग-स्वतंत्र द्रव्य सिद्ध होते हैं।

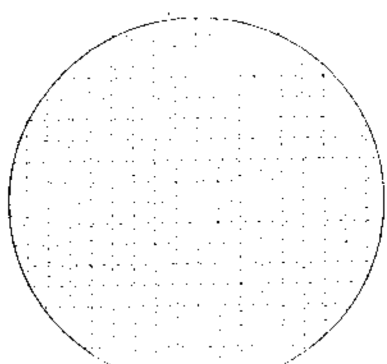

| चेतन–आत्मा के गुण | जड–अजीव के गुण |
|---|---|
| चेतन ज्ञानवान् द्रव्य है । | जड सर्वथा ज्ञान रहित होता है । |
| चेतन दर्शनवान् द्रव्य है । | जड सर्वथा दर्शनरहित है । |
| चेतन चेतना शक्तियुक्त द्रव्य है । | जड में चेतना शक्ति का सर्वथा अभाव है । |
| चेतनात्मा अनन्त शक्ति की मालिक है । | जड कारक शक्ति रहित है । |
| चेतनात्मा अरूपी द्रव्य है । | जड पुद्गलरूपी द्रव्य है । |
| सुख–दुःख की संवेदना का अनुभव करने वाला चेतन द्रव्य है । | जड में किसी भी प्रकार की सुख–दुःख की संवेदना अनुभव करने की शक्ति नहीं है । |
| चेतनात्मा में कर्ता–भोक्ता शक्ति है । | जड में कर्ता–भोक्ता शक्ति सर्वथा नहीं है । |
| चेतन आत्मा अनामी–अरूपी है । | जड पुद्गल नामी–रूपी है । |
| चेतन आत्मा नित्य–शाश्वत है । | जड पुद्गल–अनित्य–नाशवंत है । |
| चेतन वर्ण-गंध-रस-स्पर्श रहित है । | जड पुद्गल वर्ण-गंध-रस-स्पर्शयुक्त है । |
| चेतन कर्म मुक्त एवं बंधरहित होता है । | जड को कर्म का कोई संबंध ही नहीं है अतः बंध मुक्त का प्रश्न ही नहीं है । |
| चेतन अमूर्त द्रव्य है । | जड पुद्गल मूर्त द्रव्य है । |
| चेतनात्मा का कोई आकार-प्रकार नहीं है । | जड पुद्गल स्कंध के आकार–प्रकार होते हैं । |
| चेतन पूरण–गलन स्वभाव रहित होता है । | जड में पूरण–गलन का स्वभाव होता है । |
| शुद्ध–शुद्धतर–शुद्धतम–सिद्ध इस तरह चेतन का विकास होता है । | जड सिद्ध नहीं बनता है । विकास नहीं सिर्फ परिवर्तन होता है । |
| संसार में चेतनात्मा जन्म मरण धारण करती है । | जड के लिए जन्ममरण का प्रश्न ही नहीं है । |

इस तरह इन भिन्न भिन्न गुणों से द्रव्य की भिन्नता सिद्ध होती है । गुण द्रव्य को छोडकर अतिरिक्त स्वतंत्र कभी भी नहीं रहते हैं । इसी तरह द्रव्य गुण को छोडकर अन्यत्र स्वतंत्र रूप से कहीं भी–कभी भी नहीं रहता है । जैसे सूर्य की किरणें सूर्य के बिना कभी भी कहीं भी नहीं रहती हैं । और सूर्य भी किरणों के बिना कभी नहीं रहता है । गुण द्रव्याश्रित ही रहते हैं और द्रव्य गुणवान ही होता है । अपने अपने भिन्न–भिन्न गुणों से द्रव्य भी भिन्न ही होते हैं ।

चेतन जीवात्मा भी गुणों का समूहात्मक पिण्ड है । अपने ज्ञानदर्शनादि गुणों से यह जड–पुद्गल से सर्वथा भिन्न एवं विपरीत गुणवान् द्रव्य है। चेतन आत्मा भी अनुत्पन्न–अर्थात् किसी के द्वारा उत्पन्न किया हुआ द्रव्य नहीं है । किसी भी पदार्थों–द्रव्यों के मिश्रण से भी उसका उत्पन्न होना संभव नहीं है । आधुनिक विज्ञान के या अन्य नास्तिक मान्यताओं के आधार पर किसी भी द्रव्यों के मिश्रण *compound* से बना यह चेतनात्मा द्रव्य है, ऐसी धारणा सर्वथा गलत है—भ्रामक है । ऐसे कोई द्रव्य शोधे नहीं गए हैं कि जिनका मिश्रण करके चेतन द्रव्य को सभी कोई बना सके । यह भी संभव नहीं है । **न भूतो–न भविष्यति** जैसी बात है । चेतनात्मा अरूपी अमूर्त द्रव्य है । जिन पदार्थों का मिश्रण किया जाय वे सभी .... रूपी–मूर्त द्रव्य हैं और रूपी–मूर्त द्रव्यों के मिश्रण से अरूपी–अमूर्त चेतन की उत्पत्ति कैसे हो सकती है ? संभव ही नहीं है । इसी तरह रूपी–मूर्त द्रव्यों के मिश्रण से उत्पन्न मदशक्ति की तरह चेतना शक्ति उत्पन्न होती है यह भी भ्रमणा है । उदा. मदिरापान से जैसी मदशक्ति उत्पन्न होती है वैसी कोई चेतना शक्ति मानने में भी बडा अनर्थ होगा । क्योंकि मदिरा की मद शक्ति नित्य नहीं रहती है । वह भी अल्पकालिक है । मदशक्ति–नशा तो पुनः उतर जाता है । फिर व्यक्ति सामान्यस्थिति में पूर्ववत् हो जाता है तो चेतना को मदशक्ति की तरह मानने से चेतना के नाश की आपत्ती आयेगी तो चेतनात्मा को क्षणिक नाशवंत मानना पडेगा । ऐसा भी संभव नहीं है । चेतनात्मा नित्य–शाश्वत–अविनाशी द्रव्य है ।

द्रव्य दो प्रकार के होते हैं । एक उत्पन्न होने वाला द्रव्य और दूसरा अनुत्पन्न–उत्पन्न न होने वाला द्रव्य । जो जो उत्पन्नधर्मी है वह वह नाशधर्मी भी है । और जो जो नाशवंत हैं वे सभी उत्पन्नशील हैं । दूसरे द्रव्य में जो जो अनुत्पन्न होते हैं वे द्रव्य अविनाशी–शाश्वत् नित्य होते हैं । जो जो अविनाशी–नित्य–शाश्वत्–सदाकाल रहने वाले द्रव्य हैं वे सभी अनुत्पन्न–उत्पन्न न होनेवाले द्रव्य हैं । अनुत्पन्न द्रव्यों की आदि–शुरुआत नहीं होती है । वे सभी अनादि सिद्ध द्रव्य होते हैं । इसी तरह जो जो अनादि सिद्ध अस्तित्ववाले द्रव्य होते हैं वे सभी अविनाशी–अपर्यवसित–गुणवान–नित्य–शाश्वत ही होते हैं । जैसे आकाश–धर्मास्तिकाय–अधर्मास्तिकाय, चेतनात्मा एवं परमाणु ये सभी नित्य–शाश्वत द्रव्य हैं । अतः अनुत्पन्न–अनादि द्रव्य हैं । अतः इनको कभी भी उत्पन्न करने का बनाने का प्रश्न ही खडा नहीं होता है । इसलिए इनको बनानेवाले को मानना और ये बननेवाले–उत्पन्न होने वाले द्रव्य मानना ही सबसे बडी मूर्खता है—अज्ञानता है । ऐसी अज्ञानता में रहकर विपरीत ज्ञान को ही सदा के लिए सही मान लेना मिथ्यात्व है । अतः

पदार्थ जैसे हैं वैसा ही शुद्ध स्वरूप मानना आवश्यक है । यह समस्त जगत् भी ठीक इन अनुत्पन्न—शाश्वत—नित्य पदार्थों के समूहात्मक स्वरूप को ही कहा गया है । जगत् कोई स्वतंत्र भिन्न वस्तु नहीं है । जगत् नाम की किसी वस्तु को हम दिखा नहीं सकते हैं । अतः यह जगत् अन्य कुछ भी नहीं, लेकिन पाँचों अनुत्पन्न—नित्य—अविनाशी द्रव्यों का समूहात्मक स्वरूप है । इस समूहात्मक स्वरूप को 'जगत्' संज्ञा दी गई है । अतः जगत् उत्पन्नशील नहीं है । उत्पन्न होनेवाला भी नहीं है तो फिर उसे उत्पन्न करनेवाला भी नहीं है । अतः जगत् को उत्पन्नशील एवं उत्पन्न करनेवाला—बनानेवाला इन दोनों बातों को मानना सबसे बडी अज्ञानता सिद्ध होगी ।

## समस्त ब्रह्मांड का स्वरूप—

अनन्त अलोक के बीच में लोक है । इसके माप प्रमाण का विचार इस प्रकार समझ में आ सकता है । अलोक अनन्तगुना है, इस अनन्तगुने अलोक के सामने लोक क्षेत्र तो उसके अनन्तवें भाग जीतना ही है । और अनन्तवें भाग जितने छोटे इस लोक से अलोक अनन्तगुना बडा है । अलोक में सिर्फ आकाश ही आकाश है । आकाश से अतिरिक्त अन्य किसी भी द्रव्य का अस्तित्व वहाँ नहीं है । द्रव्य तो क्या एक परमाणु का भी अस्तित्व अलोक में नहीं है । अतः जो भी कुछ है वह सब लोक क्षेत्र में ही है । इसी लोक को संपूर्ण ब्रह्माण्ड कहते हैं । *The whole cosmos* कहते हैं । इस में अण्ड शब्द से अण्डे के आकार की आकृति और फिर उस में से बना आदि ऐसी कोई बात ही नहीं है । वैसे जैन दर्शन शास्त्र में ब्रह्माण्ड शब्द प्रयोग ही नहीं हुआ है । सिर्फ लोक शब्द का ही प्रयोग है । ब्रह्माण्ड शब्द वैदिक परंपरावाले हिन्दुदर्शन का है ।

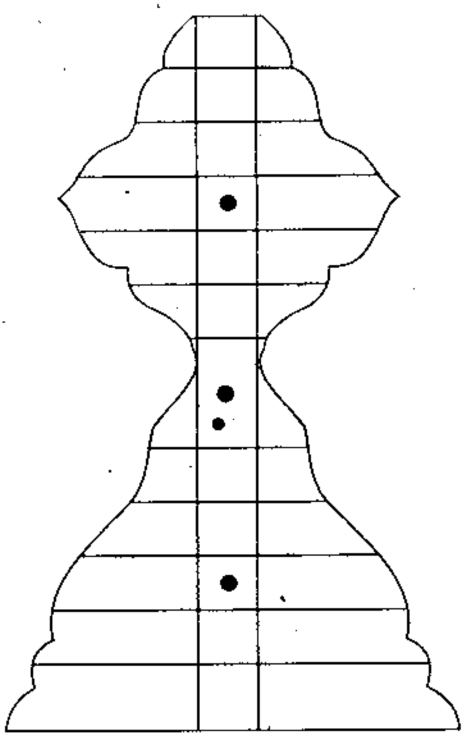

यह लोक क्षेत्र प्रमाण में १४ रज्जु प्रमाण है । रज्जु अर्थात् रस्सी । रज्जु को माप की संज्ञा देकर योजनों में गिनती की है । ऐसे असंख्य योजनों का एक रज्जु होता है । रज्जु को राज भी कहा है । और लोक शब्द जोडकर 'राजलोक' शब्द से व्यवहार किया जाता है । यह संपूर्ण लोक ऊपरी किनारे से नीचे की सतह तक १४ राजलोक प्रमाण का है । नीचे के भाग में ७ राजलोक और ऊपर भी ७ राजलोक इस तरह १४ राजलोक होते हैं । इसके मध्यवर्ती बीच के केन्द्र में मेरु पर्वत स्थित है ।

नीचे चौडाई ७ राजलोक प्रमाण है । धीरे–धीरे ऊपर आते आते चौडाई क्रमशः घटती जाती है । सातवीं नरक की ७ राजलोक चौडाई है । ६ ठ्ठी नरक की चौडाई ६ राजलोक । ५ वीं नरक की चौडाई ५ राज, ४ थी नरक की चौडाई–४ राज, तीसरी नरक पृथ्वी की ३ राज, २ री नरक की २ राज, पहली नरक पृथ्वी की १ राज चौडाई है । इस तरह आधे लोक तक चौडाई क्रमशः घटती गई । आब आगे वापिस चौडाई बढती है । नीचे से क्रमशः सात राज हो गए । अब आगे ऊपर चढते हुए ८ वें राज लोक की फिर से २ राज की चौडाई, ९ वें राजलोक की चौडाई ३ राज, १० वें राजलोक की ५ राज, ११ वें राजलोक की फिर घटकर ३ राज, १२ वें राजलोक की फिर घटकर २ राज, और १३ वें राजलोक की १ राज । लोक की इस तरह लंबाई–चौडाई के माप प्रमाण से यह १४ राजलोक समस्त ब्रह्माण्ड है । इसी की सीमा के अन्तर्गत १. धर्मास्तिकाय, २. अधर्मास्तिकाय, ३. आकाशास्तिकाय, ४. जीवास्तिकाय एवं ५. पुद्गलास्तिकाय ये पंचास्तिकाय हैं । अतः समग्र ब्रह्माण्ड जगत् पंचास्तिकायमय है । षड्द्रव्यों से भरा पडा है ।

## त्रस नाडी का स्वरूप–

इस १४ राजलोक क्षेत्र के बीचों–बीच ऊपर से नीचे तक १४ राज लम्बी, १ राज चौडी ऐसी त्रस नाडी है । त्रस जीवों के ही प्रमुख रूप से रहने के कारण इसका त्रसनाडी नामकरण सार्थक रखा गया है । ऊपरी अन्तिम किनारे से लेकर लोक के नीचे के अन्तिम किनारे तक स्पर्श करती एक नलिका के आकार जैसी होने के कारण नाडी शब्द का प्रयोग भी सार्थक है । इस त्रस नाडी में स्थावर पृथ्वीकायिक जीवादि भी रहते ही हैं । और स्थावर जीव तो त्रस नाडी में तथा त्रस नाडी के बाहर समस्त लो[illegible] त्येक क्षेत्र में व्याप्त हैं । समूचे लोक का एक कोना भी खाली नहीं है । [illegible] ावर जीव न हो । अर्थात् सूक्ष्म प्रकार के स्थावर जीवों से समस्त लो[illegible] . ेकिन त्रस जीवों की प्रमुखता

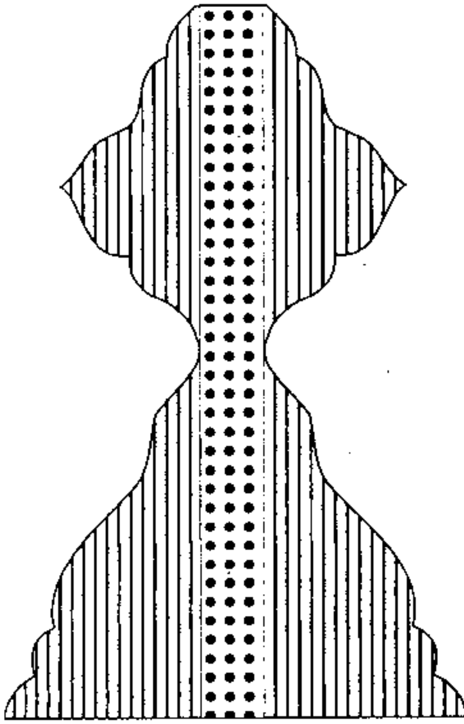

के कारण त्रस नाडी नामकरण सार्थक है। क्योंकि त्रस जीव इसमें ही रहते हैं। इसके बाहर त्रस जीव नहीं रहते हैं। यह १ राज (रज्जु) लोक चौडी और १४ राजलोक लम्बी विस्तारवाली है। यह चौडाई में ४ खंडुक तथा लम्बाई में ५६ खंडुक प्रमाण है।

**तिरिय सत्तावन्ना,**
**उड्ढं पंचेव हुंति रेहाओ।**
**पत्तएसु चउसु रज्जु**
**चउदसरज्जु य तसनाडी ॥**

लोक प्रकाश ग्रन्थ के आधार पर इस त्रस नाडी की रचना का स्वरूप बताते हुए लिखते हैं कि खडी पाँच लाइनें खींचनी, इन ५ के ३ हस्तांगुली प्रमाण अंतर तो ४ ही होंगे। अतः उनकी चौडाई १ रज्जु प्रमाण समझा जायेगा। इस खडी ५ लाईन पर ही ५७ टेढी लाईनें समान प्रमाण की और समान चौडाई की ही खींचनी। जिससे ५७ के अंतर ५६ खंडुक प्रमाण लंबाई आएगी। (१ राज के ४ खंडुक तो १४ राज के १४ x ४ = ५६ खंडुक) इस तरह त्रस नाडी का स्वरूप दर्शाया है।

## १४ राजलोक का आकार-प्रकार—

समग्र विराट यह ब्रह्माण्ड सर्वज्ञ तीर्थंकर परमात्मा के अनन्त ज्ञान में जैसा दिखाई दिया वैसा ही वीतराग स्वभाव से प्रभु ने सर्व जीवों को दर्शाया है। अतः बनाने का प्रश्न ही नहीं खडा होता है। सिर्फ बताने की ही बात है। यह विराट ब्रह्माण्ड कैसा है? किस प्रकार की आकृतिवाला है? इसका स्पष्ट स्वरूप बताते हुए सर्वज्ञ प्रभु फरमाते हैं कि—

१४ राजलोक प्रमाण इस विराट ब्रह्माण्ड का आकार वैशाख संस्थान के जैसा है। अथवा वैराट आकार है। वैशाख का अर्थ है— २ पैर फैलाकर और दोनों हाथ को कटि प्रदेश—कमर पर रखकर हाथ की कोनी फैलाकर रखने वाले खडे स्वस्थ मनुष्य के आकार

जैसा आकार इस वैराट लोक का है। अतः पुरुषाकृति की सादृश्यता के कारण इसे लोकपुरुष भी कहते हैं।

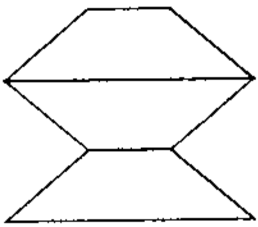

अथवा सुप्रतिष्ठक संस्थान या त्रिशराव संपुटाकार भी बताया है। दोनों नाम समानार्थक हैं। शराव शब्द घी के दीपक (दीपावली में जिस मिट्टी के छोटे से कुण्डे में किये जाते है) को कहते हैं।) ऐसे ३ शरावों की बनी आकृति जैसा यह लोक है। अर्थात् प्रथम कुण्डे को उल्टा रखें, उसी पर दूसरा कुण्डा सीधा रखें और फिर दूसरे पर तीसरे कुण्डे को फिर उल्टा रखने पर जो आकार बनता है ठीक वैसी ही समान आकृति इस लोक की बनती है। अतः इसे त्रिशराव संपुटाकार कहते हैं। अथवा मक्खन बनाने के लिए छाछ का मन्थन करते स्त्री की आकृति भी इस प्रकार की बन जाती है। योगशास्त्र में कहा है कि—

**वेत्रासन समोऽधस्तान् मध्यतो झल्लरीनिभः।**
**अग्रे मुरजसंकाशो लोकः स्यादेवमाकृतिः॥**

वेत्रासन के समान अधो भाग, झल्लरि के समान मध्यभाग और मृदंग समान ऊपरी ऊर्ध्वभाग इस तरह की आकृतिवाला यह समस्त १४ राजलोक है। ऐसा विराट एवं विशाल यह लोक संस्थान है। यह अनादि—अनन्त—शाश्वत है। इसका प्रमाण १४ राज (रज्जु) प्रमाण होने से इसे १४ राजलोक कहते हैं।

## ३ लोक की व्यवस्था—

इस समस्त १४ राजलोक प्रमाण विराट ब्रह्माण्ड में ३ विभाग हैं। उन्हें ३ लोक कहते हैं। इनको अलग अलग प्रकार के नामों की संज्ञा दी गई है।

**जावंति चेइआइं—उड्ढे[१] अ अहे[३] अ तिरिअ[२] लोए अ।**
**सव्वाइं ताइं वंदे, इह संतो तत्थ संताइं॥**

१. ऊर्ध्व लोक—ऊपर का लोक, २. तिर्च्छा लोक—तिर्यक् लोक बीच के लोक को कहा है। और ३. तीसरे के नीचे के लोक को अधोलोक कहा है। इनका नामकरण दूसरी रीति से भी है—

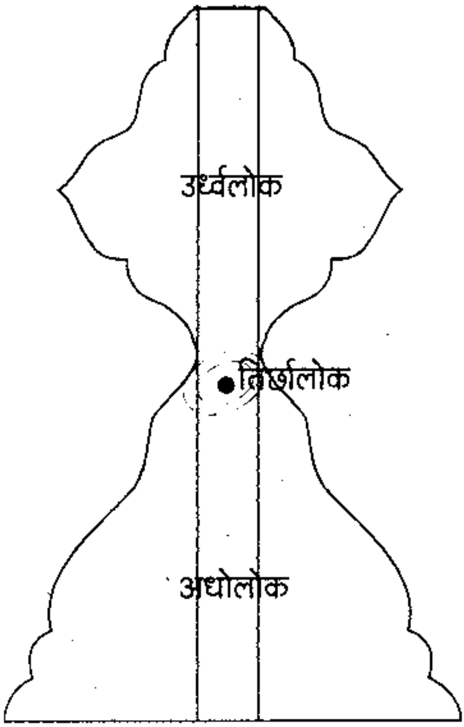


**जं किंची नाम तित्थं**
**सग्गे–पायाली–माणुसे लोए।**
**जाइं जिण बिम्बाइं,**
**ताइं सव्वाइं वंदामि ।।**

स्वर्ग, पाताल और मनुष्य लोक ऐसी नाम संज्ञा भी दी गई है । परन्तु बात एक हीं है । १) ऊर्ध्व लोक को स्वर्ग कहा गया है । वहाँ देवताओंके रहने के कारण देवलोक भी कहते हैं । २) अधोलोक को पाताल लोक कहा है । वहाँ नारकी जीवों के ही रहने का स्थान–क्षेत्र होने से नरक लोक–पाताल लोक नाम रखा गया है । इसी तरह ३) तिर्छा लोक मनुष्यों के रहने का क्षेत्र है । अतः इसे मनुष्य लोक भी कहते हैं । अब विस्तार से इन तीनों लोकों के स्वरूप का विचार करें ।

## १) ऊर्ध्व–देवलोक

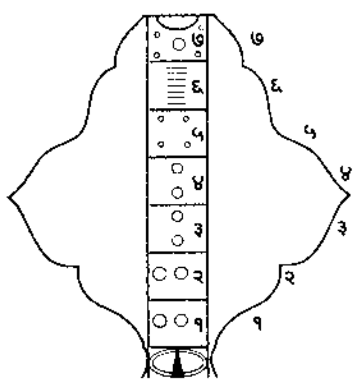


उत्कृष्ट परिणामी, ऊर्ध्वभाग में होने से अथवा उत्तम परिणामों का योगवाला, और क्षेत्र के प्रभाव से शुभ परिणामी द्रव्यों की संभावना के योग से ऊर्ध्वलोक ऐसा सार्थक नाम रखा गया है । देवताओं के निवास योग्य विमानों के स्थान है और देव–गण–देवता ही वहाँ रहते होने से देवलोक भी कहते हैं । १४ राजलोक के नीचे के ७ राजलोक पूरा होने के पश्चात् ही ऊपर के ८ वें राजलोक से ऊर्ध्वलोक का प्रारंभ होता है ।

तिर्छालोक के मेरुपर्वत के ९०० योजन पूर्ण होने के बाद ऊर्ध्वलोक प्रारंभ होता है । जो लोकान्त तक है । आठवें राज से देवलोक प्रारंभ होता है । यह भी ७ वें के ९०० योजन बाद से १४ वें राजलोक तक ७ राजलोक से अधिक प्रमाण का है । ८ वें राजलोक में १ला, २रा दो देवलोक हैं । ९ वें राजलोक में भी ३ रा ४ था दो देवलोक हैं । १० वे राज लोक में भी ५ वां, ६ ठा दो देवलोक हैं । ११ वें राजलोक में भी ७ वां, ८ वां दो देवलोक हैं । १२ वें राजलोक में ९ वां, १० वां, ११ वां, १२ वां ये चार देवलोक हैं । १३ वे राजलोक मे ९ ग्रैवेयक के विमान हैं । और अन्तिम १४ वे राजलोक में ५ अनुत्तर विमान हैं । तथा अन्त में लोकान्त में सिद्धशिला है । जिस के ऊपर अनन्त सिद्धों का वास है । बस, लोकान्त के बाद अलोक शुरू हो जाता है । इस तरह यह ऊर्ध्वलोक स्वर्गीय देवताओं से भरा पडा है । ऐसे देवताओं की संख्या असंख्य की है । ७ राज लम्बे इस ऊर्ध्वलोक की चौडाई क्रमशः इस प्रकार है । तिर्छालोक के ९०० योजन का क्षेत्र पूर्ण होने के बाद ऊर्ध्वलोक क्रमशः शुरू होता है । वह अंगुल के असंख्यात भाग से क्रमशः बढता—बढता .... चौडाई में बढता ही जाता है । पूर्व ब्रह्मदेवलोक तक १० वें देवलोक तक आते आते चौडाई का विस्तार ५ राज प्रमाण हो जाता है । यह चौडाई ऊर्ध्वलोक में सब से ज्यादा है । आगे फिर क्रमशः घटते—घटते चौडाई घटती जाती है । जो ऊपर १४ वें राज तक पहुंचते—पहुंचते चौडाई सिर्फ १ रज्जु (राज) ही रह जाती है । इस तरह ऊर्ध्वलोक की चौडाई—लम्बाई का विस्तार हुआ । उस ऊर्ध्वलोक में कल्पोपन्न और कल्पातीत वैमानिक देवताओं के विमान आदि हैं । उनका वास यहाँ है । यहाँ कोई मनुष्य—पशु—पक्षी नहीं होते हैं ।

## अधोलोक–पाताल लोक–नरक का स्वरूप—

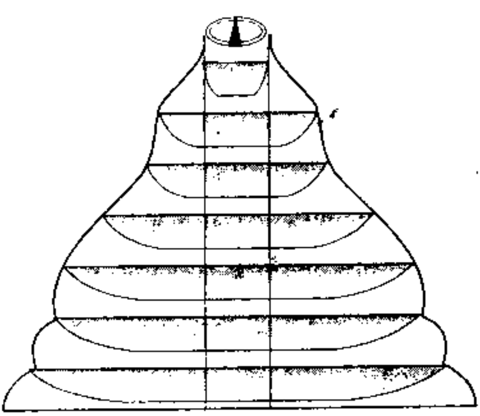

ऊर्ध्वलोक का ठीक उल्टा—विपरीत यह अधोलोक है । उल्टे रखे गए शराव की आकृति जैसा है । नीचे से लेकर ऊपर तक क्रमशः ७ राजलोक प्रमाण है । और नीचे से ऊपर आते—आते क्रमशः चौडाई का विस्तार घटता जाता है । नीचे सातवीं नरक की चौडाई का विस्तार ७ रज्जु प्रमाण है । तो वह १—१ राज घटते

घटते क्रमशः १ ली नरक का क्षेत्र मात्र १ राज सीमित ही रह जाता है। क्रमशः ७ वी नरक का—७ राज, छठी का—६ राज, ५ वी का—५ राज, ४ थी का—४ राज, ३ री का—३ राज, २ री का—२ राज, १ ली का—१ राज प्रमाण है। बस, बाद में इसके ऊपर तिर्छा लोक का मनुष्य क्षेत्र आ जाता है। तिर्छा लोक के अढाई द्वीप के केन्द्र में स्थित मेरुपर्वत की समतला भूमि से नीचे की ९०० योजन तक ही सिर्फ तिर्छा लोक है। उसके बाद नीचे अधोलोक—नरक लोक शुरू हो जाता है।

१४ राजलोक के मुख्य २ भाग होते हैं। प्रमाण—माप की दृष्टि से ऊर्ध्व लोक की अपेक्षा भी अधोलोक थोडासा बडा है। इसलिए अधोलोक को सात राज अधिक अधोलोक कहा गया है। और ऊर्ध्वलोक को सात राज न्यून कहा गया है।

**संपूर्ण लोक का केन्द्रबिन्दु—**

१४ राज लोक के संपूर्ण लोकक्षेत्र का केन्द्र बिन्दु निकाला जाय तो रत्नप्रभा प्रथम नरक पृथ्वी के नीचे रहे हुए घनोदधि—घनवात—तनवात को भी छोडकर असंख्यात योजन आगे (नीचे) जाने के बाद संपूर्ण लोक का मध्य बिन्दु—केन्द्र बिन्दु आता है। उस केन्द्र बिन्दु से ही ऊपरी सात राज कुछ न्यून होते हैं जबकि अधो लोक का प्रमाण सात राज से कुछ अधिक है। और ऊर्ध्व लोक का प्रमाण सात राज से कुछ न्यून है।

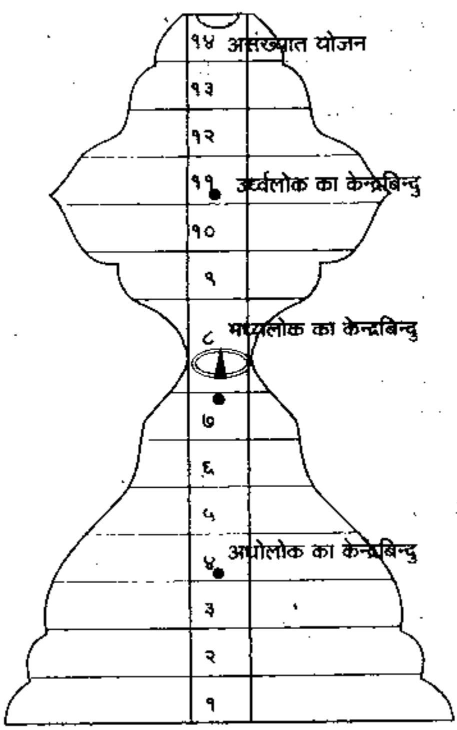


**अधोलोक का केन्द्रबिन्दु—**

अधोलोक जो सात राज से भी कुछ अधिक है इसका मध्यस्थान—केन्द्र बिन्दु चौथी पंकप्रभा नरक पृथ्वी के नीचे घनोदधि—घनवात और तनवात से भी नीचे असंख्यात योजन नीचे आता है। अर्थात् चौथी और पाँचवी नरक पृथ्वी के बीच के

आसपास के क्षेत्र में अधोलोक का केन्द्र बिन्दु आएगा । अथवा नीचे से ३ ॥ राज के **बाद और तिर्छा लोक की समतल भूमि से भी ३ ॥ राज नीचे अर्थात् नीचे से ४ थे राजलोक** में अधोलोक का मध्य बिन्दु—केन्द्रस्थान आता है । उस केन्द्र बिन्दु से—३ ॥ राज ऊपर और ३ ॥ राज नीचे इस तरह कुल मिलाकर सात राज लोक प्रमाण अधोलोक है ।

**मध्यलोक का केन्द्र बिन्दु—**

इसी तरह मनुष्यलोक—तिर्छालोक का मध्यस्थान—केन्द्रबिन्दु अष्टरूचक प्रदेशवाले क्षुल्लक प्रतर है । १४ राज लोक के बीच के १ राज लोक लोकक्षेत्र में घण्ट (झल्लरी) की आकृति के समान गोलाकार है । और बीच में बजाने के लिए जैसे घण्ट है उस तरह मेरूपर्वत है । मेरूपर्वत का १००० योजन का भाग भूमि के अन्दर गया हुआ है । इस समान्तर भूमि का नाम समतला भूमि है । इस समतला भूमि से ९०० योजन नीचे और इसी तरह ऊपर भी ९०० योजन इस तरह कुल मिलाकर १८०० योजन प्रमाण यह तिर्छा—मध्य लोक है । इसके बीच अष्टरूचक प्रदेशवाले क्षुल्लक प्रतर है वहाँ गोस्तनाकार प्रदेशों को मध्यलोक का मध्यस्थान केन्द्रबिन्दु कहा गया है । संपूर्ण १४ राज लोक के मध्य में स्थित होने से तिर्छा लोक को मध्यलोक कहा गया है । और दूसरे तरीके से इस मध्य लोक में मध्यम परिणामवाले द्रव्यों के संभव से भी इसका मध्यम लोक नामकरण किया गया है ।

**ऊर्ध्वलोक का केन्द्र बिन्दु—**

१४ राजलोक क्षेत्र में दो विभाग हो गए । ७ राज लोक नीचे—अधो लोक के और ऊपर भी ७ राज लोक में कुछ न्यून ऐसा ऊर्ध्वलोक है । ऊर्ध्व लोक—तिर्छालोक के मध्य बिन्दु अष्टरूचक प्रदेश से ऊपर लोकान्त तक ऊर्ध्वलोक है । ऊर्ध्वलोक में जो १२ देवलोक हैं उनमें ४ थे देवलोक से ऊपर और ५ वें ब्रह्मदेवलोक के ६ प्रतर हैं । उन ६ प्रतरों में से ३ रे रिष्टनामक प्रतर को ऊर्ध्व लोक का मध्य—केन्द्रबिन्दु कहा गया है । वैसे यहाँ पर लोकान्तिक देवों के विमान स्थित हैं ।

इस तरह *Jain cosmological thoughts* जैन ब्रह्माण्ड शास्त्रानुसारी वर्णन के आधार पर समस्त ब्रह्माण्ड का विचार किया जा रहा है । इसी तरह भौगोलिक *Geographical* विचार भी करें ।

## कहाँ क्या है ? कैसा है ? ऊर्ध्व देव लोक में कहाँ क्या है ?—

**तिर्छा लोक की समतला भूमि से ऊपर के ९०० योजन तक की तिर्छालोक की** सीमा को छोडकर बाद में ऊपर ऊर्ध्व लोक शुरू होता है। जो लोकान्त तक गिना जाता है। वहाँ तक कुछ न्यून ऐसे ७ राज लोक होते हैं। ठीक इसके बीचो—बीच .. त्रस नाडी है। त्रस नाडी के अन्दर ऊपर से नीचे ७ राज लोक क्षेत्र में देवताओं के निवास स्थान— विमान है। अतः इसे देवलोक कहते हैं। देवलोक का यहाँ क्षेत्र समग्र ब्रह्माण्ड का आधा क्षेत्र है। देवताओं के विमान है। विमान शब्द यहाँ पृथ्वीवाची है। अतः ऐसी विशाल पृथ्वियाँ है जहाँ सिर्फ स्वर्गस्थ देवताओं का ही वास है। जैसे इस धरती पर हम यहाँ पर मनुष्य रहते हैं। हमारे राज्य—जातियाँ समाज आदि सारी व्यवस्था है ठीक वैसे ही देवलोक में देवताओं का वास है। सिर्फ देवता ही वहाँ रहते हैं। उनके भी राज्य, राज्यसभा, जातियाँ, समाज— आदि सारी व्यवस्था है।

ऊपरी सात राज क्षेत्र में देवताओं की ४ जातियों में वैमानिक देवताओं का वास इस देवलोक में है। व्याख्या इस प्रकार दी गई है। **विमाने भवाः वैमानिकाः**—जो विमान में उत्पन्न होते हैं, वहाँ रहते हैं, वे वैमानिक कहलाते हैं। अतः वैमानिक देवताओं के लिए वहाँ विमान (पृथ्वीयाँ) है। इसलिए इसे वैमानिक देवलोक भी कहते हैं। ये विमान इस प्रकार—इनके स्थान चित्र में दर्शाए अनुसार हैं। इनके नाम इस प्रकार हैं—

## १२ देवलोक—

**सौधर्मेशान—सानत्कुमार—माहेन्द्र—ब्रह्मलोक—**
**लान्तक—महाशुक्र—सहस्रारेष्वानत—प्राणतयोरारणाच्युतयोर्नवसु ग्रैवेयकेषु**
**विजय—वैजयन्त—जयन्तापराजितेषु सर्वार्थसिद्धे च ॥**

तत्त्वार्थ ४—२

**वैमानिकाः ॥ ४—१७, कल्पोपन्नाः कल्पातीताश्च ॥ ४—१८, उपर्युपरि ॥ ४—१९**

तत्त्वार्थाधिगम सूत्र के इन सूत्रों में कहा गया है कि .... वैमानिक देवता २ प्रकार के होते हैं।

**वैमानिक देवता**

१. कल्पोपन्न देव — २. कल्पातीत देव

१. कल्प में ही उत्पन्न होने वाले देवताओं को कल्पोपन्न कहा है। कल्पोपन्न में १२ देवलोकों का समावेश है। उनके नाम इस प्रकार हैं— १) पहला—सौधर्म देवलोक, २)

दूसरा–ईशानदेवलोक, ३) तीसरा–सनत्कुमार देवलोक, ४) चौथा–महेन्द्रदेवलोक, ५) पाँचवा–ब्रह्मदेवलोक, ६) छठा–लांतक देवलोक, ७) सातवाँ– महाशुक्र देवलोक, ८) आठवाँ–सहस्रार देवलोक, ९) नवाँ–आनत देवलोक, १०) दसवाँ–प्राणत देवलोक है। ११) ग्यारहवाँ आरण देवलोक, १२) बारहवाँ अच्युत देवलोक। इस तरह ये १२ देवलोक हैं। इनमें उत्पन्न होनेवाले देवता कल्पोपन्न जाति के कहलाते हैं। इन देवलोक के विमानों की रचना –स्थिति चित्र में दर्शाए अनुसार पहला–सौधर्म और दूसरा ईशान, ये दो देवलोक मेरूपर्वत की ठीक दिशा में–ऊपर–दाहिने (दक्षिण)–बाएं (उत्तर) में आए हुए हैं। ये दोनों देवलोक ८ वें राजलोक में पास–पास स्थित हैं। फिर ३, ४ ये दोनों देवलोक ९ वें राजलोक में पहले–दूसरे की तरह ही पास पास में लेकिन ऊपर स्थित हैं। १ ले के ऊपरी दिशा में ऊपर ३ रा सनत्कुमार देवलोक है। इसी तरह २ रे की ऊपरी दिशा में ऊपर ४था महेन्द्र देवलोक है। इसके बाद–५ वां, ६ ठा, ७ वां, ८ वां–ये चार देवलोक (एक के ऊपर एक) इस तरह ऊपरी दिशा में स्थित हैं। पाँचवा–ब्रह्मदेवलोक १० वें राजलोक में है। ६ ठा देवलोक ५ वें के ऊपर १० वें राजलोक पर है। ७ वां, तथा ८ वां देवलोक ऊपर–ऊपर ११ वें राजलोक मे स्थित है। फिर उसके बाद–९ वें देवलोक तथा १० वां–ये दोनों फिर दाएं–बाएं १२ वें राजलोक में स्थित हैं। इसी तरह ११ वां तथा १२ वां देवलोक ये दोनों भी बाएं, दाएं–पास–पास १२ वें राजलोक में ही स्थित हैं।

**कल्पातीत देवलोक–**

जो कल्पोपन्न के १२ देवलोक में नहीं हैं इनसे बाहर हैं–इनसे ऊपर हैं वे कल्पातीत देवलोक हैं। ये कल्पोपन्न से भी ऊपर हैं। कल्पातीत के भी २ भाग हैं।

**कल्पातीत देवलोक**

**९ ग्रैवेयक + ५ अनुत्तर = १४ देवलोक**

१४ राजलोक की जो पुरुषाकार आकृति है जिसे लोकपुरुष नाम दिया गया है, उस लोकपुरुष की ग्रीवा स्थान पर स्थित है इसलिए ग्रैवेयक ऐसा नाम दिया है। ऐसे ९ देवलोक हैं। वे सभी एक एक के ऊपर–ऊपर–ऊपरी दिशा में स्थित हैं। ये नौं देवलोक–१३ वें राजलोक में स्थित हैं। इसके ऊपर ५ अनुत्तर विमानों का स्थान है। १ ला विजय देवलोक, २ रा वैजयन्त, ३ रा जयन्त, ४ था अपराजित और ५ वां सर्वार्थसिद्ध।

ये पाँच अनुत्तर विमान भी कल्पातीत देवलोक में गिने जाते हैं। बस, देवलोक क्षेत्र में अन्तिम देवलोक सर्वार्थसिद्ध आ गया। इसके बाद ऊपर देवलोक की स्थिति नहीं है।

ऊर्ध्व लोक क्षेत्र में ही देवलोक की समाप्ति के बाद सिद्धशिला आती है। इस सिद्धशिला के ऊपर अनन्त सिद्धों का वास है। यहाँ पर ही अलोक की सीमा है। लोक की समाप्ति और अलोक की शुरुआत है। सभी सिद्धात्मा जो सर्वथा अशरीरी हैं वे सभी लोकान्त को स्पर्श करके सदा स्थिर रहे हुए हैं। अलोक में धर्मास्तिकाय आदि न होने से सिद्धात्मा का गमन ऊपर नहीं होता है। अतः सिद्धों की स्थिति भी लोक क्षेत्र में ही है। लोकान्त—लोक—के अन्तिम भाग में है। इसे लोकाग्र शब्द से भी कहा गया है। लोक का अग्रिम भाग लोकाग्र कहलाता है। वहाँ अनन्त सिद्धों का वास है। इस तरह यह ऊर्ध्वलोक का स्वरूप हुआ।

## तिर्छालोक का भौगोलिक स्वरूप—

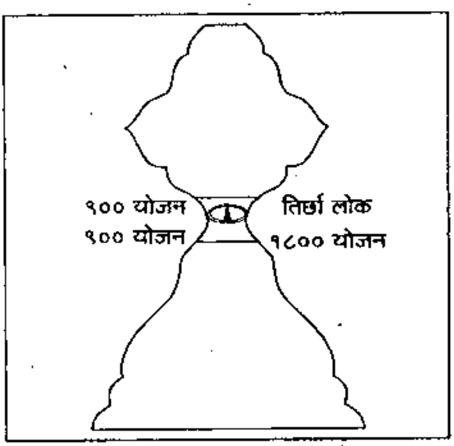


१४ राजलोक परिमित इस लोक क्षेत्र में ऊर्ध्वलोक ७ राज कुछ न्यून प्रमाण ऊपर है, और अधोलोक ७ राज कुछ अधिक नीचे है। इन दोनों के बीच में तिर्छालोक है। जैसे हमारे सिर से पैर तक के शरीर में नाभी भाग है वह केन्द्र भाग है। ठीक वैसे ही इस लोक में तिर्छा लोक नाभि की तरह केन्द्र भाग में है। यद्यपि केन्द्रबिन्दु थोडा नीचे जरूर है। क्योंकि ऊर्ध्वलोक से अधोलोक थोड़ा सा बडा है। अतः ऐसे पुरुषाकार लोक क्षेत्र के बीचोबीच तिर्छालोक आया हुआ है। इसके मध्यलोक, मनुष्यलोक और तिर्छालोक तीनों नाम प्रसिद्ध हैं।

ऊर्ध्व—अधो दोनों लोको के बीचो—बीच मध्यवर्ती होने के कारण मध्यलोक नाम सार्थक है। इसके केन्द्रवर्ती अढाई द्वीप में मनुष्यों की बसति होने से प्राधान्यता की दृष्टि से मनुष्य लोक कहना भी सार्थक हैं। तथा असंख्य द्वीप समुद्रों के इस लोक में तिर्यंचों की वसति काफी ज्यादा है। अतः तिर्यक् लोक या तिर्छालोक भी सार्थक नाम है।

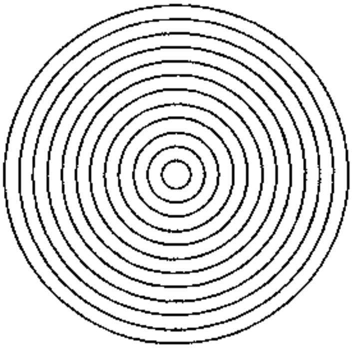

यह तिर्छा लोक असंख्य द्वीप—समुद्रों का क्षेत्र है। थाली के आकार का पूर्ण गोलाकार बीच में एक द्वीप है। और बाद में उसके चारों तरफ समुद्र है। इसी तरह आगे पुनः द्वीप, फिर समुद्र—फिर पुनः द्वीप—फिर समुद्र इस तरह एक द्वीप एक समुद्र इस क्रम से चलते चलते असंख्य द्वीप—असंख्य समुद्रों की स्थिति वाला यह तिर्छा लोक है। द्वीप उसे ही कहते हैं, जिसके चारों तरफ समुद्र ही समुद्र हो। ये द्वीप ही पृथ्वी है। इनके नामकरण के बारे में तत्त्वार्थाधिगमसूत्रकार कहते हैं—

**जम्बू—द्वीप—लवणादयः शुभनामानो द्वीपसमुद्राः ॥ ३—७ ॥**

इन असंख्य द्वीपसमुद्रों में पहला जंबूद्वीप है। उसके बाद लवणसमुद्र है। फिर आदि शब्द से आगे के द्वीप—समुद्र अनेक बताए गए हैं। जो संख्या में असंख्य हैं। इन असंख्यों में नामकरण की व्यवस्था बताते हुए कहते हैं कि—जितने भी जगत् में शुभ श्रेष्ठ नाम हैं वे सभी इन द्वीप—समुद्रों के नाम रहते हैं या ऐसे कहिए कि . . . जगत में जितने भी शुभ नाम हैं उन सभी नामों वाले द्वीप—समुद्र हैं। इनमें कुछ नाम इस प्रकार है—

| **द्वीपों के नाम** . . . . . . . . | **प्रमाण** | **समुद्रों के नाम** . . . . . . | **प्रमाण** |
|---|---|---|---|
| १.जंबूद्वीप . . . . . . . . . | (१ लाख योजन) | २.लवण समुद्र . . . . . | (२ लाख योजन) |
| ३.धातकी खंड . . . . . . . | (४ लाख योजन) | ४.कालोदधि समुद्र . . . | (८ लाख योजन) |
| ५.पुष्कर द्वीप . . . . . . . | (१६ लाख योजन) | ६.पुष्करोद समुद्र . . . | (३२ लाख योजन) |
| ७.वरूणवर द्वीप . . . . . | (६४ लाख योजन) | ८.वरुणवर समुद्र . . . | (१२८ लाख योजन) |
| ९.क्षीरवर द्वीप . . . . . . | (२५६ लाख योजन) | १०.क्षीरोद समुद्र . . . | (५१२ लाख योजन) |
| ११.घृतवर द्वीप . . . . . | (१०२४ लाख योजन) | १२.घृतोद समुद्र . . . | (२०४८ लाख योजन) |
| १३.इक्षुवर द्वीप . . . . . | (४०९६ लाख योजन) | १४.इक्षुवरोद समुद्र . | (८१९२ लाख योजन) |
| १५.नंदीश्वर द्वीप . . . . | (१६३८४ लाख योजन) | १६.नंदीश्वर समुद्र . | (३२७६८ लाख योजन) |
| १७.अरुणवर द्वीप . . . | (४५५३६ लाख योजन) | १८.अरुणवर समुद्र | (९१०७२ लाख योजन) |

इस तरह यहाँ ९ द्वीप के और ९ समुद्रों के नाम दिए गए हैं। और आगे चलते ही जाएं तो इस तरह द्वीप और इसके बाद समुद्र आते ही रहेंगे . . . ये असंख्य की संख्या में

हैं। इन में असंख्यातवाँ अन्तिम समुद्र स्वयंभूरमण समुद्र है। बस, इस नाम के समुद्र के बाद लोकान्त आ जाता है। तिर्छालोक का लोकान्त (अन्त) आता है। माप के प्रमाण के विषय में सूत्र में कहा है कि—

**द्विर्द्विर्विष्कम्भाः पूर्व-पूर्व-परिक्षेपिणो वलयाऽऽकृतयः ॥ ३–८ ॥**

ये सभी द्वीप और समुद्र क्रम से डबल—डबल विस्तार वाले हैं। इस क्रम से जंबूद्वीप १ लाख योजन विस्तार वाला है। और इसके आगे लवण समुद्र २ लाख योजन विस्तारवाला है। आगे सभी द्वीप—समुद्रक्रम से एक दूसरे से दुगुने—दुगुने विस्तार वालें हैं। इन में ९ द्वीप और ९ समुद्रों के नाम और उसके विस्तार का माप—प्रमाण जो दुगुना—दुगुना है वह ऊपर द्वीप—समुद्रों के साथ लिखा है। ये सभी द्वीप—समुद्र वलयाकृति में हैं। वलय यहाँ पर हाथ में पहनने के कंगन (बंगडी) के आकारवाले हैं। अर्थात् गोलाकार हैं। जंबूद्वीप संपूर्ण कंगन की तरह गोल है। उसके बाद लवण समुद्र भी कंगन की तरह गोल है। इस तरह आगे सभी द्वीप—समुद्र गोलाकार स्थिति में एक के बाद एक वलयाकार हैं। ऐसे असंख्य द्वीप—समुद्र हैं। जो माप—प्रमाण में एक दूसरे से दुगुने हैं। इस तरह अन्तिम स्वयंभूरमण समुद्र है। वहाँ तक लोक की सीमा है। उसके बाद अलोक की शुरुआत हो जाती है। स्वयंभूरमण समुद्र का माप—प्रमाण असंख्य योजनों का आएगा।

**लोक का अन्तर मापने का उदाहरण—**

श्री भगवती सूत्र आगम में श्री गौतमस्वामी गणधर भगवंत ने सर्वज्ञ श्री वीर प्रभु से पूछा और परमात्मा महावीर प्रभु ने फरमाया ऐसा संवाद है। जो इसी लोक के विषय पर विस्तार से हैं। आगम शास्त्र की बात है अतः विश्वसनीय है।

गौतम—(प्रश्न) हे भंते। यह लोक कितना बडा है? कितना विस्तार है? लोकान्त तक पहुँचना कितना संभव है?

(भ. महावीर प्रभु ने समझाने के लिए एक काल्पनिक दृष्टान्त से समझाते हुए कहा कि....) मानों कि बहुत ही शक्तिशाली ६ देवता... जंबूद्वीप के मेरुपर्वत के ऊपरि चूलिका पर रहे हुए हो, और बिल्कुल नीचे ४ दिक्कुमारिकाएं बलिपिण्ड लेकर खडी हो। वे एक साथ चारों दिशाओं में बलिपिण्ड फेंकें, इतने में ही ऊपरि—चुलिका से देव अत्यन्त तेज गति से इतनी शीघ्रता से दौडे कि बलिपिण्ड वापिस जमीन पर न गिरे, और गिरने से पहले ही वह देव उस बलिपिण्ड को उठा लें। इतने ऊपर से—चूलिका पर से इतना तेज

भागकर आना, इतनी शीघ्रता से बलिपिण्ड उठा लेना इस में कितनी शीघ्र गति द्रुत गति होगी ? कल्पना करिए।

इतनी द्रुतगति से वे सभी देवता छओं दिशाओं में लोक का अन्त देखने के लिए भागें .... भागते भागते भागते ही जाएं .... कब तक भागते रहें ? इसके लिए काल कितना लगे ? कितने काल तक भागते ही रहें ? इस के लिए कहते हैं कि एक पुत्र पैदा हुआ हो जिसका आयुष्य १००० वर्ष का हो .... उसका दूसरा पुत्र १००० वर्ष के आयुष्यवाला हो ..... वह भी मर जाय उसके बाद तीसरी पीढ़ी का तीसरा पुत्र भी १००० वर्ष के आयुष्यवाला भी मृत्यु पा जाय .... इस तरह हजार–हजार वर्ष के आयुष्यवाली सात पीढ़ीयां बीत जाय .... ऐसे ७००० वर्ष तक उतनी ही द्रुत–शीघ्रगति से देवता भागते ही जाएं .... भागते ही जाएं .... और भागते ही रहें ...

(इस बीच गौतमस्वामी पूछते है) – हे भंते ! इतने ७००० वर्षों तक निरन्तर–अविरत इतनी शीघ्र गति से भागते हुए देवता जो लोकान्त की तरफ छओं दिशाओं में भाग रहे हैं। (गौतम–तेसिणं भंते। देवाणं किं गए बहुएं ? अगए बहुए ?)

(म. गोयमा। गए बहुए नो अगए बहुएं। गयाओ से अगए असंखेज्जई भागे। अगयाओ से असंखेज्जगुणे। लोए णं गोयमा ए महालए पन्नत्ते)

वे ज्यादा भाग गए या ज्यादा भाग जाना शेष बचा है ? इस प्रश्न के उत्तर में–भगवतीसूत्र के इस पाठ में–श्री वीर प्रभु फरमा रहे हैं कि— हे गौतम ! हाँ ... वे गए ज्यादा और शेष थोडा ही बचा है। जितने वे गए हैं उसका असंख्यातवाँ भाग ही अब जाना शेष है। अथवा जितना भाग शेष जाना बचा है उससे असंख्यात गुना भाग वे जा चुके हैं। अब असंख्यातवाँ भाग ही जाना शेष बचा है।

उपमा के इस दृष्टान्त में आप गति और समय पर पूरा ध्यान दीजिए। देवताओं की गति कितनी ज्यादा द्रुत गति है। किस गति की शीघ्रता से वे भाग रहे हैं ..... और सात पीढ़ीयों के ७००० वर्ष तक निरंतर–अविरत, इसी गति से सतत भागते ही रहने के बाद भी लोकान्त को नहीं छू सके हैं। अभी भी जाना अवशिष्ट है। यह तो लोक की बात है जो सीमित परिमित है। असंख्य योजनों का सीमित भाग ही है। इसलिए अन्त आना संभव है। यदि अनन्त होता तो अन्त आना संभव ही नहीं था। अनन्त की बात अलोक के विषय में बैठेगी। अतः भगवतीसूत्र में अलोक की अनन्तता को समझाने के लिए जो दृष्टान्त दिया है वह भी यहाँ प्रस्तुत करता हूँ जिससे अलोक की अनन्तता को हम गम्भीरता से समझ सकें—

## अलोक की अनन्तता

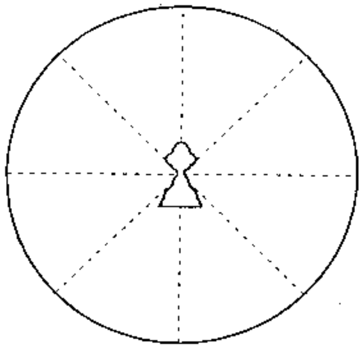

भगवती सूत्र के ११ वें शतक के १० वें उद्देश के ४२१ वें सूत्र में गौतमस्वामी ने महावीर प्रभु को प्रश्न पूछा कि— हे भन्ते ! अलोक कितना बडा विशाल है ? (इसके उत्तर में समझ में आ सके इसके लिए काल्पनिक दृष्टान्त देकर प्रभु समझा रहे है)— हे गौतम ! ४५ लाख योजन के विस्तार वाला जो अढाई द्वीप है उसके चारों तरफ पुष्करार्ध द्वीप में ही जो मानुषोत्तर पर्वत है — उस पर्वत पर ... महा शक्तिशाली महान ऋद्धिवाले ऐसे १० देवता आठों दिशा—विदिशा में खडे रह जाय । पर्वतमाला के नीचे आठ दिक्कुमारिकाएं—८ बलिपिण्ड लेकर खडी रह जाय । ये आठ दिक्कुमारिकाएं आठों दिशा—विदिशाओं में बलिपिण्डों को ऊपर फेंके ... इतने में ही १० में से १ देवता .. अत्यन्त तीव्र गति से आँख की पलक मात्र समय में ही दौडकर ... उन आठों बलिपिण्डों को नीचे गिरने न देते हुए .. नीचे गिरने से पहले ही पकड लें, उठा लें । अब विचार करिए—एक ही देवता ... आँख की पलक मात्र समय में कितना शीघ्र—तीव्र गति से दौडे कि वह आठों बलिपिण्डों को धरती पर गिरने के पहले तो उठा भी ले । ... इस दृष्टान्त से गति की तीव्रता का ख्याल आ जाता है ।

ऐसी तीव्रतर गति वाले दशों देवता ... इसी गति से लोक में से अलोक का अन्त पाने के लिए ... दशों दिशाओं में ... भागना शुरू करें, और इसी गति से निरंतर ... अविरत् .... अखण्ड रूप से दौडते ही जाय दौडते ही जाय । इस बीच लाख—लाख वर्ष के आयुष्यवाली ... सात पीढीयां बीत जाय । अर्थात् ७ लाख वर्ष से भी अधिक काल बीत जाय तब तक ... भी ये देवता ... सतत अखण्ड गति से दौडते ही जाय .. दौडते ही रहे .... इस बीच गौतमस्वामी प्रश्न पूछते हैं—**तेसिणं देवाणं किं गए बहुए ? अगए बहुए ?** हे भगवन् । वे देवता गए ज्यादा कि जाना अवशिष्ट ज्यादा रहा ? इन दसों देवताओं ने कितना पंथ काटा ? क्या अलोक का किनारा—अन्त पाया ?

भ. महावीर इसके उत्तर में फरमाते हैं कि— हे गौतम ! वे गए ज्यादा नहीं है परन्तु अभी जाना बहुत अवशिष्ट है।

फिर गौतम पूछते हैं कि... हे भन्ते। ज्यादा अर्थात् कितना ? कितने ज्यादा गए ? और कितना ज्यादा जाना अभी अवशिष्ट है ?

भ. महावीर प्रभु ज्यादा का अर्थ स्पष्ट करते हुए फरमाते हैं कि— हे गौतम ! गए ज्यादा नहीं परन्तु अभी जाना बहुत अवशिष्ट है। अर्थात्— जितना भाग गए हैं उसका अनन्तगुना भाग और जाना अवशिष्ट है। और जितना अनन्तगुना भाग जाना अवशिष्ट है उसका सिर्फ अनन्तवां भाग ही ये देवता गए हैं।

सोचिए.. इतनी तीव्रतम द्रुत—शीघ्र गति से और ऐसे शक्तिशाली देवताओं दौडने के बावजूद भी सिर्फ अनन्तवां भाग ही वे जा सकें। अभी भी अनन्तगुना भाग जाना और अवशिष्ट है। तो फिर इसका अन्त आना तो संभव ही नहीं है।

ख्याल रहे कि अलोक में गतिसहायक धर्मास्तिकाय आदि कोई द्रव्य नहीं है। देवता जा भी नहीं सकते हैं। फिर भी रूपक दृष्टान्त द्वारा सिर्फ समझ में आ जाय कि.. अलोक कितना अनन्त है, असीम, अमाप है। इससे अनन्तता का ख्याल आ जाय इसके लिए यह उदाहरण सहायक बनता है। यह तिर्छा लोक ऊर्ध्व—अधो दिशा में ऊपर ९०० योजन है। ये ९०० योजन मेरुपर्वत की समतला भूमि से मापे जाते हैं। इसी तरह इसी समतला भूमि से अधो नीचे की दिशा में भी ९०० योजन है। इस तरह ऊर्ध्व—अधोदिशा में दोनों मिलाकर सिर्फ ९०० + ९०० = १८०० योजन प्रमाण ही है। असंख्य योजन ऊँचे—नीचे—लम्बे—चौडे इस संपूर्ण १४ राज लोक के विशाल ब्रह्माण्ड में.. सिर्फ १८०० योजन मात्र यह तिर्छा लोकसमुद्र के सामने एक छोटे खड्डे के जैसा दिखता है। लगता है। ऊपर—नीचे के १८०० योजन जरूर सीमित है। परन्तु तिर्छालोक की कुल चौडाई का विस्तार १ राज प्रमाण है।

७ वें राजलोक के ऊपर और ८ वें राजलोक के नीचे यह तिर्छा लोक है। अतः सर्वथा ७ और ८ वें के बीचो बीच भी नहीं कह सकते हैं। क्योंकि ७ राजलोक बीतने के बाद पूरे होने के पश्चात् ऊपर तिर्छा लोक के द्वीप—समुद्रों की स्थिति है। हाँ, यह बात जरूर है कि.... ९०० योजन नीचे के हैं वे जरूर ७ वें राजलोक की सीमा के अन्दर जाते हैं। और ९०० योजन ऊपर के ऊपरी ८ वें राज में गिने जाते हैं। इस तरह १८०० योजन वाले इस तिर्छालोक का आधा हिस्सा ७ वें राजलोक में ऊपरी आधा हिस्सा ८ वें राजलोक में है। इस तरह ऊर्ध्व—अधो—१८०० योजन सीमित एवं चौडाई के विस्तार में पूरा १ राजलोक परिमित है। १ राजलोक भी असंख्य योजन बराबर होता है। इन असंख्य

योजनों की चौडाई के विस्तार में फैले हुए असंख्य द्वीप समुद्र है जिनकी स्थापना इस प्रकार है—

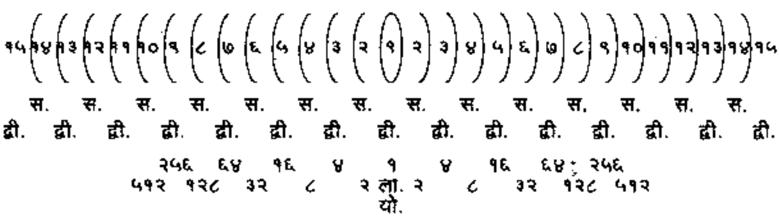


इस तरह संपूर्ण गोलाकार वृत्त आकृति में इन द्वीपों—समुद्रों की रचना है । एक द्वीप बीच में फिर उसके चारों तरफ गोलाकृति में समुद्र फिर द्वीप—फिर समुद्र इस तरह ये असंख्य की संख्या में असंख्य द्वीप समुद्र हैं । जो कि माप—प्रमाण में पहले से दुगुने—दुगुने हैं । अन्त में अन्तिम समुद्र स्वयंभूरमण समुद्र है । बस, इसके बाद बाईं—दाईं दिशा में लोक का अन्त आता है । लोकान्त के बाद अलोक की स्थिति है ।

## मनुष्य क्षेत्र—अढाई द्वीप—

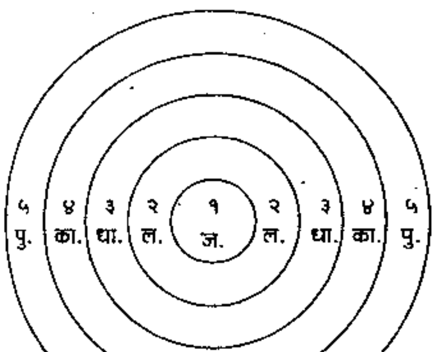


तिर्छा लोक क्षेत्र के असंख्य द्वीप—समुद्रों के बीच २ ॥ द्वीप समुद्र परिमित मनुष्य क्षेत्र है । यद्यपि इन २ ॥ द्वीप—समुद्रों में तिर्यञ्च गति के पशु—पक्षियों जलचर—स्थलचर आदि सभी जीवों की स्थिति है । लेकिन इनकी स्थिति तो असंख्य द्वीप—समुद्रों में सर्वत्र है । परन्तु मनुष्यों की स्थिति सिर्फ... २ ॥ द्वीप समुद्रों के सीमित क्षेत्र में ही है । बस, इसके बाहर नहीं है । उसमें भी पहले जंबू द्वीप में, दूसरे धातकी खण्ड में, और तीसरे पुष्करार्ध द्वीप में ही मनुष्यों की बस्ती है । पुष्कर द्वीप १६ लाख योजन के विस्तार वाला है । इसके बीचो बीच वृत्ताकार मानुषोत्तर पर्वत है । जिससे इस पुष्कर द्वीप के दो भाग पडते हैं । ८ लाख योजन केन्द्र की तरफ

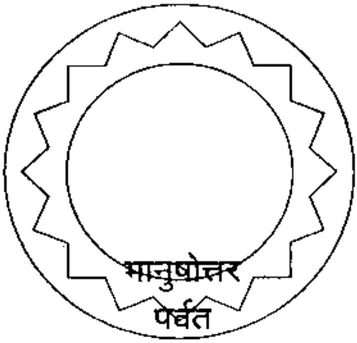


और शेष ८ लाख योजन मानुषोत्तर पर्वत के बाहर की तरफ . . . । इनमें से केन्द्र की तरफ का आधा ८ लाख योजन का पुष्करार्ध द्वीप मनुष्य क्षेत्र के अन्तर्गत गिना जाता है । बस, इसके बाहर मनुष्यों की उत्पत्ति–मृत्यु–जन्म–मरण और स्थिति नहीं है । जो भी मनुष्य है . . . जितने भी मनुष्य हैं या उनके जन्म–मरण हैं वे सब . . . . २ ॥ द्वीपान्तर्गत ही है ।

**४५ लाख योजन का प्रमाण—**

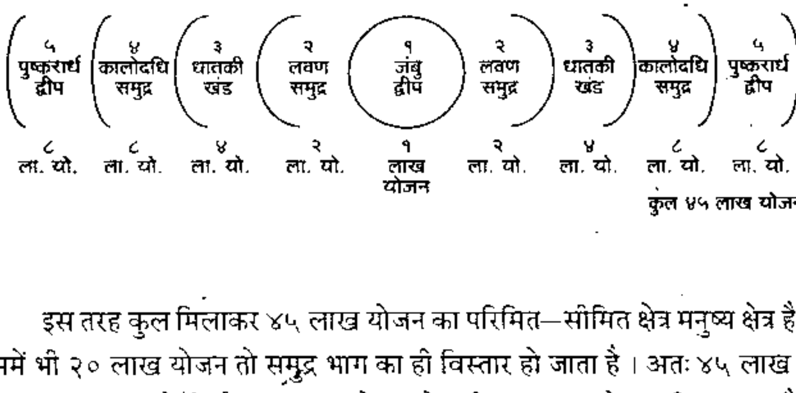


इस तरह कुल मिलाकर ४५ लाख योजन का परिमित—सीमित क्षेत्र मनुष्य क्षेत्र है । इसमें भी २० लाख योजन तो समुद्र भाग का ही विस्तार हो जाता है । अतः ४५ लाख में से २० लाख गए तो सिर्फ २५ लाख योजन क्षेत्र ही मुख्य रूप से अवशिष्ट रहता है । समुद्री क्षेत्र में प्रधान रूप से जलचर जीव ही रहते हैं । फिर भी . . लवण समुद्र में जो ५६ अन्तर्द्वीप हैं उनमें मनुष्यों की काफी बस्ती है । अतः ये समुद्र भी मनुष्यों के क्षेत्र गिने जाते हैं । मनुष्यों की ही बस्ती इस ४५ लाख योजन सीमित क्षेत्र में होने के कारण और उसके बाहरी क्षेत्र में मनुष्यों की बस्ती का सर्वथा अभाव है । अतः पुष्कर द्वीप के मध्यवर्ती पर्वत के मानुषोत्तर पर्वत नाम सार्थक सान्वर्थ है ।

## अढाई द्वीपान्तर्गत स्वरूप—

**तन्मध्ये मेरुनाभिर्वृत्तो योजनशतसहस्रविष्कम्भो—जम्बूद्वीपः ॥ ३–९ ॥**

इन अढाई द्वीप के मध्य में—केन्द्र में जंबू द्वीप है । जो १ लाख योजन विस्तार वाला है । इस जंबूद्वीप के केन्द्र में—१ लाख योजन की ऊंचाई वाला मेरु पर्वत है । नाभि शब्द यहाँ मध्य, केन्द्र अर्थ में है । यह मेरू पर्वत ३ लोक में विभक्त है । १०० योजन अधोलोक में + १८०० योजन तिर्छा लोक में, + और ९८१०० योजन = १ लाख योजन है । इसमें से १००० योजन जमीन में, + और ९९००० योजन बाहर आकाश में है । इस तरह कुल मिलाकर १ लाख योजन है । यह चौडाई के विस्तार में १०००० योजन जमीन तल पर नीचे ही चौडा है । घेराव है । ऊपर की ऊँचाई में प्रत्येक ११ योजन के बाद १ योजन प्रमाण चौडाई का विस्तार घटता जाता है । इस तरह ऊपरी चोटी तक जाते जाते अन्त में—१००० योजन की चौडाई चोटी—शिखर भाग पर है । जंबू द्वीप के नीचे अधो दिशा में ९०० योजन तक तिर्छा लोक है । उसके बाद अधोलोक आता है । जबकि मेरूपर्वत १००० योजन जंबूद्वीप पृथ्वी से नीचे है । अतः स्पष्ट होता है कि ९०० योजन तिर्छा लोक में है और १०० योजन अधोलोक में इसका मूल है ।

## गोलाकार पृथ्वी—

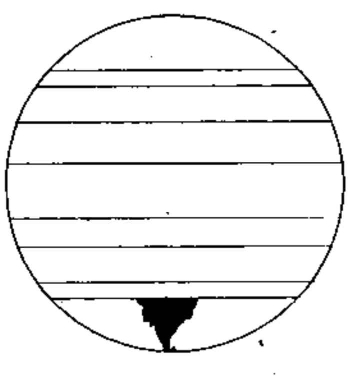

वर्तमान विज्ञान की भूगोल ने पृथ्वी को अण्डाकार गोल बताई है । जबकी सर्वज्ञ भगवन्तों ने इसे थाली आकार की गोल बताई है । यह पूरा जंबूद्वीप १ लाख योजन के विस्तारवाला है । अर्थात् केन्द्र के मेरुपर्वत से किनारे की परिधि तक ५०००० योजन का व्यास है । ५०००० योजन के रेडियस के इस विशाल जंबूद्वीप के पूर्वी से पश्चिमी और उत्तर से दक्षिणी किनारे तक का अन्तर १ लाख योजन विस्तार होता है ।

इस जंबूद्वीप में मुख्य ३ क्षेत्र हैं । दक्षिण में भरत क्षेत्र, मध्य में महाविदेह क्षेत्र और उत्तर में ऐरावत क्षेत्र है । धर्म के दृष्टिकोण से ये क्षेत्र सर्वोत्तम होने से इन्हें मुख्य प्रमुख क्षेत्र कहा है । शेष ४ क्षेत्र— हैमवत क्षेत्र, हरिवर्ष क्षेत्र, रम्यक् क्षेत्र, हैरण्यवंत क्षेत्र ये धर्म की सत्ता के अभाववाले क्षेत्र हैं । तत्त्वार्थ सूत्र इस प्रकार है—

**तत्र भरत–हैमवंत–हरि–विदेह–रम्यक्–हैरण्यवंतवर्षाः क्षेत्राणि ।। ३–१० ।।**

ये सभी क्षेत्र पूर्व पश्चिम तक फैले हुए हैं । इनका विभाजन किस तरह होता है यह आगे के सूत्र में स्पष्ट किया गया है ।

**तद्विभाजिनः पूर्वाऽपराऽऽयता हिमवन्-महाहिमवन्-निषध-**
**नील-रुक्मि-शिखरिणो वर्षधरपर्वताः ।। ३–११ ।।**

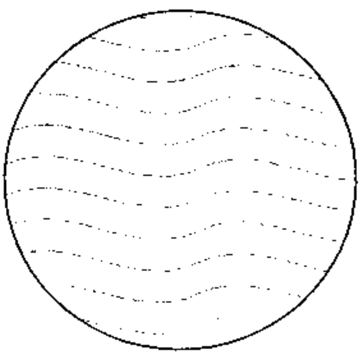

उपरोक्त सातों नाम के सात जो क्षेत्र हैं वे कैसे बनते हैं ? उनके लिए दूसरे सूत्र में कह रहे हैं कि . . . पूर्व से पश्चिम तक फैले हुए . . . पर्वतों के कारण है । वे पर्वत हैं— हिमवंत, महाहिमवंत, निषध, नीलवंत, रुक्मी और शिखरी आदि छः पर्वतमालाएँ हैं । ये सभी पर्वत पूर्व से पश्चिम तक फैले हुए लम्बे विस्तृत हैं । इनके कारण दो पर्वतों के बीच का प्रदेश क्षेत्र बनता है । जंबूद्वीप की दक्षिण परिधि से लघु हिमवंत् पर्वत तक क्षेत्र का नाम हिमवंत क्षेत्र है । महाहिमवंत पर्वत और निषध पर्वत माला के बीच के क्षेत्र का हरिवर्ष क्षेत्र नाम है । निषध पर्वतमाला से नीलवंत पर्वतमाला के बीच के क्षेत्र का नाम महाविदेह क्षेत्र है । नीलवंत से रुक्मी पर्वतमाला के बीच के क्षेत्र का नाम रम्यक् क्षेत्र है । रुक्मी पर्वतमाला से शिखरी पर्वतमाला के बीच के क्षेत्र का नाम हिरण्यवंत क्षेत्र है । और शिखरी पर्वतमाला से जंबूद्वीप के उत्तरी किनारे के बीच के क्षेत्र का नाम ऐरावत क्षेत्र है । इस ऐरावत क्षेत्र के बीच में दीर्घ वैताढ्य पर्वतमाला के कारण भरत क्षेत्र के भी उत्तर—दक्षिण २ भाग होते हैं ।

चित्र में दर्शाए अनुसार भरत क्षेत्र के दीर्घ वैताढ्य पर्वतमाला के कारण जो २ भाग उत्तर—दक्षिण हुए। उनके पुनः गंगा—सिन्धु जैसी शाश्वत् नदियों के कारण ६ भाग हो गये। अतः उत्तर भरत क्षेत्र के ऊपरी खण्ड और दक्षिण भरत के नीचे के भी ३ खण्ड। इस तरह कुल मिलाकर भरत क्षेत्र के ६ खण्ड होते हैं। इन ६ खण्डों के मध्यवर्ती मध्य खण्ड में केन्द्र में अयोध्या नगरी मुख्य है। अतः वर्तमान भारत देश की स्थिति इसी मध्यखण्ड में है। तथा वर्तमान सारी दुनिया एवं उसके एशिया, अफ्रिका, अमेरिका, आस्ट्रेलिया, रशिया, आदि सभी खंडों का समावेश इसी दक्षिण भरतार्ध में ही होता है। अतः संपूर्ण जंबूद्वीप के मात्र दक्षिण क्षेत्र की आकृति—स्थिति को देखते हुए इसे लंबे अंडाकार या अंडाकार गोल कहने में कोई आपत्ती जैसा भी नहीं लगता है। क्योंकि सिर्फ दक्षिण भरत क्षेत्र पूर्व—पश्चिम लम्बाई प्रमाण है और दक्षिण भाग में गोलाकार वृत्ताकार है।

जैन दर्शन के हिसाब से पृथ्वी मात्र दक्षिण भरत क्षेत्र सीमित ही नहीं है, वह तो १ लाख योजन विस्तार वाली पूर्ण जंबूद्वीप प्रमाण है। अतः पूरी तरह रोटी या थाली आकार की गोल ही है। जैसे एक कढाई में मालपुआ रहे और चारों तरफ घी रहे ठीक वैसे ही बीच में जंबूद्वीप की पूरी पृथ्वी रहे और... उसके चारों तरफ पूरा २ लाख योजन विस्तार वाला लवण समुद्र है। इससे मध्यवर्ती पूरी पृथ्वी थाली आकार की गोलाकार स्पष्ट है। वर्तमान विज्ञान के खगोलशास्त्रियों—भूगोलशास्त्रियों को अभी तक पूरी जंबूद्वीप की पृथ्वी का कोई पता लगा ही नहीं है। अतः वे भी क्या करें? जैन दर्शन के बृहत्संग्रहणी, क्षेत्रसमास, जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति, सूर्य प्रज्ञप्ति, चन्द्र प्रज्ञप्ति आदि ग्रन्थ इस भूगोल—खगोल विषयक विवरण से भरे पडे हैं। जो आधारभूत ग्रन्थ हैं।

उत्तर भरत क्षेत्र के उत्तरी सीमा पर आए... लघु हिमवंत पर्वत जो कि पूर्व से पश्चिम तक फैली हुई विस्तृत पर्वतमाला है उसकी उत्तर दिशा में हिमवंत क्षेत्र है। यह हिमवंत

क्षेत्र लघुहिमवंत एवं महाहिमवंत पर्वतमाला का मध्यवर्ती क्षेत्र है । यहाँ भी मनुष्यों की काफी बस्ती है । इसके भी आगे उत्तरी दिशा की तरफ आगे बढते हुए महाहिमवंत पर्वतमाला से उत्तर दिशा में निषध नामक पर्वतमाला जो कि पूर्व से पश्चिम तक फैली हुई है । उसके बीच में... हरिवर्ष क्षेत्र है । यहाँ युगलिक मनुष्यों की काफी जनसंख्या है ।

इसके बाद निषध पर्वतमाला से और उत्तर दिशा में आगे... नीलवंत नामक पूर्व से पश्चिम तक प्रसरी हुई काफी पर्वतमाला है । इन दोनों पर्वतमाला के बीच में महाविदेह क्षेत्र है । ३२ विदेहों से युक्त यह इस पृथ्वी का मध्यवर्ती विशाल क्षेत्र है । यहाँ तो हमारी दुनिया से भी दस गुनी बडी विशाल दुनिया है । वर्तमान भौगोलिकों के लिए... आज दिन तक भी यह प्रश्न चिन्ह ही है । शायद हजारों सालों तक भी प्रश्न चिन्ह बना रहे तो भी कोई आश्चर्य नहीं लगेगा । यहाँ महाविदेह क्षेत्र की दुनियाँ में काफी लम्बी चौडी मनुष्यों की बस्ती है । यहाँ की क्षेत्र—काल—व्यवस्था आदि हम लोगों को चौकानेवाली है । इसके बीच मेरूपर्वत है ।

नीलवंत पर्वतमाला से... रुक्मी पर्वतमाला से, जो पूर्व से पश्चिम की तरफ फैली हुई विशाल पर्वतमाला है, इन दोनों के बीच भी रम्यक् क्षेत्र है । यहाँ भी काफी लम्बी चौडी दुनिया है । रुक्मी पर्वतमाला से शिखरी पर्वतमाला जो पूर्व से पश्चिम तक फैली हुई विस्तृत पर्वतमाला है इनके बीच में हिरण्यवंत क्षेत्र आया हुआ है । यहाँ क्षेत्र शब्द भी देशवाची है । यहाँ भी मनुष्यों की काफी विशाल दुनिया है ।

उत्तर दिशा में शिखरी पर्वतमाला से लवण समुद्र की उत्तरी सीमा जंबूद्वीप की उत्तरी परिधी तक ऐरावत क्षेत्र बसा हुआ है । यह क्षेत्र भी ठीक भरत क्षेत्र के जैसा ही है । इसके बीच में दीर्घ वैताढ्य पर्वत होने से उत्तरी ऐरावत और दक्षिणी ऐरावत क्षेत्र ऐसे दो भाग होते हैं। और रक्ता तथा रक्तवती नदियों के कारण पुनः ६ भाग होते हैं। देश—क्षेत्र—कालादि की सारी व्यवस्था हमारे यहाँ के भरत क्षेत्र के जैसी ही है । सिर्फ अन्तर इतना ही है कि भरत क्षेत्र दक्षिण दिशा में है जबकि ऐरावत क्षेत्र उत्तर दिशा में है । यहाँ भी ६ खण्ड में मनुष्यों की काफी लम्बी चौडी जनसंख्या है । इस तरह जंबूद्वीप की इस पृथ्वी का भौगोलिक वर्णन यहाँ पर संक्षेप में दिया है । परन्तु विस्तार से जाननेवाले जिज्ञासुओं को ऊपर जो नाम दिये हैं उन ग्रन्थों का विशेष अभ्यास करना चाहिए ।

## अढाई द्वीप में १५ कर्मभूमियाँ—

आज का मानव विराट विश्व के सामने बहुत ही बावना—वामन लगता है । अतः उसकी सीमित परिमित बुद्धि छोटी सी दुनियाँ ही शोध पाई है । और जितनी शोध पाई है बस उसीको विराट विश्व मान बैठा है । अफसोस है । ज्ञान के अगाध उदधि की कोई सीमा नहीं है । अतः जितनी दुनिया शोधी है उससे तो अनेकगुनी दुनिया शोधनी अवशिष्ट है ।

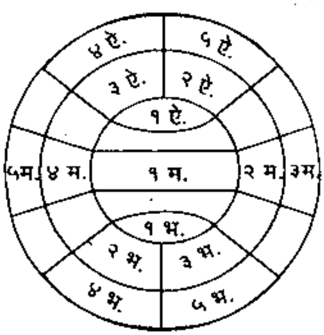


यहाँ पर संक्षेप में सारी दुनिया का तो विचार नहीं कर सकते हैं परन्तु खास काम की . . . महत्वपूर्ण १५ कर्मभूमियों का विचार करते हैं । जैन शास्त्रों में प्रयुक्त कर्मभूमि यह एक विशेष शब्द है । जो ऐसी परिभाषा में प्रयुक्त है कि . . . असि, मषि, और कृषि के स्वरूप वाली भूमि को कर्मभूमि कहा जाता है । असि—तलवारादि शस्त्रों के व्यवहार को कहते हैं । मषि—श्याही आदि लेखन सामग्री को और कृषि यहाँ पर खेती वाडी आदि के व्यवहार को कहा गया है । ऐसे तीनों व्यवहार जहाँ जिस क्षेत्र भूमि में रहते हैं उसे कर्मभूमियाँ कहते हैं । ये कर्मभूमियाँ संख्या में १५ हैं ।

पीछे जिन असंख्य द्वीप—समुद्रों के बीच २१⁄२ द्वीप समुद्रों की विचारणा की है । उनमें जंबूद्वीप, धातकी खण्ड और पुष्करार्ध द्वीप भी है । जंबूद्वीप में १) भरत क्षेत्र, २) महाविदेह क्षेत्र और ३) ऐरावत क्षेत्र हैं । ठीक वैसे ही ये तीनों क्षेत्र आगे के द्वीप धातकी खण्ड में और पुष्करार्धद्वीप में भी हैं । अन्तर इतना ही है के आगे के द्वीप विस्तार में काफी ज्यादा बडे दीर्घ हैं तथा पूर्व—पश्चिम के विभाग में उत्तर दक्षिण के विभाग में दुगुने—चौगुने विस्तारवाले हैं । इसलिए भरत क्षेत्रादि तीनों क्षेत्र भी दुगुने—दुगुने हैं । अतः धातकी खण्ड और पुष्कर द्वीप दोनों में २ भरत क्षेत्र, २ ऐरावत क्षेत्र, २ महाविदेह क्षेत्र हैं । इस तरह यदि २१⁄२ द्वीपों में कुल भरतादि क्षेत्रों की संख्या गिने तो चित्रानुसार ५ भरत क्षेत्र + ५ ऐरावत क्षेत्र + ५ महाविदेह क्षेत्र होते हैं = इस तरह ये १५ कर्मभूमियाँ हैं । हरिवर्षादि अन्य

क्षेत्रों की अपेक्षा भी इन १५ का ही महत्व इसलिए ज्यादा है कि ये पाँचों धर्मभूमि हैं । इन १५ में ही धर्म रहता है । यहाँ पर ही भगवान और गुरू आदि होते हैं । इन्ही क्षेत्रों में से जीव कर्मक्षय करके मोक्ष भी प्राप्त कर सकता है । इनके सिवाय के क्षेत्रों में ये सारी सुलभता उपलब्ध नहीं होती है । इसलिए इनके सिवाय के क्षेत्रादि सदा ही अधर्मग्रस्त हैं । इसी तरह इन १५ क्षेत्रों में कालादि की व्यवस्था भी काफी अच्छी है । अतः इनका ही महत्व अन्यों की अपेक्षा काफी ज्यादा है ।

मानुषोत्तर पर्वत तक ही है । इसके बाद आगे सिर्फ तिर्यंच पशु--पक्षियों की बस्ती है । मनुष्यों की उत्पत्ती—मृत्यु आदि कुछ भी नहीं है । यद्यपि आगे असंख्य द्वीप समुद्र हैं, उन सब में सिर्फ पशु—पक्षियों की—तिर्यंचों की उत्पत्ति—मृत्यु है ।

## तिर्छालोक में ही ज्योतिष चक्र—

इस संसार में सूर्य—चंद्र तारा ग्रहमाला आदि से कोई अपरिचित—अनभिज्ञ नहीं है । प्रायः सभी जानते ही होंगे । लेकिन प्रश्न यही है कि क्या सही यथार्थ स्वरूप में जानते होंगे या नहीं ? जैन दर्शन के खगोल शास्त्रों में सूर्य—चन्द्रादि का काफी यथार्थ वर्णन उपलब्ध है । इसके लिए प्रामाणिक शास्त्र--ग्रन्थ है—सूर्यप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति, बृहत्संग्रहणी, लोकप्रकाश, तत्त्वार्थाधिगमसूत्र आदि अनेक ग्रंथ हैं । इनमें से तत्त्वार्थ सूत्र के आधार पर संक्षेप में वर्णन यहाँ पर प्रस्तुत कर रहा हूँ । सूत्र है—

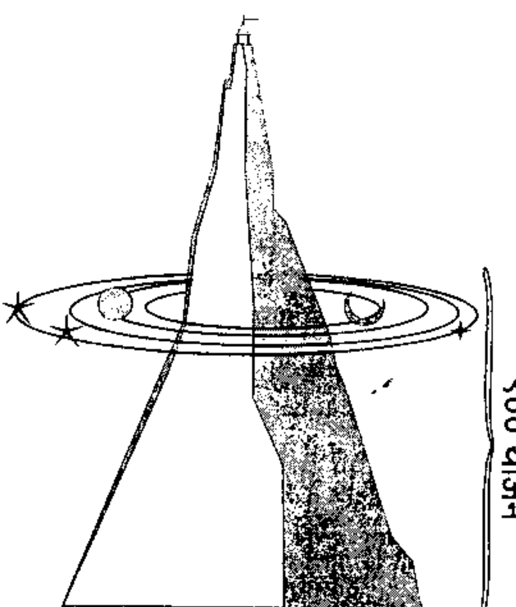

मेरु पर्वत

**ज्योतिष्काः सूर्याश्चन्द्रमसो ग्रहनक्षत्रप्रकीर्णतारकाश्च ॥**

**४-१३ ॥**

देवताओं के वर्गीकरण में जो मुख्य ४ प्रकार के देवता गिने हैं उनमें १) भवनपति, २) व्यंतर, ३) ज्योतिषी, ४) वैमानिक ऐसे मुख्य ४ प्रकार गिने हैं। इनमें ये ज्योतिष्क के देवताओं में, १) सूर्य, २) चन्द्र, ३) ग्रह, ४) नक्षत्र और ५) प्रकीर्ण--तारा आदि का समावेश यहाँ होता है। यद्यपि ये सभी देवता हैं लेकिन क्षेत्र की दृष्टि से ये सभी . . . यहाँ के तिर्छालोक में ही रहते हैं। ऊर्ध्व या अधो लोक में भी नहीं रहते हैं। अभी अभी पीछे विचार कर आए हैं कि . . . . तिर्छा लोक--मनुष्य लोक . . . . जो असंख्य द्वीप--समुद्रों का है उसके ऊपर आकाश में ९०० योजन के अन्तर तक तिर्छा लोक--मनुष्य लोक की सीमा है। और इसी मनुष्य लोक में सूर्य--चन्द्रादि ज्योतिष्क मण्डल स्थित है।

**मेरुप्रदक्षिणा नित्यगतयो नृलोके ॥ ४-- १४ ॥**

तत्त्वार्थकार कहते हैं कि नृ अर्थात् मनुष्य लोक में जो मेरु पर्वत जंबूद्वीप के केन्द्र में ही स्थित है, जिसका वर्णन पहले किया है, जो १ लाख योजन ऊँचा है, और जमीन के तल भाग पर . . . . १०,००० योजन की चौडाई आदि के विस्तार वाला है, ऊँचाई पर ऊपर--ऊपर सिर्फ प्रत्येक ११ योजन पर एक--एक योजन क्रमशः कम होता हुआ घटता जाता है। इस तरह १०००० योजन जमीन तल पर जो विस्तार था वह प्रति ११ योजन पर १ योजन के घटने के आधार पर अब ९०० योजन की ऊँचाई तक पहुँचते ९०११ योजन की चौडाई रही। जमीन तल से ७९० योजन की ऊँचाई तक जाने के बाद ज्योतिष्क मण्डल के सूर्य--चन्द्र--ग्रहादि की शुरुआत होती है। जो ११० योजन की ऊँचाई के विस्तार में फैला हुआ है। अतः ७९० + ११० = ९०० योजन तक है। अतः ९०० योजन तक की ऊँचाई तक का क्षेत्र तिर्छा लोक का है। इसलिए ज्योतिष्क मण्डल के देवता तिर्छालोकान्तर्गत ही गिने जाते हैं।

ज्योतिषी देव

१) चर ज्योतिषी देव | २) अचर ज्योतिषी देव

इस तरह ज्योतिषी देवता २ प्रकार के बताए गए हैं। १) चर ज्योतिषी। चर अर्थात् सतत चलनेवाले--गतिशील। ये चर--गतिशील ज्योतिषी देवता २१/२ द्वीप के मनुष्य क्षेत्र में ही नित्य गति करते हैं। इसीलिए सूत्रकार ने 'नृलोके' पाठ रखा है। अर्थात् २१/२ द्वीपान्तर्गत मनुष्य क्षेत्र में। दूसरा पाठ है 'नित्यगतयो' नित्य गति करने वाले ऐसे ये ज्योतिषी देवता चर ज्योतिषी हैं। प्रश्न यह उठेगा-- कैसी गति? कहाँ गति? . . . . इसके लिए सूत्रकार ने 'मेरुप्रदक्षिणा' यह पाठ दिया है। मेरुपर्वत के चारों तरफ सतत प्रदक्षिणा देते हुए अर्थात् गोलाकार स्थिति में गोल--गोल घूमते हुए गति कर रहे हैं।

नित्य शब्द पर भार देते हुए... अविरत—सतत गतिशीलता को स्पष्ट किया है। इसलिए सूर्य—चन्द्र—ग्रह—नक्षत्र और तारामण्डल ये पाँचों प्रकार के ज्योतिषी देव विमान अखण्डरूप से नित्य—नियमित गति करते ही रहते हैं।

इनकी गति गोलाकार—प्रदक्षिणा करते हुए होती है। गोल घूमते समय ये सूर्य—चन्द्रादि मेरु पर्वत से ११२१ योजन दूरी के अन्तर पर रह कर घूमते हैं। २१⁄२ द्वीप के मनुष्य क्षेत्र के बाहर के असंख्य द्वीप—समुद्रों पर इसी ९०० योजन ऊपर की ऊँचाई के क्षेत्र में स्थिर हैं। ये स्थिर जाती के हैं इसलिए गति नहीं करते हैं। इसलिए २१⁄२ द्वीप के बाहरी द्वीपों में दिन—रात होने आदि का कोई प्रश्न ही नहीं उठता है। २१⁄२ द्वीप के मनुष्य क्षेत्र में सूर्य—चन्द्रादि ज्योतिषी मण्डल नित्य घूमते रहने के कारण दिनरात की व्यवस्था होती है।

## सूर्य—चन्द्रादि की पृथ्वीतल से ऊँचाई—

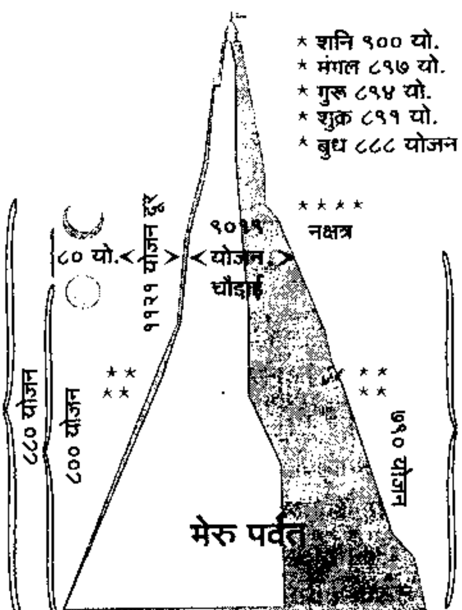


इस पृथ्वी के अर्थात् जंबूद्वीप के मध्यवर्ती समतला पृथ्वी से ७९० योजन की ऊँचाई पर सर्वप्रथम तारामण्डल आता है। सभी तारांगण है। तारा मण्डल से १० योजन अर्थात् पृथ्वी से ८०० योजन की ऊँचाई पर सूर्य है। सूर्य से ८० योजन ऊपर अर्थात् पृथ्वी तल से ८८० योजन ऊपर चन्द्र है। चन्द्र से ४ योजन ऊपर एवं पृथ्वी तल से ८८४ योजन ऊपर नक्षत्र परिमण्डल है। नक्षत्र से भी ४ योजन ऊपर अर्थात् पृथ्वीतल से ८८८ योजन ऊपर बुधग्रह, इससे भी ३ योजन ऊपर अर्थात् पृथ्वी से ८९१ योजन ऊपर शुक्र ग्रह, इससे भी ३ योजन ऊपर अर्थात् पृथ्वी से ८९४ योजन ऊपर बृहस्पति (गुरू) ग्रह है। गुरू से भी ३ योजन ऊपर अर्थात्

पृथ्वी तल से ८९७ योजन ऊपर मंगल ग्रह है । मंगल से भी ३ योजन ऊपर अर्थात् पृथ्वीतल से ९०० योजन ऊपर शनिग्रह है । इस तरह पृथ्वीतल से ७९० योजन से शुरू होकर ९०० योजन तक कुल ११० योजन के बीच यह समस्त सूर्य—चन्द्रादि पाँचों ज्योतिष्क मण्डल के देवों की स्थिति है । जो सतत गतिशील हैं । योजन का माप बताते हुए कहा है कि— १६०० गाउ बराबर १ योजन होता है ।

## २१⁄२ द्वीप—समुद्रों में सूर्य—चन्द्रादि की संख्या—

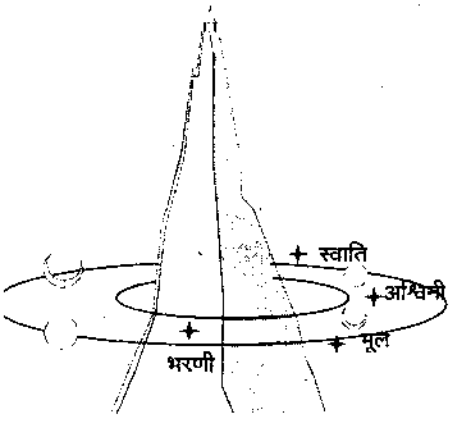


जैन खगोल शास्त्रों में सूर्य—चन्द्रादि की संख्या अनेक की बताई हैं । वर्तमान विज्ञान ने यद्यपि १ सूर्य—१ चन्द्र की बातें की हैं फिर सौरमण्डल में १ से ज्यादा सूर्य का भी उनका अनुमान है । अभी जिस २१⁄२ द्वीप—समुद्र रूप की विचारणा की है उतने मनुष्य क्षेत्र के ऊपरी तिर्छालोक क्षेत्र में सूर्य—चन्द्रादि की काफी लम्बी श्रेणी है । जंबूद्वीप में—जैन शास्त्रों ने २ सूर्य—२ चन्द्र बताए हैं । इसके आगे लवण समुद्र जो २ लाख योजन के विस्तार वाला है उसके ऊपरी आकाश क्षेत्र में ४ सूर्य और ४ चन्द्र हैं । धातकी खण्ड में १२ सूर्य और १२ चन्द्र हैं । कालोदधि—समुद्र के ऊपरी आकाश क्षेत्र में २४ सूर्य और २४ चन्द्र हैं । आकाशी क्षेत्र में ७२ सूर्य और ७२ चन्द्र हैं । इस तरह मनुष्य क्षेत्रवर्ती ऊपरी तिर्छालोकगत आकाश क्षेत्र में—निरंतर गतिशील कुल १३२ सूर्य और १३२ चन्द्र हैं । यह संख्या मनुष्य क्षेत्र के २१⁄२ द्वीप—समुद्रों पर है ।

इनके परिवार के विषय के बारे में बृहत् संग्रहणी आदि ग्रन्थों में इनकी संख्या बताते हुए कहा है कि— १ चन्द्र के परिवार में— ८८ ग्रह हैं, २८ नक्षत्र हैं, ६६९७५ कोटाकोटी तारामण्डल है । जंबूद्वीप में २ चन्द्र होने के कारण दोनों के परिवार की संख्या निकालनी हो तो इसकी दुगुनी होती है । इसी तरह शास्त्रों में सूर्य—चन्द्रादि के विमानों की लम्बाई—चौडाई आदि के परिमाण प्रमाण का भी माप बताया गया है । चन्द्र के विमान

की लंबाई–चौडाई १ योजन का एक सट्ठीया २८ भाग और ऊँचाई १४/६१ भाग है। सूर्य के विमान की लंबाई ४८/११ योजन, चौडाई–२४/११ योजन है। १२/६१ भाग ऊँचाई है। ग्रहों की लम्बाई १/२ योजन, और चौडाई १/४ योजन तथा ऊँचाई आधा गाऊ है। नक्षत्रों की १/४ योजन लम्बाई और १/४ योजन चौडाई, तथा १/४ गाऊ की ऊँचाई है। तारा गण की १/८ योजन लम्बाई तथा १/१२ योजन की चौडाई है। तथा १/८ (२५० धनुष) प्रमाण ऊँचाई है।

गति के बारे में–बृहत् संग्रहणी सूत्र में कहा है कि– इन पाँचों ज्योतिष्क मण्डल के देव विमानों में–चन्द्रमा की गति सबसे ज्यादा मन्द (कम) है। चन्द्र से ज्यादा गती वाला सूर्य है। सूर्य से भी ज्यादा तेज गति वाले ग्रह हैं। इन ग्रहों में भी बुध नामक ग्रह ज्यादा तेज गतिवाला है। बुध से भी ज्यादा तेज गति शुक्र चलता है। शुक्र से भी तेज मंगल, और मंगल से भी तेज बृहस्पति (गुरू), और गुरू से भी तेज शनि ग्रह चलता है। इन ग्रहों से भी ज्यादा तेज नक्षत्र चलते हैं। और अन्त में नक्षत्रों से भी ज्यादा तेज गति से तारागण चलते हैं। इनमें सबसे अधिक ऋद्धि–सिद्धि वाला चन्द्र है। सूर्य इससे थोडी कम ऋद्धि वाला है। इसके बाद ग्रह मण्डल सूर्य से भी कम ऋद्धिवाला है। बाद में तारा और नक्षत्र उससे भी कम ऋद्धिवाले देवता हैं।

## सूर्य–चन्द्रादिकृत काल व्यवस्था–

तत्त्वार्थ सूत्रकार ने सूत्र देकर कहा है कि–

**तत्कृतः कालविभागः ॥४–१५॥**

ये जो सूर्य–चन्द्रादि ज्योतिष्क मण्डल के देवताओं के विमान निरंतर गति करते हैं इनके द्वारा सारी काल व्यवस्था होती है। अतः काल का विभाग इनके कारण है। 'ज्योतिः' शब्द प्रकाश अर्थ में है।

**"अत्यन्तप्रकाशित्वाज्ज्योतिःशब्दाभिधेयानि विमानानि तेषु भवा ये देवास्ते ज्योतिष्काः"** अर्थात् अत्यन्त प्रकाश (ज्योतिः) करनेवाले होने से ज्योतिः शब्द द्वारा कहने योग्य विमान वह ज्योति कही जाती है। और ऐसे विमानों में बसनेवाले देवताओं को ज्योतिषी देवता कहते हैं। ये ज्योतिषी देवगण अत्यन्त ज्वलन्त तेजवाले दैदीप्यमान कान्तिवाले दिग्मण्डल को अपनी तेज–प्रभा से उज्वल तेजमय करने वाले प्रकाश से भरनेवाले हैं। इन सूर्य–चन्द्रादि की निरंतर–नियमित गतिशीलता के आधार पर काल

की व्यवस्था बैठाई गई है । ये सूर्य–चन्द्रादि ज्योतिष्क देवता तीर्छा लोक के अन्दर ही हैं । और मेरू पर्वत के चारों तरफ प्रदक्षिणा देते हुए गोलाकार स्थिति में घूमते हैं । निरंतर गति करते हुए घूमते ही रहते हैं । इसलिए इनकी नियतगति के आधार पर काल की व्यवस्था बैठाई गई है । यह सूर्य–चन्द्र कृत व्यवस्था सिर्फ मनुष्य लोक में ही होने से यहाँ पर ही दिन रात होते हैं । क्योंकि सूर्य–चन्द्रादि तिर्छालोक में–मनुष्य क्षेत्र में ही है । अतः मनुष्य लोक के सिवाय अन्यत्र स्वर्ग–नरक में दिन–रात की तथा महीने–वर्ष की कोई गिनती और व्यवस्था कुछ भी नहीं है । यदि उनको भी महीने–वर्ष कालादि की गिनती करनी हो तो उन्हें यहाँ के ही सूर्य–चन्द्र के आधार पर जो दिन–रात होते हैं उसी के आधार पर गिनती करनी पडती है । यहाँ का सूर्य पृथ्वीतल से सिर्फ ९०० योजन की ऊँचाई तक ही है । अतः सूर्य–चन्द्र का प्रकाश पृथ्वी तल के नीचे अधोलोक में तो जा ही नहीं सकता है । और अधोलोक में तो कोई सूर्य है ही नहीं इसलिए वहाँ कोई प्रकाश की व्यवस्था ही नहीं है । बस, सिर्फ अन्धेरा ही अन्धेरा है । ठीक वैसे ही सूर्य–चन्द्र की स्थिति से १ राजलोक ऊपर पहला–दूसरा स्वर्ग आता है । वहाँ भी सूर्य–चन्द्र का प्रकाश नहीं पहुंचता है और वहाँ स्वर्ग में देवलोक में कोई सूर्य–चन्द्र है भी नहीं । परन्तु हाँ, वहाँ देवलोक में प्रकाशमान जाज्वल्यमान रत्न और मणी हैं । उनके विपुल प्रकाश से वहाँ पर सब कुछ प्रकाशमान ही है । स्वर्ग में प्रकाश पूरा है । जबकि अधोलोक के नरक क्षेत्र में अन्धेरा ही अन्धेरा छाया हुआ है ।

## वर्तमान विज्ञान की धारणा–एवं शास्त्रीय मान्यता–

आधुनिक विज्ञान की खगोल–भूगोल विषयक मान्यता सर्वथा भिन्न ही है । उनके अनुसार सूर्य स्थिर है और पृथ्वी–चन्द्र–गुरु–बुध–मंगल आदि सभी ग्रहमाला में घूमते ही रहते हैं । इस तरह सूर्य को स्थिर बताकर... अन्य ग्रहों को उसके चारों तरफ घूमते हुए दर्शाए हैं । जैन खगोल शास्त्रों के आधार पर पृथ्वी नीचले स्तर पर स्थिर है । अतः उसे

अचला कहते हैं वह सदा ही स्थिर है उसे चलायमान होने का—चलने का कोई कारण ही नहीं है । पृथ्वी सदा ही स्थिर रहती है । १ लाख योजन की इस पृथ्वी के बीचोबीच मेरुपर्वत है। वह भी १ लाख योजन ऊँचा है। बस इसके चारों तरफ ये सूर्य—चन्द्र—ग्रह—नक्षत्र—तारा आदि सभी गोल—गोल प्रदक्षिणा देते हुए घूमते ही रहते हैं । निरन्तर—सतत—अविरत अखण्डगति से घूमते ही रहते हैं । ये चर ज्योतिष्क देवता हैं । इनके विमान चर जाती के होने के कारण नियतगति से घूमते ही रहना है । विज्ञान ने पृथ्वी को अपनी धरी पर घूमती हुई चलती—चलती सूर्य की प्रदक्षिणा करती हुई बताई है । जो १ वर्ष में सूर्य की १ प्रदक्षिणा पूरी करती है । और चन्द्र पृथ्वी के चारों तरफ प्रदक्षिणा करता रहता है । अन्य ग्रहमाला भी इसी तरह सूर्य के चारों तरफ परिभ्रमण करते ही रहते हैं जबकि जैन शास्त्रों की उपरोक्त मान्यता के सामने विज्ञान की मान्यताएं सर्वथा भिन्न ही हैं । परन्तु विज्ञान के कई तर्क और युक्तियाँ कसोटी पर टिकनेवाली नहीं हैं । वैसे भी विज्ञान अपूर्ण है और परिवर्तनशील है । इसीलिए विज्ञान की विचारधारा बदलती ही रहती है । अभी भी सौरमण्डल, एवं आकाश गंगा के रहस्य पूरे नहीं खोल पा रहा है विज्ञान । विज्ञान ने भी अनेक सूर्यों की अनेक चन्द्रों की बात को समर्थन दिया है । आकाश गंगा काफी रहस्यों से भरी पडी है । जैन आगम शास्त्रों में सर्वज्ञ कथित सिद्धान्तों का खजाना है । ये सर्वज्ञोक्त सिद्धान्त सत्य की सीमा को स्पष्ट करते हैं । ये चरम सत्य के सिद्धान्त सदा ही अपरिवर्तनशील हैं । सिद्धान्त वही है जो सदा अपरिवर्तनशील रहे—तो ही वह चरम सत्य कहलाता है । त्रैकालिक सत्य कहलाता है । अतः सिद्धान्त कभी भी बदलता नहीं है । और जो बदलता ही रहता है वह कभी सिद्धान्त कहलाने योग्य ही नहीं होता है ।

*Science is ever changeable while the philosophical principles are never changeable . . .they are permanent.*

## वर्तना कारक—काल तत्त्व—

**वर्तना परिणामः क्रिया परत्वाऽपरत्वे च कालस्य ॥ ५–२२ ॥**

तत्त्वार्थाधिगम सूत्रकार काल के विषय में स्पष्ट लिखते हैं कि... काल कोई स्वतन्त्र द्रव्य नहीं है । तथा यह पंचास्तिकाय के अन्तर्गत गिना भी नहीं गया है, क्योंकि यह प्रदेश समूहात्मक पिण्ड स्वरूप द्रव्य नहीं है । इसलिए अस्तिकायरूप द्रव्य की व्याख्या इस काल के साथ न लगने से यह अस्तिकाय की गिनती में नहीं आ सकता है । यद्यपि षड्

द्रव्यों की गिनती में इसकी गणना जरूर की गई है । परन्तु द्रव्य की व्याख्यानुसार भी इसे द्रव्य कहा जाना मुश्किल है । क्योंकि **'गुण-पर्याय-वद् द्रव्यम्'** गुण और पर्यायवाले को ही द्रव्य कहा जाता है । इस व्याख्यानुसार काल के अपने स्वयं के गुण नहीं हैं । वर्तना–परिवर्तनादि कालकृत व्यवस्था है । अतः द्रव्य न होते हुए भी द्रव्य के जैसा काम देता है अतः भी द्रव्यों के अन्तर्गत इसकी गणना की जाती है । उपचार भाव से औपचारिक रूप से द्रव्य की गिनती में गणना होती है । काल के अणु–प्रदेश या स्कंध नहीं होते हैं । अतः भी स्वतंत्र द्रव्य नहीं सिद्ध होता है ।

१) वर्तना, २) परिणाम, ३) क्रिया, ४) परत्व और ५) अपरत्व इन पाँच तरीकों से अन्य द्रव्यों को निमित्तभूत होने से काल का जगत पर उपकार है । अतः काल से इन पाँच प्रकार की व्यवस्था होती है ।

**१. वर्तना**–अर्थात् विद्यमानता । उत्पत्ति–स्थिति–नाश होते हुए भी ... प्रथम समय से अन्तिम समय तक बने रहना यह भी वर्तना रूप काल प्रत्येक द्रव्य के साथ संलग्न है ।

**२. परिणाम**–रूपान्तरित होना । परिणत होना । यह २ प्रकार से हैं । १) अनादि, २) आदिमान । परिणमन में काल निमित्तभूत है । ऋतुओं के परिवर्तन, बालक का बडा–युवक–प्रौढ–वृद्धादि अवस्था में परिणत होना यह कालकृत परिणाम है । काल तत्त्व ही न होता तो हम बच्चे, युवक, प्रौढ–वृद्ध का व्यवहार कैसे करते ? यह छोटा भाई है और यह बडा भाई है ऐसा व्यवहार काल के कारण ही होता है । क्योंकि यह २ साल पहले जन्मा है अतः बडा है और यह दो साल बाद पैदा हुआ है अतः यह छोटा भाई है । इसे पर–अपर कहते हैं । यह कालकृत परत्व–अपरत्व है । जैसे कोई व्यक्ति १०० वर्ष का है और उसके सामने दूसरा ३० वर्ष का ही है । इसमें १०० वर्ष की उम्र का जो बडा है वह ३० वर्ष उम्र के लिए पर कहलाएगा । यह परत्व है । और १०० वर्ष वाले के सामने ३० वर्ष का अपरत्व होगा । यह काल कृत परत्व–अपरत्व है । इसी तरह गमनागमनादि क्रिया भी कालिक व्यवहार के अन्तर्गत आती है । यह पहले गया यह बाद में गया । यह जल्दी आया यह देरी से आया है । यहाँ पर जल्दी–देरी गतिवाचक होते हुए भी काल गणना में भी इनका व्यवहार होता है । एक घंटे जल्दी–दो दिन जल्दी, एक घंटा देरी से, दो घंटे देरी से इस तरह काल से अन्तर मापा गया है । इसी तरह यह एक दिन पहले ही आ गया है । यह दो दिन देरी से आया–गया । इत्यादि व्यवहार काल द्रव्य की अपेक्षा के बिना करना संभव ही नहीं है ।

इस तरह काल सापेक्षिक तत्त्व है । काल के कारण व्यवस्था—बैठाई जाती है । काल के कारण ही नया—पुराना कह सकते हैं । यह कपडा आज खरीदा है इसलिए नया है । यह गत वर्ष खरीदा था इसलिए पुराना हो गया है । इन वाक्यों में भी आज और गतवर्ष ये शब्द कालवाची शब्द हैं । अतः यह सारा व्यवहार काल तत्त्व के कारण हुआ ।

**अब काल का स्वरूप देखें—**

तत्त्वार्थकार ने '**सोऽनन्तसमय**'— यह काल अनन्त समय प्रमाण है । जिसका कभी अन्त संभव ही नहीं है ऐसी अनन्त की संख्या है । इस तरह काल की सूक्ष्मतम इकाई समय है । समय शब्द सिर्फ काल का पर्यायवाची शब्द ही है ऐसा नहीं है । परन्तु काल की सूक्ष्म इकाई को समय कहा गया है । ऐसे समय अनन्त बीत गए हैं । अनन्त में यहाँ पर भूतकाल, वर्तमानकाल और भविष्यकाल इस तरह ३ काल की विवक्षा हुई । वर्तमान क्षण के समय पर हम ध्यान दें तो स्पष्ट ख्याल आएगा कि आज दिन तक जो सब बीत गया है वह भूतकाल है । वर्तमान तो चल ही रहा है । और जो आगे काल आ रहा है उसे भविष्य काल कहते हैं । भूतकाल को अतीत कहा है, अर्थात् जो बीत चुका हो । और अभी तक जो आया नहीं है उसे अनागत कहते हैं । यही भविष्य काल है । और संप्रति जो चल रहा है वह वर्तमान काल है । इस तरह भूत—वर्तमान—भविष्य ये तीनों कालकृत व्यवस्था हैं ।

व्यवहार और निश्चय ये भी काल के २ भेद होते हैं । निश्चयकाल तो १ समय मात्र का ध्यान रखता है । जबकि व्यवहार काल के काफी भेद—प्रभेद होते हैं ।

## व्यवहार काल की गणना—

हमारे व्यवहार में . . . उपयोग में आनेवाले काल जिसकी हम गणना करके माप सकते हैं उसे व्यवहार काल कहा है । इसकी गणना इस प्रकार है—

काल की सूक्ष्मतम इकाई समय है ।

| | |
|---|---|
| अविभाज्य सूक्ष्मकाल | = १ समय । |
| ऐसे असंख्य समयों की | १ आवलिका बनती है । |
| ९ समय | = जघन्य अंतमुहूर्त, |
| २५६ आवलिकाओं | = १ क्षुल्लक भव |
| संख्याती आवलिकाओं का १ उच्छवास + निश्वास १७ ॥ क्षुल्लक भव | = १ श्वासोच्छ्वास |

| | |
|---|---|
| ऐसे श्वासोच्छ्वास | = को १ प्राण कहते हैं। |
| ऐसे ७ प्राण (श्वासों) | = १ स्तोक |
| ऐसे ७ स्तोक | = १ लव |
| ऐसे ३८ ॥ लव | = १ घडी (वर्तमान २४ मिनिट) |
| ऐसी २ घडी (६५५३६ क्षुल्लकभव) | = १ मुहूर्त = ७७ लव (वर्तमान ४८ मिनिट) |
| १ समय न्यून २ घडी | = उत्कृष्ट १ अन्तर्मूहूर्त |
| १५ मुहूर्त | = १ दिन |
| १५ मुहूर्त | = १ रात |
| ३० मुहूर्त | = १ अहोरात्र (दिन + रात) |
| ७ अहोरात्र | = १ सप्ताह |
| १५ अहोरात्र | = १ पक्ष (पखवाडीया) |
| २ पक्ष | = १ मास (महीना) |
| २ मास | = १ ऋतु |
| ३ ऋतु | = १ अयन |
| २ अयन | = १ वर्ष (उत्तरायण + दक्षिणायन) |
| ५ वर्ष | = १ युग |
| १० वर्ष | = १ दशक (दशाब्दी) |
| १०० वर्ष (१० दशक) | = १ शताब्दी |
| १० शताब्दी | = १ सहस्राब्दी |
| १० सहस्राब्दी | = १ लक्ष वर्ष |
| ८४,००,००० वर्ष | = १ पूर्वांग |
| १ पूर्वांग x ८४,००,००० वर्ष | = १ पूर्व (अर्थात् ७०५६०००००००००० वर्ष) |
| १ पूर्व x ८४,००,००० वर्ष | = १ अयुत |
| १ अयुत x ८४,००,००० वर्ष | = १ त्रुट्यंग |
| १ त्रुट्यंग x ८४,००,००० | = १ त्रुटि |
| १ त्रुटि x ८४,००,००० | = १ अट्टांग |
| १ अट्टांग x ८४,००,००० | = १ अट्ट |
| १ अट्ट x ८४,००,००० | = १ अववांग |
| १ अववांग x ८४,००,००० | = १ अवव |
| १ अवव x ८४,००,००० | = १ हाहांग |

| | |
|---|---|
| १ हाहांग x ८४,००,००० | = १ हाहा |
| १ हाहा x ८४,००,००० | = १ हूहूंग |
| १ हूहूंग x ८४,००,००० | = १ हूहू |
| १ हूहू x ८४,००,००० | = १ उत्पलांग |
| १ उत्पलांग x ८४,००,००० | = १ उत्पल |
| १ उत्पल x ८४,००,००० | = १ पद्मांग |
| १ पद्मांग x ८४,००,००० | = १ पद्म |
| १ पद्म x ८४,००,००० | = १ नलिनांग |
| १ नलिनांग x ८४,००,००० | = १ नलिन |
| १ नलिन x ८४,००,००० | = १ अर्थनिपूरांग |
| १ अर्थनिपूरांग x ८४,००,००० | = १ अर्थनिपूर |
| १ अर्थनिपूर x ८४,००,००० | = १ चूलिकांग |
| १ चूलिकांग x ८४,००,००० | = १ चूलिका |
| १ चूलिका x ८४,००,००० | = १ शीर्षप्रहेलिकांग |
| १ शीर्षप्रहेलिकांग x ८४,००,००० | = १ शीर्षप्रहेलिका |

(जैसे पूरा शरीर और एक अंग हाथ होता है । अंग पूर्ण शरीर न होने से छोटा होता है और पूर्ण शरीर सर्वांगों का सम्मिलित बडा रूप है । वैसे ही यहाँ पर भी अंग शब्द जोडकर छोटी संख्या और बाद में पुनः उसे ८४,००,००० वर्ष से गुणाकार करने पर पूर्णांक प्राप्त होता है । अतः अंग शब्द के प्रयोग के बिना का शब्द पूर्णांक का अंक है ।)

अनुयोगद्वार सूत्र आगम में गणित के विषयभूत काल का माप इस प्रकार दर्शाया गया है । शीर्षप्रहेलिका तक के गणित में व्यवहारयोग्य काल को संख्यात काल की गिनती में गिना गया है । यहाँ तक की संख्या संख्यात की गिनती में आती है । इस के पश्चात् असंख्यात की शुरुआत होती है,।

| | |
|---|---|
| आगे—असंख्य वर्ष | = १ पल्योपम |
| १० कोडा कोडी पल्योपम | = १ सागरोपम |

(ऐसे कई सागरोपमों का स्वर्ग में देवताओं का तथा नरक में नारकी जीवों का एक जन्म का आयुष्य काल होता है ।)

| | |
|---|---|
| १० कोडाकोडी सागरोपम | = १ उत्सर्पिणी अथवा १ अवसर्पिणी |
| १ उत्सर्पिणी + १ अवसर्पिणी | = २० कोडा कोडी सागरोपम |

| | |
|---|---|
| २० कोडाकोडी सागरोपम | = १ कालचक्र |
| ऐसे अनन्त कालचक्र | = १ पुद्गल परावर्तकाल |

## कालचक्र का स्वरूप

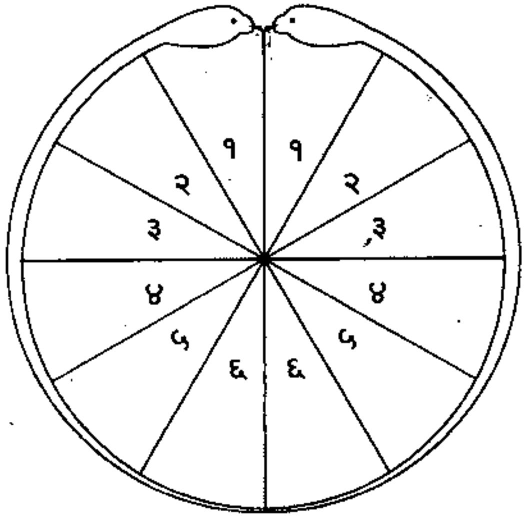


ऐसे ४ प्रकार के पुद्गलपरावर्त होते हैं—

१. द्रव्य पुद्गल परावर्त
२. क्षेत्र पुद्गल परावर्त
३. काल पुद्गल परावर्त
४. भाव पुद्गल परावर्त

ऐसा पुद्गल परावर्त काल भूतकाल में अनन्त बीत गए। और भविष्य में भी अनन्त बीतेंगे। ये सब मिलाकर काल के लिए अन्तिम शब्द का प्रयोग करने के लिए एक शब्द है 'अनन्त'। अतः अनन्त काल बीत चुका है भूतकाल में। और आगे भविष्य में भी अनन्त काल बीतेगा।

इस काल की गणना से यह स्पष्ट होता है कि.. पंचास्तिकाय यह ब्रह्माण्ड समस्त लोक—अलोक अनादि—अनन्त काल तक नित्य शाश्वत हैं। अनुत्पन्न—अविनाशी है। ऐसे नित्य—शाश्वत् संसार में भी कहीं कहीं क्षेत्र विशेष के आधार पर काल की परिवर्तना के आधार पर कई भाव परिवर्तनशील हैं।

## ६ आरों का स्वरूप—

जैन काल गणना पद्धति में—२० कोडा कोडी सागरोपम प्रमाण १ कालचक्र की गणना की गई है। इसमें १० कोडा कोडी सागरोपम प्रमाण १ उत्सर्पिणी होती है। और १० कोडा कोडी सागरोपम प्रमाण १ अवसर्पिणी होती है। (क्रोड को क्रोड से गुणाकार करने पर कोडा कोडी होता है। यहाँ १० कोडाकोडी बराबर १०,००,००,००,००,०००,००० वर्षों का काल होता है। उत्सर्पिणी अर्थात् साँप की पूँछ के जैसे ऊपर मुँह की तरफ आगे आते हैं तो कैसे मोटा—बडा स्वरूप लगता है वैसे ही चढते हुए काल को उत्सर्पिणी काल कहते हैं। इस में ६ आरे होते हैं।

| | |
|---|---|
| १) दुःखम् + दुःखम् नामक छठ्ठा आरा— | २१००० वर्ष |
| २) दुःखम् नामक पाँचवा आरा— | २१००० वर्ष |
| ३) दुःखम् + सुखम् नामक चौथा आरा— | ४२००० वर्ष कम ऐसा १ कोडाकोडी सागरोपम |
| ४) सुखम् + दुःखम् नामक तीसरा आरा— | २ कोडाकोडी सागरोपम |
| ५) सुखम् नामक दूसरा आरा— | ३ कोडाकोडी सागरोपम |
| ६) सुखम् + सुखम् नामक पहला आरा— | ४ कोडाकोडी सागरोपम |

उत्सर्पिणी—ऊपर चढने के क्रम से आरे होते हैं। इसलिए इनमें दुःख में से क्रमशः सुख की तरफ धीरे धीरे ऊपर चढते जाते हैं। काल अच्छा अच्छा आता ही जाता है। इस उत्सर्पिणी काल में— शरीर—आयुष्य—शुभ परिणामों की क्रमशः वृद्धि—चढती हुई अवस्था देखी जाती है। इसी उत्सर्पिणी के ठीक विपरीत अवसर्पिणी काल है।

अवसर्पिणी काल में साँप के मुँह से पूँछ तक आते हैं तो कैसे क्रमशः उतरता हुआ—घटता लगता है वैसे ही अवसर्पिणी काल में सब कुछ उतरता हुआ घटता ही रहता है। अतः इसे नीचे उतरता हुआ *Descending era* कहते हैं।

| | |
|---|---|
| इसका पहला आरा सुखम् + सुखम् — | ४ कोडाकोडी सागरोपम का है। |
| २ रा आरा सुखम् नामक | ३ कोडाकोडी सागरोपम का है। |
| ३ रा आरा सुखम्—दुःखम् नामक | २ कोडाकोडी सागरोपम का है। |
| ४ था आरा दुःखम्—सुखम् नामक | १ कोडाकोडी सागरोपम में ४२,००० वर्ष कम का है। |
| ५ वाँ आरा दुःखम् नामक | २१००० वर्ष का होता है। |
| ६ ठा आरा दुःखम्—दुःखम् नामक | २१००० वर्ष का होता है। |

इस प्रकार ये छः आरे—अवसर्पिणी काल में होते हैं। इन में क्रमशः सुख घटता.. .. घटता... कम होता ही जाता है और बाद में दुःख क्रमशः बढता.... बढता बढता ही रहता है। इसी प्रकार शरीर—आयुष्य—शुभ परिणाम—बल, संघयण सत्त्व आदि सब बिल्कुल घटता कम होता ही जाता है। इस परिस्थिति में हम सभी आज वर्तमान काल में पाँचवे दुःखम् आरे में जी रहे हैं। जो २१००० वर्षों का है। इसमें से अभी तक तो सिर्फ २५२० वर्ष ही बीते हैं। अभी तक १८४८० वर्ष और बीतने शेष हैं। जब आज ही चारों तरफ दुःख का प्रमाण इतना ज्यादा दिखाई दे रहा है तो... आगे कल्पना करिए क्या और कैसी स्थिति होगी ? जिसकी कल्पना करने से भी चक्कर आ जाती है। सोच भी नहीं सकते हैं, ऐसी परिस्थिति निर्माण होगी।

एक घडी पर नजर करिए।.... जैसे १२ अंक पर से काँटा नीचे उतरता—उतरता .... ६ के अंक पर नीचे आता है ऐसे ६ आरे नीचे उतरते क्रम से अवसर्पिणी में आते हैं। और घडी का काँटा ६ अंक से वापिस ऊपर चढता—चढता.... १२ तक ऊपर जाता है वैसे ही... उत्सर्पिणी के ६ आरे का काल क्रमशः ऊपर चढता ही रहता है। इस तरह अनन्तकाल से निरंतर चलते हुए इस कालचक्र में एक के बाद दूसरा आरा, दूसरे के बाद तीसरा आरा आता ही जाता है। और १२ आरे उत्सर्पिणी—अवसर्पिणी के बीतने पर पूरा कालचक्र पूर्ण हो जाता है।.... फिर वापिस दूसरे कालचक्र के आरे चलते रहते हैं। इस तरह अनन्त कालचक्रों का काल तो भूतकाल में बीत चुका है। और भविष्य में भी अनन्त कालचक्र होते ही जाएंगे। इसका कहीं कोई अन्त ही नहीं है। अतः संसार अनादि—अनन्त है। काल भी अनादि—अनन्त है। और जीव भी अनादि—अनन्त है। यह क्रम चलता ही जाता है। और चलता ही रहेगा। इसका अन्त संभव नहीं है। सिर्फ परिवर्तन होता ही रहता है। आज किसी—किसी ने अपनी मान्यताएं सर्वथा गलत विपरीत बनाकर लोगों को डराना—भडकाना शुरु किया है कि—बस अब ६ वर्ष में सर्वनाश हो जायेगा। अभी १९९६ वर्ष चल रहा है और ४ वर्ष बाद २००० की साल

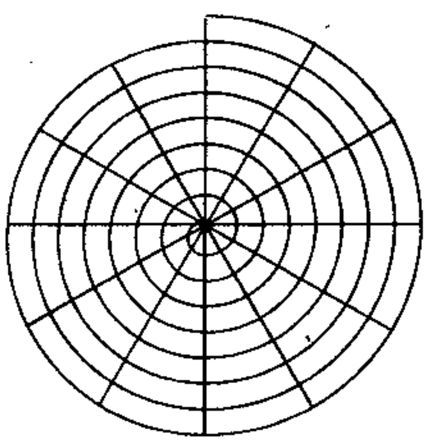

आएगी तब सर्वनाश—प्रलय हो जायेगा। ऐसे झूठे प्रचार से लोगों में भयग्रन्थि निर्माण करके अपने मत वाले बनाने की प्रवृत्ति धर्म के नाम जो चला रहे हैं वे.... कितना भारी छल कर रहे हैं? ऐसे झूठे प्रचारकों से सावधान रहना चाहिए।

यह व्यवहार काल की गणना है जो अनादि अनन्त काल तक चलती ही रहती है। यह ज्योतिष चक्र की गतिशीलता पर आधारित सिर्फ मनुष्य क्षेत्र में ही है। ज्योतिषकरंडक ग्रन्थ में कहा है कि—

**लोयाणु भज्जणीयं जोइस चक्कं भणंति अरिहंता।**
**सव्वे कालविसेसा, जस्स गइ विसेस निप्पन्ना॥**

जिसकी गतिविशेष से काल के भेद उत्पन्न होते हैं उस ज्योतिष चक्र को अरिहंत परमात्मा ने लोक स्वभाव से उत्पन्न गतिशील कहा है। यह की गई कृत-कारित व्यवस्था नहीं है। स्वयं स्वाभाविक है।

## अधोलोक का स्वरूप—

इस ग्रन्थ में समग्र विराट ब्रह्माण्ड की विचारणा चल रही है। इस लोक के स्वरूप में जैसा ऊर्ध्वलोक तिर्छालोक का स्थान—स्वरूप है वैसे ही अधोलोक का भी स्थान—स्वरूप है। जैन शास्त्रों में समस्त विराट ब्रह्माण्ड *The Whole Cosmos* को १४ राजलोक की संज्ञा दी गई है। इसमें ऊर्ध्व—अधो और तिर्छा इन तीनों लोकों की व्यवस्था है। हमारा जो मनुष्य लोक—तिर्छा लोक है इसके नीचे अधोलोक है। इसे ही पाताल लोक भी कहते हैं और वहाँ नारकी जाती—नरकगति के जीवों की बसती होती है। अतः नरकलोक—नरक क्षेत्र भी कहा गया है।

यह ७ राज लोक विस्तार वाला है। ऊपर १ राजलोक प्रमाण चौडा है फिर क्रमशः नीचे विस्तार बढता ही जाता है। जो बढते—बढते नीचे ७ राजलोक प्रमाण चौडा हो जाता है। इस तरह त्रिशंकु के आकार का लगता है। प्रत्येक एक एक राजलोक में एक एक नरक है। १४ राजलोक में संपूर्ण लोक क्षेत्र में नीचे गिनती करने पर

| | |
|---|---|
| १ ले राजलोक में | — ७ वीं नरक |
| २ रे राजलोक में | — ६ ठी नरक |
| ३ रे राजलोक में | — ५ वीं नरक |
| ४ थे राजलोक में | — ४ थी नरक |

५ वें राजलोक में — ३ री नरक
६ ठे राजलोक में — २ री नरक
७ वें राजलोक में — १ ली नरक

इस तरह ७ राजलोक क्षेत्र में ७ नरक पृथ्वियाँ फैली हुई हैं । इन पृथ्वियों के नाम इस प्रकार हैं—

**रत्न–शर्करा–वालुका–पङ्क–धूम–तमो–महातमः प्रभा भूमयो**
**घनाम्बु–वाताऽऽकाश–प्रतिष्ठाः सप्ताऽधोधः पृथुतराः ॥ ३–१ ॥**

**७ नरक पृथ्वी के नाम**

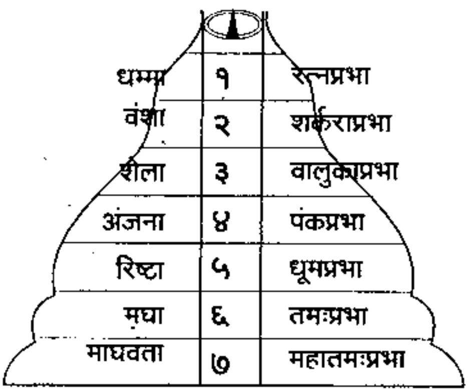


तत्त्वार्थाधिगम सूत्रकार ने तीसरे अध्याय में सातों नरक पृथ्वियों के नाम इस प्रकार दिये हैं । रत्नप्रभादि नाम उस पृथ्वी की वहाँ की जैसी स्थिति है उसके सूचक यथार्थ नाम है । रत्नों की प्रभा का ही अल्प प्रकाश हो वह रत्नप्रभा—पहली नरक पृथ्वी है । यहाँ सूर्य—चन्द्रादि तो सर्वथा नहीं है परन्तु उनका प्रकाश भी यहाँ नही पहुँचता है । सूर्य चन्द्रादि तिर्छा लोक में अढाई द्वीप समुद्र विस्तार में मेरुपर्वत के चारों तरफ परिभ्रमण करते हुए समतला भूमि से ७९० योजन से ९०० योजन के ११० योजन बीच के विस्तार में ही है । सूर्य चन्द्र से नीचे ७९० योजन बाद पृथ्वीतल का विस्तार है । पृथ्वी के भी नीचे ९०० योजन तक तिर्छा लोक का विस्तार है उसके बाद अधोलोक शुरू होता है । असंख्य योजनों के बाद पहली नरक पृथ्वी रत्नप्रभा आती है । यहाँ रत्नों की प्रभा का सामान्य प्रकाश है । यहाँ अनेक नारकी जीव रहते हैं ।

## विश्व व्यवस्था की आश्चर्यकारी स्थिति—

किसी भी व्यक्ति को आश्चर्य लगे ऐसे विचार कई बार इस विश्व संबंधी आते हैं । अखिर इस पृथ्वी के नीचे क्या होगा ? यह पृथ्वी इतनी वजनदार भारी कैसे टिकी होगी ? कौन उठाकर खडा होगा ? इत्यादि विचार आने स्वाभाविक हैं ।

**पृथ्वी की जाडाई**

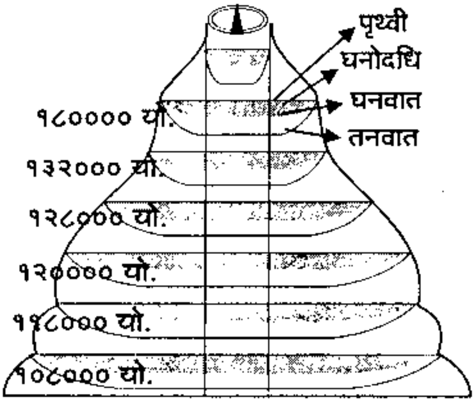


जैन दर्शन के शास्त्रों में इसका सचोट स्वरूप मिलता है । तत्त्वार्थकार कहते हैं— **"घनाम्बुवाताऽकाश-प्रतिष्ठाः"** — विश्व में जो आकाश है उसमें अवकाश देने का गुण है अतः वह सब का आधार बनता है । अन्य सभी आधेय बनते हैं । ऐसे आकाश के आधार पर तनवात पतला वायु जमता है, स्थिर होता है । और इसके ऊपर घनवात—जाडे भारी वायु के स्तर जमते हैं । उसे घनवात कहते हैं । यह घनवात स्थिर जमा हुआ होता है । फिर इस पर घनाम्बु—अम्बु अर्थात् पानी ... बरफ की तरह जमा हुआ घना पानी होता है इसे घनोदधि कहते हैं । फिर इस घनोदधि पर पृथ्वियाँ होती हैं । इस तरह १ तनवात २ घनवात और ३ घनाम्बु—घनोदधि इस तीन के स्तर पर पृथ्वी स्थिर आधारित है । फिर वापिस खाली आकाश है । असंख्य योजनों के खाली आकाश के बाद वापिस ... तनवात—घनवात—घनोदधि की स्थिति आती है । फिर उस पर पृथ्वी ... ऐसी सात पृथ्वियाँ अधोलोक में हैं । ये स्वाभाविक ही ऐसी हैं । इनकी रचना करना या बनाने का कोई प्रश्न ही खडा नहीं होता है । जहाँ जिस देश—क्षेत्रकाल—भाव की जो स्थिति है वह वहाँ सदाकाल रहनेवाली स्वाभाविक स्थिति है । इन सातों नरक पृथ्वियों की स्वाभाविक स्थिति की विशेषता— १) प्रथम नरक—रत्नप्रभा नरक पृथ्वी जहाँ पर ऊपरी सतह पर के कंकड—पत्थर रत्नों की भांति चमकदार होते हैं । उसकी प्रभा से प्रकाश फैलता है । २) शर्करा अर्थात् कंकड पत्थर समस्त पृथ्वी कंकड पत्थर से बनी हुई है, उसे शर्कराप्रभा कहा है । ३) वालुकाप्रभा वालु—रेती को कहते हैं । जहाँ वालु रेती ही भरी हो—ऐसी पृथ्वी वालुकाप्रभा कहलाती है । ४) पंकप्रभा—ऐसी पृथ्वी जो कीचडमय हो । पंक = कीचड को कहते हैं । सारी पृथ्वी मिट्टी—पानी के मिश्रण की कीचडमय है । इसलिए पंकप्रभा नामकरण सार्थक है । ५) धूमप्रभा—धूम अर्थात् धुआँ .... जिस पृथ्वी पटल पर जमें हुए धुएँ जैसी स्थिति हो वैसी पृथ्वी को धूमप्रभा संज्ञा है । ६) तमःप्रभा = अर्थात् अंधकारमय भूमि । ऐसी सर्वथा अंधकार से व्याप्त पृथ्वी को तमःप्रभा कहा है । ७) महातमःप्रभा = अर्थात् जहाँ व्यक्ति स्वयं की अंगुली को भी कभी भी देख न सकें

ऐसी पृथ्वी जो चारों तरफ अंधकार से व्याप्त हो... भयंकर घोर अंधकार से व्याप्त हो उसे महातमःप्रभा संज्ञा दी गई है ।

ये सातों नरक पृथ्वियों की जाडाई का माप भी शास्त्रों में इस प्रकार दिया है—

| | |
|---|---|
| १ ली नरक पृथ्वी रत्नप्रभा की जाडाई — | १८०००० योजन है । |
| २ री नरक पृथ्वी शर्कराप्रभा की जाडाई — | १३२००० योजन है । |
| ३ री नरक पृथ्वी वालुकाप्रभा की जाडाई— | १२८००० योजन है । |
| ४ थी नरक पृथ्वी पंकप्रभा की जाडाई — | १२०००० योजन है । |
| ५ वीं नरक पृथ्वी धूमप्रभा की जाडाई — | ११८००० योजन है । |
| ६ ठी नरक पृथ्वी तमःप्रभा की जाडाई — | ११६००० योजन है । |
| ७ वीं नरक पृथ्वी महातमःप्रभा की जाडाई— | १०८००० योजन है । |

इन सातों नरकों में प्रस्तर सर्वत्र कम ज्यादा प्रमाण में होते हैं । प्रस्तर (प्रतर) शब्द का अर्थ है— मंजिल जैसे घर के तल भाग आदि । ऐसे प्रस्तर १ ली नरक भूमि में १३, २ री में—११ प्रस्तर, ३ री में—९ प्रस्तर, ४ थी में—७ प्रस्तर, ५ वीं में—५ प्रस्तर, ६ ठी में—३ प्रस्तर और अन्तिम ७ वीं में सिर्फ १ ही प्रस्तर है । इन प्रस्तरों में ही नारकी जीवों का निवास स्थान है । इन प्रत्येक प्रस्तरों की जाडाई ३—३ योजन है । इन सातों नरकों में सब कुछ अशुभ से अशुभतर—अशुभतम ऐसे वर्णगन्धरसस्पर्शादि पुद्गलों का संचय है । अतः वहाँ उत्पन्न जीवों को ऐसे अशुभ पुद्गलादि ही लेने पडते हैं । इन सातों नरकों में भयंकर—तीव्र वेदना दुःख अनुभव करनी पडती है । अपने अपने अशुभ कर्मों के कारण जीवों को किए हुए पाप कर्मों की सजा भुगतने के लिए इन नरकों में जाकर उत्पन्न होना पडता है । और वहाँ की वेदना—तीव्र दुःख रूप सजा को भुगतना पडता है । यहाँ लोक ब्रह्माण्ड की स्थिति और भौगोलिक विचार आदि करके स्थिति स्वरूप का संक्षिप्ततम वर्णन किया है । आगे के प्रकरणों में विशेष विस्तृत वर्णन विषयानुसार करेंगे ।

प्रस्तुत प्रथम पुस्तक में समस्त ब्रह्माण्ड लोक—अलोक का सारभूत विचार संक्षेप में किया है । ब्रह्माण्ड शब्द हिन्दु वेद-वेदान्तों की परिभाषा का है । जैन शास्त्रों की परिभाषा में इसे लोक कहते हैं । जो चौदह राजलोक के नाम से माप—प्रमाण के साथ प्रचलित संज्ञा है । ऐसा समस्त लोक सारा विराट्—विश्व क्या है ? कैसा है ? कितना विराट और विशाल इसका स्वरूप है ? यह समझने के लिए एक संक्षिप्त रूपरेखा यहाँ प्रस्तुत की गई है । आज के मानवी के सामने वर्तमान विज्ञान द्वारा दिखाई गई दुनिया और कुछ तत्त्व जो इस लोक क्षेत्र के सामने एक चिंटी के पैर जितना भी अंश नहीं है । फिर भी इतनी छोटी सी

दुनिया को मनुष्य ने सर्वस्व मान ली है । बस, इसके आगे इसके बाद और भी कुछ है इन विचारों को तिलांजली ही दे दी है । अतः उसका अज्ञान दूर हो और सत्यज्ञान वासित दिल और दिमाग बने . . . दृष्टि विशाल बने इसके लिए विश्व के विराट स्वरूप को यहाँ मात्र संक्षेप में प्रस्तुत किया है । आगे का वर्णन आगे की दूसरी पुस्तक में और करेंगे ।

**॥ इति शं भवतु सर्वस्य ॥**

# अध्याय २

# सृष्टिस्वरूपमीमांसा

परम पिता परमात्मा पावन परमेष्ठि प्रभु महावीरस्वामी भगवान के चरणारविन्द में अनन्त वन्दना करते हुए...

**अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण च सुहाण य।**
**अप्पा मित्तममित्तं च दुप्पट्ठिय सुपट्ठिओ ॥ उत्तरा २०-३७**

अनन्त उपकारी करुणा के सागर, दया के भंडार सर्वज्ञ प्रभु श्री महावीर स्वामी ने अंतिम देशना में फरमाते हुए इस जगत को कहा है कि आत्मा ही अपने दुःख और सुख का कर्ता स्वयं है। भोक्ता भी स्वयं ही है। पाप कार्य में प्रवृत्त आत्मा ही अपनी शत्रु है और पापकर्म के क्षय की प्रवृत्ति में प्रवृत्त आत्मा स्वयं ही अपनी मित्र है। अतः हे जीव ! तुझे सुख—दुःख देनेवाला कोई अन्य नहीं है। इतना सुंदर सत्य जब परमात्मा ने स्पष्ट कर दिया है फिर भी यदि हम सुख—दुःख देने वाले किसी अन्य को माने तो हमारी कितनी बडी अज्ञानता सिद्ध होगी ?

## क्या जगत का कर्ता संभव है ?

हम आगे की प्रथम पुस्तिका में जगत्—लोक के ऐसे विराट और विशाल स्वरूप को देख आए हैं, जो सारा जगत् सिर्फ पंचास्तिकायात्मक स्वरूप है, षड् द्रव्यात्मक स्थिति है, जो सहज—स्वाभाविक है। जो अनादि—अनन्तकालीन स्वस्थिति में स्थित है। ऐसे इस जगत को बनाने का प्रश्न ही कहाँ उपस्थित होता है ? वीतरागी सर्वज्ञ भगवन्तों ने इस जगत के स्वरूप को जैसा है वैसा बताया है। न कि बनाया है। "बताना" और "बनाना" इन दो शब्दों में जमीन—आसमान का अन्तर है। बतानेवाले को बनाने की आवश्यकता ही नहीं है। जो सदा कालीन—नित्यस्वरूप में स्थित है, जो जैसा है उसका ठीक वैसा ही यथार्थ स्वरूप जगत को बताना है। जबकि बनानेवाले के लिए प्रत्येक वस्तु बनानी पडेगी। क्या इन दोनों में हम ऐसा विचार करें कि— बनानेवाला महान है कि बताने वाला ? यदि हम इस महानता का विचार करें तो स्वाभाविक ही लोकमानस बनानेवाले को ही महान

कहने की कोशीष करेगा। वह इन्सान सिर्फ इतना ही सोच पाएगा कि बतानेवाले को तो कोई मेहनत ही नहीं है। जबकि बनाने वाले को तो कितना परिश्रम हुआ है ? प्रत्येक वस्तु उसे बनाने में कितना समय, कितना श्रम, कितनी साधन–सामग्री लगी होगी ? तब जाकर कुछ बन पाएगा ?

आपकी उपरोक्त विचारधारा इस दृष्टि में सही भी है, परन्तु जगत में क्या बनना संभव है और क्या बनना असंभव है ? उसका भी तो विचार करना ही पडेगा या नहीं ? शायद आप तो ऐसा कहेंगे कि— ईश्वर जो सर्वशक्तिमान समर्थ–सक्षम है उसके लिए क्या बनाना संभव और क्या बनाना असंभव है ऐसा विचार ही नहीं करना चाहिए। क्योंकि सर्वशक्तिमान के लिए कुछ भी असंभव नहीं है। सब कुछ संभव ही है। ठीक है। यदि आपकी यह विचारधारा क्षण भर के लिए ठीक मान भी ले तो भी ऐसा सर्वशक्तिमान सक्षम–समर्थ ईश्वर जिसको आप सबकुछ बनानेवाला मानते हो उसने यह सारा लोक अलोकात्मक विराट विश्व–ब्रह्माण्ड कैसे बनाया ? क्या किया जिससे यह जगत बन गया ? ऐसे कैसे बन गया ?

"जगत का नियम है कि... कुछ भी बनाने के लिए उसके सहायक रूप में— कच्चे माल की आवश्यकता अनिवार्य है। बिना किसी प्रकार के आधारभूत कच्चे माल की सहायता के हम किसी भी वस्तु को बना ही नहीं सकते हैं। एक रोटी भी बनानी हो तो गेहूँ के आटे का होना आवश्यक है। आटे के लिए गेहूँ का होना आवश्यक है। गेहूँ के लिए–बीज का। बीज के लिए खेती की आवश्यकता है। इस तरह आधारभूत सहायक द्रव्य की आवश्यकता के बिना बनानेवाला अकेला भी क्या करेगा ? कैसे बना पाएगा ? यद्यपि बनानेवाला बनाने की प्रक्रिया जानता भी हो, उसका उसे ज्ञान भी हो तो भी वह बिना सहायक साधन के कैसे बना पाएगा ?

पिछले अध्याय में हम आकाश द्रव्य का विचार कर चुके हैं अब उस आकाश के बारे में सोचिए...: बनानेवाला कितना भी समर्थ–सबल–सक्षम और सशक्त भी हो तो भी आकाश कैसे बन सकता है ? कैसे बनाया जा सकता है ? आधारभूत सहायक कच्चा द्रव्य कौन सा लें ? ... शायद आप कहेंगे परमाणु लेकर आकाश बनाया गया होगा। अच्छा, तो उन परमाणु को किसने बनाया ? वे किसमें से बने हैं ? और ऐसा भी मानें कि परमाणुओं के मिश्रण से आकाश की रचना की है, तो वे कौन से परमाणु थे ? किस प्रकार के परमाणु थे ? ऐसे जगत में कौनसे परमाणु हैं जो आकाश के रूप में बन सकते हैं ? आकाश रूप में परिवर्तित होने की क्षमता रखते हैं। क्या वैसे परमाणु आज भी कहीं हैं

कि नहीं ? शायद आप कहेंगे कि नहीं ? आज कहीं भी नहीं हैं ? वे तो आकाश बन जाने के बाद बचे ही नहीं है । जितने थे उतने सभी पूरे हो गए, समाप्त हो गए । ठीक है । तब तो आकाश नहीं था तब भी उन परमाणुओं का अस्तित्व मानना ही पडेगा । अच्छा, यदि हाँ, तो आकाश के अभाव में वे परमाणु विना आकाश के कहाँ थे ? किस क्षेत्र में थे ? यह बात तो निश्चित ही है कि आकाश ही सबके लिए आश्रयदाता पदार्थ है । आकाश में ही सभी रहते हैं । जीवों का, अजीवों का सबका रहना एक आकाश में ही है । आकाश पूरा एक ही है । अलग अलग आकाश है ही नहीं । भिन्न—भिन्न आकाश की विवक्षा कर ही नहीं सकते हैं । हाँ, उपाधि भेद से औपाधिक रूप से घटवर्ती को घटाकाश, उदरवर्ती को उदराकाश संज्ञा दी जा सकती है । लेकिन ये औपाधिक हैं । मूल में तो सर्वत्र लोकालोक क्षेत्रवर्ती संपूर्ण एक ही है, अखण्ड द्रव्य ही है । अलोक एक ऐसा स्थान है कि... अलोक में किसी भी जीव का जाना--आना, जन्म—मरणादि संभव ही नहीं है । और वहाँ तो किसी भी प्रकार के परमाणु की संभावना भी नहीं है । तो फिर वहाँ का आकाश किसी भी बनानेवाले कर्ता ने कैसे बनाया ? बनानेवाला कर्ता—अलोक में जा ही नहीं सकता है और वहाँ परमाणुओं का अस्तित्व था भी नहीं और है भी नहीं तो फिर आकाश द्रव्य कैसे बना ? और आकाश द्रव्य किसी भी परमाणुओं के संमिश्रण से बननेवाला पदार्थ ही नहीं है तो फिर आकाश द्रव्य कैसे बना ? शायद आप कहेंगे कि— बनानेवाले कर्ता ने अपना स्वरूप इतना सूक्ष्म कर लिया होगा कि वह अलोक में जाकर भी शीघ्र आकाश सूक्ष्मतम बनाया होगा, और गति भी इतनी शीघ्र बनाई होगी कि... बहुत शीघ्रता के साथ आकाश बनाकर वह शीघ्र वापिस आ गया होगा ? ठीक है । लेकिन विचार करिए... जगत् में सबसे सूक्ष्म स्वरूप ही परमाणु का है और उससे ज़्यादा स्वरूप भी क्या उस कर्ता ने बना लिया ? क्या कर्ता अपना स्वरूप परमाणु से भी सूक्ष्म बना सकता है ? और इतना सूक्ष्म बनाकर--सूक्ष्म बनकर वह सूक्ष्मतम परमाणुओं में किसी प्रकार का संमिश्रण कर सका ? ठीक है, कर्ता स्वयं सूक्ष्मरूप लेकर अलोक में चला गया... लेकिन जब वहाँ अन्य किसी भी प्रकार के परमाणु थे ही नहीं तो फिर आकाश बनाया कैसे ? किसमें से बनाया ? किसके मिश्रण से बनाया ? जब अलोकाकाश में किसी का गमन ही संभव नहीं है, क्योंकि गति सहायक धर्मास्तिकाय नामक द्रव्य का अस्तित्व ही वहाँ संभव नहीं है तो फिर वहाँ कौन जा सकेगा ? अगर सूक्ष्म रूप धारण करके कर्ता जा सकता है, तो फिर परमाणु क्यों नहीं जा सकते हैं ? जरूर जा सकते हैं । क्योंकि वे भी तो सर्वथा सूक्ष्म ही हैं । चलो, विचार लो क्षण भर के लिए कि सूक्ष्मतम होने के कारण परमाणु अलोक में चले गए ।

बाद में कर्ता ने बनाया । तो परमाणु कैसे गए ? स्वयं गए या उन्हें कोई लेकर गया ? फिर वे परमाणु किस जाती के थे ? किन गुणधर्मों वाले थे ? जब कर्ता को ही इतना सूक्ष्मतम स्वरूप धारण करके जाना पडा तो फिर परमाणु जो स्वयं सूक्ष्मतम थे उनको वे कैसे साथ ले गए ? और कैसे बना पाए ? यह सब विचारणा व्यर्थ—निरर्थक है । क्योंकि अलोक में गति सहायक धर्मास्तिकाय, तथा स्थिति सहायक अधर्मास्तिकाय नामक एक भी द्रव्य है ही नहीं । इसलिए न तो परमाणु का जाना होता है और न ही ईश्वर का जाना होता है ।

प्रकृति के सिद्धान्तों के अनुसार जब ईश्वर के बारे में कुछ असंभव बताया जाय तो बिना किसी समझ के ईश्वर की सर्वव्यापकता और सर्वशक्तिमत्ता को आगे करके किसी भी तरह तोड—मरोडकर भी ईश्वर की शक्ती से उसे शब्दों में बैठा देते हैं । यह भी ईश्वर के स्वरूप को विकृत करने की एक गलत विचारधारा है । अरे ! सर्व कर्म मुक्त सर्वशक्तिमान सिद्ध भगवान भी लोकान्त तक ही जाकर रुक जाते हैं । बस, लोकान्त के आगे अलोक में वे नहीं जा पाते हैं । वे तो सर्वथा अशरीरी होते हुए भी नहीं जा सकते हैं । क्योंकि अलोक में गति सहायक धर्मास्तिकाय न होने के कारण किसी की भी गति वहाँ संभव ही नहीं है । फिर जाने का प्रश्न ही कहाँ खडा होता है ? सिद्ध भले ही सर्व कर्ममुक्त—सर्वशक्तिमान हो फिर भी सहायक द्रव्य के अभाव में उनकी भी गति संभव नहीं है, तो फिर ईश्वर जो सूक्ष्म शरीर बनाए करे . . . उसके लिए कहाँ से संभव हो सकता है ? यदि सूक्ष्मता के नाम पर ईश्वर के लिए संभव करना ही हो तो फिर परमाणु भी तो सूक्ष्मतम ही हैं, उसके लिए भी संभव ही करना पडेगा । ना नहीं कह सकते हैं ।

ईश्वर यदि अलोक में जाते हैं तो कैसे जाते हैं ? सशरीरी या अशरीरी ? अगर सशरीरी ईश्वर अलोक में जाते हैं तो वे किस प्रकार का शरीर बनाकर जाते हैं ? यदि ईश्वर सूक्ष्म शरीर धारण करके जाते हो तो . . . वह सूक्ष्म शरीर किसका बनेगा ? वह भी तो परमाणुओं से ही बनाया जाएगा ? क्योंकि किसी को भी शरीर बनाने के लिए . . परमाणुओं की ही मदद लेनी पडती है । उसी से बना सकता है । अगर परमाणुओं को ग्रहण करके ही शरीर रचना करता है तो कितने परमाणुओं का पिण्ड बनाते हैं ? आखिर जितने भी परमाणुओं का पिण्ड बनाएंगे वह किसी १ परमाणु से तो स्थूल ही होगा ? तो फिर परमाणुओं के समूहात्मक पिण्डवाले शरीरधारी ईश्वर अलोक में जा सकते हो तो एक परमाणु जो ईश्वर से अनेक गुना ज्यादा सूक्ष्मतम है वह क्यों नहीं जा सकता है ? लेकिन जब अलोक में जाना ही संभव नहीं है तो फिर यह चर्चा किस लिए ?

बात तो सही है, लेकिन ... अलोक में जो आकाश है उसकी रचना किसने की ? इस प्रश्न का समाधान क्या रहेगा ? बात यहीं छोड देने पर ईश्वर के बिना भी अलोक के आकाश का अस्तित्व स्वीकारना पडेगा । तो फिर ईश्वर के बिना भी सृष्टि के पदार्थों का अस्तित्व मानने पर ईश्वर की सर्व शक्तिमत्ता में क्षति आएगी । सर्व विश्वकर्तृत्व के विशेषण की निरर्थकता सिद्ध होगी । और ईश्वर के बिना भी किसी पदार्थों का अस्तित्व रहेगा तो वह ईश्वर के किये बिना ही रहेगा । तो फिर ईश्वर के करने की आवश्यकता ही नहीं रहेगी । ईश्वर के किये बिना और ईश्वर के पहले भी पदार्थों का अस्तित्व सिद्ध हो जाता है, अतः फिर करनेवाले की आवश्यकता—उपयोगिता निरर्थक हो जाती है ।

**किससे किसके बनने की संभावना ?—**

किन पदार्थों से किस प्रकार के द्रव्य बन सकते हैं ? और किससे कैसे नहीं बन सकते हैं ? यह विचार भी आवश्यक है । यदि बनानेवाला जो भी कोई हो या न हो इसका विचार बाद में करेंगे लेकिन ... घटक—कारक द्रव्य कैसे हैं उस पर आगे के बनने वाले पदार्थों का आधार है । उदा.— आकाश द्रव्य किस में से बना ? धर्मास्तिकाय—अधर्मास्तिकाय ये द्रव्य किस प्रकार के घटक द्रव्यों से बने हैं ? आकाशादि अरूपी पदार्थ है और परमाणु सर्वथा रूपी है । तो क्या अरूपी से रूपी पदार्थ बन सकेंगे ? परमाणु ज्ञानादि गुणरहित सर्वथा जड है । तो ऐसे जड—रूपी पदार्थों से अरूपी ज्ञानी आत्मा की उत्पत्ति—निर्मिती क्या संभव हो सकती है ? कभी भी नहीं ।

इसलिए अगर बनाने वाला कितना भी सर्वशक्तिमान समर्थ सक्षम हो लेकिन बनाने के लिए घटक—कारक द्रव्यों के बिना वह भी क्या करेगा ? जिस तरह मिट्टी के बिना कुंभार घडा नहीं बना सकता । आटे के बिना गृहिणी रोटी नहीं बना सकती इत्यादि ... ठीक वैसे ही बनानेवाले को जिस सृष्टी की रचना करनी हो उसको भी किसी न किसी घटक—कारक द्रव्यों का सहारा लेना ही पडता है । हो सकता है शायद आप ऐसा कहेंगे कि ... इसमें क्या ? कई जादूगर भी तो बिना किसी द्रव्य की सहायता के जादुई खेल दिखाते हुए कई चीजें निर्माण कर देते हैं । वहाँ कोई भी आधारभूत कारक—घटक द्रव्य नहीं भी होते हैं । सिर्फ हाथों को रगडते—मसलते हुए भी बनाकर दिखाते हैं । जैसे खाली डिब्बा खोलकर दो कबूतर उडा देते हैं । ऐसा दिखाते हैं । लेकिन विचार करने पर आपको ख्याल आएगा कि ... यह तो सिर्फ हाथ चालाकी ही है । दो डिब्बे रहते हैं एक में नीचे पहले से ही कबूतर रखे हुए रहते हैं । और दूसरे में कुछ नहीं खाली होता है । बडी सिफत

से होशियारी के साथ हाथ चालाकी से कालविलम्ब न करते हुए तीव्रता के साथ आपकी आँखों के सामने ही खेल दिखा देते हैं । और दर्शकों को आश्चर्यचकित कर देते हैं । लेकिन ६०% से ७०% जादूगर तो हाथचालाकी—हाथसफाई का खेल दिखाकर जादू बताते हैं ।

हाँ... कई जादूगर ऐसे भी होते हैं जो भूत—भौतिक उपासना के बल भौतिक जादू भी दिखाते हैं । भूत अदृश्य होते हैं । वे शरीरधारी ही हैं, लेकिन दिखाई नहीं देते हैं । मंत्र साधना से मेली विद्या साधकर भूत—प्रेतों को साधनेवालों के लिए इस प्रकार के खेल दिखाना आसान है । जैसे कुत्तों को पालकर काम कराया जाता है । वैसे ही सबल कोई व्यक्ति भूत—प्रेतों को वश में करके .... मंत्र बल से मैली विद्या से भूतादि को साधकर अपने इच्छित कार्यों को कर सकता है । अपने आधीन बनाकर उन्हें हुक्म देकर... बडी जल्दी से तीव्रता के साथ... किसी भी वस्तु का लाना, छिपाना, अदृश्य करना आदि जादू के खेल करना आसान रहता है । यह मनोरंजन के लिए तो ठीक है लेकिन वास्तविकता के लिए क्या ? तब सब कुछ बना लेने वाले ऐसे जादूगर... फिर पैसे क्यों माँगते हैं ? पेट भरने के लिए फिर उसको पैसे पैसे के लिए मोहताज क्यों होना पडता है ? यदि वह स्वयं ही.. जब बना सकता है तो फिर रुपए—पैसे क्यों नहीं बना सकता है ? उसके लिए माँगना क्यों पडता है ? यह तो हुई जादूगर की स्थिति ।

क्या ईश्वर को भी जादूगर जैसा ही कहना ? क्या ईश्वर भी जादूगर की तरह ही सृष्टि उत्पन्न करता है ? क्या वह भी भूत—प्रेतों को रखता है और साधता है ? उनसे काम लेता है ? भूतों के पास काम कराता है ? तो क्या ईश्वर की सृष्टि भी भूत—भौतिक ही माननी ? यह बात ही कितनी सही लगेगी ? फिर भूतों को कौन बनाएगा ? आप कहेंगे भूतों को भी ईश्वर ही बनाएगा तो किसमें से भूतों को बनाएगा ? कैसे बनाएगा ? भूतों को भी बनाने के लिए ईश्वर को किस घटक द्रव्य की आवश्यकता पडी ? या फिर भूतों को भी ईश्वर ने मायावी सृष्टि की तरह ही उत्पन्न कर दिया ? यदि मायावी सृष्टि मानें, मायावी सृष्टि में वास्तविकता कितनी और कृत्रिमता—अवास्तविकता कितनी ? तो क्या यह सारी सृष्टि अवास्तविक—कृत्रिम ही माननी ? बिना किसी घटक द्रव्यों की सहायता के ही... ऐसे ही बना दी ?

### स्वयं उत्पन्न होने और बनाने में अन्तर—

कई चीजें जो स्वयमुत्पन्न होती हैं और कई चीजें बनाई जाती हैं । जैसे मिट्टि स्वयं उत्पन्न होती है । जबकि घडा कुंभार के द्वारा बनाया जाता है । घडे ईंट आदि मिट्टी की

सेंकडों चीजें बनती हुई, बनाई हुई देखी जाती है लेकिन ... मिट्टी को बनाते हुए कभी भी देखा नहीं गया। लेकिन वह भी वस्तु तो है ही। अतः लोग क्या करते हैं ? मिट्टी का बनाने वाला जब कोई नहीं दिखाई दिया तब ईश्वर को ही मान लिया ? जो जो ईश्वर होगा वह मिट्टी बनाएगा ? या जो जो मिट्टी को बनाएगा वह ईश्वर कहलाएगा ? यदि आप मिट्टी के बनाने वाले को ईश्वर कहने के पक्ष में हो तो .... मिट्टी तो पृथ्वीकायिक पदार्थ है। पार्थिव है। पृथ्वीकायिक एकेन्द्रिय जीव मिट्टी के रूप में उत्पन्न हुए। पार्थिव शरीर बनाया वे उसी रूप में जी सकते हैं ... रह सकते हैं। वह तो मिट्टीगत एकेन्द्रिय जीव है तो क्या उसको ईश्वर कहना ? जो भी मिट्टी का कर्ता हो वही ईश्वर, ऐसा किसी वस्तु के प्रति कहने से ... कल जब उस वस्तु का कर्ता स्पष्ट सिद्ध हो जाएगा तो क्या उसे ही ईश्वर मानना ? वस्तु का कर्ता व्यक्त स्पष्ट न हो तो क्या उसके लिए ईश्वर को ही मान लेना ? तो क्या ऐसा नियम बनाना कि ... जिन ... जिन वस्तुओं का व्यक्त स्पष्ट कर्ता न दिखाई देता हो उसके लिए ईश्वर को ही कारण मान लेना ? यदि ऐसा नियम बनाएंगे और अदृष्ट कर्ता को ही ईश्वर मानेंगे ... और यदि कल उस वस्तु का कर्ता सिद्ध हो जाएगा उस दिन ईश्वर कहाँ जाएगा ? या तो फिर उस ईश्वर को ही उस वस्तुगत जीव मानने की आपत्ति आएगी और या फिर उस वस्तुगत जीव को ईश्वर मानने की आपत्ति आएगी इसलिए यह नियम भी बनाना गलत सिद्ध होगा। वस्तु जो उत्पन्न हुई है वह जिस किसी जीव कर्ता के द्वारा उत्पन्न हुई है उसके कर्ता के रूप में जीव को ही मान लें तो क्या आपत्ति आएगी ? निरर्थक ईश्वर को बीच में लाकर—उसका स्वरूप विकृत करने में कहाँ तक उचितता लगती है ? इसलिए जिस किसी भी वस्तु का कर्ता अव्यक्त अस्पष्ट हो उसके लिए ईश्वर को मान लेने की जल्दबाजी करने में कल कर्ता स्पष्ट—व्यक्त होने के बाद फिर ईश्वर के स्वरूप में हानि आएगी। अतः अच्छा तो यह होगा कि .. पहले से ही .. उस वस्तु के जीवादि कर्तृत्व को स्पष्ट समझ लें ताकि ... ईश्वर के स्वरूप पर विकृति का दोष नहीं आएगा।

अच्छा, जिन वस्तुओं का कर्ता स्पष्ट हो सकता हो वहाँ तो बात अलग रहेगी। लेकिन जिन वस्तुओं का कोई कर्ता ही न हो उनके लिए क्या मानना ? उदाहरणार्थ—आकाश, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, जीव, परमाणु आदि इन पंचास्तिकायात्मक जगत के पाँचों द्रव्यों के बारे में किसको कर्ता मानें ? क्योंकि उनका कर्ता कोई ईश्वर भी सिद्ध नहीं होता है और वे सभी अजीव—पदार्थ हैं। अतः जीवकर्तृत्व भी इनका सिद्ध नहीं हो सकता है। अतः अन्य तीसरे किसको मानना ? जबकि तीसरा तो कोई है ही नहीं ? तीसरी तरफ ये पंचास्तिकाय अनादि अनुत्पन्न द्रव्य हैं। नियम ऐसा है कि ... जो जो अनादि

द्रव्य होता है वह वह अनुत्पन्न होता है ? और जो जो अनुत्पन्न द्रव्य होता है वह वह अनादि द्रव्य होता है । ऐसे अनादि द्रव्य जो उत्पन्न ही नहीं होते हैं उनको बनाने का सवाल ही कहाँ खडा होता है ? उनके कर्ता का पता लगाने की निरर्थक बालिशता ही क्यों करनी चाहिए ?

दूसरी तरफ... जो पदार्थ—अनादि—अनुत्पन्न होते हैं वे पदार्थ अविनाशी—शाश्वत अनन्त होते हैं । उनका अन्त भी कभी नहीं होता है । नाश—विनाश कभी भी नहीं होता । अतः वे सदाकालीन रहने वाले होने के कारण नित्य शाश्वत ही सिद्ध होता है । इस तरह ये पंचास्तिकाय पाँचों पदार्थ अनादि अनुत्पन्न—अविनाशी—शाश्वत—नित्य हैं । ये काल के परे हैं । अतः काल के बंधन का व्यवहार इनके साथ नहीं हो सकता इसलिए कालातीत ये पदार्थ हैं । अनादि और अनन्त ये कालवाची संज्ञा है । काल की गणना में इनकी गणना नहीं होती है ।

अब सोचिए... इन पदार्थों की उत्पत्ति का प्रश्न ही कहाँ रहता है ? पदार्थ होते हुए भी उत्पन्न नहीं होता है और उत्पन्न न होते हुए भी पदार्थ रूप में है । अतः त्रैकालिक अस्तित्ववाले हैं । इस प्रकार की तीनों काल की सत्ता के कारण ये पाँचों अस्तिकाय पदार्थ ईश्वर के कार्यक्षेत्र की गणना में भी नहीं आते हैं । जब ईश्वर के करने के क्षेत्र से वे बाहर हैं तो फिर ... ईश्वर के करने की—बनाने की बात कहाँ सिद्ध होगी ? और ईश्वर कर्तृत्व की बात ही सिद्ध नहीं होगी तो ईश्वर की कर्ता के रूप में निरर्थकता सिद्ध हो जाएगी ।

कैसा अनुमान रखें ? अनुमान अस्तित्व साधक सहायक साधन है । ज्ञान पद्धति है । यहाँ पर ईश्वर और सृष्टि इन दोनों में हम किस प्रकार के अनुमान से कैसे साधे ? क्या सृष्टि का अनुमान करके ईश्वर को साधें ? या ईश्वर के अनुमान से सृष्टि को साधें ? जैसे—पुत्र के अनुमान से पिता की सिद्धि और पिता के अनुमान से पुत्र की सिद्धि होती है । क्या ठीक वैसे ही जन्य—जनकभाव से, कार्य—कारण भाव से ईश्वर और सृष्टि की सिद्धि हो जाएगी । क्या सृष्टि रचना करने के सिवाय ईश्वर के स्वरूप की सिद्धि हो ही नहीं सकती है ? तो फिर ईश्वर ने जब सृष्टि रचना की उसके पहले के ईश्वर के स्वरूप में कोई शुद्ध स्वरूप नहीं था ? क्या हम ईश्वर को सृष्टि रचना के कार्य के व्यतिरिक्त देख ही नहीं सकते हैं ? सोच ही नहीं सकते हैं ? यहाँ पर ही बडी भारी भूल होती है । तो फिर सृष्टि रचना के पहले ... ईश्वर का स्वरूप कुछ था ही नहीं क्या ? जैसे पुत्र ने उत्पन्न होकर एक व्यक्ति को पितापने का दर्जा दिया है । यदि पुत्र ही नहीं होता तो उस व्यक्ति को पिता कौन कहता ? संभव ही नहीं है । क्या वैसे ही सृष्टि ही नहीं बनी होती तो ईश्वर को ईश्वर ही कौन कहता ?

इसका मतलब सृष्टि रचना के कार्य के कारण ही उसके ईश्वरत्व को सिद्ध करना कहाँ तक उचित है। यदि सृष्टि रचना ही न हो तो ईश्वरत्व भी नहीं रहेगा? ईश्वर का अस्तित्व भी नहीं रहेगा क्या? तब तो फिर जब सृष्टि ही नहीं थी तब ईश्वर थे कि नहीं? यदि नहीं थे तो क्या सृष्टि के साथ ही ईश्वर की भी उत्पत्ति हो गई? क्या सृष्टि और ईश्वर दोनों सहभू हैं? एक साथ ही उत्पन्न होनेवाले हैं? यदि एक साथ ही उत्पन्न होनेवाले हैं तब तो कोई किसी का कार्य—कारण जन्य—जनक भी नहीं बन सकेगा। फिर तो ईश्वर के करने के लिए कुछ शेष रहता ही नहीं है। तो फिर कर्तापने का कर्तृत्व कहाँ आया? और कर्तृत्व ही नहीं आएगा तो ईश्वरत्व कैसे आएगा? क्योंकि कर्तृत्व के कारण ईश्वरत्व और ईश्वरत्व के कारण कर्तृत्व... इस तरह दोनों यदि साथ ही चलेंगे तो दोनों एक-दूसरे के बिना रह ही नहीं सकेंगे। तो क्या ऐसी व्याप्ती बनानी कि जहाँ जहाँ ईश्वरत्व रहे, वहाँ वहाँ सृष्टिकर्तृत्व रहे? कि जहाँ जहाँ सृष्टि कर्तृत्व रहे वहाँ वहाँ ईश्वरत्व रहे? जैसे सूर्य के साथ दिन और दिन के साथ सूर्य का अन्वय सम्बन्ध है। कभी भी बिना सूर्य के दिन रहा नहीं है और कभी भी बिना दिन के सूर्य रहा नहीं है।

अब यह सोचिए कि— दिन और सूर्य में कोई कार्य—कारणभाव या जन्य—जनक भाव है या नहीं? संसार के लौकिक व्यवहार में तो सूर्य को दिनकर—दिन का करनेवाला कहा जाता है लेकिन निश्चय नय की दृष्टि से सत्यस्वरूप देखा जाय तो सूर्य के साथ तो सदा ही हमेशा ही दिन रहता है। फिर करने की बात कहाँ से आई? रात तो सूर्य के साथ रहती ही नहीं है। और दिन कहीं सूर्य को छोडकर अन्यत्र चला जाता ही नहीं है। जब से सूर्य है तब से दिन के साथ ही है और जबसे दिन है तब से सूर्य के साथ ही है। इसलिए सूर्य को दिन करने की बनाने की कोई क्रिया करनी ही नहीं पडती है। ये जो दिन के बाद रात और रात के बाद फिर दिन आने का क्रम है यह तो सिर्फ सूर्य—चन्द्र की गति के कारण है। मेरु पर्वत के चारों तरफ गोलाकार स्थिति में घूमते—सतत परिभ्रमण करते रहने के कारण सूर्य की उपस्थिति के भाग को दिन कहा गया है और सूर्य की अनुपस्थिति के भाग को रात कहा गया है।

इस सूर्य और दिन के दृष्टान्त की तरह ही क्या ईश्वर और सृष्टि के बीच भी सम्बन्ध मानें? तो तो फिर सूर्य और दिन में जैसे कर्तापने की वास्तविकता नहीं रहती है वैसे ही ईश्वर में भी सृष्टि के कर्तापने की सच्चाई नहीं रह पाएगी। तो फिर ईश्वर में सृष्टि कर्तृत्व की स्थिति नहीं आ पाएगी। और कर्तृत्व के न आने से ईश्वर के अस्तित्व में अभाव आ जाएगा। क्योंकि ईश्वर तो सृष्टि किये बिना रह ही नहीं सकता है। और सृष्टि को ईश्वर के

द्वारा न की हुई माने तो भी सृष्टि के स्वरूप में कोई हानि नहीं आएगी । बाधा नहीं पहुँचेगी । ऊपर से सृष्टि का सही—सत्य स्वरूप सिद्ध होगा । सच्चाई निखर आएगी । लेकिन ईश्वर के स्वरूप में हानि आ जाएगी । जब सृष्टि—रचना का कार्य आदि कुछ भी न करे, तो फिर ईश्वर में ईश्वरत्व ही कैसे मानना ? कैसे आएगा ? यह समस्या बडा भारी सिरदर्द खडा कर देगा । इसलिए ईश्वरवादी सृष्टि की रचना के कार्य को ईश्वर के बिना अलग कर ही नहीं सकते हैं और उसी तरह सृष्टि को ईश्वर द्वारा कृत रचना के सिवाय कुछ कह भी नहीं सकते हैं । इस तरह अन्योन्याश्रय दोषग्रस्तता की आपत्ति आएगी ।

जैन दर्शन की तरह ईश्वर को बनानेवाले के बजाय बतानेवाला ही मान लें तो ईश्वर के ऊपर से यह कलंक ही दूर हो जाय और ईश्वर का शुद्ध स्वरूप निखर आए । उसी तरह जगत (सृष्टि) का भी शुद्धतम स्वरूप स्पष्ट हो जाय । दोनों के स्वरूप निर्दोष—दोषरहित सिद्ध हो जाय । यही सर्वोत्तम मार्ग है । इस समाधान से ईश्वर पहले या सृष्टि पहले ? सृष्टि के कारण ही ईश्वर को पूर्णता प्राप्त हुई और ईश्वर के कारण सृष्टि को पूर्णता प्राप्त हुई यह झगडा खडा नहीं रहेगा । यह कैसी अजीब सी विचित्र विचारधारा लगती है . . . कि सृष्टि की रचना करने के कारण ही ईश्वर के स्वरूप में पूर्णता आई ? यदि सृष्टि की रचना न करते तो ईश्वर अपूर्ण ही रह जाता पूर्णता ही नहीं आती । और इसी तरह ईश्वर सृष्टि की रचना न करते तो सृष्टि को भी पूर्णता प्राप्त नहीं होती यह कितनी अजीब सी विचित्र बात है । लेकिन कभी यह भी सोचा है ? कि सृष्टि की रचना में रही हुई सैकडों प्रकार की अपूर्णता के कारण ईश्वर में भी अपूर्णता आएगी कि नहीं ?

संसार में सेंकडों प्रकार की विचित्रता है । अनेक प्रकार की विषमता है । विविधता भी है । ये सब क्या है ? अपूर्णता नहीं तो और क्या है ? इसके कारण ईश्वर के स्वरूप में कितनी कालिमा आएगी । ईश्वर के द्वारा ही रची गई इस प्रकार की विचित्र सृष्टि के कारण ईश्वर पर भी बडा भारी कलंक लग गया है । वह क्यों और कैसा है यह भी देखें ।

## सृष्टि में विचित्रता–विषमता और विविधता–

समग्र सृष्टि में आपाततः दृष्टिपात करने से स्पष्ट पता चलता है कि . . . सर्वत्र विषमता . . . विचित्रता और विविधता भरी पडी है । विषमता इस विषय में कि कहीं भी समानता—एक जैसापन दिखाई ही नहीं देता है । एक राजा है तो दूसरा रंक है, एक गरीब है तो दूसरा अमीर है, एक सुखी है तो दूसरे दस दुःखी हैं । एक को खाने के लिए पूरा मिलता है तो दूसरे को बिल्कुल ही नहीं मिलता है । एक को ज्यादा संतान प्राप्त है तो

दूसरा पूरी जिन्दगी भर सन्तान के लिए तडपता ही रहता है । एक गूंगा—बहरा है तो दूसरा बोलता—सुनता है । एक अंधा—काना है तो दूसरे काफी लोग देखते हुए हैं । एक विद्वान है तो दूसरा मूर्ख है । इस प्रकार सेंकडों प्रकार की विषमता संसार में सर्वत्र प्रत्यक्ष दिखाई देती है । लोग व्यवहार में भी प्रत्यक्ष देखा जाता है कि... बनी—बनाई वस्तु के अधूरे-पन से या बिगडने के कारण बनानेवाले की अपूर्णता, अज्ञानता, अनभिज्ञता, अंजानपना उभरकर सबके सामने आता है । अब सज्जनों ! स्पष्ट विचार कर लीजिए कि... इस संसार में उपरोक्त बताई गई वैसी अनेक प्रकार की विषमताओं से भरी पडी ही विषम सृष्टि को देख कर बनाने वाले की अज्ञानता—अपूर्णतादि सिद्ध नहीं होंगी ? स्पष्ट रूप में सिद्ध होगी । और ऐसी सृष्टि को बनानेवाला भी जैसा तैसा सामान्य व्यक्ति नहीं परन्तु ईश्वर माना जाता है तो ईश्वर भी अज्ञानी—अपूर्ण—अनभिज्ञ—अननुभवी—अंजान ही माना जाएगा । इन कलंकों से कलंकित ईश्वर का स्वरूप कितना भद्दा हो जाएगा ? इसकी कोई कल्पना ही नहीं कर सकता । जब ईश्वर के विषय की पूज्यता—सद्भावना ही नष्ट हो जाएगी तो फिर शेष क्या बचेगा ? और कलंकों से कलंकित को ही ईश्वर मानना हो तो फिर सामान्य व्यक्ति को क्यों न माना जाय ? ऐसे व्यक्ति जगत में कितने हैं ? लाखों करोडों हैं । तो क्या लाखों—करोडों सभी ईश्वर कहलाएंगे ? और सभी क्या सृष्टि के कर्ता कहलाएंगे ? यह कैसे संभव हो सकता है । फिर तो अव्यवस्था खडी हो जाएगी । यह बहुत ही भद्दा लगेगा । इसलिए इतनी लम्बी बात बढाने और बिगाडने की अपेक्षा सीधा ही क्यों न मान लिया जाय कि... संसार में सभी जीव स्व—स्व कर्मानुसार सुखी—दुःखी बनते हैं । ईश्वर कहीं बीच में आते ही नहीं है । ईश्वर तो उपास्य—आराध्य तत्त्व है । वह इस सृष्टि से परे है । उसे न तो बनाने की आवश्यकता है और न ही चलाने की आवश्यकता है । न ही बिगाडने की आवश्यकता है । इस संसार में अजीव सृष्टि जो अनादि—अनन्त नित्य शाश्वत है । और जीव सृष्टि स्वयं स्व-स्व-कृत कर्मानुसारी सुखी—दुःखी है । आखिर सुखी भी है तो जीव ही है... उसने जैसे शुभ कर्म किये उसके कारण वह सुखी है, और उस जीव ने जैसे अशुभ कर्म किये हैं उसके कारण वह दुःखी है । अपने किये हुए कर्मों का फल वह भुगत रहा है । बस इतनी सी सीधी सरल बात है । ऐसा स्वीकारने में कहीं कोई आपत्ति नहीं है । फिर निरर्थक बात को लम्बी—चौडी घुमाकर उसे विकृत करके ईश्वर को दोषित—कलंकित करके मानने की आवश्यकता ही कहाँ रहती है ?

जिस तरह संसार में विषमता देखी जाती है उसी तरह विचित्रता भी बडी भारी देखी जाती है । और यह विचित्रता क्या है ? यह विषमता के कारण ही फैली हुई है । इन सेंकडों

प्रकार की विषमताओं के कारण सृष्टि कितनी ज्यादा विचित्र लगती है । बडी अजीब सी विचित्र लगती है । बिचारे कृमि—कीट—पतंग आदि छोटे जीव—जंतुओं को देखकर ऐसा लगता है कि . . . ये बिचारे कैसे जीते होंगे ? इनकी स्थिति कितनी दयनीय है ? मनुष्य जो आहारादि खाकर मल—विष्टा बनाता है उसे . . . सूअर खाए और सूअर के शरीर का मांस फिर मनुष्य खाय यह कितनी विचित्र बात है । इन सेंकडों प्रकार की विषमताजन्य विचित्रताओं को दूर करने के लिए बनानेवाले को सोच—समझकर . . . समीचीन—समान रूप में ही बनाना चाहिए । यदि सचमुच ही कोई बनानेवाला हो तो ? और बनानेवाला सर्वशक्तिमान समर्थ हो तो उसे संपूर्ण संतुलित सृष्टि का निर्माण करना चाहिए । वैसा समर्थ—सर्वशक्तिमान जिसे ईश्वर कहा जाता है उसके सृष्टि करने के बावजूद भी सृष्टि की विषमता—विचित्रता दूर नहीं हुई तो फिर . . . मानवकृत कृति में तो समानता कहाँ संभव हो सकती है ?

अन्त में यह सृष्टि तो जैसी है वैसी है ही । यह सृष्टि भूतकाल में कभी भी समानतावाली . . . समीचिन थी ही नहीं । और हो भी नहीं सकती है । क्योंकि . . प्रत्येक जीवों के भिन्न भिन्न कर्म हैं । वे भिन्न भिन्न प्रकार के पापों को करके ही जीवों ने उपार्जित किये हैं । और उन पापकर्मों के विपाक के उदय में . . वे जीव भिन्न भिन्न प्रकार का दुःख भोगते हुए दुःखी बनें इसमें आश्चर्य ही क्या हो सकता है ? सृष्टि की विषमता—विचित्रता और विविधता का दोष ईश्वर पर डालने की जरूरत ही क्या है ? यह दोष स्पष्ट रूप में जीवकृत कर्म पर ही डालना चाहिए । और कर्म पर भी डालकर क्या फ़ायदा ? कर्म भी तो जड है । जड—पुद्गल के परमाणुओं से ही बने हुए पिण्ड रूप हैं । जड का दोष कहाँ तक निकालेंगे ? आखिर तो उन जड—पौद्गलिक कर्मों को बाँधनेवाला—करने वाला तो जीव ही है । फिर कहाँ प्रंश्न खडा होता है कि कर्म को दोष दें ? सचमुच तो जीव को ही दोष देना उचित है ।

हाँ, जीव तो अज्ञानी है, अनभिज्ञ है, अपूर्ण है, अधूरा है, अन्जान है ही . . अतः उसकी ऐसी विषम सृष्टि को देखकर विषमता—विचित्रता का दोष जीवों पर ही डाल दें तो कोई गलत नहीं होगा . . . वरना बिल्कुल सही होगा । जीव स्वयं ही इस कलंक से कलंकित है । इसलिए जैसा जीव—जैसे जीव के कर्म . . . बस, वैसी विषम—विचित्र सृष्टि बनने में कोई आश्चर्य भी नहीं हो सकता । यही शुद्ध स्वरूप है । लेकिन ईश्वर को तो इस निरर्थक कलंक से बचा सकते हैं । ईश्वर—परमेश्वर को तो सर्वथा निष्कलंक—शुद्ध—बुद्ध—सिद्ध ही रखना चाहिए । जब जीवों की दुःखमयी सृष्टि का कर्ता ईश्वर है ही नहीं और यही

वास्तविक—सच्चाई है तो फिर जबरदस्ती ईश्वर पर दोषारोपण करके ईश्वर के स्वरूप को कलंकित करना और उसमें भी सामान्य जीव से भी उसका स्तर नीचे उतार देना कहाँ तक उचित लगेगा ? कितना हास्यास्पद होगा ? अतः उपास्य आराध्य तत्त्व ईश्वर को सर्वथा निष्कलंक निर्दोष रूप में उसके वास्तविक स्वरूप में मानें इसी में सच्चाई है ।

## क्या जीव को भी ईश्वर ही बनाता है ?—

हमने अभी अजीव विषयक विचारणा की । जिसमें आकाशादि पदार्थों का विचार किया । जब आकाश और परमाणुओं आदि के निर्माण की बात भी ईश्वर में सिद्ध नहीं हो सकती है तो फिर . . . जीव को बनाने की बात भी कैसे सिद्ध होगी ? सर्वथा असंभव लगती है । यह चेतन—जीवात्मा कैसी है ? किस प्रकार का द्रव्य है ? कैसे इसके गुण हैं ? यह कैसा गुणात्मक पिण्ड है ? इस प्रकार चेतन जीवद्रव्य के बारे में यथार्थता—वास्तविकता देखने पर उसको बनाने की प्रक्रिया संभव हो ही नहीं सकती है । सर्वथा असंभव लगेगी । इस संसार में कितने जीव हैं ? अनन्त जीव हैं । अनन्त की संख्या उसे कहते हैं जिसका गिनने में कभी अन्त आ ही नहीं सकता है । इतने अनन्तानन्त जीव समस्त लोक में भरे पडे हैं । समस्त लोक में सब मिलाकर भी अनन्तानन्त हैं । निगोद में भी अनन्तानन्त हैं । सिद्धशीला पर पहुँचे हुए . . संसार से मुक्त ऐसे सिद्ध जीव भी अनन्त हैं । इस संसार के व्यवहार में चारों गति में भी अनन्त जीव हैं . . . इतना ही नहीं एक आलु—प्याज—लसून—गाजर आदि में ही अनन्त जीवों की सत्ता है । जीवों की इस अनन्त संख्या के सामने काल भी अनन्त ही है । तो क्या ऐसा समझना कि . . . अनन्त काल से ईश्वर अनन्त जीवों को बनाता ही गया ? और अभी कब तक बनाता जाएगा ? जब भूत काल में बनाते बनाते अनन्त काल बीत गया तो फिर आगे भी कितने अनन्त काल तक बनाता ही रहेगा ? और कितने भी काल तक बनाता रहे तो भी अनन्त की संख्या में क्या फरक पडेगा ? कितना फरक पडेगा ? समुद्र में से १ बूँद निकालो तो भी क्या और एक बूँद उसमें नई डाली भी जाय तो भी क्या फरक पडता है ?

यदि अनन्त काल से बनाते—बनाते ईश्वर अब भी यदि बनाता ही जा रहा है तो इसका अर्थ यह होता है कि . . . सृष्टि का कार्य अभी तक तो पूरा हुआ ही नहीं है । जब अनन्त काल के बीतने पर और बनाने की क्रिया निरंतर चलती रहने पर भी . . यदि सृष्टि रचना के कार्य की समाप्ति नहीं हो पाई तो फिर इस सृष्टि को सदा ही अपूर्ण गिननी पडेगी । और ऐसी अपूर्ण सृष्टि के कारण इसके करनेवाले कर्ता ईश्वर को फिर कैसे पूर्ण मानें ?

फिर ईश्वर को भी अपूर्ण ही मानना पडेगा, यदि वही कर्ता है तो । यदि ईश्वर सर्व शक्तिमान समर्थ कर्ता है तो फिर उसे सृष्टि रचना में अनन्त काल तो लगना ही नहीं चाहिए । उसका सृष्टि रचना का काल एवं कार्य समाप्त क्यों नहीं होता है ? आज भी कहीं स्थल भाग का समुद्र होता है और समुद्र भाग का स्थल रूप में निर्माण होता है । कल जहाँ नदी नहीं थी वहाँ आज नदी बन जाती है और आज जो नदी है वह सूख कर स्थलभाग बन जाती है । पुनः उस पर लोग खेती आदि करते रहते हैं । अतः पुनः पर्वतादि के बनने से तथा जीवों की संख्या वृद्धि होती रहने से क्या अभी भी सृष्टि का रचना क्रम जारी है ? यही मानना पडता है । संसार में प्रतिदिन . . . तो क्या प्रतिक्षण जीवों की उत्पत्ति सर्वत्र होती ही रहती है । सृष्टि में क्रियारहितता तो कभी भी नहीं आई और कभी आती भी नहीं हैं । सृष्टि सदा ही क्रियाशील सक्रिय ही रहती है । जीवों का जन्म—मरण सतत चालू ही रहता है । उत्पत्ति—नाश चलता ही रहता है । उत्पाद—व्यय यही पदार्थों का धर्म है । और उत्पाद—व्यय होते हुए भी मूलभूत चेतन जीव तथा पुद्गल परमाणुओं की सदा नित्यता बनी ही रहती है । यदि परमाणु नष्ट ही हो जाते तो फिर वापिस क्या रहता ? तो एक दिन ऐसा भी आ जाता कि सृष्टि का सर्वथा अभाव ही हो जाता ? यदि परमाणु और चेतनात्मा का नाश होता रहता . . . और काल तो अनन्त बीत गया है . . . परमाणु भी जगत में अनन्त हैं । जीवात्मा भी अनन्त हैं । और काल भी अनन्त है । बीतते हुए अनन्त काल के साथ अनन्त परमाणु और अनन्त चेतनाओं का नाश हो चुका होता तो आज तो कुछ भी शेष नहीं रहता । लेकिन अनन्त काल भूतकाल में बीतने के बावजूद आज भी पदार्थों की अनन्तता, जीवात्माओं की अनन्तता प्रत्यक्ष गोचर है । बस, यही सिद्ध करता है कि पदार्थों में उत्पाद—व्यय के कारण सिर्फ पर्यायों में परिवर्तन आता है . . . परन्तू मूलभूत द्रव्य में कोई परिवर्तन नहीं आता है । उसकी सत्ता तीनों काल में एक समान—एक जैसी ही बनी रहती है । क्योंकि प्राकृतिक नियम और व्यवस्था ही ऐसी है ।

अब गहराई से सोचिए . . . . कि . . . पदार्थों में उत्पाद—व्यय के कारण पर्यायें बदलती ही रहती है और द्रव्यस्वरूप स्थायी हो . . जो सदा ही रहता है । तथा परमाणुओं का संयोग—वियोग होता ही रहता है । परमाणुओं के संमिश्रण से पौद्गलिक पदार्थों का बनना निर्माण होना जारी ही रहता है । तथा उसी तरह परमाणुओं के विसर्जन वियोग से वापिस बने हुए पुद्गल द्रव्य का नाश होता ही रहता है । यह प्रक्रिया जब स्वाभाविक प्राकृतिक रूप में चलती ही रहती है तो फिर ईश्वर को करना क्या है ? सृष्टि रचना के कार्य में ईश्वर को करने की क्रिया रूप कोई कार्य रहता ही नहीं है । तो फिर निरर्थक ईश्वर को कर्ता कहकर उसका स्वरूप विकृत क्यों करना चाहिए ?

ईश्वर की महानता को नीचे उतारकर परमाणु के लेवल पर लाना कहाँ तक उचित गिना जाएगा ? ईश्वर के साथ यह अन्याय है । और इसके कारण ईश्वर के स्वरूप में असत्यता का आरोपण होगा इससे ईश्वर का स्वरूप ही विकृत हो जाएगा । वैसे भी ईश्वर का शुद्ध स्वरूप बिगाड कर अन्ध भक्तों ने काफी हद तक ज्यादा विकृत कर दिया है । यह मानव की बडी भारी भूल है । ईश्वर के प्रति मानवी का सबसे बडा अपराध भाव है । अतः मानव को चाहिए कि... सबसे पहले ईश्वर के स्वरूप में लाई हुई विकृति दूर करें ।

दूसरी आपत्ति यह आएगी कि... यदि परमाणुओं का सर्वथा नाश हो जाएगा तो फिर ईश्वर परमाणुओं के बिना सृष्टि रचना का कार्य कैसे करेंगे ? गेहूँ के आटे के बिना रोटी कैसे बनाएंगे ? मिट्टी के बिना घडे की रचना कुंभार कैसे करेगा ? वैसी ही हालत ईश्वर की भी हो जाएगी । परमाणुओं के अभाव में ईश्वर बेसहाय लाचार बन जाएंगे । फिर सृष्टि रचना का कार्य कैसे कर पाएंगे ? ईश्वर स्वयं तो परमाणुओं को निर्माण करते नहीं हैं । वे तो सिर्फ परमाणुओं का मात्र संयोग ही करते हैं । क्योंकि ईश्वर के पहले भी परमाणुओं का अस्तित्व तो था ही, यह पक्ष स्वीकारा गया है । और दूसरी तरफ परमाणुओं में संयोग—वियोग की स्वाभाविक क्रिया सदा चलती ही रहती है । यह संयोग—वियोग पदार्थों का बनना—बिगडना भी चलता ही रहता है । फिर कहाँ सवाल रहा ईश्वर के करने का ? इस तरह ईश्वर दोनों तरफ से फँसते हैं । यह और किसी कारण नहीं सिर्फ ईश्वर को रचयिता—कर्ता मानने के कारण है । यदि ईश्वर में से कर्तापने का विशेषण निकाल लें और सृष्टि बनाने की जिम्मेदारी ईश्वर पर न रखें, ईश्वर को सृष्टि रचना का निमित्त कारण भी यदि न मानें, और सर्जनहार—विसर्जनहार—पालनहार आदि भी न मानें तो ही ईश्वर का स्वरूप बच सकता है । विकृत नहीं होगा । और ईश्वर पर दोषारोपण भी नहीं होगा । न ही कालिमा लगेगी और न ही हल्का स्वरूप आएगा । अतः ईश्वर का निर्दोष स्वरूप निश्चित करना अत्यन्त आवश्यक है । और इसके लिए मुख्य कारणभूत सृष्टिकर्तृत्व के कारण को पूरी तरह तिलांजली देनी ही चाहिए ।

लेकिन, ईश्वरकर्तृत्ववादियों के लिए यह संभव नहीं हो सकेगा । क्योंकि ईश्वर में से कर्तृत्ववादिपना निकालना मतलब... किसी जीव में से प्राण निकालने जैसी परिस्थिति हो जाएगी । ईश्वर को और सृष्टि को एक ही सिक्के के दो पहलु ईश्वरकर्तृत्वादियों ने मान लिए है । इससे दोनों एक दूसरे के पर्याय जैसे एक ही बन चुके हैं । अब यदि ईश्वर को न मानें तो सृष्टि—जगत् के अस्तित्व को मानने में आपत्ति आएगी और दूसरी तरफ यदि सृष्टि—जगत् को न मानें या फिर उसे ईश्वर द्वारा कृत रचना न माने तो ईश्वर के और सृष्टि

के दोनों के स्वरूप में आपत्ति आती है। ऐसी स्थिति में दोनों ही मानना और दोनों ही एक दूसरे के पूरक है, पर्याय जैसे ही बन चुके हैं। दोनों एक दूसरे के बिना नहीं रह सकते हैं ऐसी स्थिति बना दी गई है। अतः ईश्वर के बिना सृष्टि नहीं और सृष्टि रचना किये बिना ईश्वर नहीं ऐसी विचारधारा बना बैठे हैं। व्याप्ति भी ऐसी ही होगी क्या ? जहाँ जहाँ ईश्वर वहाँ वहाँ सृष्टि ? या जहाँ जहाँ सृष्टि वहाँ वहाँ ईश्वर ? क्या और कैसे मानना ? इन दोनों प्रकार की अन्वयव्याप्ति भी नहीं बैठेगी। क्योंकि अतिव्याप्ति दोष आएगा। जहाँ जहाँ ईश्वर वहाँ वहाँ सृष्टि कहने में निर्गुण ब्रह्म, विदेह मुक्त ईश्वर में सृष्टि रचना का अभाव आने पर भी ईश्वरत्व तो वहाँ भी रहता ही है। ईश्वरत्व होते हुए भी सृष्टि कर्तृत्व वहाँ नहीं रहता है। अतः सृष्टिकर्तृत्व के बिना भी ईश्वरत्व रहता है तो वहाँ अतिव्याप्ति दोषापत्ति आती है। इसी तरह दूसरे पक्ष में— जहाँ जहाँ सृष्टि रहती है वहाँ वहाँ ईश्वरकर्तृत्व रहता ही है। यह साहचर्य भी अतिव्याप्ति दोषग्रस्त है। आकाश की सृष्टि, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, गति—स्थिति सहायक द्रव्य, परमाणु द्रव्य, चेतन जीवात्मा आदि अनादि—अनन्त—अनुत्पन्न—शाश्वत द्रव्यों की रचना जो ईश्वर कृत ही नहीं है। अर्थात् ईश्वर के करने के बिना भी इन द्रव्यों की स्थिति है। जो त्रैकालिक है। अतः इन्हें अनुत्पन्न द्रव्य माना है। और जो अनुत्पन्न होते हैं वे अविनाशी ही होते हैं। ऐसे अनुत्पन्न—अविनाशी द्रव्य अनादि—अनन्त स्थिति वाले होते हैं अतः वे किसी भी व्यक्ति या ईश्वर द्वारा भी बनाए हुए नहीं होते हैं। इसलिए इनकी रचना का निरर्थक श्रेय ईश्वर को लेने का या देने का प्रयत्न बालिश प्रयत्न होगा। जब ईश्वर के बिना भी इन पदार्थों का अस्तित्व सदा है ही तब फिर ईश्वर को बनाने का श्रेय कैसे मिल सकता है ? संभव ही नहीं है। और इन्हीं पाँच मुख्य पदार्थों के समूहात्मक स्वरूप को ही विश्व—ब्रह्माण्ड कहते हैं फिर क्यों ईश्वर पर रचना का भार लादना ?

## ईश्वर अनादि—अनन्त है या सृष्टि ?—

यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है। इसमें किसको अनादि—अनन्त—अनुत्पन्न—अविनाशी मानें ? ईश्वर को या सृष्टि को ? यदि प्रथम पक्ष ईश्वर को अनादि—अनन्त—अनुत्पन्न—अविनाशी मानते हैं तो उसी के साथ ईश्वर को भी ठीक वैसा ही मानना पडेगा। क्योंकि ईश्वर का अस्तित्व इस सृष्टि—संसार में ही है या इससे बाहर भी ? सृष्टि—संसार से बाहर है ही क्या ? वह कहाँ ? जब स्थान ही निश्चित होना संभव नहीं है तो फिर वहाँ ईश्वर का अस्तित्व कैसे मानें ? जैन मतानुसार तो लोक

यह सृष्टि—संसार स्वरूप है और इसके बाहर अर्थात् १४ राजलोक क्षेत्र के बाहर अलोक है। यह अनन्त है। अलोक पूर्ण पंचास्तिकायात्मक नहीं है। वहाँ तो सिर्फ एक ही आकाश द्रव्य है। जो सबका आश्रयदाता है। आधारभूत है। लेकिन आश्रय लेनेवाला, आधेयभूत पदार्थ वहाँ कोई नहीं है। गति—स्थिति सहायक धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय आदि किसी का भी अस्तित्व वहाँ है ही नहीं। इसलिए— जीव परमाणु आदि किसी की भी गति स्थिति वहाँ संभव ही नहीं है। इसकी चर्चा इससे पहले भी कर चुके हैं। जीव—परमाणु की गति—स्थिति वहाँ नहीं है तो ईश्वर की भी गति—स्थिति वहाँ संभव नहीं है। इसलिए सृष्टि—संसार के बाहर तो ईश्वर संभव ही नहीं है। अतः ईश्वर के अस्तित्व के लिए सृष्टि—संसार का भी त्रैकालिक अस्तित्व मानना अनिवार्य हो जाएगा। लेकिन सृष्टि का त्रैकालिक अस्तित्व मानने के लिए ईश्वर का होना अनिवार्य नहीं है। क्योंकि—आकाशादि ईश्वर प्रयत्न के बिना भी अनादि—अनन्त अनुत्पन्न द्रव्यों की स्थिति सदा ही है। अतः उनको उत्पन्न करने—बनाने का सवाल ही खडा नहीं होता है। अतः ईश्वर के बिना सृष्टि रह सकती है। लेकिन अफसोस कि ईश्वर सृष्टि किये बिना अपना अस्तित्व नहीं रख पाता है।

सृष्टि जड प्रधान है क्योंकि जडपदार्थों का ही अस्तित्व ज्यादा है। उनमें चेतन तो सिर्फ एक ही द्रव्य है। शेष चारों अजीव द्रव्य हैं। जड—अजीव प्रधान इस सृष्टि में ईश्वर भी चेतन जीव स्वरूप है। चैतन्य गत ज्ञानादि गुण ही ईश्वर के गुण हैं। अतः जीव और ईश्वर में सादृश्यता जरूर है। परन्तु ईश्वर और अजीव—पदार्थों में सादृश्यता कम है। उनके गुणों की समानता होने के अभाव के कारण।

यदि सृष्टि को ईश्वर कृत ही मानती हो तो फिर अनादि—अनन्त, अनुत्पन्न—अविनाशी नहीं मान सकेंगे। क्योंकि उत्पन्न द्रव्य अनादि नहीं होता है। जो जो अनादि द्रव्य होते हैं वे अनुत्पन्न ही होते हैं और जो जो अनुत्पन्न द्रव्य होते हैं वे अनादि ही होते हैं। ऐसा सर्वसाधारण नियम है। आकाशात्मादि अनुत्पन्न द्रव्य हैं अतः वे अनादि हैं। और अनादि हैं अतः अनुत्पन्न द्रव्य हैं। लेकिन ईश्वर यदि उत्पन्न है तो वह अनादि नहीं है। और जो अनादि नहीं है वह अनुत्पन्न भी नहीं है। ईश्वर की प्रक्रिया बताते समय यह स्पष्ट बताया गया है कि . . . "**एकोऽहं बहु स्याम् प्रजायेय**" मैं अकेला हूँ, अब बहुरूप बनूँ, अनेक रूपधारी बनूँ . . . इसके लिए प्रजोत्पत्ति करूँ। तब जाकर जगत् उत्पत्ति करने के लिए ब्रह्म ने ब्रह्मा को उत्पन्न किया। फिर विराट पुरुष ईश्वर उत्पन्न हुआ। उसने आगे सृष्टि की रचना की। क्रमशः सब कुछ बनाते गए। इस तरह सृष्टि उत्पन्न हुई। बनाई गई सृष्टि के लिए

पालन करने की व्यवस्था के लिए विष्णु का स्वरूप स्थापित किया गया, और अन्त में प्रलय विनाश करने के लिए... शंकर का स्वरूप स्थापित किया गया । इस तरह सृष्टि और कर्ता ईश्वर दोनों की उत्पत्ति सिद्ध होती है । तो फिर दोनों का अन्त नाश भी तो मानना पडेगा। जो कि माना गया है। प्रलय के रूप में। इससे दोनों की उत्पत्ति—नाश—सादि—सान्तता सिद्ध होती है ।

लेकिन महाप्रलय हो जाने के बाद आकाश, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, परमाणु, तथा आत्माएं इन सबका क्या होगा ? क्या इन सबका भी नाश होगा ? ऐसा माना गया है ? आकाश का नाश कैसे संभव है ? फिर भी वैदिक मान्यता में माना गया है । जबकि इन पाँचों द्रव्यों का नाश होता ही नहीं है । सृष्टि सदाकाल एक समान ही रहती है । अपने नित्य—स्थायी पदार्थों की शाश्वतता के कारण । लेकिन कर्ता—ईश्वर की स्थिति नित्य शाश्वत नहीं है ।

अब जब ईश्वर की उत्पत्ति के पहले भी आकाश आत्मादि द्रव्यों की सत्ता—अस्तित्व है और महाप्रलयरूप सृष्टि के सर्वनाश के बाद भी आकाशादि नित्य द्रव्यों का अस्तित्व रहता ही है तो फिर सृष्टि के कारणभूत ईश्वर का आधार कहाँ सिद्ध होता है ? उसमें तो ईश्वर की कारणता सिद्ध होती ही नहीं है तो फिर निरर्थक मिथ्या भाव लाकर ईश्वर को ही सृष्टि का कारण क्यों मानना चाहिए ? ऐसा मानने में दोनों की गरिमा को आंच आती है और स्वरूप में विकृति आती है । इससे अच्छा तो यही होगा कि... ईश्वर और सृष्टि दोनों के बीच कोई कार्य—कारणभाव या जन्य—जनकभाव का संबंध मानना ही नही चाहिए । इससे सत्य स्वरूप स्वीकारने में कोई बाधा नहीं आएगी । और यथार्थता स्वीकारने से... विकृति सर्वथा नहीं आएगी । और विकृतिरहित ही शुद्ध प्राकृतिक स्वरूप दोनों का स्पष्ट होगा । इसी में लाभ है ।

## ईश्वर सशरीरी है या अशरीरी ?—

किसी की भी रचना करने के लिए पहले करनेवाले की भी रचना होनी आवश्यक है । क्रिया को करने वाले को कर्ता कहते हैं । क्रिया के कारण कर्ता और कर्ता के कारण क्रिया ये दोनों परस्पर आधारित हैं । यदि क्रिया होती है तो कर्ता निश्चित अपेक्षित है । और कर्ता हो तो ही क्रिया संभव है । सृष्टि की रचना यह क्रियात्मक स्वरूप है । बिना क्रिया के रचना संभव नहीं है । तो पहले यह सिद्ध करना चाहिए कि सृष्टि की रचना हुई है या नहीं ? यदि रचना निर्माणात्मक कार्य ही नहीं हो तो कर्ता की अपेक्षा ही नहीं है । और यदि कर्ता कोई क्रिया ऐसी हो कि जो निर्माणात्मक कार्य की उत्पत्ति करता हो तो तो

ठीक है कि उत्पन्न हो। जैसे—कई लोग मिलकर एक मकान बांधने की क्रिया करते हैं। उस क्रिया में सहायक घटक द्रव्य भी तो है ही। ईंट—चूना—मिट्टी—रेती—कंकड—सिमेंट—पानी आदि पदार्थों की उपयोगिता अनिवार्य है। व्यक्ति कर्ता है। वे मिश्रण की क्रिया करके... फिर उस घोल को ढाँचे में ढालने की क्रिया करेंगे तब जाकर उस क्रिया के फलस्वरूप भवन का निर्माण होता है। तो क्या ईश्वर भी इसी तरह की क्रिया करके ही सृष्टि की रचना करता है? तो वह क्रिया किस प्रकार की? और उस क्रिया में सहायक घटक द्रव्य कौन से हैं? फिर ऐसी कौनसी क्रिया की, किस प्रकार की क्रिया थी? ईश्वर ने अकेले ही सारी क्रिया की या फिर अनेकों ने साथ मिलकर क्रिया की? या क्या हुआ? कि जिसके परिणाम स्वरूप इस सृष्टि का निर्माण हुआ। उदाहरण के लिए हिमालय या समुद्रादि लीजिए... पृथ्वी आदि लीजिए। क्योंकि ये ही आसान कार्य लगते हैं। इसलिए शायद इसकी संभावना लगती है कि ईश्वर ने किया है। क्योंकि आत्मा—आकाशादि पदार्थों की रचना का यदि विचार करेंगे तो क्रिया और घटक द्रव्य दोनों की असंभावना स्पष्ट प्रतीत होगी। इसलिए आसान सरल पदार्थ पृथ्वी—पहाड समुद्र—नदियाँ आदि का विचार किया जाय।

पहाड—पर्वत कैसे बनते हैं? इसके लिए कैसे घटक द्रव्यों की आवश्यकता है? और फिर किस प्रकार की क्रिया अपेक्षित है। इनका विचार आवश्यक है। यदि सिर्फ.. यही कहा जाय कि... ईश्वर की लीला का... क्रिया का विचार मानवी कर ही नहीं सकता है। तो फिर इन बातों से निरर्थकता सिद्ध हो जाएगी। विज्ञान ने बताया कि... हाइड्रोजन और ओक्सीजन के परमाणुओं का निश्चित संख्या में संमिश्रण होने पर पानी निर्माण होता है। अतः ये पानी के $(H_2O)$ घटक द्रव्य हैं। और संमिश्रण की क्रिया से पानी निर्माण होता है। वहाँ वहाँ उन घटक द्रव्यों को इकट्ठे करनेवाला—फिर मिश्रण की क्रिया करके बनानेवाला कहाँ कौन देखा गया है? आप प्रयोग शाला में बना सकते हो। पानी के विषय का यह सिद्धान्त गलत—झूठा सिद्ध नहीं होगा। लेकिन बादलों से बरसता हुआ पानी.. जो बनता ही जाता है, वहाँ कौन बैठा है जो इन घटक द्रव्यों को इकट्ठे करें, और मिश्रण की क्रिया सतत करता रहें, फिर निर्माण करके ऊपर से बरसाता रहे। ऐसा कोई कर्ता देखा नहीं गया है। पाया नहीं गया है।

इसी तरह स्थल भाग पर नदी—तालाब—समुद्र बनें.... पृथ्वीतल के नीचे से पानी निकलता है और कुएँ—बावडियों के स्रोत से पानी ऊपर आता है। तो पृथ्वी के नीचे बडी विशाल ऐसी प्रयोगशाला लेकर कोई बैठा हो यह भी संभव नहीं है। इसी तरह नदी

किसने बहाई ? रास्ता किसने बताया ? या बनाया ? कोई भी दृष्ट या अदृष्ट कर्ता दृष्टिगोचर नहीं हुआ । क्योंकि पानी का अपना ही स्वभाव रहा है कि—निम्न प्रदेश में गति करना । बस, प्रवाही—द्रव पदार्थ पानी को निम्न प्रदेश—नीचे के ढाल वाला मिल गया वह बहता ही गया और जाते—जाते . . . वह समुद्र में मिल गया ।

इस तरह नदी बन गई । नदी उस पानी के बहने के रास्ते को संज्ञा दी गई है । यदि निश्चित स्थान पर ही पानी के बहाव को बहाना हो तो मनुष्य नहरें बनाता है । उसमें वह ज्ञान है । मनुष्य जमीन खोद कर—ठीक दिशा में ठीक रास्ते को खोदने आदि की क्रिया करके बनाता है और फिर पानी को बहाता है इस तरह नहरें बनती है । ये नहरें मानव निर्मित—सर्जित हैं । लेकिन नदी मानव निर्मित—सर्जित नहीं वह प्राकृतिक है । जो कर्ता की क्रिया से ही जन्य नहीं है तो फिर कर्ता को मानना और उसे ही यश देना आदि मिथ्या—असत्य सिद्ध होगा । जब नदी के लिए भी कर्ता और क्रिया मानना सिद्ध नहीं हो सकता है तो फिर समुद्र और हिमालय जैसे के लिए कैसे सिद्ध होगा ? समुद्र जो इतना अपार, असीम और अमाप है उसके लिए कैसे कर्ता को मानें ? कैसी क्रिया को मानें ? क्रिया फिर भी एक और एक जैसी हो सकती है । लेकिन कर्ता अनेक ही मानने पड़ेंगे । लेकिन अनेक ईश्वरों को कर्ता मानने जाने पर अनवस्था दोष की आपत्ति आएगी । कितने ईश्वर मानें ? फिर उन ईश्वरों का कर्ता कौन ? उन ईश्वरों को किसने बनाया ? एक ईश्वर को उसके पहले के दूसरे ईश्वर ने बनाया । दूसरे को तीसरे ने तीसरे को चौथे ने इस तरह आगे बढते ही जाएँ । कोई अन्त ही नहीं आएगा । इस तरह अनन्त ईश्वरों को मानने की अनवस्था आएगी । दूसरी तरफ जब एक ईश्वर से भी सिद्ध नहीं होता है तो फिर अनेक ईश्वरों को मानने पर वैय्यर्थतापत्ति आएगी ।

समस्त पृथ्वी—पर्वत मालाएँ आदि बनाने के लिए कैसी क्रिया ? किस प्रकार की क्रिया, कितनी क्रिया ईश्वर ने की ? वह सब कहाँ की ? क्योंकि पृथ्वी ही नहीं थी तब कहाँ ? आकाश में की ? यह भी असम्भव लगता है । ठीक है, क्रिया की तो वह क्रिया किन घटक द्रव्यों को मिलाने की की, जिससे पृथ्वी बनी ? क्या आकाश में ईश्वर जब पृथ्वी बना रहे थे वहाँ इतने अनन्त पार्थिव—पृथ्वी बनने योग्य परमाणु उपलब्ध थे या नहीं ? या परमाणुओं को भी ईश्वर ने बनाया और फिर उनसे पृथ्वी बनाई ? जैसे गेहूँ द्रव्य हो, उसका आटा हो तो ही रोटी बन सकती है । बिना आटे के तो रोटी संभव ही नहीं है । यहाँ पर रोटी बनाना मानव के लिए संभव है । गेहूँ पीसकर आटा बनाना भी संभव है । और गेहूँ भी खेती द्वारा बनाना संभव है । इसलिए कहाँ बीच में ईश्वर की आवश्यकता

नहीं पडी। परन्तु कुम्हार की तरह यदि मिट्टी से घडा बनाने की तरह ईश्वर की पृथ्वी—पर्वतादि बनाने विषयक क्रिया का कोई ख्याल स्पष्ट नहीं आ पाता है। मिट्टी तो तैयार ही है। उसे लेकर कुम्हार घडा बना सकता है। लेकिन कुम्हार मिट्टी नहीं बनाता है। तो ईश्वर भी तैयार परमाणुओं को लेकर फिर कुम्हार की तरह पृथ्वी बनाता है ? तो फिर इतने परमाणुओं को किसने बनाया ? क्या परमाणुओं को बनाने के लिए कोई अन्य ईश्वर मानें ? और फिर उस ईश्वर को बनाने वाला किस को मानें ? फिर वापिस अनवस्था दोषापत्ति आकर खडी रहेगी। इस तरह ईश्वर कर्तृत्व पक्ष दोषों से भरा ही सिद्ध होगा। अतः इन दोषों से बचने के लिए क्या करें ?

दूसरी तरफ परमाणुओं को नित्य बताया जाता है तो फिर नित्य पदार्थों की उत्पत्ति का प्रश्न ही कहाँ खडा होता है ? यदि उत्पत्ति माने तो नाश भी मानना ही पडेगा। और उत्पत्ति—नाश आया तो फिर अनादि—अनुत्पन्नपना कैसे आएगा ? और इनके अभाव में नित्यता कैसे रहेगी ? और यदि पार्थिव परमाणुओं की ही नित्यता नहीं सिद्ध हो सकेगी तो ईश्वर बनाएंगे कैसे ? यदि परमाणुओं की अनित्यता मानें तो प्रथम ईश्वर के लिए परमाणु बनाने की बात बैठानी पडेगी। फिर उन परमाणुओं के संमिश्रण से इस पृथ्वी—पर्वत की उत्पत्ति माननी पडेगी। यदि यह पक्ष भी मानने जाएँ तो ... परमाणुओं की उत्पत्ति किस घटक द्रव्य में से की ? परमाणुओं के पहले तो कुछ भी नहीं था ? शून्य ही था। तो क्या शून्य से यह सारी सृष्टि उत्पन्न मानें ? पृथ्वी—पर्वत—समुद्र—आकाश आदि सभी पदार्थों की उत्पत्ति क्या शून्य से मानें ? तो फिर शून्य क्या है ? शून्य सत् है या असत् ? भाव पदार्थ है या अभाव पदार्थ ? तो क्या अभाव से भाव की उत्पत्ति होती है ? शून्य से जगत् का सर्जन मानें ? अभाव से भाव पदार्थ की उत्पत्ति मानें ? यह सब असंभव को संभव करने की बातें हैं। असत् से सत् की उत्पत्ति मानने के लिए कोई आधार नहीं मिल रहा है। फिर तो आकाशादि सभी पदार्थों की उत्पत्ति असत्—अभाव से ही माननी पडेगी। क्योंकि परमाणुओं की सत्ता ही सिद्ध नहीं होती है। अब बिना परमाणुओं के असत्—अभावात्मक शून्य में से ईश्वर के लिए पृथ्वी—पर्वतादि बनाने की क्रिया क्या होगी ? कैसी होगी ? क्रिया का भी अस्तित्व मानना या नहीं मानना ? यह भी प्रश्न खडा होता है। मिट्टि है तो ही कुम्हार घडा बनाने की क्रिया कर सकता है। लेकिन मिट्टी—पानी आदि द्रव्यों के सर्वथा अभाव में घड़े को उत्पन्न करने की क्रिया कुम्हार कैसे करेगा ? क्या करेगा ? फिर वही जादुई सृष्टि की बात फिर खडी होगी। कुरान में तो इस्लाम ने यह सब लम्बी झंझट न रखते हुए... बस, जादूई सृष्टि ही मान ली है। अल्ला खुदा ने ... "कुंद" या ऐसा कुछ कह दिया—बोल दिया और बोलते सब सृष्टि बन गई। उनके यहाँ तो इस

प्रकार की जादूई सृष्टि ही मानी गई है । अतः मानव को विचार करने की आवश्यकता ही नहीं रहती है । इन्सान को इस विषय में विचार करने के लिए... सोचने का ही सर्वथा निषेध किया है । ईश्वर–अल्ला कौन है ? कैसा है ? क्या करता है ? उसकी किस प्रकार की क्रिया है कैसे सृष्टि बनाता है आदि सब बुद्धि के दरवाजे ही बंद कर दिये हैं । लेकिन इतने से ये बातें सुसंगत कहाँ सिद्ध होती हैं ? फिर मनुष्य के लिए प्रश्न चिन्ह सदा ही बना रहता है । और वास्तविक श्रद्धा–सद्भाव भी ईश्वर के प्रति जैसा चाहिए वैसा उत्पन्न नहीं हो पाता है ।

## जगत् मिथ्या है या सत्य ?—

इतनी चर्चा जो ईश्वर और सृष्टि के विषय में की है... इससे निष्कर्ष क्या निकलता है ? क्या यह सब बौद्धिक विलास मात्र है ? नहीं ! सत्य की चरम सीमा तक पहुँचने के सोपान हैं । सत्य की चरम सीमा पाना मानवी का लक्ष्य है । सृष्टि और ईश्वर ये दोनों पदार्थ हमारे सत्य के केन्द्रीभूत विषय हैं । जिस ईश्वर की श्रद्धा पर... उपासना पर सारी जिन्दगी हम बिता देते हैं क्या उस ईश्वर के यथार्थ–सम्यग् स्वरूप को हमें नहीं पहचानना चाहिए ? क्यों नहीं ? सत्य के द्वार बन्द नहीं करने चाहिए ।

आइए, यहाँ थोडी विचारणा यह भी कर लें कि.... क्या यह सृष्टि... जगत् सत्य है कि मिथ्या ? ईश्वर तत्त्व है सही । परन्तु वह कैसा है यह स्वरूप निश्चित करना है । वेद–वेदान्तों के हिन्दू शास्त्रों में **"ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या"** इस सूत्र से सृष्टि बिल्कुल मिथ्या ठहराई गई है । ब्रह्म को तो संपूर्ण सत्य बताया गया है । आश्चर्य की बात तो यहाँ यह है कि... ऐसे सत्यभूत ईश्वर को सत्य ठहराने के बाद उसके द्वारा बनाई गई सृष्टि को क्यों मिथ्या ठहराया गया है यह बात समझ में नहीं आती है । जबकि ईश्वर और सृष्टि के बीच जन्य–जनक भाव–कार्य–कारण भाव सम्बन्ध दिया गया है । सृष्टि के कारण ईश्वर का महत्व – क्योंकि ईश्वर कर्ता है । उसी के द्वारा सृष्टि का निर्माण बताया जाता है । और ईश्वर के द्वारा इस सृष्टि का महत्व । ये दोनों एक दूसरे के पूरक हैं ऐसा कहकर इन दोनों को महत्व दिया गया है । इस तरह ईश्वर और सृष्टि दोनों को एक सिक्के के दोनों बाजू बताकर एकाकारता का जो स्वरूप दिया गया है अब उसके बाद सृष्टि को मिथ्या कहना यह कहाँ तक उचित है ? हाँ, यदि सृष्टि को ईश्वर निर्मित नहीं बताया होता और बाद में सृष्टि को मिथ्या माना होता तो वहाँ तक तो बात कुछ अंश में विचारणीय भी होती । लेकिन एक तरफ तो ईश्वर को इतना ऊँचा दर्जा दिया गया है । उसे सर्व शक्तिमान–समर्थ–सर्व व्यापक आदि कई बातें कह कर सृष्टिकर्ता के रूप में महत्व दिया गया है । ईश्वर के स्वरूप

में अधिकांश बातें तो सृष्टिकर्ता होने के कारण ही भरी गई है । जगत् की रचना करने के कारण ही काफी विशेषण ईश्वर में भर दिये गए हैं । भले यह सृष्टि कर्ता ईश्वर ब्रह्म तत्त्व से भिन्न है । लेकिन ब्रह्म द्वारा ही उत्पन्न है । ब्रह्म मूलभूत केन्द्र में कारण रूप है । ब्रह्म–ब्रह्मा–ईश्वर और सृष्टि रचना इनमें बराबर कडी जुडी है ।

जब वह सृष्टिकर्ता सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान समर्थ है तो फिर ऐसे सर्वज्ञ क्या मिथ्या सृष्टि बनाएँगे ? मिथ्या अर्थात् अभावात्मक स्वरूप है या झूठ स्वरूप है या शून्य स्वरूप है या भ्रम स्वरूप है या स्वप्न तुल्यता है या क्या अर्थ है ? तो क्या सर्वज्ञ ईश्वर... बनाते समय भाविकाल को नहीं जानते थे ? त्रिकालज्ञानी सर्वज्ञ होते हैं । यदि ईश्वर सर्वज्ञ हैं तो उनका ज्ञान भी त्रैकालिक एवं सर्व द्रव्य–क्षेत्र–काल–भाव एवं पर्यायों का ज्ञाता होना ही चाहिए । और ऐसे ईश्वर भावि में मिथ्या कही जानेवाली शून्यात्मक–अभावात्मक सृष्टि की रचना क्यों करेंगे ? निरर्थक श्रम और आगे कुछ भी नहीं । सृष्टि को मिथ्या–शून्य या अभावात्मक मानने से ईश्वर के सर्जन की क्रिया में निरर्थकतापत्ति दोष आएगा । एक तरफ तो सृष्टि की रचना का बडा ही जटिल प्रश्न हल नहीं हो रहा है । इस गूढता को इस तरह ताने–बाने की तरह गूंथा गया है कि... उसे समझना ही मुश्किल है । और सिद्ध न होते हुए भी जबरदस्ती ईश्वर में सृष्टि के सर्जन की बात–किसी तरह तोड–मरोडकर बैठाई जाती है । उसे तर्क–युक्तियों से सिद्ध करनें में रात दिन–आसमान–जमीन एक कर दिये गए... और अन्त में आते आते..... सृष्टि को मिथ्या कह देना.... यह कहाँ तक उचित होगा ? सर्वज्ञ होकर ईश्वर शून्यात्मक–अभावात्मक सृष्टि का सर्जन क्यों करेगा ? कैसे करेगा ? शून्यात्मक या अभावात्मक में जब कुछ होता ही नहीं है तो फिर सर्जन क्या रहता है ? सर्जन भी एक क्रिया है । क्रिया परिणाम कार्य है । यहाँ अफसोस इस बात का है कि ... क्रिया को मानना है, क्रिया के कर्ता (ईश्वर) को भी मानना है । और कार्य स्वरूप सृष्टि को भी मानना तो है ही... लेकिन उस सृष्टि को मिथ्या कहना है । शून्यात्मक–अभावात्मक कहना है । क्या आप कुम्हार, मिट्टी, पानी, मिश्रण, चाक–दण्डादि साधन एवं बनाने की क्रिया आदि सबको सत्य मानों, अन्त में घडे की भी उत्पत्ति मानों और फिर उसे मिथ्या–शून्य अभावात्मक कहो तो दुनिया कैसे मान लेगी ? अरे ! दुनिया की बात तो दूर रही लेकिन खुद बनानेवाला ईश्वर भी (कुम्हार भी) अपने सर्जन को मिथ्या–या शून्य कैसे कहेगा ? क्या बनाकर भी यह कहना कि मैंने शून्य अभाव बनाया है ? बहुत समय लगाकर बडे भारी परिश्रम पूर्वक जो भी कुछ बनाया है वह कुछ भी नहीं है । वह शून्य है । यह बात कैसी अजीब लगती है । तो फिर ईश्वर में सृष्टि के सर्जन की क्रिया मानने के

बाद भी और कार्योत्पत्ति भी मानने के बाद मिथ्या—शून्य या अभावात्मक कहना यह तो सर्जनहार के अपमान की बात हुई। इससे तो ईश्वर की सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता, सर्वसामर्थ्यता आदि सेंकडों विशेषणों में वैयर्थतापत्ति आएगी। ईश्वर की सर्वज्ञता आदि में ही शंका खडी हो जाएगी। या फिर सृष्टि विषयक सर्जन में अति—दोष या अपूर्णता सिद्ध होगी।

यदि मिथ्या का अर्थ शून्य—अभावात्मक न करके "स्वप्नोपम" या भ्रम—भ्रान्ति अर्थ करने से क्या स्वरूप आता है उसका विचार करें।— स्वप्नोपम अर्थात् स्वप्न के जैसी पृथ्वी कहने से .. जैसे स्वप्न आते हैं उसमें सबकुछ दिखाई देता है और आँख खुलने के बाद देखे हुए में से कोई वास्तविकता नहीं रहती है, ठीक वैसे ही सृष्टि के स्वरूप को स्वप्नोपम मानने पर स्वप्नतुल्य भ्रान्ति खडी होगी। देखे हुए स्वप्न में जैसे कोई सच्चाई नहीं होती है, आँखे खोलने पर स्वप्नागत पदार्थ दृष्टिगोचर नहीं होते हैं, क्या वैसी ही यह सष्टि है ? ऐसा भी मिथ्या शब्द का अर्थ करने से ... ईश्वर के सर्जन कार्य रूप सृष्टि की वास्तविकता—सत्यता नष्ट हो जाएगी। सृष्टि बनवाई आपने ईश्वर के हाथों से। बनने की सारी क्रिया को वास्तविक सत्य बताया गया और बनने के बाद उसी कार्य रूप सृष्टि को मिथ्या या अवास्तविक—असत्य—कह देना कहाँ तक उचित है ? मिथ्या शब्द के ऐसे अवास्तविक—असत्य भ्रम—भ्रान्ति स्वप्नोपम इत्यादि अर्थ करने से ईश्वर सर्जित सृष्टि की व्यर्थता सिद्ध हो जाएगी। अच्छा तो यही होता कि जब ऐसी सृष्टि को मिथ्या कहना ही था तो फिर ईश्वर निर्मित—सर्जित ही नहीं माननी थी। अच्छा चलो, ईश्वरनिर्मित न भी हो और अन्य किसी कारण से उत्पन्न हो सृष्टि फिर उसे मिथ्या मानना कहाँ तक उचित होगा ? जब मिथ्या ही मानना है तो पहले से उत्पन्न ही न मानें तो और भी अच्छा है। अगर सृष्टि की उत्पत्ति ही न मानें तो जिस ईश्वर को उत्पत्ति का कारक—कारण माना गया है उसका क्या होगा ? क्यों कि सृष्टि करने—बनाने के कारण ही ईश्वर का अस्तित्व, इतना महत्व आदि है। अतः फिर तो ईश्वर को भी मानने की आवश्यकता नहीं रहेगी। इस तरह काफी लम्बी आपत्तियाँ आती है। जो मानने वाले हम हैं हम उसी सृष्टि के एक अंश हैं। और हम स्वयं होते हुए भी अपने स्वयं पर भ्रम—भ्रान्ति कैसे खडी करेंगे ? जगत में किसी भी व्यक्ति को शंका—भ्रम दूसरों पर हो सकता है परन्तु स्वयं पर ही भ्रम—या शंका कैसे हो सकती है ? मैं हूँ या नहीं ? यह भ्रम अपने आप पर कैसे हो सकता है ?

दूसरी भ्रम—भ्रान्ति में निर्णयात्मक कुछ भी नहीं है। क्योंकि भ्रम शंकास्पद है। यह ज्ञानात्मक नहीं अज्ञानात्मक है। भ्रम में द्विधा है। सत्य और असत्य दोनों की द्विधा

भ्रम में होने से किसी भी एक स्वरूप का निश्चयात्मक ज्ञान नहीं है तो फिर मिथ्या कहने का तात्पर्य क्या ? मिथ्या का भ्रम अर्थ करने से . . . इस सृष्टि को निश्चित रूप से न तो सत्य कह सकते हैं और न ही निश्चित रूप से असत्य कह सकते हैं । दोनों शंकास्पद बने रहेंगे । हो सकता है कि शायद सत्य भी हो या असत्य भी हो । इसलिए मिथ्या शब्द का भ्रम भ्रान्ति—अर्थ करने पर बडा भारी अनर्थ होगा । इसलिए सृष्टि को मिथ्या कहकर न तो अभावात्मक—शून्यात्मक और न ही भ्रमात्मक कह सकते हैं ।

सच देखा जाय तो मोह माया और ममता के बंधन में फँसकर राग—द्वेष की होलियाँ खेलनेवाले इस जीव की . . . मैं . . . . मैं . . मेरा . . . मेरा . . . . इस प्रकार की मोहदशा कम कराने के लिए संसार की असारता, पदार्थों की अनित्यता—क्षणिकता बताई गई है । संध्या के बादलों के सुनहरे रूप, रंग, आकार, प्रकार किस तरह क्षणिक हैं और कैसी भ्रम—भ्रान्ति पैदा करते हैं यह और ऐसा समझाने के लिए . . . . इस हेतु से मिथ्या कहा गया है । ताकि यह संसारी मोहग्रस्त जीव निरर्थक सब पदार्थों को मेरा मेरा कहता—मानता न फिरे । मेरा न होते हुए भी मेरा मानने की भ्रान्ति में ही फिरता रहता है । अतः वैराग्यवासित करने के लिए और ब्रह्म अर्थात् अपनी आत्मा को सत्य समझने के लिए जगत् को मिथ्या स्वरूप बताया गया है ।

दूसरी तरफ मिथ्या शब्द पदार्थ की अयथार्थता अवास्तविकता को द्योतित करता है । इससे यदि संसार के पदार्थों की यथार्थ स्थिति क्या और कैसी है यह समझ में आना चाहिए इसके साथ साथ मिथ्यात्व का विपरीत—विरोधी शब्द सम्यक् भी द्योतित करता है । अतः जगत् का मिथ्या स्वरूप है तो ब्रह्म का सम्यक् स्वरूप भी तो है । इसलिए एक का स्वरूप जो है उससे विरोधि—विरुद्ध का भी स्वरूप ख्याल में आना चाहिए । दोनों के यथार्थ सम्यक् स्वरूप समझने ही चाहिए । इसीसे भ्रम—भ्रान्ति और शंका दूर होती है । परिणाम स्वरूप शंकारहित बनने से श्रद्धा के द्वार खुलते हैं ।

सम्यक् का अर्थ जो जैसा है, उसे ठीक वैसा ही देखना—मानना—जानना है । जिस प्रकार का जिस स्वरूप में है वैसा ही उसी प्रकार का मानना यही सम्यक् का अर्थ है । चाहे वह ईश्वर हो या चाहे वह जगत् हो, या भले ही जीव हो, या भले ही परमाणु क्यों न हो । प्रत्येक पदार्थ के यथार्थ वास्तविक स्वरूप को पहचानना सम्यक् का कार्यक्षेत्र है । ठीक इससे विपरीत मिथ्यात्व का है । अतः जगत् का स्वरूप मिथ्या है या सम्यक् है इसका निर्णय सम्यक् समीचीन ही होना चाहिए । जगत् को मिथ्या कह देने मात्र से यदि वह वैसा मिथ्या अर्थात् अभावात्मक—शून्यात्मक न हो तो कहना गलत—असत्य होगा ।

आकाशादि पंचास्तिकाय पदार्थ नित्य हैं—शाश्वत हैं । फिर उन जीवात्मादि सबको क्षणिक नाशवंत कैसे कहें ? न होते हुए कैसे कहना ? अतः न होते हुए भी कहना यह पदार्थ के स्वरूप को मिथ्या सिद्ध नहीं कर रहा है । परन्तु कहनेवाले की बुद्धि की मिथ्यादशा सिद्ध कर रहा है । इसलिए ब्रह्म ही सत्य है और जगत् मिथ्या है यह कहने में प्रथम दोनों के सम्यक् यथार्थ—स्वरूप को समझना अनिवार्य है । फिर क्या मिथ्या है ? कितना और कैसा स्वरूप मिथ्या है यह सिद्ध करना चाहिए ।

हाँ, यहाँ पर सृष्टि बनाई गई है । या ईश्वर ही बनाता है । वही बनानेवाला है । उसी ने सब कुछ बनाया है । आकाश—आत्मादि भी बनाए हैं यह ज्ञान मिथ्या है । जब ईश्वर जो बनानेवाला ही नहीं है उसको बनानेवाला कर्ता मानना यह मिथ्यात्व है । मिथ्या बुद्धि . . . धारणा है । और बनानेवाला कर्ता ही ईश्वर होता है ऐसी ज्ञान दशा रखनी मिथ्याज्ञान है, गलत भ्रमणा है । भ्रान्ति है । ठीक इससे विपरीत सम्यग्ज्ञान होता है जो ब्रह्म और जगत् आदि सभी पदार्थों के यथार्थ—वास्तविक स्वरूप को सम्यक्—सही सत्यरूप समझता है, जानता है, मानता है, ठीक वैसा ही देखता कहता है, वह सम्यक् ज्ञानवान् है । सच्चा ज्ञानी है । अतः ब्रह्म सत्य जरूर है लेकिन किस स्वरूप में सत्य है ? कैसा स्वरूप सत्य है ? यह जानना चाहिए । फिर कैसा स्वरूप मिथ्या है ? यह जानना चाहिए । कर्तृत्व की बात ईश्वर पर डाल कर यदि उसे कर्ता न होते हुए भी कर्ता ही कहना—मानना जानना मिथ्याज्ञान हो जाता है । जगत् ब्रह्माण्ड भी जो न ही उत्पन्न होता है, न ही निर्माण होता है और यदि हम उसे उत्पन्न होता हुआ, निर्माण होता हुआ मानते हैं तो यह ज्ञान भी मिथ्या है । मिथ्यात्व है । अतः सम्यक् सही सत्य स्वरूप जो है वही मानना—जानना लाभदायी है । ईश्वर के द्वारा आत्मादि न बनाने के बावजूद भी यदि हम बनाते हैं ऐसा मानते हैं तो हमारी भूल है ।

## क्या चेतनात्मा भी ईश्वर निर्मित है ?—

इस पुस्तक के प्रथम अध्याय में हम देख आए हैं कि— इस संसार में अनन्त जीवात्माएँ हैं । **"जीवति प्राणान् धारयति इति जीवः"** जो जीता है, प्राणों को धारण करता है वह जीव है । जीव देहधारी है । इस देह में जो चेतना शक्ती है वह आत्मा है । चेतना शक्तीवाला होने के कारण उसे चेतन भी कहते हैं । अतः चेतन आत्मादि पर्यायवाची नाम हैं । यह आत्मा जो ज्ञान दर्शनादि गुणवान चेतन द्रव्य है क्या यह भी ईश्वर निर्मित है ? इसे भी क्या ईश्वर ने ही बनाया है ? पीछे भी हम यह स्पष्ट देख आए हैं कि आकाश, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आत्मा, परमाणु, लोक—अलोक—ब्रह्माण्ड आदि ईश्वर

निर्मित नहीं हैं। ईश्वर बना ही नहीं सकता है। ईश्वर के बनाने की कोई प्रक्रिया किसी भी तरह सिद्ध होती ही नहीं है . . . तो फिर निरर्थक ईश्वर पर इस जीव को निर्माण करने का आरोप क्यों लगाया जाता है ?

चेतनात्मा एक अरूपी अमूर्त द्रव्य है। यह असंख्य प्रदेशी गुणवान् द्रव्य है। ज्ञान—दर्शनादि इसके गुण हैं। इनमें ज्ञानादि गुणमय चेतनात्मा है। इसको कैसे बनाया जाय ? ऐसे कौन से घटक द्रव्य हैं या परमाणु आदि पदार्थ हैं जिनमें ज्ञान—दर्शनात्मक चेतना पाई जाती हो ? यदि किसी परमाणु आदि घटक द्रव्यों में ही ज्ञान—दर्शनात्मक चेतना न पाई जाती हो तो फिर उनके संमिश्रण से बनाए गए पदार्थ—आत्मा में वह ज्ञान—दर्शनात्मक चेतना कैसे आएगी ? जिन घटक द्रव्यों में जिस प्रकार के गुण होंगे उसी प्रकार के गुण उससे बने हुए पदार्थ में भी आएँगे। जैसे दूध में घी, तिल में तेल है तो ही वह उसमें से आता—बनता है। जिस तरह घी का आधार दूध एक घटक द्रव्य है। प्रक्रिया के प्रयोग से दूध में से घी निकलता है—प्राप्त होता है। उसी तरह तिल में तेल है अतः तिल में से तेल प्राप्त हो सकता है। परन्तु पानी में से घी निकला नहीं है और रेती में से तेल बना नहीं है।

ठीक इसी तरह चेतनात्मा किसी ऐसे घटक द्रव्यों में से बन ही नहीं सकती है। क्योंकि ऐसी चेतना—ज्ञान—दर्शनादि के गुणवाले आत्मभिन्न कोई द्रव्य जगत में है ही नहीं। यदि आप ये कहें कि— परमाणुओं के संमिश्रण में से चेतनात्मा बनायी जा सकती है तो यह भी बात सर्वथा गलत सिद्ध होती है। क्योंकि संसार में मूलभूत द्रव्य के रूप में जीव और अजीव इन दो पदार्थों का ही अस्तित्व है। ये दोनों द्रव्य अपने अपने गुणधर्मों के कारण सर्वथा भिन्न हैं। जीव में जो ज्ञान—दर्शनादि सुख—दुःख संवेदनादि जो गुणधर्म हैं वे जगत के किसी परमाणु में है ही नहीं। ऐसे जगत में कोई परमाणु ही नहीं है। तो फिर किन परमाणुओं के संमिश्रण से चेतनात्मा द्रव्य बनाया जाय ? संभव ही नहीं है। अतः चेतनात्मा द्रव्य बनाया जाता ही नहीं है। उत्पन्न ही नहीं होता है।

अब हारकर भी यदि आप ऐसा कहो कि सर्व शक्तिमान समर्थ ईश्वर के लिए सबकुछ बनाना संभव है। कुछ भी असंभव नहीं है। तो इन महिमा सूचक शब्दों से चेतनात्मा पदार्थ की उत्पत्ति हो नहीं जाती है। फिर वही बात आएगी कि ईश्वर शून्य—अभाव से सृष्टि की उत्पत्ति करता है या किसी सद्भावात्मक अस्तित्व से ? सर्वथा किसी भी द्रव्य का अभाव ही हो। पदार्थों का अस्तित्व ही न हो, ऐसी शून्यात्मक स्थिति में से ईश्वर कैसे किन पदार्थों की उत्पत्ति करता है ? जगत में जीव और अजीव ये दो ही मूलभूत अस्तित्ववाले

द्रव्य हैं। अजीव में ३ तो सहायक द्रव्य हैं— १) धर्मास्तिकाय २) अधर्मास्तिकाय... ये दोनों तो सिर्फ गतिस्थिति सहायक ही हैं। ३) तीसरा आकाश द्रव्य है तो सिर्फ सबका आधार भूत होने से जगह दे देता है। इन तीनों अरूपी द्रव्यों का कार्य अपने गुण का लाभ दूसरों को देने का है। लेकिन लेनेवाले दूसरे भी कोई होने तो चाहिए नहीं तो किसको देंगे? अतः सामने लेनेवालों में मुख्य दो द्रव्य हैं। एक तो जीवात्मा और दूसरा पुद्गल—परमाणु। ये ही गति—स्थिति करनेवाले हैं। आधेयभूत होने के कारण इन दोनों को आकाश ने अवकाश दिया है। इस तरह तीनों अरूपी जड़ द्रव्यों की भी उपकारिता कम नहीं है। बहुत ही अमूल्य है। इनके बिना जीव—पुद्गल की हालत खराब हो जाय। यदि आकाश ही न हो तो दोनों को जगह—अवकाश ही न मिले। और यदि धर्मास्तिकाय—अधर्मास्तिकाय ही न हो तो... गति—स्थिति ही न हो। अतः देखिए— अजीव होते हुए भी इनका कितना उपकार हमारे ऊपर है? और दूसरी तरह जीव और पुद्गल उनका उपकार लेकर भी वापिस उन पर उपकार नहीं कर सकते हैं। उन अजीव पर कभी भी किसी भी प्रकार का उपकार कर ही नहीं सकते हैं। और आकाशादि के उपकार को लिए बिना हम रह ही नहीं सकते हैं। आकाश के बिना हम गति—स्थानान्तर कहाँ करेंगे? सर्वथा अरूपी, अक्रिय, अदृश्य होते हुए भी ये तीनों निरंतर उपकार करते हैं। अनादि—अनन्तकालीन इनका उपकार सतत—अविरत होता ही रहता है। इन तीनों अजीव की उपकारधर्मिता पर जीनेवाले आत्मा और पुद्गल—परमाणुओं का सदाकाल अस्तित्व है ही।

## क्या अजीव से जीव की उत्पत्ति संभव है?—

प्रत्येक पदार्थ के अपने अपने गुणधर्म हैं। अजीव में धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाश तथा पुद्गल—परमाणु ये मुख्य द्रव्य हैं। क्या इनसे कभी चेतनात्मा की उत्पत्ति—निर्मिती हो सकती है? क्या संभव है? तीन द्रव्य तो अरूपी, अदृश्य हैं। इनके तो परमाणु भी नहीं हैं। ये तीनों सर्वव्यापी अखण्ड द्रव्य हैं। अतः इनमें से क्या लेकर, कौन सा अंश लेकर जीवात्मा की उत्पत्ति की जाय? पहली बात— इन के अंश ही नहीं होते हैं अखंडितता ही होती है, खंड होता ही नहीं है। तो फिर अंश लेकर आत्मा की उत्पत्ति कैसे की जा सकती है? उसी तरह आकाशादि के द्वारा भी संभव नहीं है। उनमें वह स्वभाव ही नहीं है। अगर मानेंगे तो आकाशादि के गुणों का संक्रमण भी जीवात्मा में मानने की आपत्ति आएगी।

अब बचा सिर्फ एक पुद्गल—परमाणु द्रव्य ? पुद्गल के तो वर्ण—गन्ध—रस—स्पर्श गुण हैं । यदि पुद्गल—परमाणु में से कोई भी बनेगा तो उसमें भी उनके गुणों का संक्रमण होगा । अतः पुद्गल—परमाणुओं से बना हुआ द्रव्य भी वर्ण—गंध—रस—स्पर्शादि गुणवाला ही बनेगा । लेकिन जीवात्मा सर्वथा वर्ण—गंध—रस—स्पर्श गुण रहित है । अतः आत्मा अवर्णी, रूप—रंग रहित अरूपी है । किसी भी प्रकार का रूप—रंग आत्मा में न होने से चेतनात्मा अरूपी है । अवर्णी है । रूप—रंग होता तो आँखों से स्पष्ट दिखाई देती । लेकिन आत्मा किसी को भी आँखों से दिखाई नहीं दी । और जो दिखाई देता है वह सिर्फ यह जड शरीर ही दिखाई देता है । शरीर पुद्गल—परमाणुओं का बना हुआ पिण्ड है । अतः यह शरीर वर्ण—गंध—रस—स्पर्श वाला है । परन्तु चेतनात्मा तो शरीर से सर्वथा भिन्न है । शरीर चेतनात्मा नहीं है और चेतनात्मा शरीर नहीं है । दोनों अपने अपने गुणधर्मों के कारण सर्वथा स्वतंत्र अस्तित्व रखते हैं ।

चेतनात्मा ज्ञान—दर्शनमय सुख—दुःख की संवेदना का अनुभव करनेवाला अजीव से सर्वथा भिन्न स्वतंत्र ही द्रव्य है । ऐसे ज्ञान—दर्शनादि गुण तथा सुख—दुःख की संवेदना का अनुभव करने का गुण अजीव—पुद्गल—परमाणुओं में सर्वथा नहीं है । अतः परमाणुओं के संमिश्रण मात्र से चेतन की उत्पत्ति कैसे माने ? ऐसे किन परमाणुओं के संमिश्रण से चेतनात्मा बनाई जाय ? क्या ऐसे कोई अलग से विशेष परमाणु हैं ? जिनमें ज्ञानादि गुण हैं ? नहीं, ऐसा एक भी परमाणु नहीं है, जिनमें ज्ञान—दर्शनादि हो । यदि होता तो वह आत्मा ही कहलाता । फिर अजीव तत्त्व का अलग से स्वतंत्र अस्तित्व कहाँ से आता ? पुद्गल—परमाणु अपने वर्ण—गंध—रस—स्पर्शादि विशिष्ट गुणों से ही स्वतंत्र अस्तित्ववाला अलग द्रव्य है । ठीक उसी तरह चेतनात्मा भी अपने ज्ञानादि विशिष्ट गुणधर्मों के कारण अलग स्वतंत्र द्रव्य है । अतः जीव से अजीव बना या अजीव से जीव बनता है ऐसा संभव ही नहीं होता है । अतः इस प्रकार की भाषा का व्यवहार ही उचित नहीं है ।

अब जब परमाणुओं में ज्ञान—दर्शनादि गुणों का अस्तित्व ही नहीं है और वैसे कोई परमाणु ही जगत में नहीं है तो फिर ईश्वर भी चेतनात्माओं को परमाणुओं के संमिश्रण से कैसे बनाएगा ? आप कहेंगे कि असंभव को भी संभव करने का सामर्थ्य ईश्वर में है । ऐसे सामर्थ्यों से वह ईश्वर कहलाता है । ठीक है । लेकिन सामर्थ्य को भी संभव करने के लिए कुछ तो आधार चाहिए कि नहीं ? अगर संसार में वैसे परमाणु ही नहीं हैं तो फिर समर्थ होते हुए भी ईश्वर क्या कर सकेंगे ?

दूसरी दृष्टि से भी विचार करें तो . . . ऐसा लगता है कि . . . यदि ईश्वर इतना ही समर्थ थे तो उन्हें वैसे ज्ञान—दर्शन तथा सुख—दुःख की संवेदना के अनुभावक परमाणुओं को स्वतंत्र रूप से बनाने चाहिए थे । पहले वैसे परमाणु बना लिए होते तो ईश्वर के लिए चेतनात्मा को बनाना आसान होता । लेकिन समस्त ब्रह्माण्ड में वैसे परमाणुओं का अस्तित्व था भी नहीं और वर्तमान में है भी नहीं । इससे एक बात और भी सिद्ध होती है कि . . . परमाणुओं का निर्माता भी ईश्वर नहीं है । अगर परमाणुओं का निर्माता ईश्वर होता तो सब प्रकार के अलग—अलग परमाणु बनाता . . . जिससे आगे उन अलग—अलग परमाणुओं से द्रव्यों को बनाना आसान होता । किसी परमाणु में ज्ञान—दर्शनादि गुणों को भरता । किसी परमाणुओं में सुख—दुःख की संवेदना की अनुभावकता को भरता । इस तरह अलग—अलग प्रकार के परमाणुओं की रचना करते और उनके संयोजनों से, संमिश्रण से वैसे चेतनादि पदार्थों की निर्मिती ईश्वर आसानी से कर सकता । लेकिन यहाँ ईश्वर की असमर्थता स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है । वैसे परमाणु भी ईश्वर बना नहीं पाया तो फिर वैसे चेतनात्माओं को तो कहाँ से बना पाएगा ?

## क्या आत्मा रासायनिक प्रक्रिया से उत्पन्न है ?—

*Chemistry* रसायन शास्त्र ने इस शरीर को मुख्य तीन गेसों का पिण्ड माना है । इसमें *Oxygen, Hydrogen* और *Carbon* ये तीन गेसें प्रमुख हैं । आत्मा और शरीर दोनों अलग स्वतंत्र पदार्थ हैं । शरीर की रचना में ये तीनों गेसें काम आ सकती हैं । लेकिन चेतनात्मा के स्वरूप में इन तीनों के संमिश्रण से उत्पत्ति संभव नहीं है । यदि इन तीनों का संमिश्रण किया जाय तो क्या उसमें ज्ञान—दर्शन की चेतना आएगी ? क्या सुख—दुःख की संवेदनाओं की अनुभावकता आएगी ? संभव ही नहीं है । अतः आत्मा रासायनिक प्रक्रिया द्वारा किसी भी प्रकार के रसायनों से उत्पन्न है ही नहीं—होता ही नहीं है ।

चार्वाक दर्शनवाले नास्तिक मतानुयायी भी चेतनात्मा की मदशक्ती की तरह उत्पत्ति मानते हैं । जैसे मदिरा बनती है । मदिरा जिन पदार्थों को सडाने से बनती है उसके बाद उसके सेवन करने से व्यक्ती में जिस प्रकार की मद शक्ती आती है उसी तरह किन्हीं पदार्थों के संमिश्रण से ज्ञानादि शक्ती आती है ऐसा उनका मानना है । उस प्रकार के आधारभूत घटक द्रव्य कौनसे हैं ? जिनके संमिश्रण से ऐसी ज्ञानादि शक्ती आती है ? मदिरा के लिए तो द्राक्ष, गुड के फूल आदि कई द्रव्य हैं । जिनका संमिश्रण करके उन्हें उबाला जाय, उसमें नौसागर आदि डाले जाएँ . . . फिर उसे खूब लम्बे काल तक सडाया जाय . . . फिर पीने से पीनेवालों के दिमाग पर . . बुद्धि पर वह सडी हुई शराब असर करती है । उसे मद शक्ती

न्न्ने हैं । शराब के नशे का परिणाम कितना भयंकर है वह तो सब जानते हैं । कहीं छिपा नहीं है । इस प्रक्रिया की तरह मद शक्ती के जैसे आत्मा भी किसी ऐसे ही पदार्थों के संमिश्रण से बनती है फिर उसमें चेतना शक्ती आती है । ऐसी नास्तिकों की मान्यता मात्र है ।

सिर्फ कहने के लिए मदिरा के दृष्टान्त को प्रस्तुत कर दिया गया है परन्तु उत्पत्ति के लिए आधारभूत किसी भी पदार्थ का नाम नहीं बता पाए हैं । ऐसे जगत में कोई भी पदार्थ नहीं है . . . परमाणु भी नहीं है जिनके संमिश्रण से उस बने हुए पदार्थ में चेतना शक्ती का संचार हुआ हो । अतः ऐसी बातें सर्वथा निरर्थक हैं ।

आधुनिक विज्ञान जिसका कार्यक्षेत्र हमेशा जड ही रहा है । जड—पुद्गल—परमाणुओं के क्षेत्र में ही विज्ञान ने अपनी तरक्की की है । उस आधुनिक विज्ञान में भी ऐसी ही मान्यता है कि चेतना—आत्मा नामक वैसा कोई द्रव्य (वस्तु) है ही नहीं । ये जो जीवादि हैं वे भी किसी प्रकार के संमिश्रण से ही बनते हैं । इनकी उत्पत्ति होती है । उत्पन्नशील हैं । लेकिन आज दिन तक विज्ञान पुरुष के शरीर के एक वीर्य बिन्दु को भी नहीं बना पाया है । और न किसी ऐसे घटके द्रव्यों को ढूँढ पाया है कि जिनसे चेतनात्मा की उत्पत्ति हो ।

शरीर जरूर जड है । शरीर तो पुद्गल—परमाणुओं का बना हुआ पिण्ड है । जो हम आहारादि ले रहे हैं । उनमें से तत्वों को खींचक आत्मा ही अपने शरीर की रचना करती है । यदि चेतनात्मा ही न हो तो आहार के तत्त्वों को खींचेगा कौन ? माँ के गर्भ में भी चेतनात्मा के प्रवेश के बाद ही आहार के परमाणुओं को खींचकर ही चेतनात्मा देह की रचना करता है । यदि ऐसा न मानें तो आहार के तत्त्वों को एक पात्र में इकट्ठे रख दिये जाय तो क्या आत्मा की उत्पत्ति हो जाएगी ? जी नहीं । सिर्फ वे परमाणु सडते जाएँगे । लेकिन चेतनात्मा की उत्पत्ति नहीं होगी । यदि रज—वीर्य जैसे घटक द्रव्यों का संमिश्रण करके तथाप्रकार से रखा जाय और जीवात्मा के उपयोगी वैसा वातावरण निर्माण किया जाय तो जरूर उस बने हुए आधार में आकर एक चेतनात्मा रह सकती है । और रहकर उसका आहार के रूप में ग्रहणकर अपने देह की रचना कर सकती है । लेकिन उन रज—वीर्य के संयोग—संमिश्रण से चेतनात्मा की उत्पत्ति नहीं हुई है । उसका तो अस्तित्व पहले से ही था । तभी तो वह आई । यदि अस्तित्व ही नहीं होता तो वह आती कहाँ से ? संसार में ऐसी अनन्त आत्माएँ हैं । जो जन्म लेकर एक शरीर में आती है और फिर मृत्यु पाकर उस शरीर को छोडकर चली जाती है । फिर दूसरे देह को धारण करेगी बस वही उसका जन्म । फिर शरीर की रचना करेगी । उसके लिए उस आत्मा को वैसा रज—वीर्य के संयोग

का पिण्ड आवश्यक है। उसे ही चेतनात्मा ग्रहण करती है... फिर उस से देह निर्माण करती है . . . फिर आगे देह का विस्तार करती है। इसलिए रज–वीर्य के संयोजन–संमिश्रण से देह की उत्पत्ति संभव है चेतनात्मा की नहीं। लेकिन, चेतनात्माओं को आने का आधारभूत स्थान यह संमिश्रण अनिवार्य है। अतः चेतनात्माएँ इसमें आकर इसे ग्रहण कर देह धारण करती हैं। यही सच्ची प्रक्रिया है। अतः सर्वज्ञ के सिद्धान्तानुसार चेतनात्मा की उत्पत्ति नहीं होती है। किसी भी पदार्थों को घटक द्रव्यरूप मानकर संयोजन या संमिश्रण करके भी आत्मा की उत्पत्ति नहीं की जा सकती है।

## सच्चे अर्थ में चेतनात्मा कैसी है?—

अब जब चेतनात्मा उत्पन्नशील ही नहीं है। अतः न तो किसी घट द्रव्यों के संयोजन–संमिश्रण से उत्पन्न हो सकती है, न ही किसी भी प्रक्रिया से बन सकती है। और न ही ईश्वर द्वारा निर्मित है। ईश्वर की सृष्टि में आत्मा को उत्पन्न नहीं किया है। अतः आत्मा अनुत्पन्न–अनादि–अविनाशी–शाश्वत–नित्य अनन्तकालस्थायी द्रव्य है। आगम प्रमाण से विचार करने पर चेतनात्मा के बारे में श्री भगवतीसूत्र नामक पंचमांग श्री वियाहपण्णत्ति सूत्र में सर्वज्ञ प्रभु महावीर फरमाते हैं।

(गौतमस्वामी का प्रश्न है— जीवत्थिकाएणं भंते! कतिवण्णे, कतिगंधे, कतिरसे, कतिफासे?

उत्तर— भ. महावीर— गोयमा! अवण्णे, अगंधे, अरसे अफासे, जीव अरूवी, जीवे सासए, अवट्ठिए लोगदव्वे से समासओ, पंचविहे पण्णत्ते, तं जहा—दव्वओ, जाव गुणओ, दव्वओ णं जीवत्थिकाए अणंताइं, जीवदव्वाइं, खेत्तओ लोगप्पमाणमेते, कालओ न कयाइ न आसी, जाव–निच्चे भावओ पुण अवण्णे, अगंधे, अरसे, अफासे, गुणओ उवओगगुणे —(भगवती २ रा १०३)

गौतमस्वामी गणधर ने प्रश्न पूछा कि— हे भगवंत! जीवास्तिकाय के कितने रंग हैं? कितने गंध हैं? कितने रस हैं? कितने स्पर्श हैं?

श्री वीर प्रभु ने उत्तर में फरमाया— हे गौतम!— जीवास्तिकाय (आत्मा) बिना रंग का अरूपी है। वह जीव है। शाश्वत है और अवस्थित लोकगत द्रव्य है। संक्षेप से जीवास्तिकाय को ५ प्रकार से कहा है— १) द्रव्य से, २) क्षेत्र से, ३) काल से, ४) भाव से और ५) गुण से। द्रव्य से अनन्त जीवात्माएँ स्वतंत्र चेतन द्रव्य-रूप हैं। क्षेत्र से वह लोक

परिमित क्षेत्र में रहनेवाला है। (अर्थात् लोक में रहनेवाला द्रव्य है, अलोक में रहनेवाला नहीं है।) काल से कभी वह नहीं था ऐसा कोई काल ही नहीं था। अर्थात् सर्व काल में रहने वाला वह नित्य–शाश्वत द्रव्य है। शाश्वतता कालसापेक्षिक है। भाव से आत्मा रंग रहित, गंध रस और स्पर्श रहित है। अर्थात् अरूपी (अवर्णी) अगंधी, अरस, अस्पर्शयुक्त है। और गुण की दृष्टि से आत्मा उपयोग गुणवान् है।

## असंख्य प्रदेशी आत्मा–

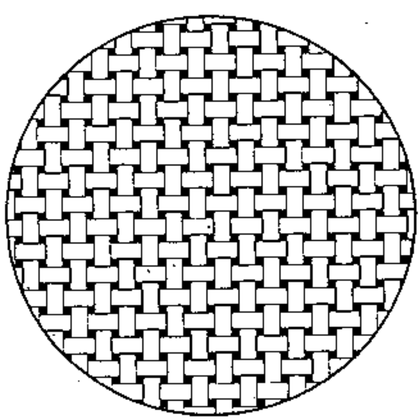

पंचास्तिकाय में जीवास्तिकाय भी एक अस्तिकाय द्रव्य है। इसे ही संक्षिप्त नाम से "आत्मा" कहते हैं। षड् द्रव्य में जिसकी गिनति की गई है वह चेतन द्रव्य आत्मा है। यह आत्मा एक द्रव्य है। अतः इसका द्रव्य स्वरूप है। चित्र में जैसा दिखाया है। इस काल्पनिक चित्र के आधार पर समझा जा सकता है। जैसे एक वस्त्र–कपडे की बुनाई होती है उसमें एक धागा सीधा, एक धागा आडा रखा जाता है। वे दोनों धागे एक दूसरे को जहाँ जुडते हैं वह उनका *Cross Point* कहलाता है। ऐसे पूरे लम्बे कपडे में *Cross Point* कितने होते हैं? इसी तरह चेतनात्मा भी असंख्य प्रदेशी द्रव्य है। इसके प्रदेशों की संख्या असंख्य है। चित्रानुसार आत्मा के प्रदेशों की रचना है। अतः पूर्णात्मा असंख्य प्रदेशात्मक पिण्ड है। यह अखण्ड है। खण्डित होकर प्रदेश बिखर नहीं जाते हैं। अतः अखण्डितता बनी रहती है। ऐसा असंख्य प्रदेशी आत्मा स्वतंत्र द्रव्य है। और ऐसी जगत में अनन्त आत्माएँ हैं। प्रदेश रचना की दृष्टि से सभी अनन्त आत्माएँ ठीक एक जैसी ही हैं। समानता है। लेकिन एक ही नहीं हैं। एक जैसी कहना और एक ही कहना इन दोनों बातों में अनन्त जीवों में एक ही आत्मा माननेवाला अद्वैत वेदान्त दर्शन भी है। परन्तु द्रव्य स्वरूप से वैसा नहीं है। क्योंकि सबकी सुख–दुःख की संवेदना भिन्न–भिन्न प्रकार की है। यदि एक ही मानेंगे तो सब का सुख–दुःख भी एक समान ही मानने की आपत्ति आएगी। जैसा एक को सुख होता है वैसा अनन्त को एक साथ एक

ही समय होना चाहिए... लेकिन संसार में वैसा होता नहीं है। यह प्रत्यक्ष प्रमाण विरुद्ध बात है। अतः सभी—अनन्त आत्माएँ स्वतंत्र हैं। सबका अस्तित्व अलग—अलग स्वतंत्र है। यह आत्मा असंख्य प्रदेशी अखण्ड द्रव्य स्वतंत्र द्रव्य है।

**"जीवो अणाइ अणिधणो, अविणासी, धुओ निच्चं"** —भगवतीसूत्र आगम में गौतम को समझाते हुए श्री वीर प्रभु कह रहे हैं— हे गौतम! आत्मा अनादि है। अनिधन अर्थात् मृत्यु रहित अमर है। नाश न पानेवाला अविनाशी है। अतः अजर—अमर है। सदा ध्रुव—नित्य—शाश्वत है। अतः अछेद्य अभेद्य, अदाह्य, अकाट्य, अविभाज्य ऐसा चेतनात्म द्रव्य है। यह किसी भी छेदन क्रिया से छेदा नहीं जाता है। छेदन—भेदन संभव नहीं है। भेदनक्रिया भी नहीं होती है। अतः अभेद्य कहा गया है। अदाह्य—अर्थात् दाह—ज्वलनशील भी नहीं है। किसी भी प्रकार की अग्नि आदि से उसका दहन नहीं होता है। आत्मा जलकर नष्ट नहीं होती है। अतः अदाह्य कहा गया है। अकाट्य—अर्थात् चाकु—तलवार से काटी भी नहीं जा सकती है। अतः अकाट्य विशेषण विभाजन—दो टुकडे नहीं हो सकते वैसा यह चेतन द्रव्य है। यद्यपि एक परमाणु में भी इस प्रकारकी विशेषताएँ पडी है, इतने अंश में परमाणु भी आत्म सादृश्यता को इन विशेषणों से प्राप्त करता है। परन्तु ज्ञानादि का अभाव होने से वह चेतनरूप नहीं गिना जाता है।

## तर्कग्रन्थों में आत्मा का स्वरूप—

वाद विजेता पू. वादिदेव सूरि महाराज— **"प्रमाणनयतत्त्वालोक"** नामक तर्क ग्रन्थ जो जैन दर्शन का एक सुंदर दार्शनिक ग्रन्थ है... खजाना है उसमें कहते हैं कि—

**१) चैतन्यस्वरूपः, २) परिणामी, ३) कर्ता, ४) साक्षाद्भोक्ता, ५) स्वदेहपरिमाणः, ६) प्रतिक्षेत्रं भिन्नः, ७) पौद्गलिकादृष्टवांश्च अयम्"**

७ वे प्रकाश के ५६ वे सूत्र में कहते हैं कि— यह ....रूप आत्मा चैतन्य स्वरूपी है। निरंतर परिणामवाला अर्थात् संसार में सतत परिणमन होनेवाला है। कर्म का कर्ता है। अपने ही सुख दुःख का स्वयं कर्ता है। और उस कर्म को भुगतनेवाला भोक्ता भी स्वयं ही है। यह संसारी अवस्था में देहधारी है। और प्रत्येक शरीर में भिन्न भिन्न स्वतंत्र रूप से रहनेवाला है। तथा पौद्गलिक कर्मवाला वह आत्मा है। इन सात विशेषणों से आत्मा का स्वरूप समझाया गया है।

१) **चैतन्य स्वरूप—** चेतना शक्ती को कहा है । वह ज्ञान—दर्शनात्मक है । अतः ज्ञानोपयोग तथा दर्शनोपयोगात्मक जो शक्ती है वह चेतना शक्ती है । ऐसी चेतना शक्तीवाला वह चैतन्यस्वरूपी चेतनात्मा है ।

२) **परिणामी—** समय—समय, नई—नई पर्यायों में गमन को परिणमन कहते हैं । ऐसा परिणमनवाला वह परिणामी । आत्मा का ज्ञान जो कर्मग्रस्त है । उसके आधीन समय—समय, घट—पट आदि पदार्थों का ज्ञान बदलता ही रहता है । अतः यह ज्ञानपर्याय हुई । ज्ञानोपयोगवाले आत्मा की ज्ञानपर्यायों का जो परिवर्तन होता है उसी में परिणमन करनेवाली आत्मा भी उस समय घटाकार—पटाकार उपयोगवाली बनती है । अब घटाकार उपयोग गया और पटज्ञान के समय पटाकार ज्ञानोपयोग बना तब पटज्ञानवाली आत्मा बनी । इस तरह ज्ञान की बदलती हुई पर्यायों के साथ—साथ . . आत्मा भी परिणमन स्वभाववाली है । अतः परिणामी है ।

३) **कर्ता—** यहाँ कर्ता शब्द करनेवाला, करने की क्रियावाला कर्ता अर्थ में कहा गया है । जगत् क्रिया है तो कर्ता अनिवार्य है । कर्ता के बिना क्रिया संभव नहीं है । अतः क्रिया का कर्ता चेतन द्रव्य सिद्ध होता है । जड में कर्तृत्व शक्ती नहीं है । अतः जड अजीव अक्रिय—निष्क्रिय तत्त्व है । जबकि चेतनात्मा क्रिया करनेवाला कर्ता सक्रिय तत्त्व है । लेकिन प्रश्न खडा होगा कि— किसका कर्ता? जगत् का कर्ता? नहीं । पृथ्वी—पहाड—समुद्र आदि समस्त ब्रह्माण्ड का कर्ता चेतन नहीं है । सभी के सुख-दुःखों को देनेवाला कर्मों का फल अन्यों को देनेवाला वैसा कर्ता चेतन नहीं है, लेकिन— स्वकर्म का कर्ता जरूर जीव है । अतः स्पष्ट कहा है कि—

**यः कर्ता कर्मभेदानां भोक्ता कर्मफलस्य च ।**
**संसर्ता परिनिर्वाता स ह्यात्मा नान्यलक्षणः ॥**

पूज्य हरिभद्रसूरि महाराज ने— "शास्त्रवार्तासमुच्चय" दार्शनिक ग्रन्थ में कहा है कि... जो अपने कर्मों का कर्ता है और किये हुए कर्मों के फल का भोक्ता भी है तथा इस संसार में जन्म—मरण धारण करता हुआ.... संसार में संसरण—परिभ्रमण करता ही रहता है वही आत्मा है । संसारी जीवात्मा है ।

४) **साक्षात् भोक्ता—** जो स्वयं शुभ—अशुभ कर्म करता है वही उन किये हुए शुभ—अशुभ कर्मों के फल को भोगता है । शुभ कर्म का फल शुभ—सुखरूप है । तथा अशुभ कर्मों का फल अशुभ—दुःख रूप है । अतः कर्म फल को भोगते समय चेतन

सुखी—दुःखी बनता है । इस विशेषण से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि... सुख—दुःख का देनेवाला और भोगनेवाला अलग—अलग नहीं है । एक ही है । वह है चेतनात्मा । सुख दुःख न तो ईश्वरदत्त है और न ही किसी अन्य द्वारा प्रदत्त है । लेकिन चेतनात्मा द्वारा ही उपार्जित है । और कालान्तर में—जन्मान्तर में जिन प्रकार के शुभाशुभ कर्म किये हैं उनका फल भी कालान्तर में—जन्मान्तर में भुगतनेवाला भी वही चेतनात्मा ही है ।

कोई दर्शन कर्ता — मानने में भूल कर रहा है तो कोई दर्शन भोक्ता मानने में भूल कर रहा है । कोई कहता है कि जीव कर्म का कर्ता नहीं है । ईश्वर ही कर्ता है । और कोई दर्शन कहता है कि— कर्म करने के बाद भी जीव को फल भुगतना ही नहीं पडता है । वह भोक्ता नहीं है । कोई दर्शन कहता है कि कर्म का फल भी ईश्वर ही देता है । इत्यादि मान्यताएँ भ्रान्तिमूलक हैं—भ्रमणाकारक हैं । अतः इनका निवारण यहाँ सूत्रकार ने सूत्र में कर्ता — साक्षात् भोक्ता विशेषण देकर किया है । सांख्य दर्शन ने तो यहाँ तक कह दिया कि— **"अकर्ता निर्गुणो भोक्ता"** कर्ता न होते हुए भी— कुछ भी न करते हुए भी और निर्गुण होते हुए भी वह भोक्ता है । कर्म के फल— सुख—दुःख का भोक्ता है । बिना किये हुए भी भोक्ता कहना कितनी बडी विसंगति बताई है । अतः जो स्वयं कर्ता है वही भुगतता भी है । मैं करूँ और अन्य भुगतें यह संभव नहीं है ।

५) **स्वदेह परिमाण—** चेतनात्मा स्वशरीर में ही रहती है । अतः शरीर के बाहर कहीं आत्मा नहीं रहती है । चेतनात्मा स्व—स्व कर्मानुसार जब जिस गति—जाती में जाकर जन्म धारण करती है और जो शरीर बनाती है उसी शरीर में वह रहती है । शरीर छोटा है । तो छोटे शरीर में व्याप्त होकर रहती है और यदि शरीर बडा हो तो बडे शरीर में व्याप्त होकर रहती है ।

जैसे एक डिब्बे में एक बल्ब को लगाया जाय और बटन चालू कर के प्रकाशित किया जाय तो उसका प्रकाश उस डिब्बे में ही व्याप्त होकर रहेगा । प्रकाश बाहर नहीं जाएगा । डिब्बा बडा हो तो बडे में, और डिब्बा छोटा हो तो छोटे में प्रकाश व्याप्त रहेगा । और यदि बल्ब को डिब्बे से भी बडी पेटी में रखें तो प्रकाश पूरी पेटी में व्याप्त रहेगा । और यदि उसी बल्ब को एक कमरे में लगाएँ तो प्रकाश पूरे कमरे में व्याप्त रहेगा । और यदि उसी बल्ब को एक बडे हॉल मे लगाएँ तो प्रकाश उतने बडे विस्तार में फैलकर रहेगा । ठीक इसी तरह चेतनात्मा भी प्रकाशपुंज की तरह है । अतः वह भी... छोटे से छोटे शरीर अमीबा में भी रहेगा । सूक्ष्मतम निगोद में भी रहेगा ।... बडे होते होते... चींटी में, मकोडे में, मक्खी में, भँवरे में, तीड में सर्वत्र जितना शरीर बडा मिलता जाएगा उतने में व्याप्त

होकर रहेगा । और बडा शरीर भी होता है । बकरी शेर—घोडा—ऊँट—हाथी इत्यादि बडे शरीर में बडे आकार में फैलकर आत्म प्रदेश रहेंगे । हमारे मनुष्य शरीर में चेतनात्मा के प्रदेश पूरी तरह फैलकर सर्वप्रदेश में रहेंगे । इसमें आत्मा के संकोच विकासशील स्वभाव की विशेषता कारणभूत है । जैसे एलास्टिक—रबर को खींचकर लम्बा भी कर सकते हैं और फिर छोड देनेपर संकुचित होकर छोटे से रूप में भी आ जाता है । ठीक वैसे ही संकोच—विकासशील स्वभाववाला यह चेतन द्रव्य भी स्वशरीर में विस्तृत रूप से फैलकर सर्वदेह में व्याप्त होकर रहता है । अतः यह आत्मद्रव्य छोटे से छोटा सूक्ष्म और बडे से बडा स्थूल आकार भी धारण कर सकता है ।

शरीर के अंतर्गत कहाँ कहाँ किन—किन प्रदेशों में फैला हुआ—व्याप्त है ? यह जानने के लिए सुख—दुःख की संवेदना का लक्षण बताया गया है । अतः शरीर के जिस जिस अंग—प्रत्यंग में सुख—दुःख की संवेदना की अनुभूति होती हो वहाँ वहाँ चेतना है । जैसे सिर के बाल खींचते हैं तो दुःख—वेदना की अनुभूति होती है अतः बालों के जड में आत्म प्रदेश फैले हुए हैं । परन्तु उन्हीं बालों को ऊपर ऊपर से काटा जाय तो किसी भी प्रकार की वेदना—नहीं होती है । इससे बालों के बढे हुए ऊपरी भाग में कोई आत्मप्रदेश नहीं है । इसी तरह बढे नाखून को काटने पर किसी प्रकार की सुख—दुःख की अनुभूति नहीं होती है लेकिन वही नाखून जड—मूल से काटा जाय तो तीव्र वेदना की अनुभूति होती है । तो वहाँ आत्मप्रदेश प्रसरे हुए हैं । इसी तरह यदि पूरे शरीर पर यदि इत्र लगाने पर या गोशीर्ष चन्दन का विलेपन करने पर जो सुखानुभूति होती है वह भी आत्मा की प्रतीति कराती है । परन्तु मृत शरीर को किसी भी प्रकार की सुखानुभूति नहीं होती है । और अग्निदाह करने पर किसी भी प्रकार की वेदना की अनुभूति भी नहीं होती है । इससे यह अनुभव में आता है कि—चेतनात्मा की प्रतीति का लक्षण— ज्ञान—दर्शनात्मक चेतना के व्यवहार, तथा सुख—दुःख की संवेदना की अनुभूति से होती है । अतः आत्मा है या नहीं ऐसा कहनेवाले नास्तिकों के लिए यह लक्षण प्रत्यक्ष प्रमाण का काम करता है । इससे आत्मा प्रत्यक्ष प्रमाण सिद्ध है, ग्राह्य है यह स्पष्ट कहा जा सकता है ।

## देहपरिमाणता या अंगुष्ठमात्रता ?—

जैन सर्वज्ञों के सिद्धान्तानुसार आत्मा को स्वदेहपरिमाण ही माना है । परन्तु अन्य वेदान्तादि पक्षों के भिन्न मत भी हैं इस विषय में । रामानुज संप्रदायवादी अंगुष्ठ मात्राकार मानते हुए उसे शरीर के मध्य में हृदयस्थित मानते हैं । कोई दार्शनिक इसे लिङ्ग देह में मानते हैं । अद्वैत वेदान्ती इसे सर्वव्यापी—सर्वमूर्त—द्रव्यसंयोगी मानते हैं । अनन्त ब्रह्माण्ड

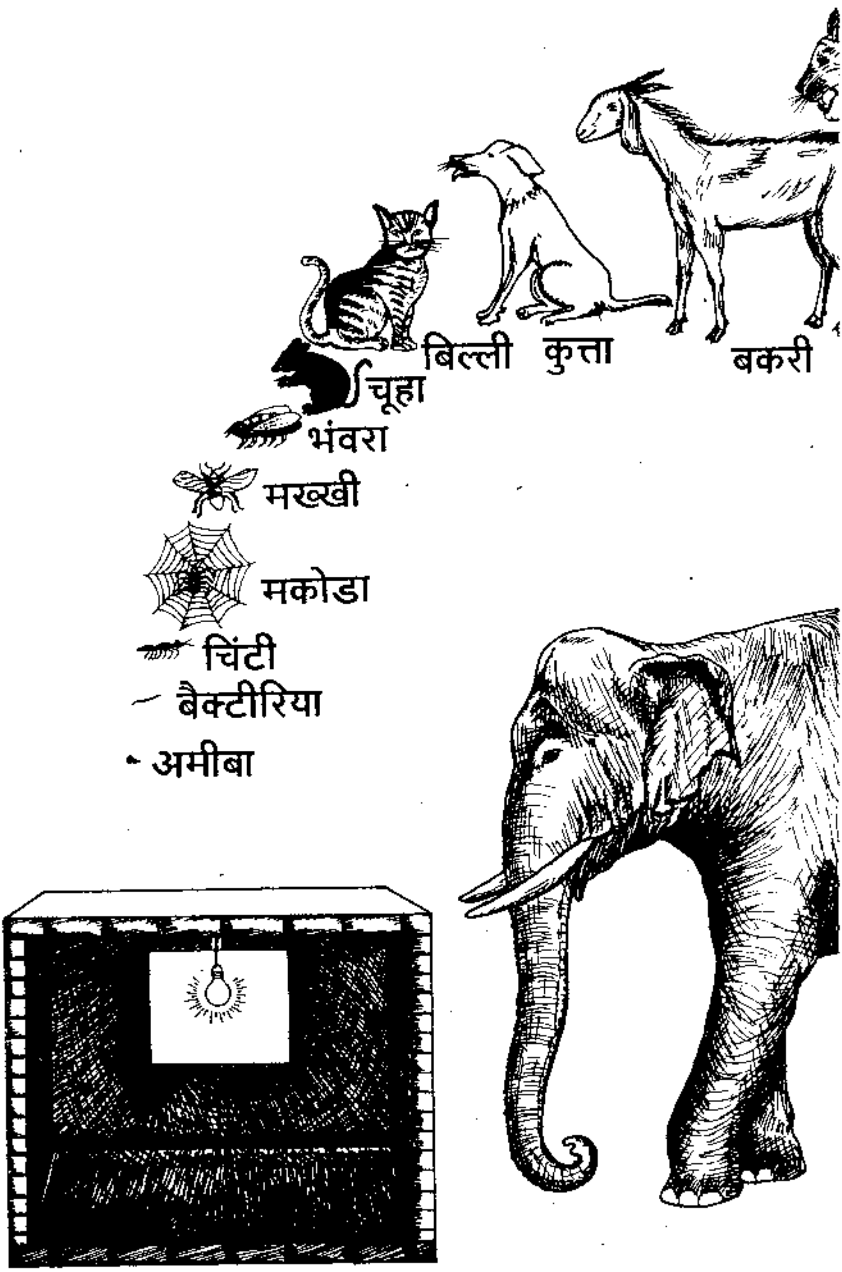
बकरी
कुत्ता
बिल्ली
चूहा
भंवरा
मख्खी
मकोडा
चिंटी
बैक्टीरिया
अमीबा

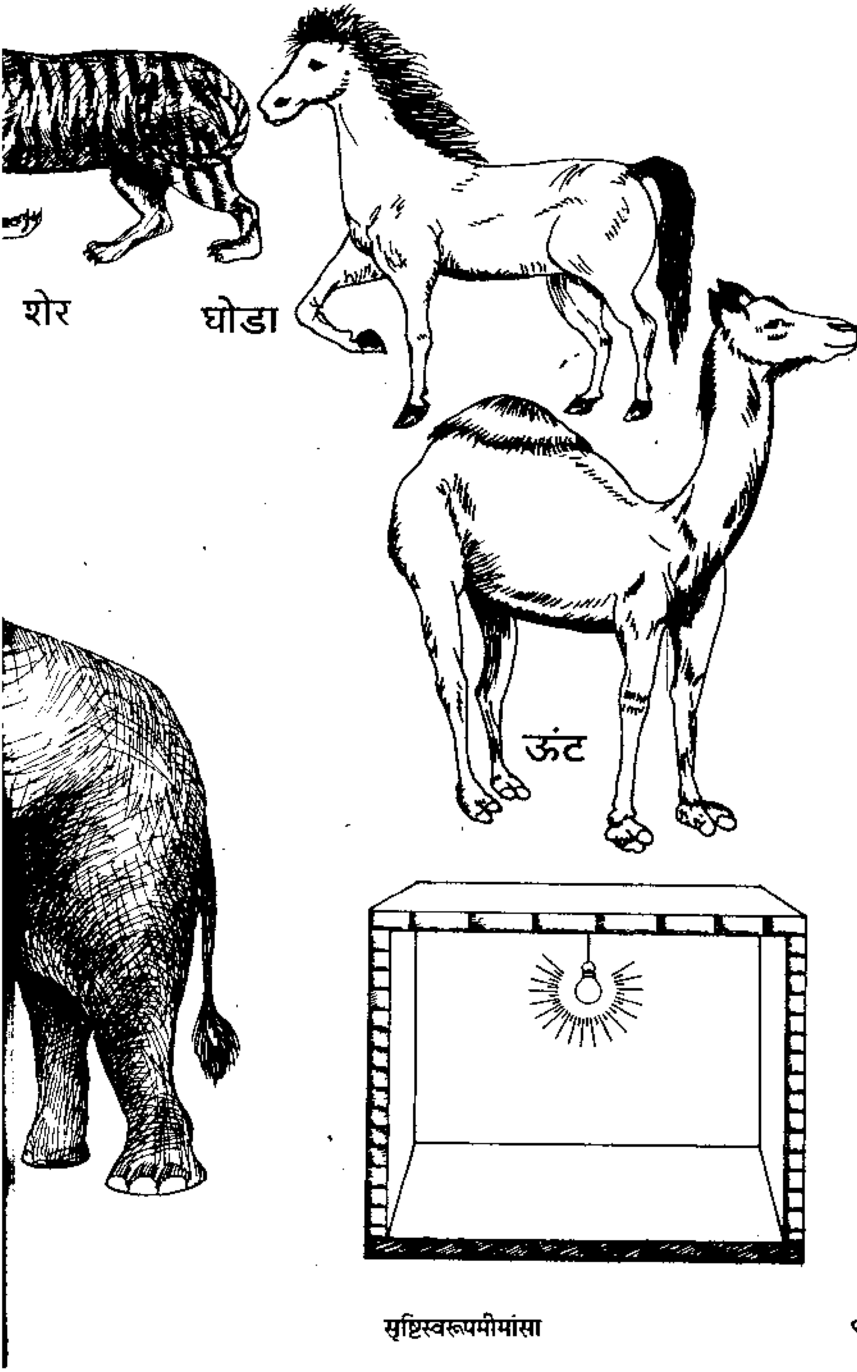
शेर
घोडा
ऊंट

की अनन्त जीव सृष्टि में अनन्त जीवों में रहनेवाला अनुगत द्रव्य वह एक ही है और सर्वत्र व्याप्त रहता है। वह विभु है।

परन्तु यह पक्ष उचित मानना असंभव है। क्योंकि सभी के शरीर भिन्न भिन्न हैं और प्रत्यक्ष देखने पर सबके सुख–दुःख भी भिन्न भिन्न दिखाई देते हैं। कोई सुखी है तो कोई दुःखी है। कई सुखी हैं तो कई दुःखी हैं। यदि सबकी एक ही आत्मा होती तो सभी एक समान सुखी ही होने चाहिए थे। या सभी एक समान दुःखी ही होने चाहिए। सभी जीवों में अनुगत एक ही आत्मा मानने पर अनेक दोषों की आपत्ति आएगी। अतः सर्वज्ञ के सिद्धान्तानुसार कहते हैं कि— **प्रतिक्षेत्रं भिन्न**—अर्थात् प्रत्येक शरीर में स्वतंत्र अलग अलग आत्मा का अस्तित्व है। क्षेत्र यहाँ शरीर अर्थ में प्रयुक्त है। प्रत्येक शरीर में भिन्न–भिन्न अलग अलग एक एक आत्मा ही रहती है, उसे प्रत्येक कहते हैं। और साधारण वनस्पति काय में एक शरीर में अनन्त आत्माएँ भी एक साथ रहती हैं। **"जेसिमणंतणं तणु एगा साहारणा ते उ॥"** जिन अनन्त जीवों के लिए रहने का शरीर सिर्फ एक ही हो उसे साधारण वनस्पतिकाय कहते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि— एक शरीर में अनन्त जीवात्माएँ भी रहती हैं। उदा.— आलु—प्याज–लसून—गाजर–मूला—शकरकंद आदि में एक साथ अनन्त जीवात्माएँ रहती हैं। अतः उनकी हिंसा से बचने के लिए शास्त्रकार महापुरुषों ने उन्हें अभक्ष्य बताया है। वर्ज्य गिना है।

७) **पौद्गलिकादृष्टवांश्च—** अदृष्ट—अर्थात् जो पुण्यपापादि हैं वे सभी पौद्गलिक हैं। जीवात्मा ने पुद्गल परमाणु की जो अष्ट महावर्गणाएँ हैं उनमें से कार्मण वर्गणा को ग्रहण किया है। आठों वर्गणाओं को ग्रहण करनेवाला तो जीवात्मा ही है। यदि जीवात्मा ही नहीं होती तो इन कार्मणादि आठों वर्गणाओं को कौन ग्रहण करता? और ग्रहण करके उनके अपने साथ परिणमन कौन करता? क्रियाकारक कर्ता तत्त्व आत्मा ही है। आत्मेतर पुद्गल पदार्थ में या... धर्मास्तिकाय–अधर्मास्तिकाय आकाश आदि में तो क्रियाकारकता नहीं है। अतः कर्तृत्वशक्ती नहीं है। कर्तापन का अभाव है। अतः पुण्य—पापरूप जो अदृष्ट है जिनको शुभ कर्म और अशुभ कर्म ही कहा गया है उनका कर्ता चेतनात्मा ही है।

८) **अयम्—** उपरोक्त सभी विशेषणों से स्पष्ट होता है— वह उस स्वरूपवाला प्रमाता जो है वही आत्मा है। क्योंकि इन सभी विशेषणों से युक्त चेतनात्मा ही द्योतित होता है। तद्भिन्न–अचेतन जड में ये कोई भी ... एक भी विशेषण नहीं घटेगा। अतः आत्मा इन सभी विशेषणों के संयुक्त स्वरूपवाला द्रव्य चेतनात्मा है।

## आत्मा का गुणात्मक स्वरूप—

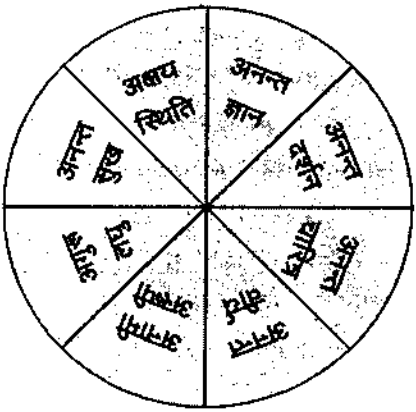


प्रत्येक द्रव्य—जगत् का गुणात्मक ही है । गुणरहित एक भी द्रव्य नहीं है । अतः जहाँ जहाँ द्रव्य है वहाँ वहाँ गुण अवश्य है और जहाँ जहाँ गुण हैं वहाँ वहाँ द्रव्य अवश्य ही है । इसलिए द्रव्य—गुण के बिना कभी रह ही नहीं सकता है और गुण के बिना द्रव्य कभी भी रह नहीं सकता है । उदाहरण के लिए सूर्य और उसकी किरणें । सूर्य द्रव्य है तो उसकी किरणें प्रकाश उसका गुण है । सूर्य कभी भी उसकी किरणों (प्रकाश) के बिना नहीं रह सकता है । ठीक वैसे ही किरणें—कभी भी सूर्य के बिना नहीं रह सकती हैं । इसी तरह आत्मा भी एक द्रव्य है और ज्ञान—दर्शनादि उसके गुण हैं । आत्मा कभी भी ज्ञान—दर्शनादि गुणों के बिना नहीं रह सकती है, इसी तरह ज्ञान—दर्शनादि गुण भी आत्मा के बिना कभी भी कहीं भी रह नहीं सकते हैं । अतः द्रव्य की व्याख्या स्पष्ट की गई है कि— **"गुणपर्यायवत् द्रव्यम्"** गुण और पर्यायवाला जो होता है वह द्रव्य ही होता है । आत्मा के गुण—ज्ञान—दर्शनादि आत्मा में ही रहते हैं । आत्मेतर—जड—पुद्गलादि द्रव्यों में कभी भी नहीं पाए जाते हैं । इसी तरह जड पुद्गल के वर्ण—गन्ध—रस—स्पर्शादि गुण जड में ही पाए जाते हैं वे कभी भी आत्मा में नहीं पाए जाते हैं । परस्पर दोनों के गुणों का संक्रमण नहीं होता है । गुण—द्रव्य की पहचान है ।

आत्मा के ८ प्रमुख गुण हैं । १) अनन्त ज्ञान, २) अनन्त दर्शन, ३) अनन्त चारित्र, ४) अनन्त वीर्य, ५) अनामी—अरूपी, ६) अगुरुलघु, ७) अनन्त सुख, ८) अक्षय स्थिति ।

१) **अनन्त ज्ञान—** ज्ञान आत्मा का गुण है । ज्ञानमय ही आत्मा है । अतः ज्ञान के बिना आत्मा की कल्पना भी नहीं की जा सकती और आत्मा के बिना ज्ञान की कल्पना भी नहीं की जा सकती । **अतः ज्ञानमयोऽयमात्मा** । ज्ञानमय ही आत्मा है । ज्ञान से व्याप्त आत्मा है । जैसे सूर्य प्रकाश का गोला है । तेजस्वी— तेजःपुंज—तेज का पिण्ड है । वैसे

ही आत्मा ज्ञानपूर्ण है। ज्ञान का ही भरा हुआ गोला है। इसे **ज्ञानाधिकरणमात्मा** – ज्ञान का अधिकरण न कहकर ज्ञानमय ही आत्मा कहा है। यह ज्ञान अनन्त है। अनन्त का सीधा अर्थ है अन्त रहित। जिसका कभी अन्त नहीं होता है वह अनन्त। असीम अमाप–अगाध–अपरिमित ज्ञान को अनन्त ज्ञान कहा है। अनन्त वस्तुविषयक होने से अनन्त। अनन्तकालिक होने से भी अनन्त। अनन्त द्रव्यों की अनन्त पर्याय सूचक होने से भी अनन्त। एक द्रव्य की त्रैकालिक अनन्त पर्याय सूचक होने से भी अनन्त। अनन्त क्षेत्री होने से भी अनन्त। अर्थात् लोक–अलोक की अनन्त सीमा तक के सर्वक्षेत्र का ज्ञापक होने के कारण भी अनन्त। इस तरह अनेक दृष्टि से भी आत्मा में अनन्त ज्ञान कहा गया है। इसी के सूचक शब्द सर्वज्ञान–केवलज्ञान–पूर्णज्ञान है। ऐसे ज्ञान वाला सर्वज्ञ–केवली–अनन्त ज्ञानी–पूर्णज्ञानी कहलाता है। यह जब कर्मावृत्त हो जाता है तब सीमित है। ज्ञान से आत्मा जगत के सभी भावों को जानती है। अतः आत्मा ज्ञाता है।

२) **अनन्त दर्शन**— जानना यह ज्ञान का कार्य है तो देखना यह दर्शन का कार्य है। ज्ञान की ही तरह आत्मा का दूसरा मुख्य गुण है दर्शन। यह भी अनन्त होने से अनन्त दर्शन कहा जाता है। इससे आत्मा अनन्त लोकालोक स्वरूप सब कुछ देख सकता है। बिना नेत्रों के भी प्रत्यक्ष दर्शन आत्मा को अनन्त द्रव्यों का, अनन्त पर्यायों का, अनन्त क्षेत्र तक का भी होता है। अतः सर्वदर्शी–सर्वदर्शनी–केवलदर्शी है। ज्ञान के साथ ही यह गुण भी रहता है।

३) **अनन्त (यथाख्यात) चारित्र**— तीसरा गुण आत्मा का अनन्त चारित्र है। इसी का दूसरा नाम यथाख्यात चारित्र है। स्वरूप रमणता–स्वभाव रमणता को चारित्र कहा है। इससे आत्मा बिना राग–द्वेष का वीतराग वीतद्वेष स्वभाववाला है। राग–द्वेष रहित भाव ही वीतराग भाव है। क्लेश–कषाय–कलह–कंकास–विषय– वासनादि रहित शुद्ध भाव ही चारित्र भाव है।

४) **अनन्तवीर्य**— यहाँ वीर्य शब्द शक्ती अर्थ में हैं। आत्मा में अनन्त शक्ती है। दान–भोगादि की अनन्त शक्ती है। आत्मा समय आने पर संपूर्ण लोक व्यापी भी बन सकती है। अपने असंख्य प्रदेशों को फैलाकर लोकव्यापी बना सकता है। १ समय में सर्वव्यापक बन सकता है। इतनी अनन्त शक्ती का मालिक चेतन आत्मा है।

५) **अनामी–अरूपी**— आत्मा नाम–रूप से परे अनामी है। इसका कोई नाम–नहीं है। रूप–रंग–नहीं है। अतः वर्ण–गंध–रस–स्पर्श से रहित

अवर्णी—अरंगी—अगंधी—अरसी—अस्पर्शी आत्मा है। रूप—रंग पुद्गल के होते हैं। आत्मा के नहीं। अतः आत्मा अरूपी अरंगी वर्णरहित है। वर्ण—गंध—रस—स्पर्शादि इन्द्रियग्राह्य है। और आत्मा के वर्णादि है ही नहीं अतः आत्मा चक्षु—आदि इन्द्रियग्राह्य नहीं है। इसीलिए आँख से देखा नहीं जाता है। आत्मा न तो पुरुष है और न हीं स्त्री—नपुंसक है। यह लिंग रहित है। आत्मा की कोई जाती आदि भी नहीं। अशरीरी है। कर्मवश उसे देह—लिंग, जाती आदि धारण करनी पडती है। न ही कोई आकार—प्रकार है अतः आत्मा निरंजन—निराकार है। अमूर्त है।

६) **अगुरुलघु—** गुरु का अर्थ है भारी—बडा। लघु का अर्थ है छोटा... हल्का। वजन की दृष्टि से आत्मा न तो भारी है और न ही हल्की है। अतः वजनरहित है। इसी तरह न तो बडी है न ही छोटी है। छोटे—बडे का व्यवहार भी कर्माधीन है। उच्च—नीच का भी व्यवहार कर्माधीन है। आत्मा के लिए यह व्यवहार नहीं है। अतः आत्मा ऊंच—नीच भी नहीं है। अतः अगुरु—लघु गुणसम्पन्न चेतन द्रव्य है।

७) **अनन्त (अव्याबाध) सुख—** व्याबाध अर्थात् पराभव होना। अवरोध होना। अव्याबाध अर्थात् किसी से पराभव भी नहीं और किसी प्रकार के अवरोध के बिना भी आत्मा स्वसुख का अनुभव करती है। आत्मा का सुख इन्द्रियजन्य—भोगजन्य—पदार्थजन्य—विषय-वासनाजन्य भी नहीं है। पराधीन या परवश भी नहीं है। स्वाधीन—स्ववश सुख है। अतः वह मात्र दुःखाभावरूप सुख नहीं है। वह अनन्त आनन्द रूप है। सच्चिदानन्दरूप आनन्दघनरूप है। ज्ञानानन्दरूप सुख अनन्त है। अव्याबाध है।

८) **अक्षय स्थिति—** क्षय अर्थात्— नष्ट होने वाला—विनाशी—नाशवंत। आत्मा की स्थिति अविनाशी है—अक्षय है। अतः अनन्त काल बीतने के बाद भी आत्मा स्व स्वरूप में ऐसी ही रहती है। अतः अजर—अमर है। जन्म—मरण रहित है। कर्माधीन स्थिति में जन्म—मरणादि करना पडता है। अकाल अर्थात काल के भी परे आत्मा है। कालाधीन आत्मा नहीं है। आत्मा के आधीन काल है। किसी भी काल की आत्मा पर कोई असर नहीं होती है। अतः आत्मा नित्य—शाश्वत—अविनाशी है। सदाकाल अपने स्वरूप में एक जैसी ही रहती है। अनादि—अनन्त इसकी स्थिती है।

इस तरह इन मुख्य आठ गुणों वाला आत्मा चेतन द्रव्य है। चैतन्यस्वरूप है। चेतना गुणवान है। शरीर आत्मा नहीं है और आत्मा शरीर नहीं है। आत्मा संसार में रहने के

लिए अपने लिए शरीर निर्माण करती है। रचना करती है। अतः शरीर औदारिक वर्गणा का पिण्डमात्र है। अतः देहात्मवादी जो कि देह को ही आत्मा मान लेते हैं वे भ्रम में हैं। इस भ्रान्ति में अज्ञानवश मिथ्या मार्ग पर चढ़कर विनाश के गर्त में चले जाते हैं। अतः देह ही आत्मा है इस अज्ञान में से मुक्त होने के लिए उपरोक्त वर्णन अवश्य मननीय है।

इसी तरह आत्मा मन भी नहीं है। मन से सर्वथा भिन्न—परे—आत्मा है। मन भी जड—पुद्गल—परमाणुओं से निर्मित है। चेतनात्मा ने ही चिन्तन करने—विचार करने के लिए मनोवर्गणा के परमाणुओं को ग्रहण करके मन बनाया है। वह भी जड है। आत्मा चेतन है। अतः मन को आत्मा कहना या फिर आत्मा को मन कहना बहुत बडी अज्ञानता—मूर्खता सिद्ध होगी।

आत्मा को यथार्थ वास्तविक स्वरूप में जैसी है वैसी ही समझना जानना चाहिए। यद्यपि इसे समझ पाना जान पाना अत्यन्त कठिन है। यह महासागर का मंथन करने जैसा है। परन्तु न जान पाएँ, न समझ पाएँ तो .... अपनी अज्ञानता प्रगट न हो जाय ... इस भय से अज्ञानता को छिपाने के लिए आत्मा है ही नहीं ... आत्मा जैसी किसी चीज का अस्तित्व ही नहीं है ऐसा कहकर आत्मा का सर्वथा निषेध कर देने से अपनी अज्ञानता छिप नहीं जाती है परन्तु अज्ञानता का प्रदर्शन पूरी दुनिया में जाहीर हो जाता है। आज भी आत्मा नहीं है ऐसा कहनेवाले कई हैं। लेकिन वे आत्मघाती हैं। **"स्वयं नष्टः परान्नाशयति"** संस्कृत की कहावत के आधार पर स्वयं तो नष्ट हो चुके हैं और औरों का भी नाश कर रहे हैं। ये आत्मघाती भी हैं और परघाती भी हैं। उतना ही नहीं आत्मा को न मानकर, आत्मा के अस्तित्व का सर्वथा निषेध करके भी ध्यान करा रहे है, सिखा रहे हैं। भला आप ही विचार करिए इसमें क्या तो ध्यान होगा ? कैसा ध्यान होगा ? वे ऐसे ध्यान में क्या पाएंगे ? गोले के बीच में जो केन्द्र है वहीं नहीं है तो बिना केन्द्र के गोला कैसे बनेगा ? वैसी ही स्थिति यहाँ भी है। ज्ञान—ध्यान—धर्म साधना—आराधना—मोक्षादि सबके केन्द्र में आत्मा है। उसके अभाव में सब निरर्थक हो जाएंगे। अतः आत्मा का अस्तित्व स्वीकारना अनिवार्य है। इसके बिना आस्तिक बन ही नहीं सकेंगे। इसके बिना उद्धार ही नहीं है। और आत्मा भी जैसी है वैसी ही, यथार्थ—वास्तविक स्वरूप में समझनी जाननी स्वीकारनी चाहिए। ईश्वर की बनाई हुई भी आत्मा नहीं है। अतः सर्वज्ञ प्ररूपित सत्यस्वरूप समझकर आत्मकल्याण साधिए।

* * *

## अध्याय ३

# संसार की विचित्रता के कारण की शोध

परम पूजनीय जगत् वंदनीय परमपिता परमात्मा श्री महावीरस्वामी भगवान के चरणारविंद में नमस्कारपूर्वक....

**एवं अणोरपारे संसारे सायरम्मि भीमंमि ।**
**पत्तो अणंतखूत्तो जीवेहिं अपत्त धंम्मेहिं ।।**

बड़ी मुश्किल से भी जिसका पार न पा सकें ऐसे भयंकर संसाररूपी समुद्र में धर्म को न प्राप्त किया हुआ जीव अनन्त की गहराई में गिरा है । यह संसार एक भयंकर महासागर के जैसा है । जिसमें सतत सुख—दुःख की लहरें चलती हैं, जो ज्वार—भाटे के रूप में आती है—जाती है । थोड़ी देर सुख तो थोड़ी देर दुःख । इस तरह यह संसार सुख—दुःख से भरा पड़ा है । संसार की तरफ जब दृष्टिपात करते हैं तब अनन्त जीवों का स्वरूप सामने दिखाई देता है । संसार क्या है ? संसार किसी वस्तु का नाम नहीं है । किसी पदार्थ विशेष को भी संसार नहीं कहते हैं । परन्तु जड़—चेतन का यह संसार है । चेतन जीव का जड़ के साथ जो संयोग—वियोग है वही संसार है । जीवों का सुखी—दुःखी होना ही संसार है । शुभाशुभ कर्म उपार्जन करना और उसके विपाक स्वरूप सुख—दुःख भोगना ही संसार है । जन्म—मरण का सतत चक्र चलता रहे उसे संसार कहते हैं ।

### अनादि—अनन्त संसार

यह संसार काल की दृष्टि से अनादि—अनन्त है । जिसकी आदि कभी भी नहीं होती । अनन्त जीवों की आदि नहीं है । अतः संसार भी अनादि है । चूंकि संसार का आधार ही जड़—चेतन दो पदार्थ हैं । और उनका भी संयोग—वियोग ही संसार है । आत्मा यह अनुत्पन्न द्रव्य है जो कि कभी उत्पन्न नहीं होता है । जो कभी बनाया नहीं जाता है । निर्माण नहीं होता । अतः उसका नाश भी नहीं होता । जो उत्पन्न होता है उसी का नाश होता है । जिसका नाश होता है वह उत्पन्न द्रव्य है । अतः इसी पर आधारित संसार भी अनादि काल से विद्यमान है । चूंकि आत्मा अनादि—अनन्त है, आत्मा की भी आदि नहीं है । अतः संसार

की भी आदि नहीं है। उसी तरह मोक्ष में अनन्त आत्माओं के बावजूद भी अनन्तानन्त आत्माएं इस संसार में सदा ही रहती हैं। संसार से सभी आत्माएं मोक्ष में नहीं चली गई हैं, अतः संसार का अन्त नहीं आया है। और अभवी जीव तो कदापि मोक्ष में जानेवाले ही नहीं है, अतः संसार का कभी भी अन्त आना संभव ही नहीं है। संसरणशील स्वभाववाला संसार अनन्तकाल तक सदा चलता ही रहेगा।

### अपना अन्त या संसार का अन्त ?

साधक अपने बारे सोचे में सोचें यही लाभप्रद है। जबकि ऐसा संसार का स्वरूप है। समष्टि से तो यह संसार अनादि–अनन्त है ही। परन्तु किसी व्यक्ति की दृष्टि से इसका अन्त भी है। भगवान महावीर का संसार अनादि जरूर था, लेकिन अन्त हो गया। एक व्यक्तिविशेष का संसार सान्त भी है। अतः संसार का अन्त लाना है कि हमको हमारे अपने संसार का अन्त लाना है ? समस्त संसार का अन्त तो संभव भी नहीं है। आनेवाला भी नहीं है। परन्तु अपने एक के व्यक्तिगत संसार का अन्त लाना चाहें तो जरूर ला सकते हैं। भूतकाल में भगवान महावीर की आत्मा ने अपने संसार का अन्त लाया। वैसे ही चौबीसों तीर्थंकरों ने, सभी गणधर भगवंतों ने, उसी तरह कई आचार्य, उपाध्याय एवं साधु–साध्वीजी महाराजों ने भी अपने संसार का अन्त किया और मोक्ष में विराजमान हो गए। परन्तु हमारे जैसों का संसार तो आज भी चल ही रहा है। और मान भी लो हम जब संसार छोड़कर मोक्ष में चले जाएंगे तब कीडे–मकोड़े–कृमि–कीट–पतंग आदि अनन्त जीव इस संसार में आएंगे। उनका संसार चलता ही रहेगा। संसार का कभी अन्त नहीं होता।

**काले अणाइ निहणे जोणि गहणंमि भीसणे इत्थ।**
**भमिया भमिहंति चिरं जीवा जिणवयणमलहन्ता॥**

पू. शांतिसूरि महाराज जीवविचार प्रकारण में फरमाते हैं कि— अनादि काल से अनेक योनियों को ग्रहण करता हुआ यह जीव इस भीषण संसार के अन्दर भटकता रहा है और जिनेश्वर भगवान के वचन (आज्ञा) को न प्राप्त करनेवाला भविष्य में भी चिरकाल तक इस संसार में भटकता ही रहेगा।

### हम संसार को छोडें या संसार हमें छोडे ?

एक युवक रास्ते पर इलेक्ट्रिक के खम्भे से लगा हुआ जोर से चिल्ला रहा था— बचाओ... बचाओ... छुड़ाओ... छुड़ाओ। किसी सज्जन को यह सुनकर दया आई

और वह छुड़ाने आया। साथ में किसी दूसरे को भी मदद में लेता आया। दोनों ने दो हाथ पकड़कर खींचना शुरू किया। जैसे जैसे दोनों जोर लगाकर हाथ खींचते जा रहे थे कि युवक हाथ मजबूत पकड़ रहा था। उसकी मजबूत पक्कड़ से वे दोनों छुड़ा नहीं सके और चल दिये। यह दृष्य देखकर एक तीसरा सज्जन आया। उसने सोचा कि इस युवक ने खम्भे को पकड़ रखा है कि इस खम्भे ने युवक को पकड़ा है ? क्या बात है ? अन्दर से उत्तर मिला— खम्भा तो जड़ है। जड़ कहाँ चेतन को पकड़ रखता है ? अतः इस युवक ने ही खम्भे को पकड़ रखा है, और फिर भी यही चिल्ला रहा है बचाओ . . . बचाओ . . . छुड़ाओ . . . छुड़ाओ। क्या बात है ? गंगा उल्टी बह रही है। यदि खम्भे ने पकड़ रखा होता और युवक चिल्लाता तो बात सही भी थी। लेकिन खुद ही चिल्ला रहा है। यह कैसी मूर्खता है ? इसने खम्भे को पकड रखा है और खम्भा तो चिल्ला भी नहीं रहा है चूंकि जड़ है। चिन्तक था, चिन्तन किया। यहाँ बल का काम नहीं था। कल (अक्कल) का काम है। उस सज्जन ने कस कर दो थप्पड़ उस युवक के मुँह पर जोर से मारी। चमत्कार ही समझ लो। युवक के हाथ छूट गए और सीधे गाल पर लग गए। युवक ने रोते हुए भारी स्वर में कहा मुझे मारा क्यों ? क्या यह छुड़ाने का—बचाने का तरीका है ? सज्जन ने कहा— मांफ करना, कभी ऐसा भी तरीका अजमाना पड़ता है। जबकि मेरे पहले दो सज्जनों ने हाथ खींचकर काफी प्रयत्न किया पर नहीं छुड़ा सके, अतः मैंने बुद्धिपूर्वक एवं युक्तिपूर्वक यह तरीका अपनाया है। अतः माफ करना। परन्तु मैं यह पूछ रहा हूँ कि— तूने खम्भे को पकड़ रखा था कि खम्भे ने तुझे पकड़ रखा था ? यदि खम्भे में करंट होता तो कब का मर चुका होता। यह तो बताओ, किसने किसको पकड़ रखा था। आश्चर्य है कि तुमने ही खम्भे को पकड़ रखा और तुम ही चिल्ला रहे थे तो क्या यह मूर्खता नहीं थी।

वाह ! बहुत अच्छा प्रश्न था उस सज्जन का। इस रूपक को हम किसी संसारासक्त संसारी पर लें और देखें कि हमने संसार को पकड़ रखा है कि संसार ने हमको पकड़ रखा है ? हम साधु—संतों के पास जाते हैं, कहते हैं कि हे भगवन् ! मेरे ऊपर दया करो। इस संसार से बचाओ . . . छुड़ाओ। साधु—संत सदा ही संसार छोड़ने का उपदेश देते हैं, लेकिन संसार ने यदि आपको पकड़ा हो तो तो आपको उसके पंजे से छुड़ा भी सकें। परन्तु संसार ने तो आपको पकड़ा नहीं है। आपने संसार को पकड़ कर रखा है। अतः साधु—सन्तों को चाहिए कि पहले दो सज्जनों की तरह प्रयत्न न करके तीसरे सज्जन के जैसा प्रयोग करे तो तो . . . चमत्कार सम्भव है। चूंकि आपने आसक्ति से संसार को पकड़ रखा है, और फिर आप ही चिल्ला रहे हो। अतः बड़ा मुश्किल है। सोते हुए को जगाना

आसान है परन्तु जागते हुए को जगाना बहुत ही कठिन है। संसार हमको नहीं छोड़ेगा चूंकि उसने पकड़ भी नहीं रखा है। हमने ही आसक्ति से संसार को पकड़ रखा है अतः हमको ही छोड़ना पड़ेगा। तभी संसार छूटेगा।

संसार का स्वरूप बड़ा ही विचित्र है। संसार में एक आता है दूसरा जाता है। एक जन्म लेता है तो दूसरा मरता है। बच्चा जन्म लेता है तो माँ मरती है। कभी कभी दोनों ही मृत्यु की शरण में चले जाते हैं। किसी के घर महेफिल चल रही है तो किसी के घर... रूदन चल रहा है। कहीं हँसी–खुशियों का कोई पार नहीं है तो कहीं रो–रोकर आँखों से गंगा–जमुना बहा रहे हैं। कहीं सुख–मौज की लहरें चल रही हैं तो कहीं दुःख की थपेड़ें खा रहे हैं। ज्ञानी भगवंतों ने अपने ज्ञान योग से भावि का स्वरूप एवं जन्म के बाद के जन्मान्तर का स्वरूप देखकर बताया कि इस संसार में माँ मरकर पत्नी बनती है और पत्नी मरकर माँ बनती है। बाप मरकर बेटा बनता है और बेटा मरकर बाप बनता है। भाई मरकर शत्रु भी बनता है, बेटी मरकर बहन भी बनती है। यह तो फिर भी ठीक है कि, मृत्यु के बाद अगले जन्म में ऐसे सम्बन्ध बनते हैं। लेकिन इसी जीवन में ऐसे सम्बन्ध आज भी संसार में हो रहे हैं, जहाँ भाई–बहन की शादी की जाती है। आए दिन अखबारों में पढ़ते हैं कि बाप ने अपनी बेटी पर बलात्कार किया। बेटे ने कुल्हाड़ी से माँ और बाप दोनों को मार डाला। पति ने पत्नी को जिन्दा जला दिया और पत्नी ने पति को चाय में जहर पिला दिया। कहीं भाई भाई का गला घोटता है तो कहीं बाप बेटे को जान से मार डालता है। कहीं सास बहु को जला देती है, तो कहीं संसार से ऊब कर बहु अपने आप जलकर मर जाती है। प्रेम के नाम पर भी मौत और मौत के सामने दिखने पर भी प्रेम की चाहत। बड़ा ही विचित्र संसार का स्वरूप है।

एक बहुमाली मंजिल से किसी कुंआरी कन्या ने जो माता बन चुकी थी, अपने नए जन्मे हुए शिशु को ऊपर से नीचे कूडे–कचरे में फैंक दिया। हाश ! क्या माता के दिल में से संतान के प्रति प्रेम समाप्त हो जा रहा है ? क्या दयालु माता निर्दयी बनती जा रही है ? परन्तु हाँ, पत्नी बने पहले कुंआरी अवस्था में माता बनने के बाद क्या नतीजा आएगा ? हाय ! यही कलियुग की पहचान है कि पत्नी बनने के पहले माँ बनना, और सन्तान के प्रति क्रूर बनकर फैंक देना। उस अपरिणित युवती ने ताजे जन्में हुए शिशु को ऊपर से फैंक दिया। नीचे कागज का ढेर था, उस पर बालक गिरा। सद्भाग्यवश बच गया। किसी सज्जन ने उठाकर अनाथाश्रम में दे दिया। पालन–पोषण हुआ। वह लड़की थी, बड़ी हुई। अनाथाश्रमवासियों ने स्कूल में पढाया और कालेज में भेजा। इधर माता–पिता ने

जल्द ही युवती की शादी कर दी । उसको एक लड़का हुआ, लड़के को स्कूल में डाला । बड़ा होकर उसी कालेज में गया । वहाँ उसी लड़की से प्रेम हुआ जो अपनी ही बहन थी । चूंकि एक ही माँ के दोनों संतान थे । शादी भी हो गई और संसार चलने लगा । ऐसी घटनाएं तो आज अनेक होती हैं । अमेरिका में जहाँ स्कूल–कालेज में छात्राएं पढ़ती हैं वहाँ अपरिणित युवतियों में २०% से ३०% छात्राएं प्रतिवर्ष माता बनती हैं, जिसमें १४ वर्ष से १८ वर्ष की आयु होती है और ५०% से ६०% जो माता नहीं बनती है वह पहले से गर्भपात करा देती है । गर्भपात केन्द्रों पर स्कूल–कालेज की छात्राओं की कतारें अन्दर–अन्दर लगती हो, यह कितनी शर्म की बात है । परन्तु वर्तमान युग के मानवी ने जहाँ अपने आप को बहुत ही ज्यादा बुद्धिशाली और सभ्य समझ लिया है वहाँ शर्म–धर्म कहाँ से रहे ? संसार का यह स्वरूप बड़ा ही डरावना है । हाँ, ऐसा तो चलता ही रहता है । काल की बदलती हुई करवट में सब कुछ बदलता रहता है ।

## एक जन्म में १८ प्रकार के सम्बन्ध

मथुरा नगरी की एक नई नई तरुण वेश्या ने एक पुत्र–पुत्री के युगल को जन्म दिया । अपनी वेश्यावृत्ति के व्यवसाय को चलाने हेतु से दोनों को चिन्ह रूप अंगूठी पहनाकर एक लकडे की पेटी में बन्द करके नदी के प्रवाह में बहा दिया । बच्चों के भाग्य के भरोसे बहती–तैरती पेटी सौर्यपुर शहर के दो व्यापारी मित्र जो नदी के किनारे बैठे थे उन्होंने ली, खोली । उसमें से एक लड़का और एक लडकी निकली । दोनों संतान के अभाववाले थे । अतः दोनों ने एक–एक बाँट लिया और शर्त यह रखी कि भविष्य में इनकी शादी करनी । वैसा ही हुआ । यौवनवय में शीघ्र ही दोनों की शादी कर दी गई । कल के दोनों भाई–बहन आज पति–पत्नी बन गये ।

एक बार जुआ खेलते समय अंगूठी से दोनों को ख्याल आया और बाद में अपने पालकों से पूछकर वास्तविकता जानकर कि हम भाई–बहन है, अतः संबंध छोड़ दिया । बहन ने पश्चात्ताप से दीक्षा ली और भाई व्यापारार्थ मथुरा गया । योगानुयोग कर्मसंयोगवश कुबेरदत्ता वेश्या जो अपनी माँ थी उसी के यहाँ ठहरा । उसी के साथ (माँ के साथ) देहसंबंध का व्यवहार चलने लगा । दैवयोगवश एक पुत्र रत्न की प्राप्ति हुई । इधर बहन साध्वी को अवधिज्ञान होने से यह विचित्र योग देखकर साध्वी विहार करके मथुरा नगरी में उस वेश्या के घर आई । घर के प्रवेश द्वार में उस रोते हुए बालक को शांत करने के बहाने से लोरी गाने लगी । उस लोरी में साध्वी ने अपने संबंध सुनाए । हे बालक ! क्यों रोता है,

तेरे मेरे तो कई संबंध हैं । तू मेरा भाई होता है, पुत्र भी कहलाता है, देवर भी है, भतीजा भी होता है, चाचा भी लगता है तथा पौत्र भी लगता है । तेरे पिता मेरे भाई भी होते हैं, पिता, दादा, पति, पुत्र और श्वसुर भी लगते हैं । हे बालक ! तू रो मत । भाई ! तेरी माँ मेरी भी माँ लगती है, मेरे बाप की भी मां लगती है । मेरी भूजाई, पुत्रवधु, सास और शोक्य भी लगती है । इस तरह १८ प्रकार के सभी संबंध तेरे मेरे बीच लगते हैं । बनते हैं । तेरा बाप और मैं भाई—बहन हैं, और पति—पत्नी के संबंध से जुडे । इतना ही नहीं हम छूटे तो भाई (पति) कुबेरदत्त यहाँ मथुरा में आकर अपनी माँ के साथ ही देहसंबंध करता हुआ पतिरूप में रहने लगा और उससे एक पुत्र पैदा हुआ । हाय ! इस संसार की कैसी भयंकर विचित्रता ? अब क्या किया जाय ? किसको मुँह दिखाए ? साध्वी जो कुछ बोल रही थी वह वेश्या ने और कुबेरदत्त दोनों ने सुना । सुनकर बहुत ही दुःख हुआ । विषयवासना के निमित्त कैसे भयंकर पापकर्म हो जाते हैं । पश्चात्ताप से मन वैराग्यवासित हुआ । भाई ने भी दीक्षा ली । साधु बनकर कडी तपश्चर्या करके पाप धोने का संकल्प किया । वेश्या ने वेश्यावृत्ति छोड़ दी । सभी पापों को धोने के लिए पश्चाताप एवं प्रायश्चित की प्रवृत्ति में लग गए । कैसा विचित्र है यह संसार ? कैसी घटनाएं घटती हैं ? कैसा स्वरूप धारण कर लेती हैं ?

**विचित्रता, विषमता और विविधता**

इस तरह देखने से स्पष्ट दिखाई देगा कि समस्त संसार का स्वरूप सैकडों प्रकार की विचत्रताओं, विविधताओं एवं विषयताओं से भरा पड़ा है । अतः यही सत्य कहा जाता है कि जहाँ इस प्रकार की विचित्रता, विषमता एवं विविधताएं भरी पड़ी हैं, वही संसार है । उसी का नाम संसार है । संसार के बाहर मोक्ष में इनमें से एक भी नहीं है । चित्र अर्थात् आश्चर्य—विचित्रता अर्थात् आश्चर्यकारी—विस्मयकारी स्वरूप । अतः संसार का स्वरूप जो भी कोई देखे उसे आश्चर्यकारी ही लगेगा । संसार में आश्चर्य नहीं होगा तो कहाँ होगा ? अतः समस्त आश्चर्यों का केन्द्र संसार ही है । आप देखेंगे कि—

कोई सुखी है तो कोई दुःखी है ।
कोई राजा है तो कोई रंक है ।
कोई अमीर है तो कोई गरीब है ।
कोई बंगले में है तो कोई झोपड़ी में है ।
कोई राजमहल में है तो कोई फुटपाथ पर है ।
कोई हँसमुख है तो कोई रोता हुआ है ।

कोई सज्जन है तो कोई दुर्जन है ।
कोई बुद्धिमान चतुर है तो कोई बुद्धू मूर्ख है ।
कोई साक्षर विद्वान है तो कोई निरक्षर भट्टाचार्य है ।
कोई सीधा—सादा सरल है तो कोई मायावी कपटी है ।
कोई भोला—भाला भद्रिक है तो कोई छल—कपट करनेवाला प्रपंची है ।
कोई सन्तोषी है तो कोई लालची है ।
कोई निर्लोभी है तो कोई लोभी है ।
कोई उदार दानवीर है तो कोई उधार लेकर भी कृपण है ।
कोई धनवान सम्पन्न है तो कोई निर्धन विपदा में है ।
कोई साधार सशरण है तो कोई निराधार अशरण है ।
कोई गोरा सुन्दर रूपवान है तो कोई काला कुरूप है ।
कोई निरोगी हृष्ट—पुष्ट है तो कोई रोगी दुर्बलदेह है ।
कोई सर्वांग सम्पूर्ण है तो कोई विकलांग है ।
कोई मोटा ताजा मस्त है तो कोई दुबला—पतला त्रस्त है ।
कोई समझदार है तो कोई नासमझ नादान है ।
कोई मन्दमति मूढ़ है तो कोई तीव्रमति चपल है ।
कोई लम्बा लम्बूचन्द है तो कोई बौना वामन है ।
कोई ज्ञानी है तो कोई अज्ञानी है ।
कोई वैरागी है तो कोई रागी है ।
कोई सबल है तो दूसरा निर्बल है ।
कोई क्षमाशील शांत है तो कोई क्रोधातुर आग है ।
कोई नम्र—विनम्र विनयी है तो कोई अक्कड अविनयी है ।
कोई निरभिमानी विनीत है तो कोई महाभिमानी—घमण्डी है ।
कोई दयालु है तो कोई निर्दय क्रूर है ।
कोई चिरायु है तो कोई अल्पायु है ।
कोई प्रभावसम्पन्न है तो कोई प्रभावरहित है ।
कोई तेजःपुंज समान है तो कोई निस्तेज है ।
कोई यश—प्रतिष्ठावाला है तो कोई अपयश—अपकीर्तिवाला है ।
कोई सन्तान—परिवारवाला है तो कोई निःसंतान अकेला है ।
कोई प्रेम रखता है तो कोई वैर—वैमनस्य रखता है ।

कोई धन लुटा रहा है तो कोई कौड़ी कोड़ी के लिए मुहताज है।

कोई फूल सुगन्धी है तो कोई सुगन्ध रहित है।

किसी के यहाँ खाने के लिए बहुत है पर अफसोस कि खानेवाला कोई नहीं है और किसी के यहाँ खानेवाले बहुत ज्यादा है तो खाने के लिए रोटी का टुकड़ा भी नहीं है। किसी के घर पहनने के लिए ढेर कपड़े हैं, एक साथ २—४ कपड़े पहनते हैं तो किसी के घर शरीरलज्जा ढांकने के लिए भी कपड़ा नहीं है। नंगे घूम रहे हैं। तो किसी के पास कफन के लिए भी नहीं हैं। यह संसार की कैसी विचित्रता है। संसार की ऐसी सैकड़ों विषमताएं हैं। और सच कहो तो विषमताओं से ही भरा पड़ा संसार मानों विचित्रताओं, विषमताओं तथा विविधताओं का ही बना हुआ है। इस संसार की चित्र विचित्र बातें भी कम नहीं हैं। किसी के एक भी संतान नहीं है तो किसी को एक साथ ३, ५, ६ सन्तानें होती हैं। कोई जुड़वा सिरवाले बालक हैं तो कोई जुड़वा पेटवाले बालक हैं। किसी किसी में सारा शरीर अच्छा सुन्दर है परन्तु अंगोपांग पूरे विकसे नहीं है।

एक माँ अपने ८ महिने के बालक को कपड़े में लपेटे हुए लाई। बालक इतना सुन्दर और मनमोहक था कि प्यार करने के लिए किसी का भी जी ललचा जाय। परन्तु कपड़ा हटाकर माँ ने बालक को दिखाया तब देखते देखते आँखें फटने लगी। अरे यह क्या? बांया हाथ कोनी तक ही बना था और दांया हाथ कलाई तक ही बना था। उसी तरह बांया पैर घुटने तक ही बना था और दाहिना पैर एडी तक भी नहीं बना था। यह कैसा आश्चर्य? इतना सुन्दर बालक होते हुए भी यह विचित्र अवस्था? विपाक सूत्र नामक ११ वें अंगसूत्र में दुःख विपाक के पहले अध्ययन में मृगापुत्र का जो वर्णन किया गया है वह रोम रोम खड़े कर दे ऐसा आश्चर्यकारी है।

एक माँ अपने १४ महिने के बच्चे को लेकर आई और कहा महाराज ! डाक्टर ने कहा है कि यह मुश्किल से एक दिन भी नहीं जीएगा। सारे शरीर में कैंसर की गांठें भर गई हैं। मुँह से पानी भी नहीं उतरता है और पेशाब भी नहीं होता। मौत का इन्तजार करता हुआ वह सुन्दर—सुरूप बालक दिल में दया का मानों स्रोत बहा रहा है। पर हाय ! निःसहाय निरुपाय बालक ने दूसरे दिन दम तोड़ दिया। यह कैसी विचित्रता है !

पशु—पक्षियों की सृष्टि में दृष्टिपात करने पर दुनिया भर की विचित्रता विविधता दिखाई देती है। मूक मन से प्राणियों की यह विचित्रता संसार में देखते ही रहो . . . बस . . . देखने के सिवाय और कोई उपाय ही नहीं है। बेचारें ऊंट का शरीर कैसा है? अठारह ही अंग सभी टेढे मेढे। हाथी का शरीर इतना बड़ा भीमकाय है कि बिचारा भाग भी न

सके । कुत्ते—बिल्ली कि विचित्रता कुछ और ही है । खाने के हाथ भी नहीं है । बन्दर दो पैरों का खाने के लिए हाथ की तरह उपयोग भी कर लेता है । जलचर प्राणियों के न हाथ न पैर । मछलियाँ अपने पंख से ही तैरती रहती है । पक्षी पंख से उड़ते हैं । किसी के सींग है, तो किसी के एक भी सींग नहीं, तो किसी के बारह सींग पेड की डाली की तरह दिखाई देते हैं । पशु—पक्षियों की प्राणी सृष्टि में कीड़े—मकोड़े तक देखने जाएं तो आश्चर्य का पार नहीं रहेगा । किसी के कान ही नहीं तो किसी के आँख ही नहीं हैं । कोई जीवन भर आँख के बिना ही काम चलाते हैं । इन्द्रियों के भी विकल बिचारे विकलेन्द्रिय जीव किसी कदर जीवन बिता रहे हैं । सभी जीव आहारादि की संज्ञा के पीछे जीवन बिता रहे हैं । मानों बहते पानी की तरह सभी का जीवन बीतता जा रहा है । फिर भी दुःख से मुक्ति कहाँ है ? अगले जन्म में वहीं परम्परा चलती रहती है । न तो भवचक्र का अन्त है और न ही जन्म—मरण के चक्र का अन्त है, और न ही संसार का अन्त । न ही भव—भ्रमण का अन्त है । किसी के लिए तो हम कहते हैं— "वन्स मोर प्लीज" फिर से दुबारा गाइए । दुबारा बोलिए । आप तो दो घंटे से भी ज्यादा बोलते ही रहिए । और किसी के लिए "गधा कहीं का ! बड बड करता ही रहता है, बैठता भी नहीं है ।" किसी का मधुर सुस्वर मीठा कंठ पसंद आता है, मुग्ध कर लेता है, तो किसी का स्वर भैसासूर गर्दभराज का फटा हुआ गला सुनने को जी नहीं चाहता । कोई कोयल जैसा तो कोई कौए जैसा । कौए और कोयल में भी क्या अन्तर है ? समान दिखनेवाले भी आसमान—जमीन का अन्तर रखते हैं । कोयल अपने वर्ण से नहीं परन्तु कंठ से सभी को प्रिय है । जबकि कौआ किसी भी रूप में किसी को प्रिय नहीं है । सभी को अप्रिय है । संसार में प्रियाप्रिय की विचित्रता बड़ी लम्बी चौडी है ।

इस प्रकार का संसार देखने से सेंकड़ों प्रकार की विचित्रता, विविधता और विषमता दिखाई देती है । इसका कारण क्या हो सकता है ?

### दो भाई के बीच वैषम्य

एक माँ के दो पुत्र या चार पुत्र भी परस्पर समान स्वभाववाले नहीं होते हैं । समान प्रेम भी नहीं होता । भाई भी दुश्मन बन जाते हैं । एक दिन एक थाली में इकट्ठे भोजन करनेवाले दो भाई एक दिन एक दूसरे के दुश्मन बन जाते हैं । एक दूसरे की आँखों के सामने देखने के लिए भी तैयार नहीं हैं । ऐसे दृष्टांत को देखने जाए तो संसार में लाखों हैं । औरों की तो बात ठीक ! परन्तु हमारे परम उपकारी भगवान पार्श्वनाथ का ही दस भवों

का संसार देखें तो बड़ी भयंकर विचित्रता सामने आएगी। पहले जन्म में दोनों एक माता–पिता के दो पुत्र सगे भाई थे। बडा भाऊ कमठ और छोटा भाई मरुभूति। माता–पिता ने दोनों की शादी करा दी। कालावधि समाप्त होने पर दोनों स्वर्ग में चले गए। कालक्रम से दोनों भाई बड़े हुए। सामान्य निमित्तों के कारण बड़े भाई कमठ को छोटे भाई मरुभूति पर निष्कारण वैमनस्य रहने लगा। वह घर छोड़ कर जंगल में भाग गया। तापस के आश्रम में जाकर संन्यासी बना। परन्तु मन में भाई का वैर लेने की वृत्ति शांत नहीं हो रही थी। वह संन्यासी बनकर आया और गाँव के बाहर धूणी लगाकर तपश्चर्या करके बैठा। मुसाफिर के साथ मरुभूति को बुलाने का संदेश भेजा। भद्रिक परिणामी मरुभूति मिलने गया। ऐसा मौका देखकर बड़े भाई कमठ ने बड़े पत्थर की शिला उठाकर पैरों में झुके भाई के सिर पर जोर से पटककर सिर फोड कर मार डाला। इतने से भी संतोष नहीं हुआ... तब अपनी समस्त तपश्चर्या को होड में लगाकर नियाणा किया कि भावि में जनम–जनम तक इसको मारनेवाला तो मैं ही बनूं। यही हुआ आगे। १० जन्म तक दोनों भाईयों का भव संसार वैर–वैमनस्य का चला। छोटा भाई मरुभूति जो स्वभाव से शांत प्रकृति का था, समता का साधक था, आत्मकल्याण की साधना में लगा हुआ था। ठीक इससे विपरीत प्रकृतिवाला बड़ा भाई कमठ था। वह सभी जन्मों में मारनेवाला ही बना। मारता ही गया। परन्तु याद रखिए मारनेवाले का ही बिगडता है। समता से मरनेवाले का कुछ भी नहीं बिगड़ता। दुर्गति मारनेवाले की होती है। समता से समाधि में मरनेवाले की सद्गति होती है। संसार में मारने की वृत्तिवाले तो लाखों हैं जबकि समता से समाधि में मरनेवाले विरले हैं। मरनेवाला महान है। मारनेवाला अधम है। अन्त में यही हुआ। दस जन्मों तक समता शांति रखनेवाला छोटा भाई मरुभूति दसवें जन्म में भगवान पार्श्वनाथ बनकर मोक्ष में गए। जबकि बड़ा भाई कमठ आज भी संसार की घटमाल में भटक रहा है। न मालुम आगे कितने भवों तक भटकता ही रहेगा। सगे भाइयों के बीच ऐसा भयंकर संसार चलता है तो फिर अन्यों में तो कहा ही क्या जाय? जाति वैमनस्य का रूप तो और भी भयंकर है।

### एक जज तो एक भिखारी

बात सगे दो भाई की है। छोटा भाई तो हाईकोर्ट का जज है और बड़ा भाई रस्ते पर भीख मांगता हुआ भिखारी है। योगानुयोग रास्ते में भिखारी हमारे पास आया, कुछ मांगने की दृष्टि से। और उसी समय जज साहब भी वहाँ से पसार रहे थे कि वे भी रुके।

भाई को कहा चल गाड़ी में बैठ जा। मेरे साथ बंगले में ही रह जा। क्यों इस तरह भीख मांगता है ? दुनिया देखती है, मुझे शरमिंदा होना पड़ता है। बहुत कुछ कहा लेकिन भाग्य कहाँ घसीट ले जाते हैं ? कैसा विचित्र संसार ! दो भाईयों में भी समानता नहीं है। बड़ी भारी विषमता है। विचित्रता है। एक मां के चार बेटे भी समान स्वभाव के नहीं हैं। कोई पूर्व दिशा की बात करता है तो दूसरा पश्चिम की। कोई क्रोध की आग से घर को जलाता है तो कोई लोभवृत्ति से घर को लूटता है। कोई मान अभिमान से घर की इज्जत बिगाड़ता है। तो कोई मायावी वृत्ति से कपट का जाल रचता है। संसार सर्वत्र विचित्र सा दिखाई देता है। इतना ही नहीं युगल रूप में जन्मे हुए दो भाईयों के बीच में भी साम्यता नहीं होती है। क्या कारण है ?

**भव रोग का भय**

भव अर्थात् संसार, भव अर्थात् जन्म—मरण, भव अर्थात् संसार की भव परम्परा। देह रोग का भान तो सबको होता है। परन्तु भव रोग का ज्ञान किसी विरल को ही होता होगा। आधि—व्याधि—उपाधि में कई प्रकार के रोग बताए गए हैं। शारीरिक रोग एवं मानसिक रोग तो प्रसिद्ध ही हैं। सभी इनसे अच्छी तरह सुपरिचित हैं। शरीर में होने वाले रोग शारीरिक रोग हैं। पागलपन आदि मानसिक रोग हैं। उन्माद आदि कामासक्ति के रोग हैं। ये सभी साध्य—असाध्य दोनों कक्षा के हैं। कई रोग जो साध्य हैं वे जल्दी ठीक हो जाते हैं। लेकिन जीव लेकर ही जानेवाले असाध्य रोगों की सूचि भी आज छोटी नहीं है। शरीर तंत्र में होनेवाले शारीरिक रोगों से आज सभी संतप्त हैं। उससे बचने के लिए सैकड़ों उपाय ढूंढ निकाले हैं। कई प्रकार के इलाज कराए जाते हैं। लेकिन इसी शरीर के भीतर रहनेवाली जो चेतना शक्ति है जिसे आत्मा कहते हैं जिसके आधार पर ही यह जीवन चल रहा है; आत्मा चली जाय तो इस मृत शरीर की कोई किमत नहीं है। आग में जलाकर भस्म कर देते हैं। अतः इनका अमूल्य कीमती तत्त्व आत्मा जो केंद्र में है उसके बारे में क्यों कभी कोई सोचता तक नहीं है। जैसे शरीर में रोग उत्पन्न हो सकते हैं वैसे ही आत्मा में भी रोग हो सकते हैं। आत्मा को भी रोग लागू हुआ है। वह है भव रोग। भव रोग अर्थात् सतत् जन्म—मरण धारण करते रहना। एक जन्म से दूसरे जन्म में, एक भव से दूसरे भव में, एक गति से दूसरी गति में सतत् परिभ्रमण चलता ही रहता है। इसका नाम है भव रोग। यह शरीर को नहीं आत्मा को लागू होता है। आत्मा इस रोग से पीड़ित है। जिस तरह शरीर के शारीरिक रोगों के पीछे खान—पान आदि की अनियमितता

वात–पित्त–कफ की विषमता, या कीटाणु आदि के कारणभूत रहते हैं उसी तरह आत्मा के इस भव के पीछे "कर्म" ही कीटाणु के रूप में है । कर्म ही एक मात्र कारण के रूप में है ।

वैद्य, हकीम या डाक्टर जिस तरह शरीर की जाँच करके रोग के कारण का पता लगाते हैं और चिकित्सा करके ठीक भी करते हैं उसी तरह देवाधिदेव सर्वज्ञ भगवान और गुरू भी हमारे भव रोग के ज्ञाता हैं । जानकार हैं । उन्हों ने पाप कर्म को हमारे रोग का कारण बताया है । यही सही निदान है । उसकी चिकित्सा के रूप में तप–त्याग रूप धर्म की उपासना बताई है । अपथ्य सेवन करने के रूप में पाप कर्म बांधती है तो पुनः भव परम्परा बढ़ती ही जाएगी । अतः ज्ञानी गीतार्थ गुरू भगवन्तों ने पाप सेवन को कुपथ्य के रूप में वर्ज्य बताया है । धर्म को चिकित्सा पद्धति के रूप में समझाया है । शारीरिक रोगों से पीड़ित देह रोगी रोग की वेदना को समझकर शीघ्र ही वैद्य–डाक्टर के पास चला जाता है और चिकित्सा प्रारम्भ कर लेता है । परन्तु भवरोगार्त–भव रोग से पीड़ित यह जीव भव रोग को समझ ही नहीं पाता है । पहचान ही नहीं पाता है । आश्चर्य इस बात का है कि स्वयं जीव जिस भव रोग से अनादि–अनन्त काल से पीड़ित है फिर भी उस रोग को ही नहीं समझ पा रहा है, तो फिर बचने की चिकित्सा की बात ही कहाँ से सोचेगा ? समझने की बात तो दूर रही, परन्तु भव रोग है कि नहीं यह सोचने के लिए भी तैयार नहीं है । इसे चाहे आप अज्ञानता कहो या मोहग्रस्तता कहो या जो भी कुछ कहो, लेकिन यह हकीकत–सत्य ही है कि जीव आज दिन तक इस विषय में कोई शोध नहीं कर रहा है । देह रोग को समझकर उससे बचने के लिए चिकित्सा करनेवालों की प्रतिशत संख्या कितनी बड़ी है ? शायद ९९% होगी । परन्तु भव रोग से पीड़ित संसार का संसारी जीव इसे समझने के लिए प्रयत्न करनेवाले, इसके कारण की शोध करनेवाले या, चिकित्सा कराने के लिए सज्ज हुए शायद २–५ या १०% भी मिलने मुश्किल है ।

**भव रोग के त्राता प्रभु से प्रार्थना**

**भवरोगार्तजन्तूनामगदंकारदर्शनः ।**
**निःश्रेयसश्रीरमणः श्रेयांसः श्रेयसेऽस्तु वः ॥**

त्रिशष्ठी शलाका पुरुष चरित्र में चौबीसों भगवान की स्तुति करते हुए सकलार्हत् स्तोत में कलिकालसर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्य महाराज श्रेयांसनाथ भगवान की इस स्तुति में कहते हैं कि रोगग्रस्त किसी रोगी को वैद्य के आगमन की सूचना मात्र कितना आश्वासन दिलाती

है । जैसे कोई मरीज बिछाने पर पड़ा हुआ त्रस्त है, चिल्ला रहा है और उसे सूचना दी जाय कि वैद्यराज आ रहे हैं । शायद यह सुनते ही आधी तो मानसिक शांति हो जाती है । वैद्य के दर्शन होते ही मरीज आधा शांत हो जाता है । उसी तरह भव रोग से पीड़ित मेरे जैसे रोगी के लिए हे श्रेयांसनाथ भगवान ! आपके दर्शन भी सान्त्वना देनेवाले हैं । रोगी के लिए वैद्य की तरह आपके दर्शन मेरे लिए लाभदायी हैं । निःश्रेयस = मोक्ष में विलास करनेवाले ऐसे श्री श्रेयांसनाथ भगवान हमारे श्रेय = कल्याण के लिए हों । ऐसी भावना व्यक्त की गई है । अतः जिनेश्वर परमात्मा हमारे भव रोग के महान् चिकित्सक हैं । उन्हीं से हमारा यह भवरोग मिट सकता है ।

### भवभीरू और पापभीरू

संसार में सर्वत्र पात्रता देखी जाती है । एक पिता अपनी कन्या की शादी के लिए भी सामने युवक की पात्रता देखता है । उसी तरह एक पिता अपनी लाखों की कमाई पुत्र को देने के पहले उसकी पात्रता—योग्यता देखता है, उसी तरह धर्म के लिए धर्मी की पात्रता क्या हो सकती है ? धर्म करने के लिए कौनसा जीव योग्य—पात्र कहलाता है ? इसका उत्तर देते हुए महापुरुषों ने भवभीरू और पापभीरू जीव को ही धर्म के लिए योग्य—पात्र ठहराया है । अर्थात् जिसके मनमें भव = संसार के प्रति भय हो ऐसा, भवभीरू धर्मी कहलाने के लिए योग्य—पात्र है । अब मेरी भव संख्या बढ़ न जाय इसके लिए जो जागरूक है वह भवभीरू योग्य—पात्र है । मानों कि एक मरीज डाक्टर की दवाई ले रहा है । ज्वर उतारने के लिए डाक्टर ने सूई लगाई । फिर भी यदि ज्वर कम होने की अपेक्षा बढ़ता ही गया । ऐसा ही दो—तीन दिन तक चलता रहा । लेकिन इसके बाद क्या ? क्या आप डाक्टर को योग्य कहेंगे ? औषधि जो रोग को बढ़ाये उसे औषधि कैसे कहें ? अतः वह औषधि उस रोग के लिए उचित नहीं है । वैसे ही अब मैं जीवन ऐसा जीऊँ कि मेरा भावि संसार न बढे । मेरी भावि भव परम्परा बढ़ न जाय ऐसा भवभीरू जीव ही धर्मक्षेत्र में योग्यताधारक गिना जाएगा ।

भवभीरू बनने के लिए पापभीरू बनना आवश्यक है । पाप से डरनेवाला अर्थात् पाप हो न जाय, किसी क्रिया में पाप कर्म न लग जाय इसका कदम—कदम ध्यान रखनेवाला ही पापभीरू कहलाता है । कायर और कमजोर यदि कहीं होना भी है तो पाप के सामने कमजोर होना ही अच्छा है । आज धर्मी अनेक हैं । धर्म करनेवाले अनेक हैं । परन्तु पाप न करनेवाले, पाप न करने की प्रतिज्ञा करनेवाले बहुत कम हैं । अतः धर्म करने के लिए

भी पाप छोड़ना सीखना अनिवार्य है । किसी विशेष प्रकार का पाप मैं नहीं करूँगा ऐसी प्रतिज्ञा करना यह बड़ा धर्म है । मैं हिंसा नहीं करूँगा, झूठ नहीं बोलूँगा, चोरी नहीं करूँगा, दुराचार, बलात्कार, व्यभिचारादि नहीं करूँगा ऐसी सर्वथा प्रतिज्ञा करना या आंशिक प्रतिज्ञा करना यह बड़ा धर्म है । इसीलिए वीतराग भगवान का धर्म विरतिप्रधान है । विरति दो प्रकार की है— (१) देशविरति । अर्थात् अल्प प्रमाण में पाप न करने के नियम । यह गृहस्थी के लिए उपयोगी धर्म है । गृहस्थ जीवन की मर्यादा को ध्यान में रखते हुए इस देशविरति धर्म के यम—नियम हैं । अतः इस देशविरति धर्म का उपासक श्रावक कहलाता है । दूसरा (२) सर्वविरति धर्म है । जिसमें छूट नहीं है । हिंसा—झूठ—चोरी, मैथुन सेवन एवं परिग्रह आदि के पाप सर्वथा आजीवन न करने की महाभीष्म प्रतिज्ञा ही सर्वविरति धर्म है । यह साधु धर्म है । जो ऐसे महाव्रत धारण करता है वह साधु कहलाता है । अतः वीतराग के धर्म में पापत्याग को प्राथमिकता दी गई है । पापत्याग करनेवाला ही महान् है । कौन कितने प्रमाण में किन—किन पापों का त्याग करता है वह उतने प्रमाण में धर्मी है । दूसरी तरफ जो पंचाचारादि धर्मोपासना है वह भी धर्म है । एक विधेयात्मक है, दूसरा निषेधात्मक है । दोनों का ही यथायोग्य पालन करना चाहिए । आज लोग विधेयात्मक धर्म में दर्शन—पूजा—सामायिक—माला जाप आदि कर लेते हैं । करने का नियम भी लेते हैं परन्तु अधर्म—पाप त्याग की प्रतिज्ञा की बात करो तो तैयार नहीं होते हैं । परिणाम यह आता है कि धर्म भी करते हैं और पाप भी करते जाते हैं । इसीलिए धर्म की कीमत भी घटती है । लोग धर्मी की निंदा भी करते हैं । निंदा धर्म की नहीं होती है परन्तु धर्म करते हुए पाप प्रवृत्ति कम नहीं होती है उसकी होती है । अतः धर्म करनेवाले धर्मी की यह जिम्मेदारी है कि वह धर्म करने के साथ—साथ पाप भी जीवन में से कम करता जाय । पाप कम करते करते एक दिन ऐसा भी आ जाएगा कि वह पाप सर्वथा छूट जाय । तभी सोने में सुगंध मिलेगी । इसी तरह पापभीरुता जीवन में बढ़ेगी । पापभीरुता से भवभीरुता बढ़ेगी । इसी तरह आत्मा कल्याण के पथ पर अग्रसर होगी । धर्म और धर्मी दोनों की कीमत बढ़ेगी । अतः पापभीरुता और भवभीरुता यही धर्मी के योग्यता—पात्रता का मापदण्ड है ।

**ईश्वरोपासना धर्म**

धर्माराधना में ईश्वर की उपासना यह केन्द्र में है । उपासना के केन्द्र में ईश्वर जरूर है । हमारी सारी साधना ईश्वर के इर्द गिर्द है । आत्मा को विकास पथ पर अग्रसर करने के लिए ईश्वर का आलंबन—सहारा लिए बिना आगे बढ़ना असंभव-सा है । अतः

अध्यात्मवादी आस्तिक ईश्वरोपासना को आलंबन के रूप में अपने केन्द्र में रखेगा । ईश्वर तत्त्व हमारे लिए एक ऊँचा आदर्श है । सर्वोच्च आदर्श है । चूंकि हम अपूर्ण हैं । ईश्वर पूर्ण तत्त्व है । अपूर्ण को पूर्ण की उपासना करनी है । हम अल्पज्ञ हैं, ईश्वर सर्वज्ञ है । अल्पज्ञ को सर्वज्ञ की साधना करनी है और अल्पज्ञता हटाकर सर्वज्ञता प्राप्त करनी है । अपूर्णता हटाकर पूर्णता प्राप्त करनी है । इसी तरह ईश्वर में एक नहीं अनेक गुण हैं । परन्तु हमारे में एक नहीं अनेक दुर्गुण भरे पड़े हैं । इन दुर्गुणों के कारण हम दुष्ट–दुर्जन कहे जाते हैं, गिने जाते हैं । अतः दोषों को निकालने के लिए निर्दोष का सहारा लेना, दोषरहित ऊँचे आदर्श का आलंबन लेना अनिवार्य है । साध्य है निर्दोषता । परन्तु साधना के केंद्र में निर्दोष आलंबन किसी का लेना पड़ेगा । वह कौन और कैसा हो सकता है ? क्या हमारे जैसा ही दूसरा कोई भी हमारा आलंबन बन सकता है ? नहीं । निर्दोषता के साध्य की साधना में सदोषी को आलंबन बनाने में साधना का परिणाम विपरीत आएगा । रागी को आलंबन बनाकर की जानेवाली साधना हमें वीतरागी नहीं बनाएगी । रागी तो हम है ही, अतः वीतरागता प्राप्त करने का साध्य बनाएं । वीतरागता की साधना के लिए वीतराग का ही आदर्श ऊँचा आलंबन समझा जाएगा । अतः जो सर्वज्ञ हों, निर्दोष–दोषरहित हों, पूर्णतत्त्व हों, वीतराग हों ऐसे अनेक गुणों से परिपूर्ण–तत्त्व चाहे ईश्वर नाम वाच्य हो, वही हमारी उपासना का केन्द्र हो सकता है । उपासना के तरीके भिन्न हो सकते हैं । परन्तु उपास्य का स्वरूप भिन्न भिन्न स्वरूप का चित्र–विचित्र कर देंगे तो साधना का फल भी चित्र–विचित्र हो जाएगा । साधक साधना के जरिए साध्य को प्राप्त नहीं कर पाएगा तो उसकी साधना व्यर्थ चली जाएगी ।

### गुणोपासना का आधार– ईश्वर

गुणप्राप्ति निर्गुणी की साधना का साध्य है । अतः सर्वगुणसम्पन्न तत्त्व ईश्वर परमात्म स्वरूप में, परम शुद्ध स्वरूप में, परमपुरुष–पुरुषोत्तम, सर्वोच्च स्वरूप में हमारा सहायक उच्च आदर्शभूत आलंबन है । आलंबन लिए बिना निःसहाय चल नहीं सकता । बालक को चलाने में हमें अंगुली पकड़ाकर चलाने का साथ देना पड़ता है । अज्ञानी साधक आज बाल्यावस्था में है । अतः बिना आलंबन के हम आगे बढें यह नामुमकिन है । उसी तरह आलंबन यदि ऊँचे आदर्श का लिया ही है तो उसे पूरा मान–सम्मान देना यह साधक का कर्तव्य होता है । पूज्य–पूजनीय के प्रति पूजा यह उनकी पूजनीयता का सम्मान है । अपमान पूजा भाव को गिराएगा । विकास पथ की साधना में यह सहायक नहीं बाधक बनेगा । अतः पूजनीय के प्रति पूज्यभाव को व्यक्त करनेवाली पूजा पद्धति उपासना का

प्रकार है । तरीका है । पूज्य पूजनीय क्यों है ? क्योंकि पूजा करने योग्य उनका ऊँचा स्थान है । गुणों के भण्डार हैं । सर्वदोषरहित हैं । सर्वगुणसम्पन्न हैं । साधक निर्गुणी है । दोषग्रस्त है । साध्य जब सर्वगुणसम्पन्न हो और साधक सर्वदोषसम्पन्न हो तो ही पूजा की उपयोगिता सिद्ध होगी । पूज्य की पूजा करना अंतस्थ सद्भावों को, सन्मान को व्यक्त करने का प्रकार है । सही तरीका है । वही भक्ति है । भक्ति भगवान से जुड़ी हुई है । जिसका कर्ता भक्त स्वयं है । भक्ति में वह शक्ति है जो भगवान की भगवत्ता को खींचकर लाने का चुंबकीय कार्य करती है । अतः भक्ति यह भक्त और भगवान के बीच की कड़ी है । जैसे पति—पत्नि के बीच प्रेम की एक कड़ी है, माँ और बेटे के बीच स्नेह—वात्सल्य की जो कड़ी है वही दो के भेद को मिटाकर अभेद की ओर ले जाती है । उसी तरह भक्त और भगवान के बीच के भेद को काटनेवाली भक्ति वह कड़ी है, जो भेद को मिटाकर अभेद भाव की कक्षा में ले जाकर एकाकार बना देती है । भक्त भगवान बन जाता है । अतः भक्ति में गुणाकर्षण की चुंबकीय शक्ति है ।

ईश्वर जो आत्मगुणों के सर्व सम्पूर्ण वैभव—ऐश्वर्यों से सम्पन्न है वही हमारी भक्ति का केन्द्र है । भक्ति उसे पाने का सरलतम माध्यम है । जिसमें गुणोत्कर्ष का स्थान है, उसके गुणों का गुणाकर्षण करने की चुंबकीय शक्ति भक्ति में है । भक्त भगवान से प्रार्थना करता है कि—

**गुण अनन्ता सदा तुझ खजाने भर्या ।**
**एक गुण देत मुझ शुं विमाशो ॥**

भक्त भक्ति के माध्यम से भगवान और अपने बीच का भेद—अन्तर कम करता हुआ समीप में जाकर गुणयाचना करता हुआ कहता है— हे प्रभु ! आप तो सदा ही अनन्त गुणों से भरे हुए हो, गुणों के भण्डार हो, अतः मुझे भी एक गुण दे दीजिए । एक गुण देने में आपके गुण भण्डार में कौनसी कमी आ जाएगी ? परमात्म स्वरूप ईश्वर को गुणैश्वर्यसम्पन्न कहा है । अतः ईश्वरोपासना भक्ति के माध्यम से की जाती है ।

### ईश्वर को पहचानना जरूरी है

एक पत्नी से उसके पति की पहचान पूछी जाय और पत्नी उत्तर में कहे कि वे कैसे हैं, वे कोन हैं इत्यादि मैं नहीं जानती । "पति देवो भव" की भावना से पत्नी पति के प्रति समर्पित है और इस तरह अपना संसार चलाती हुई २५—५० वर्षों का काल बिता चुकी है । ५० वर्ष की लम्बी अवधि तक पति के साथ रहकर, पति की सेवा भक्ति करती हुई पत्नी ऐसा जवाब दे यह संभव नहीं लगता । वह अपने पति को अच्छी तरह जानती है ।

नख से शिख तक नस—नस पहचानती है । ना कैसे कहें ? ठीक है कि संसार का संबंध है और जिन्दगी भर साथ रहना है इसलिए पत्नी पति को अच्छी तरह पहचानती हो यह संभव है । परन्तु क्या हम यही प्रश्न एक भक्त को पूछे कि भाई ! तुम जिस भगवान की वर्षों से भक्ति करते हो उस भगवान को पहचानते तो हो कि नहीं ? भगवान का स्वरूप अच्छी तरह जानते हो कि नहीं ? शायद पत्नी के उत्तर जितना सुन्दर दृढ़ विश्वास का उत्तर भक्त दे पायगा कि नहीं इसमें हम को शंका है । पत्नी पती को अच्छी तरह जानती है, पहचानती है परन्तु एक भक्त भगवान को अच्छी तरह नहीं पहचानता ।

जिसका जैसा स्वरूप है उसका वैसा स्वरूप न जानें, न पहचानें तो यह हमारा सम्यग् दर्शन नहीं होगा । या तो भगवान को पहचानते ही नहीं हैं और कई पहचानते भी हैं तो वे भगवान जैसे हैं, वैसे नहीं जानते, जो स्वरूप भगवान का हैं उस स्वरूप को नहीं जानते, उसमें भी विकृतियाँ खड़ी कर देते हैं । विकृत स्वरूप में पहचानते हैं । अतः हमें चाहिए कि हम दूसरों को हमारी दृष्टि जैसी है वैसे स्वरूप में न पहचानें । यह मिथ्यादर्शन हो जाएगा । भगवान जैसे हैं, जैसा शुद्ध स्वरूप उनका है, उन्हें हम वैसे ही शुद्ध स्वरूप में पहचानें त. ही सही पहचान होगी । यही सम्यग् दर्शन कहलाएगा । हम बाजार में जाते हैं तो जो भी पीला हो वह सोना है ऐसा समझकर सोना नहीं खरीदते हैं । यदि खरीदते हैं तो हम ठगे जाएंगे । चूंकि तर्क पद्धति से ही सही न्याय नहीं लगाया है । सही न्याय भी देखें कि— जो सोना होता है वह जरूर पीला होता है, इसमें संदेह नहीं है परन्तु सभी पीले पदार्थ सोने के रूप में ही हैं ऐसा नियम नहीं है । अतः पीला देखकर सोना न समझें । सोने को जरूर पीला समझें । कई एक जैसे पीले रंग के पदार्थों में सोना भी पीला है । पीले—पीले रंग के समानदर्शी पदार्थों में सोना भी मिल गया है । रंग साम्यता में पदार्थ खो गया है । उसे ढूंढकर निकालने के लिए जरूर परीक्षक बुद्धि अपनानी पड़ेगी । परीक्षा करके खरीदने में ठगे नहीं जाएंगे । कसोटी के पत्थर पर सोने की परीक्षा की जाती है । उसी तरह कष, छेद—भेद—तापादि भिन्न—भिन्न परीक्षा करके सोना खरीदा जाता है । हमारी लाखों रुपयों की संपत्ति व्यर्थ न चली जाय अतः सुवर्णपरीक्षा रत्नपरीक्षा आदि करते हैं । यहाँ परीक्षा करना लाभदायक है ।

न्याय तार्किक शिरोमणि पूज्य हरिभद्रसूरि महाराज भी भगवान की, धर्म की परीक्षा करके भगवान को, धर्म को, पहचानने के लिए कहते हैं । जिसकी हम जिन्दगी भर पूजा करें, उपासना करें, जीवन भर जिसकी भक्ति करें और उसे ही न पहचान पाएँ तो हमारी सारी भक्ति निष्फल चली जाएगी । **"बिना विचारे जो करे सो पाछे पछताय"** वाली कहावत चरितार्थ होती हुई दिखाई देगी ।

एक गृहस्थ ने पारसमणि समझकर एक रत्न—मणि को खूब संभालकर रखा। जान से भी ज्यादा जिसका जतन किया। कोई देख न जाय, कोई चोरी कर उठा न जाय इस डर से हमेशा सीने से लगाकर बांध रखा। इसलिए कि शायद भविष्य में जब भी कभी आर्थिक संकट आकर खड़ा होगा उस दिन इस पारसमणि से सोना बनाकर जीविका चला लेंगे। संभालते हुए ५०—६० वर्ष बीत गए। अर्थिक परिस्थिति ने पल्टा खाया। दो युवान बेटे मौत के मुँह में चले गए। आजीविका का आधार टूट गया। आयु वृद्धावस्था के पास पहुँच गई थी। घर में खाने पीने की समस्या खड़ी होने लगी थी। अतः पत्नी ने कहा कि अब तो वह पारसमणि निकालो, कुछ सोना बना लो, बाजार में बेचो, अनाज़ खरीद कर लाएं, जिससे आजीविका तो चले। पत्नी की बात पर गौर से सोचा। बात सही थी। वृद्ध ने अपनी पत्नी से कहा— तुम थोड़े लोहे के टुकड़े इकट्ठे कर लाओ। मैं पारसमणि निकालता हूँ। स्पर्श करके सोना बना लेंगे। ५०—६० साल से जान से भी ज्यादा जिसे संभालकर रखी थी वह पारसमणि उस वृद्ध ने अपने सीने पर बंधी कपड़े की पट्टी खोलकर निकाली। वृद्ध बेचारा बड़ा प्रसन्न था। हाँ, आखिर गरीब के लिए तो १—१ पैसा आशा की किरण है। आश्चर्य इस बात का था कि पारसमणि समझकर वर्षों से अपने पास संभालकर रखी, परन्तु कभी भी सोना बनाकर भी देखा नहीं था। चूंकि आज से ही यदि बनाने लग जायेंगे तो बेटे सोना देखकर प्रमादी बन जायेंगे, कोई भी कमाएगा नहीं। अतः जरूरत पड़ेगी तब बना लेंगे, इस हेतु से संभालकर रखी। आज सोना बनाने की परिस्थिति आ गई है ऐसा समझकर सोना बनाने घर के अन्दर के एक कमरे में बैठा। पत्नी लोहे के टुकड़े ले आई। घर बन्द करके अन्दर के कमरे में वृद्ध ने पारसमणि निकाली और लोहे के टुकड़े को स्पर्श किया। हाय ! अफसोस कि कुछ भी नहीं हुआ। सोना नहीं बना। वृद्ध हैरान हो गया। पारसमणि लोहे के टुकड़े पर रगड़ने लगा। खूब जोर से घिसने लगा। बेचारा पसीना—पसीना हो गया। "नाच न जाने आंगन टेढा" की बात पत्नी के सामने बनाने की सोची तो सही परन्तु पेट भरने के लिए जब कुछ भी नहीं है, खाने की समस्या है, वहाँ बहाना किसके सामने बनाऊँ ? बेचारा वृद्ध सिर पटक कर रोने लगा, चिल्लाने लगा। अब शंका हुई की मैंने जिसे पारसमणि समझा था वह सचमुच पारसमणि है कि सामान्य पत्थर मात्र है ? पारसमणि होती तो सोना क्यों नहीं बनता है ? पारसमणि की सत्यता की पहचान ही लोहे को सोना बनाने में है। अब क्या करें ? पत्नी ने व्यंग किया— तो आपने ५०—६० वर्ष जान से भी ज्यादा संभालकर रखी तो क्या सीने पर पत्थर बांध कर रखा था। लोगों के सामने छिपाने के लिए कहते थे कि नहीं... नहीं सीने

में गांठ हुई है । इस तरह आपने जतन किया है और ५०—६० वर्ष के बाद आज यह नतीजा ! क्या बात है ? वृद्ध बेचारा बरफ की तरह ठंडा हो गया । काटो तो खून भी न निकले । किस पर रोऊँ ? पारसमणि के नाम पर ? या पत्थर के नाम पर ? या ५०—६० वर्ष संभाल के रखी उसपर ? अखिर किसपर रोना है ? किसी पर नहीं । अपनी अज्ञानता पर रोना है । पत्नी ने कहा— आपने अपनी बुद्धि से पारसमणि समझकर रख लिया । परन्तु वास्तव में पारसमणि थी तो रखने के पहले ही परीक्षा करके देख लेते कि सचमुच पारसमणि है कि नहीं ? रखने के पहले ही दिन छोटे से लोहे के टुकड़े को सोना बनाकर देख लेते । ५०—६० साल तक फिजुल में संभाल रखी । और आज उसे पत्थर समझकर फैंकने के दिन आए । अब सिर पर हाथ देकर रोने के सिव्राय क्या विकल्प रहा । न फैंकने की हिम्मत न रखने की समझ क्या करें ? अफसोस के सिवाय क्या कहें ?

शायद भगवान के विषय में भी कुछ ऐसी ही बात है । हम भी जिन्दगी के ५०—६० साल से ईश्वरोपासना कर रहे हैं । मोक्ष दाता, सर्व गुणसम्पन्न, सर्वज्ञ वीतराग समझकर जिसको भग्वान कह रहे हैं, ऐसा न हो कि ५०—६० साल के बाद अन्त में वह रागी—द्वेषी देव न निकल जाय । कोई स्वर्गीय देव—देवी ही हो । जो सर्वज्ञ वीतरागी न हो और हमारे ही जैसा दोषयुक्त, राग—द्वेषवाला रागी—द्वेषी न हो । यह यदि वर्षों बाद पता चले तो कैसा होगा ? जैसी उस पारसमणिवाले वृद्ध की दशा हुई वैसी ही हमारी दशा होगी । सिर पर हाथ रखकर रोने के दिन आएंगे । अतः अच्छा तो यही होता की यह उपास्य तत्त्व की उपासना करने के पहले ही उसका सही स्वरूप समझकर फिर उसकी उपासना करते । इसीलिए ईश्वर की परीक्षा करने के लिए महापुरुषों ने अनुमति दी है ।

### हम ईश्वर की क्या परीक्षा करें ?

सामान्य मानवी यह सोचता है कि हम क्या ईश्वर की परीक्षा करें ? हमारी क्या बुद्धि है ? जो हम ईश्वर की परीक्षा कर सकें ? करें तो भी कैसे करें ? इस विषय में हमें अनुचित सा लगता है । अनधिकार चेष्टा लगती है । सर्वज्ञ की परीक्षा हम अल्पज्ञ क्या करें ? आपकी बात भी सही लगती है । सामान्य मानवी ईश्वर की परीक्षा करने की हिम्मत भी नहीं करता । यह हमारी शक्ति के बाहर की बात है ।

परन्तु थोड़ा सोचिए । हमारे पूर्वज महापुरुषों ने हमको ऐसी अनुमति क्यों दी होगी ? क्या वे नहीं समझते थे कि हम अल्पज्ञ हैं ? बात सही है, परन्तु हम बाजार में सोना खरीदने जाएं और लाख रुपए देकर खरीद भी लें । परन्तु वर्षों बाद यदि वह सोना

पीतल है, ऐसा पता चले तब क्या होगा ? तब सिर पर हाथ देकर रोने के दिन आएंगे। हाय मेरे लाख रुपए गए। सोना भी गंवाया और लाख रुपए भी गंवाए। तब कैसी परिस्थिति निर्माण होगी उसके बारे में सोच लेना। उसी तरह ईश्वर की उपासना जीवन भर करने के बाद वह ईश्वर रागी—द्वेषी है, सर्वज्ञ नहीं है ऐसा पता चला तो फिर क्या होगा ? अतः उपासना के पहले ही उपास्य को पहचानना जरूरी है।

**ईश्वर विषयक भिन्न–भिन्न मान्यताएँ**

वर्तमान संसार में विद्यमान भिन्न—भिन्न धर्मों में ईश्वर विषयक मान्यता है। ईश्वर ही केन्द्र स्थान में है। चाहे ईश्वरवादी मान्यतावाले हों, या निरीश्वरवादी मान्यतावाले धर्म हों, उन्होंने भी शुद्धात्मा, मुक्तात्मा, परमात्मा की बातें की हैं। ईश्वर विषयक मान्यताएं भिन्न—भिन्न प्रकार की हैं। मानने का स्वरूप भिन्न है। वैदिक धर्म में ईश्वर को सृष्टिकर्ता के रूप में माना गया है। बौद्ध धर्म में गौतम बुद्ध जो कि इसके आद्य प्रवर्तक थे, उनको बुद्ध पुरुष के रूप में माना गया। परन्तु बौद्ध धर्म ने सृष्टिकर्ता के रूप में ईश्वर को नहीं माना है। जैन दर्शन ने सृष्टिकर्ता ईश्वर को ईश्वर नहीं माना है, अतः, इसे निरीश्वरवादी कह दिया है। परन्तु परमात्मा अरिहंत को भगवान के स्वरूप में माना गया है। परमात्मा वीतराग परमात्मा अरिहंत को भगवान के स्वरूप में माना गया है। परमात्मा वीतराग स्वरूप है। सर्वज्ञ है। सर्वावरणरहित है। सर्वकर्मदोषमुक्त है। परमपद प्राप्त है। अतः शुद्ध विशुद्ध आत्मा की परमात्मावस्था है। मुक्तात्मा—सिद्धात्मा का स्वरूप सर्वथा कर्ममुक्त है। जन्म—मरण एवं संसारचक्र से मुक्त है। अतः अवतारवाद भी जैन—दर्शन ने नहीं स्वीकारा है। प्रत्येक आत्मा आत्मद्रव्य स्वरूप से एक जैसी है। कर्मभेद से भेद है। उदाहरणार्थ आभूषण आकृति भेद से भिन्न—भिन्न दिखाई देते हुए भी मूलभूत सुवर्ण द्रव्य की दृष्टि से एक से ही हैं। उसी तरह कर्मोपाधिजन्य देहभेद से भिन्न—भिन्न होते हुए भी आत्मद्रव्य की दृष्टि से एकरूपता है। साम्यता है। अनन्तात्मा स्वीकारनेवाले जैन—दर्शन ने एक ही सर्वोपरि सत्ता को ईश्वर के रूप में स्वीकार नहीं किया है। कोई भी आत्मा स्वकर्मों का क्षय करके उस विशुद्धि की कक्षा तक पहुँचकर परमात्मपद प्राप्त कर सकती है। सर्व कर्ममुक्त मुक्तात्मा पुनः संसार में नहीं लौटती। अतः अवतारवाद की मान्यता जैन—दर्शन को मान्य नहीं है। सर्वोपार्जित कर्मानुसार ही जीव कर्मफल—भोग प्राप्त करता है अतः कर्मफल दाता के रूप में भी ईश्वर को स्वीकारा नहीं गया है।

न्याय—मतानुसार ईश्वर जगत्कर्ता, पालनकर्ता एवं संहारकर्ता के रूप में है। वह जगत् का निमित्त कारण है। वह जीवों के कर्मों का निर्देश करता है। ईश्वर ही जीवों के

अदृष्ट (कर्म) के अनुसार उन्हें कर्म करने के लिए प्रेरित करता है और ईश्वर फलदाता के रूप में है। वही फल देता है। ईश्वर विश्वकर्मा है। ईश्वर ही सृष्टि का कर्ता भी है, पालनकर्ता भी है और वही सृष्टि का प्रलय भी करता है। वही सर्वशक्तिमान है, ऐसी मान्यता है। वैशेषिकों ने विशेष भेद यह किया कि परमाणुवाद को सृष्टिसम्बन्धी कारण माना है। लेकिन परमाणुवाद मानकर भी परमाणुओं के संचालक के रूप में ईश्वर को स्वीकारा है। ईश्वरेच्छा ही कारण है। अतः ईश्वर की इच्छा हो तब वह सृष्टि की रचना एवं प्रलय आदि कर सकता है।

सांख्य दर्शन में सेश्वर सांख्य और निरीश्वर सांख्य दोनों पक्ष चलते है। सांख्य मत सृष्टिकर्ता के पक्ष में नहीं है। प्रकृति—पुरुष आदि २५ तत्त्वों की व्याख्या सांख्यदर्शन ने बैठाई है। पुरुष शुद्ध चेतन स्वरूप राग—द्वेष से परे हैं। प्रकृति से भिन्न होकर वह अपना शुद्ध स्वरूप स्थिर रख सकता है। पुरुष ईश्वर रूप में नहीं है। वह प्रकृति के व्यापारों का द्रष्टा है। वह जन्म—मरण के चक्कर से मुक्त है।

ईश्वर के अस्तित्व को माननेवाला सेश्वर सांख्य मत ही 'योग—दर्शन' के नाम से प्रसिद्ध है, ऐसी धारणा है। महर्षि पतंजलि इसके मुख्य उद्भावक हैं। इसमें ईश्वर का अधिकतर व्यावहारिक महत्व है। योगसूत्र में कहा है कि— **"क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।"** क्लेश—कर्म और उनके फलों से एवं वासनादि से असंस्पृष्ट पुरुषविशेष को ही ईश्वर कहा गया है। परमपुरुष ईश्वरस्वरूप है। वही परमानन्द रूप है। हिन्दू धर्म में, वैदिक परम्परा में ईश्वर को ब्रह्मा—विष्णु और महेश के तीन रूपों में माना गया है। एक सृष्टि की रचना करता है। विष्णु सृष्टि का पालनहार है। महेश को प्रलयकारी संहारकर्ता के रूप में स्वीकारा गया है। ईश्वर के ही हाथ में सभी जीवों के कर्मफल देने की सत्ता है। ईश्वर ही जगत् का नियन्ता है। अतः ईश्वरेच्छा ही बलवान है। ईश्वरेच्छा के बिना वृक्ष का पत्ता भी नहीं हिल सकता। यहाँ अवतारवाद माना गया है। एक ही ईश्वर पुनः पुनः जन्म लेते हैं। आते हैं। अतः एकेश्वरवाद की कल्पना है। जीव को ईश्वर का ही अंश माना गया है। यह मान्यता वैदिक परम्परा की है।

मीमांसा मत पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा— ये ईश्वर को सृष्टिकर्ता के रूप में स्वीकार नहीं करते हैं। यहाँ ईश्वर से भी ज्यादा वेद को महत्त्व देते हुए वेद को अपौरुषेय सिद्ध किया गया है। जगत्कर्तृत्ववाद का मीमांसक खण्डन करते हैं। कर्मप्रधानता मानी गई है। उत्तरमीमांसा ही वेदान्तदर्शन कहा जाता है। ब्रह्म का इसमें मुख्य वर्णन है। इसमें

भी शांकरवेदान्त, रामानुजवेदान्त, निम्बार्क वेदान्त, माध्व वेदान्त, वल्लभ वेदान्त आदि कई भेद हैं। थोड़े–बहुत अन्तर के साथ सबकी मान्यता में भेद हैं। रामानुज वेदान्त के ईश्वर अनन्त, ज्ञानवान्, आनन्दरूप, सद्गुणयुक्त, विश्वस्रष्टा, पालक और संहारक, चारों पुरुषार्थों का दाता, इच्छारूप धारण करनेवाला है। ब्रह्म सगुण है। वह पुरुषोत्तम है। शांकरमतानुसार ईश्वर सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान है। ईश्वर जीवों का नियन्ता है। शैव मत–वैष्णव मत आदि कई मत हैं। कुछ भेद के साथ सभी सेश्वरवादी मान्यता रखते हैं।

सिख धर्म में ईश्वर एक है। ईश्वर सबका पिता माना गया है। वही सब कारणों का कारण है। ईश्वर एक ही है। सिख भी सृष्टिकर्ता के रूप में ईश्वर को मानते हैं। एक स्वयंभू, स्वयं अवलंबित ईश्वर ने ही यह संसार बनाया है। सब पर उसी का शासन है। ईश्वर अनंत, अकाल और निरंकार है। ईश्वर सर्वव्यापी है।

पारसी धर्म में ईश्वर की कल्पना की गई है। आहुर–मजदा आत्मा रूप है। वह परम मंगलकारी है। वे सारी पृथ्वी से ऊपर स्वर्ग में हैं। जरथुष्ट्र ने यह कल्पना जगत् को देते हुए ईश्वर का स्वरूप बताया है। सर्वोच्च सत्ता के लिए आहुर–मजदा के नाम का ईश्वर के लिए प्रयोग किया गया है। सर्वश्रेष्ठता बताई गई है। वही सर्वेसर्वा सर्व रूप में है।

ईसाई धर्म ईसा मसीह से चला है। ईसा ने अनन्त दयालु के रूप में ईश्वर को बताया। वह मनुष्य पर अत्यधिक प्रेम करता है। अतः ईश्वर को प्रेम व दया का प्रतीक माना है। ईश्वर को ही सर्व सुख दाता के रूप में स्वीकारा है। वही परम पिता के रूप में है। परम सत्ता के रूप में है। ईश्वर को स्रष्टा और उद्धारक भी माना है। ईश्वर एक ही स्रष्टा है और शेष सारी सृष्टि उनकी रचना है। वह देश–काल की सीमाओं से परे है। ईश्वर सतत कर्यरत है यह भी कहा है। ईश्वर की इच्छा ही संसार को चलाती है। ईश्वर स्वभाव से प्रेमस्वरूप दयालु है। वह सर्वोपरि सर्वस्वामी के रूप में है। अवतारवाद को ईसाई मानते जरूर हैं पर यह कहते हैं कि ईश्वर का पुत्र धरती पर आता है। उसे ईश्वर ने बनाया है, उसी ने भेजा है। ईसाई मत भी सृष्टि कर्तृत्ववादी ईश्वर के विचार में अन्य जगत् कर्तृत्ववादी पक्ष से काफी मिलता–जुलता है।

इस्लाम धर्म में ईश्वर को इन मुख्य ७ शब्दों से समझा जाता है जो कि ईश्वर के गुण स्वरूप के द्योतक हैं। १) हयाह (जीवन), २) इल्म (ज्ञान), ३) कद्र (शक्ति) ४) इरादा (इच्छा), ५) सम (श्रुति), ६) बशर (दृष्टि), ७) कलाम (वाणी)। इस्लाम के अनुसार ईश्वर का कोई

समानधर्मा समानान्तर नहीं है । ईश्वर को त्रिकालज्ञ मानते हैं । वही स्रष्टा है । कुरआन में कहा है कि ईश्वर की वाणी को पैगम्बर के द्वारा ही सुना जा सकता है । अतः पैगम्बर पुनः पुनः होते हैं । अल्लाह एक है । ईश्वर सर्वशक्तिमान, सब कुछ दृष्टा है । इस्लाम में भी ईश्वरेच्छा ही बलवान कही गई है । वह अपनी मर्जी से सब कुछ कर सकता है । वही रहमतगार, बंदापरवर है । रोटी देनेवाला है, सब कुछ देनेवाला है । वह अदृश्य है । इस तरह कुरआन धर्मग्रन्थ है, जो ईश्वर का स्वरूप प्रतिपादित करता है ।

ये जगत के प्रमुख धर्म व दर्शन हुए । इसी तरह और भी हैं । यहूदी धर्म, ताओ धर्म, शितो धर्म, कन्फ्युशीयस धर्म, आदि अनेक हैं । इन सब में प्रायः सृष्टिकर्ता के रूप में ईश्वर का अस्तित्व स्वीकारा गया है । और साम्यता अनेक प्रकार की मिलती है । ईश्वर को एक मालिक—स्वामी के रूप में देखा गया है । उसकी इच्छा पर ही सारा आधार रखा गया है । प्रायः ईश्वरवादी मान्यतावाले विचार कई अंशों में परस्पर मिलते—जुलते हैं । बात का स्वरूप भिन्न होते हुए भी हेतु मिलता—जुलता है ।

**ईश्वरवाद एवं निरीश्वरवाद**

ईश्वरवाद से सिर्फ ईश्वर के अस्तित्व को ही मानना ऐसी बात नहीं है अपितु सृष्टिकर्ता के रूप में, जगत् कर्तृत्व के रूप में ईश्वर को स्वीकारना ईश्वरवादी का प्रमुख अर्थ है । इसलिए हिन्दु, सिख, न्याय, वैशेषिक मतवादी, इस्लाम और ईसाई आदि प्रमुख धर्म ईश्वर को सृष्टिकर्ता के रूप में स्वीकार करते हैं । ईश्वरवाद का ठीक विपरीत शब्द निरीश्वरवाद जब आता है तब इसका ऐसा विपरीत अर्थ नहीं है कि निरीश्वरवादी धर्म ईश्वर सत्ता को मानते ही नहीं है । ऐसी बात नहीं है । अर्थ का विचार करने से पता चलता है कि निरीश्वरवादी धर्म सिर्फ जगत्कर्ता, सृष्टि के स्रष्टा के रूप में ईश्वर को नहीं स्वीकारते । अतः वे निरीश्वरवादी या अनीश्वरवादी कहलाए । परन्तु अनीश्वरवादी ने भी परमात्मा स्वरूप को आत्मगुणैश्वर्यसम्पन्न पूर्ण शुद्ध—सर्वज्ञ वीतराग स्वरूप में मानकर उपासना अवश्य की है । उदाहरणार्थ जैन धर्म, मीमांसक, तथा सांख्य और योग दर्शन ये प्रमुख रूप से निरीश्वरवादी जरूर हैं अर्थात् सृष्टिकर्ता के रूप में, संसार के निर्माता या नियन्ता या संहारक के रूप में या इच्छा के केन्द्र के रूप में ईश्वर को नहीं स्वीकारते हैं । परन्तु बौद्ध धर्म में तथागत बुद्ध को बोधिज्ञान संपन्न महापुरुष भगवान माना गया है । जैन धर्म में आत्मा ही जो परमात्मा बनती है वही सर्वज्ञ—सर्वदर्शी, वीतरागी, अरिहंत, तीर्थंकर, सर्वकर्मरहित, सर्वदोषमुक्त, सर्व विशुद्धावस्था में विराजमान सिद्ध—बुद्ध—मुक्त को परमेश्वर माना गया है । हाँ, वह वीतराग होने से इच्छा तत्त्व से रहित है । चूंकि इच्छा भी राग का ही पर्यायवाची

शब्द है। अतः राग द्वेष ये कर्मजन्य मानवी स्वभाव हैं जिसमें इच्छा अनिच्छा का प्रश्न आता है। परन्तु परमेश्वर परमात्मा इस इच्छा तत्त्व से (रागादि भावों से) मुक्त है। अतः वह जगत को स्वइच्छावश फल देने वाला नहीं रहता। ईश्वरवादियों ने इच्छा का बल ईश्वर के हाथ में दे दिया है। इसलिए उसे ही जगत के सभी जीवों के कार्य—क्रिया का केन्द्र माना गया है। अतः ईश्वर की इच्छा के बिना वृक्ष का पत्ता भी नहीं हिल सकता। जैन धर्म ने निरीश्वरवादी धर्म होते हुए कर्म एवं कर्मफल, सृष्टि—संसार रचना, एवं जगत व्यवस्था आदि सभी ईश्वरवादी प्रश्नों को सुलझाया है। सभी का उत्तर है। सृष्टि आदि का सुव्यवस्थित उत्तर देते हैं। इतना ही नहीं जड कर्मों के हाथ में कर्म फल की सत्ता का कार्य है। अतः ईश्वर का स्वरूप विकृत न करते हुए परम विशुद्ध बताया है। उसकी उपासना सर्वकर्मक्षय हेतु के उद्देश्य से मोक्ष प्राप्ति के फल की प्राप्ति से करने की विशुद्ध साधना पद्धति बनाई है। कर्म फल दाता के रूप में ईश्वर को जीवों के कृत—कर्म के विपाक स्वरूप दुःख सजादि का कारण क्यों माने ? क्यों ईश्वर को मानवी के सुख—दुःख का कारण माने ? कर्म फल के रूप में ईश्वर को बीच में गिरा कर ईश्वर के हाथ गन्दे करना या विशुद्ध ईश्वर के स्वरूप को विकृत करना जैन धर्म ने उचित नहीं समझा। सर्व प्रकार की विकृतियों को दूर हटाकर ईश्वर के स्वरूप को जितना हो सका उतना शुद्ध—विशुद्ध रखा। अतः ईश्वर को सर्वदोषरहित, कर्ममुक्त, क्लेश—कषाय—कल्मष—कर्मरहित माना, विजेता के रूप में जिन, जिनेन्द्र, जिनेश्वर माना है। मोक्षमार्ग उपदेशक के रूप में तीर्थंकर अरिहंत माना है। इतना ही नहीं, निरीश्वरवादी जैन दर्शन भी ईश्वर शब्द का प्रयोग करते हैं, किसी विशेषण के साथ ईश्वरशब्द का प्रयोग करते हैं— उदाहरणार्थ परम + ईश्वर = परमेश्वर, जिन + ईश्वर = जिनेश्वर इत्यादि शब्द प्रयोग में प्रतिदिन लाते हैं। परन्तु इसमें सृष्टिकर्ता के अर्थ की ध्वनि नहीं है। परम का अर्थ है जो पामर नहीं है, परम उच्च, परम विशुद्ध पद पर विराजमान है परमेश्वर ! जिन राग—द्वेषादि को सर्वथा जीत लेनेवाले ईश्वर ! हे जिनेश्वर ! के नाम से संबोधित करते हैं। न केवल ईश्वर अर्थात् स्वामी या मालिक के अर्थ में नहीं। चूंकि जैन ईश्वर को जगत् का पिता, नियंता, नियामक आदि नहीं मानते हैं।

अतः निरीश्वरवादी का सिर्फ इतना ही अर्थ स्पष्ट होता है जो ईश्वर को सृष्टिकर्ता, हर्ता, धर्ता, धाता—विधाता के रूप में नहीं मानता है। सिर्फ अर्थभेद है। अतः ईश्वरविषयक मान्यता जरूर है, भले ही कर्ता के रूप में न मानकर अर्थभेद से अन्यार्थ में माना है। चूंकि अनिवार्य नहीं है कि ईश्वर को सभी सृष्टिकर्ता के रूप में ही मानें ? व्याकरण आदि की दृष्टि से या व्युत्पत्ति आदि की दृष्टि से भी ईश्वर शब्द की व्युत्पत्ति सृष्टिकर्ता, हंता या नियंता

आदि के रूप में ही नहीं है। अतः जैन दर्शन जो एक स्वतंत्र धारा है उसने ईश्वर को आत्मगुणैश्वर्यसंपन्न, परम शुद्ध पद प्राप्त परमेश्वर स्वरूप में स्वीकारा है। जगत् कर्तृत्ववादी मान्यतावाला जरूर नहीं है। चूंकि माया, अविद्या या प्रकृति के हाथ में अन्य दार्शनिकों ने जैसे कर्तृत्वशक्ति प्रदान की है उसी तरह जैन दर्शन ने कर्म के हाथ में कर्तृत्वशक्ति प्रदान की है और कर्म को तथा कर्म फल की लगाम ईश्वर के हाथों में न पकडाकर जीव के ही हाथ में रखी है। कर्तृत्ववादी दर्शनों ने ईश्वर का स्वरूप जितना विकृत किया है जैन दर्शन ने उतना ही विशुद्ध बताया है। अतः जगत्कर्तृत्ववाद के एक अंश के अर्थ में जैन दर्शन अनीश्वरवादी या निरीश्वरवादी कहा भी जाता हो तो भी अन्य अर्थ में जैन दर्शन को विशुद्धेश्वरवादी कहना जादा सुसंगत सिद्ध होता है। अतः जैन दर्शन को नास्तिक कहना भी सुसंगत नहीं है, युक्तिसंगत भी नहीं है, एवं प्रत्यक्ष विरुद्ध है। चूंकि लाखों मंदिर हैं, लाखों प्रतिमाएँ हैं। प्रतिदिन पूजा—पाठ करनेवाले जैन को नास्तिक कहना सूर्य को काला कहने जैसी बात है।

## सृष्टिकर्तृत्ववाद की समालोचना

जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं उस ईश्वर को सृष्टिकर्ता के रूप मे मानना कहाँ तक न्यायसंगत है ? यह समीक्षा भी यहाँ अवकाश माँगती है। तर्क—युक्ति पर इसका आधार है। ईश्वर में जो बातें नहीं हैं वह यदि हम हमारी तरफ से आरोपित करके ईश्वर का स्वरूप हमारी अपनी दृष्टि के अनुरूप बनाएंगे तो निश्चित ही ईश्वर का स्वरूप विकृत हो जाएगा। शायद मानव ने ही अपने स्वार्थवश ईश्वर का स्वरूप विकृत किया है। हमारे पूर्वज न्यायविशारद, तर्कवादी, युक्ति साम्राज्यवाले, कई आचार्य, भगवंतों ने ईश्वरवाद के ऊपर समीक्षा की है। काफी परामर्श इस विषय पर किया है, जिनमें सिद्धसेन, दिवाकर सूरि, हरिभद्रसूरि, वादिदेव सूरि, हेमचन्द्राचार्य, महोपाध्याय श्री यशोविजयजी महाराज, विद्यानंदी आदि धुरंधर विद्वानों ने तर्क—युक्तिपूर्वक ईश्वरवाद की समालोचना की है। इस विषय के अनेक अकाट्य ग्रन्थों की रचना की है। स्याद्वाद रत्नाकर, प्रमाणनय तत्त्वालोक, सर्वज्ञ सिद्धि, सन्मति तर्क प्रकरण, स्याद्वाद मञ्जरी, शास्त्रवार्ता समुच्चय, स्याद्वाद कल्प—लता टीका, न्यायखण्डन खाद्य, आप्त परीक्षा आदि अद्भुत अनुपम युक्ति सभर ग्रन्थ अवश्य दर्शनीय हैं। विचारणीय हैं। यहाँ प्रस्तुत विषय में हेमचन्द्राचार्य विरचित अन्ययोगव्यवच्छेद द्वात्रिंशिका ग्रन्थ की पू. मल्लिषेण सूरिविरचित टीका स्याद्वादमञ्जरी के एक श्लोक को लेकर थोड़ी उपयोगी विचारणा करें—

**कर्तास्ति कश्चिज्जगतः स चैकः स सर्वगः स स्ववशः स नित्यः।**
**इमा कुहेवाकविडम्बनाः स्युस्तेषां न येषामनुशासकस्त्वम्॥**

सामान्यार्थ इस प्रकार है— हे नाथ ! जो लोग ऐसा कहते हैं कि जगत् का कोई कर्ता है, वह एक ही है, वही सर्वव्यापी है, स्वतन्त्र है, और नित्य है इत्यादि दुराग्रह से परिपूर्ण सिद्धान्तों को स्वीकार करते हैं, उनका तू अनुशास्ता नहीं हो सकता । हे प्रभु ! तू उनका उपास्य नहीं हो सकता ।

ईश्वरवादी दर्शन जो ईश्वर को सृष्टि का कर्ता—जगत्कर्ता के रूप से स्वीकारते हैं उनका कहना है कि यह संसार जो तीन लोक स्वरूप है, विराट ब्रह्माण्ड विश्वस्वरूप है वह किसी के द्वारा बनाया हुआ है । पृथ्वी, पर्वत, नदी—नद—समुद्र, वृक्षादि जो जो भी कार्य हैं, उसका कारण कोई अवश्य होना चाहिए । चूंकि कारण के बिना कार्य नहीं होता । जैसे बिना अग्नि के धुंआ नहीं निकलता उसी तरह बिना कारण के कार्य कैसे हो सकता है ? तथा पृथ्वी, पर्वत, नदी, समुद्र, वृक्षादि ये सब कार्य हैं यह बात प्रत्यक्षसिद्ध है । तो फिर इनका कोई कर्ता, बनानेवाला कारणरूप होना तो चाहिए । न हो तो यह सृष्टि, विश्व, तीन लोक, इतनी बडी पृथ्वी, महासमुद्र आदि सब कैसे बने ? यदि कोई बनानेवाला ही न हो तो इनकी सत्ता भी नहीं स्वीकारनी चाहिए । और ये तो सब प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं तो इनका कारण भी स्वीकारना चाहिए । और ये तो सब प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं तो इनका कारण भी स्वीकारना चाहिए । वही अदृष्ट कर्ता ईश्वर ही इन सबका बनानेवाला कारणरूप में है । उसे ही जगत्कर्ता, सृष्टि का रचयिता इत्यादि शब्दों से कहते हैं । जैसे घडा—वस्त्र आदि कार्य हैं तो उनको बनानेवाला कुम्हार, बुननेवाला वणकर आदि कर्ता के रूप में हैं, वैसे ही पृथ्वी आदि कार्य को बनानेवाला ईश्वर है । कुम्हार घडा बना सकता है परन्तु वह पृथ्वी—पर्वतादि तो नहीं बना सकता । परन्तु ये पृथ्वी—पर्वतादि तो बनें, प्रत्यक्ष दिखाई दे रहे हैं, तो फिर इनका कर्ता कोई अदृष्ट होगा, पर होगा सही । वही सर्वशक्तिमान सर्वव्यापी ईश्वर है ।

यह तो ईश्वरवादी का पक्ष हुआ परन्तु यहाँ प्रश्न यह है कि आप ईश्वर को पृथ्वी आदि का कर्ता मानते हैं । ठीक है, परन्तु वह ईश्वर शरीरधारी है कि मुक्तात्मा की तरह अशरीरी है ? जैसे कुम्हार सशरीरी है तो घडे बना सकता है । उसी तरह सशरीरी अर्थात् शरीरवाला ईश्वर हो तो ही पृथ्वी—पर्वतादि बना सकेगा । अशरीरी मुक्तात्मा शरीर के अभाव में कार्य कैसे करेगा ? अच्छा अब आप कहेंगे कि ईश्वर सशरीरी है । सशरीरी होकर ही पृथ्वी आदि बनाने का काम करता है तो बताइये कि ईश्वर के शरीर की रचना किसने की ? फिर वही बात आएगी । यदि ईश्वर ने ही अपने शरीर की रचना की ऐसा कहोगे तो पहले अशरीरी ईश्वर और वह शरीर की रचना कैसे करेगा ? मुक्तात्मा जो

अशरीरी है वह तो शरीर रचना करते ही नहीं हैं । अन्यथा पुनः संसार में गिरने की आपत्ति खडी होगी । अतः आप इसका उत्तर क्या देंगे ? अशरीरी ईश्वर की शरीर रचना किसी दूसरे ईश्वर ने की ऐसा कहेंगे तो उस दूसरे ईश्वर की रचना किसने की ? तीसरे ने । तो तीसरे की किसने की ? चौथे ? ने !.... चौथे की किसने की ?.... इस तरह इसका तो कहीं अन्त ही नहीं आएगा । अनावस्था दोष आएगा । यदि मनुष्योत्पत्ति की तरह माता के गर्भ से उत्पत्ति मानें तो फिर माता–पिता को किसने बनाया ? तो फिर ईश्वर के पहले भी सृष्टि माननी पडे तो ईश्वर का सृष्टिकर्तृत्व निरर्थक सिद्ध हो जाएगा । अशरीरी मानने पर कार्य रचना संभव नहीं है ।

यदि आप यह उत्तर दें कि ईश्वर का शरीर हमारे जैसा दृष्य शरीर नहीं था वह तो पिशाच–भूतादि की तरह अदृष्य शरीर था । तो क्या ऐसा पिशाच जैसा शरीर बनाने में ईश्वर का माहात्म्यविशेष कारण है कि हम लोगों का दुर्भाग्य ? यह भी ठीक नहीं है । अदृश्य शरीर से ही माहात्म्य बढे और माहात्म्य के कारण ही अदृश्य शरीर बनाए तो अन्योन्याश्रय दोषग्रस्तता आएगी । अथवा हमारे दुर्भाग्यवश पिशाचादि की तरह अदृश्य शरीर करेगा तो ईश्वर को पिशाचादि रूप में मानना पडेगा । घडा, वस्त्रादि तो सशरीरी के बनाए हुए हैं तो पृथ्वी, समुद्रादि अशरीरी के द्वारा बनाए गये हैं यह कौन मानेगा ? चूंकि वे भी कार्य हैं तो सशरीरजन्य हैं ऐसा मानना पडेगा । अतः यह युक्ति सिद्ध नहीं होती है ।

कालादि की अपेक्षा से विचार करें तो ऐसा प्रश्न खडा होता है कि सृष्टिकर्ता कब उत्पन्न हुआ ? यदि सृष्टिकर्ता सादि है तो क्या अपने आप उत्पन्न हो गया ? या किसी अन्य कारण से ? माता–पितादि के कारण या किस कारण ? यदि सृष्टिकर्ता ईश्वर स्वयम्भू है, अपने आप उत्पन्न हो सकता है तो फिर संसार भी अपने आप उत्पन्न हो सकता है यह मानने में क्या आपत्ति है ? चूंकि संसार में अनन्तात्मा हैं । जड़ पुद्गल परमाणुओं के साथ जीव संयोग करके स्वयं उत्पन्न होता है उसी तरह मानना पडेगा ।

दूसरी तरफ यदि संसार को अनादि मानते हैं तो अनादि की तो उत्पत्ति संभव नहीं है । जो उत्पन्न हो उसे अनादि कैसे कहेंगे ? अतः न तो ईश्वर को अनादि कह सकेंगे और न ही सृष्टि को । जो अनुत्पन्न होता है वही अनादि होता है । जैसे कि आत्मा । आत्मा उत्पन्न द्रव्य नहीं है । अनादि अनन्त शाश्वत द्रव्य है । यह भी द्रव्य स्वरूप में है । फिर इसकी उत्पत्ति का कर्ता किसको मानेंगे ? क्या ईश्वर को ? कैसे ईश्वर आत्मा को उत्पन्न करता है तो आत्मा भी अनादि–अनन्त सिद्ध नहीं होगी, वह भी जड़पदार्थवत् सादि–सान्त

सिद्ध होगा । तो यह प्रत्यक्ष विरुद्ध सिद्ध होगा । मृत्यु के समय "जीव गया", "जीव जा रहा है", "जीव जानेवाला है" ऐसा व्यवहार करते हैं । शरीर गया, या शरीर जा रहा है ऐसा व्यवहार कोई नहीं करते हैं । जीवात्मा इस देह को छोड़कर जाती है फिर नश्वर देह तो जला देते हैं । देह उत्पन्न हुआ था इसलिए नष्ट हो गया । आत्मा अनुत्पन्न थी इसलिए नष्ट नहीं हुई । अतः अनादि अनन्त का स्वरूप सही रहा । तो ही इसके आधार पर आगे स्वर्ग—नरक, लोक—परलोक, पूर्व जन्म—पुनर्जन्म की सिद्धि होगी और उपरोक्त बात न स्वीकार करें तो ये लोक—परलोकादि भी सब व्यर्थ सिद्ध हो जायेंगे । और व्यर्थ सिद्ध हो जायेंगे तो तीन लोक की अनन्त ब्रह्माण्ड की ईश्वर की सृष्टि असिद्ध सिद्ध होगी ।

दूसरी बात यह भी है कि आकाश द्रव्य को जिस तरह नित्य शाश्वत माना गया है । अतः उसकी उत्पत्ति नहीं मानी गई है तो आत्मा भी शाश्वत द्रव्य है, उसकी उत्पत्ति मानने का कोई कारण नहीं रहता है । नैयायिक आत्मा, आकाश, काल, दिशा, मनादि नित्य द्रव्यों को अनुत्पन्न मानते हैं । अब सोचिए कि यदि ये नित्य पदार्थ पहले से ही थे, अनादि नित्य हैं तो फिर ईश्वर ने बनाया क्या ? ईश्वर के पहले भी यदि सृष्टि थी तो फिर ईश्वर को सृष्टि का कर्ता कहें कैसे ?आदयपुरुष कहें कैसे ? उसी तरह ईश्वर ने कुम्हार की तरह यह सृष्टि बनाई है ऐसा वेद में कहकर ईश्वर को सबसे बडा महान कुम्भकार—कुलाल के रूप में ईश्वर की स्तुति करते हुए कहा है कि— **"नमः कुम्भकारेभ्य कुलालेभ्यश्च"** उस महान कुम्हार रूप एवं कुलालरूप (वणकर) ईश्वर को नमस्कार हो जिसने इस सारी सृष्टि की रचना की है ।

कुम्हार घडे बनाता है । कैसे बनाता है ? मिट्टी—पानी लेकर मिश्रित करके पिण्ड बनाकर चाक के ऊपर दण्ड से घुमाकर घडे बनाता है । यह सर्वसिद्ध प्रत्यक्ष बात है कि कुम्हार मिट्टी आदि से घडे बनाता है । प्रश्न यह है कि कुम्हार घडे बनाता है कि मिट्टी—पानी बनाता है ? जी नहीं, मिट्टी—पानी का बनानेवाला कर्ता कुम्हार नहीं है । वह तो सिर्फ घडे का कर्ता है । मिट्टी—पानी जो पहले से विद्यमान पदार्थ थे उनको लेकर कुम्हार ने उनके द्वारा घडे बनाए हैं । अतः सबसे बड़ा सृष्टि का रचयिता जिसको वेद में कुम्हारादि कहा गया है उसने यह सृष्टि कैसे बनाई ? कुम्हार की तरह ही बनाई । तो मतलब यह हुआ कि बनानेयोग्य पदार्थ, घटक पदार्थ पहले से ही थे, केवल ईश्वर उनका संयोजन करनेवाला संयोजक ही रहा । जैसा कि नैयायिक कहते हैं कि—परमाणु तो थे ही । परन्तु परमाणुओं को जोड़ने का, संयोजन करने का कार्य ईश्वरेच्छा से हुआ । परमाणुओं के मिश्रण से जिस तरह द्व्यणुक, त्र्यणुक, चतुर्णुक आदि बनते गए और इस तरह महा स्कंध बने । इस तरह

जगत के अनन्त पदार्थ बने । परमाणुवाद पर सृष्टि का आधार रखकर भी परमाणु संयोजन में ईश्वरेच्छा का तत्त्व बीच में लाकर नैयायिकों ने वैज्ञानिकता सिद्ध नहीं की है । दूसरी तरफ अपने आप को महान तार्किक, तर्करसिक कहनेवाले एवं प्रत्यक्ष को भी अनुमान से सिद्ध करनेवाले तर्कविलासी तर्कजीवी नैयायिकों ने ईश्वरेच्छा को सिद्ध करने के लिए कोई तर्क नहीं दिये यही बडा आश्चर्य है । ईश्वर इच्छा क्यों है ? क्यों इच्छा तत्त्व परमाणुओं का संयोजन करे ? कैसे करे ? यहाँ कोई तर्क युक्ति नहीं है ।

यदि ईश्वर विश्वकर्मा है जो कुम्हार कुविन्द—कुलाल की तरह सृष्टि की रचना करता है तो सृष्टि की रचना में सहायक घटकद्रव्य जो पृथ्वी—पानी—अग्नि—वायु—आकाशादि की सत्ता यदि ईश्वर के पहले ही सिद्ध हो जाती है तो फिर ईश्वर ने क्या बनाया ? यदि आप ये कहें कि ईश्वर ने तो सिर्फ पृथ्वी—पानी आदि के संयोजन संमिश्रण ही किया है तो फिर यह कार्य तो जीव भी करता ही था । और ईश्वर के पहले ये पदार्थ थे तो ईश्वर को सृष्टिकर्ता क्यों कहें ? नगरकर्ता भवनकर्ता आदि ही कहना पडेगा, जैसा कि कुम्हार को घटकर्ता कहते हैं न कि मिट्टी—पानी का कर्ता । तन्तुवाय—कुलाल—कुविद को वस्त्र का कर्ता कहते हैं न कि रूई कपास का कर्ता । इस तरह ईश्वर का सृष्टिकर्तृत्व ठहर नहीं सकता ।

सृष्टिकर्ता ईश्वर यदि सादि है तो क्या अपने आप उत्पन्न हो गया ? अच्छा मान भी लें । यदि सृष्टिकर्ता ईश्वर अपने आप उत्पन्न हो सकता है तो जगत् अपने आप क्यों नहीं उत्पन्न हो सकता ? जगत् को भी स्वयंभू मानने में क्या आपत्ति है ? जड़—चेतन पदार्थों के संयोग—वियोग और जड़ पदार्थों में भी घात—संघात—विघात की प्रक्रिया चलती ही है, जिससे गुणधर्मादि में परिवर्तन आते ही रहते हैं, तो इस तरह वहाँ बीच में ईश्वर को लाने की आवश्यकता ही नहीं है । यदि यह पूछा जाय कि ईश्वर स्वयंभू नहीं है और सादि है तथा उसकी उत्पत्ति में अन्य कारण हैं । यदि अन्य कारण मानते हैं तो उन कारणों का तथा कारण के घटक द्रव्यों का अस्तित्व ईश्वरास्तित्व के पहले स्वीकारना पड़ेगा । यदि यह स्वीकार करें तो ईश्वर की उत्पत्ति के पहले भी सृष्टि थी यह स्वीकार करना पड़ेगा ।

यदि आप यह कहो कि जगत्कर्ता की सत्ता सादि नहीं अनादि है तो उसी के साथ जगत् को भी अनादि मानना पड़ेगा । अनादि तत्त्व यदि सिद्ध होगा तो अनादि की तो उत्पत्ति नहीं होती । अनादि द्रव्य तो अनुत्पन्न होता है । जैसा कि आप ही कहते हैं कि आकाश अनादि द्रव्य है । आकाश पदार्थ ईश्वर के द्वारा बनाया नहीं गया है । अनादि यदि आकाश है और उसी की तरह समस्त जगत् अनादि मान लेंगे तो ईश्वर की निष्क्रियता सिद्ध हो जायगी । ईश्वर की निष्क्रियता सिद्ध हो यह भी ईश्वरवादी को इष्ट नहीं है । परन्तु

ईश्वर की कर्तृता और जगत् की अनादिता दोनों तो एक साथ रह नहीं सकती । चूंकि परस्पर विरोधी है इसलिए । अब यदि जगत् की अनादिता सिद्ध होती है तो ईश्वर के द्वारा प्रलय किया जाता है, संहार किया जाता है यह पक्ष भी नहीं ठहरेगा । ईश्वर की तीनों अवस्था टिकाए रखने के लिए जगत् को भी सादि—सान्त माना है और तभी ही ईश्वर का कर्तृत्व टिकेगा ।

दूसरी तरफ यह कहते ही ईश्वर ने सृष्टि कैसी बनाई ? किस तरह बनाई ? इसके उत्तर में वेद में लिखा है कि "धाता यथा पूर्वमकल्पयत्" । धाता = विधाता ने जिस तरह इसके पूर्व के कल्प में जैसी सृष्टि रचना की थी वैसी ही सृष्टि इस कल्प में ईश्वर करता है, बनाता है, यह कैसे पता चला कि पूर्वकल्प में ऐसी सृष्टि बनाई थी ? इसके उत्तर में कहते हैं कि वेद में देखा । वेद को अपौरुषेय कहा है । वेद किसी से उत्पन्न नहीं हुआ है । किसी के द्वारा कहे नहीं गए हैं । वेद अनुत्पन्न अनादि—अनन्त—अपौरुषेय हैं यह कल्पना की गई है । ईश्वर सादि—सान्त सोत्पन्न है । ईश्वर भी वेद का कर्ता नहीं है । वेद में जैसा लिखा था, जिस प्रकार लिखा था उसी प्रकार के वेद पाठ देखकर ईश्वर ने सृष्टि की रचना की है । यहाँ थोड़ी सोचने जैसी बात यह है कि ईश्वर को सर्वज्ञ—सर्वव्यापी—सर्वशक्तिमान—सर्वेश्वर मानकर भी वेद के अधीन बना दिया । सर्वतन्त्र स्वतन्त्र मानकर भी परवश—पराधीन बना दिया । ईश्वर सर्वज्ञ है कि वेद सर्वज्ञ हैं ? इसके बारे में क्या कहेंगे ? वेद में लिखे अनुसार यदि ईश्वर सृष्टि रचना करता है तो फिर ईश्वर की सर्वज्ञता तो असिद्ध हो ही गई और अल्पज्ञता सिद्ध हो जाती है ।

अच्छा, दूसरी बात यह है कि यदि ईश्वर वेद में लिखे पाठानुसार सृष्टि निर्माण करता है, सृष्टि सदा सर्वदा एकसी रहनी चाहिए । सभी युगों में सृष्टि एक जैसी ही बननी चाहिए । लेकिन नहीं, सभी युगों में सृष्टि की साम्यता भी तो स्वीकार नहीं की है । द्वापर युग में सृष्टि ऐसी थी, त्रेता युग में कुछ अलग थी, सत् युग में जैसी सृष्टि थी वैसी आज कलियुग में नहीं है यह तो प्रत्यक्ष सिद्ध है । जबकि जैसी पूर्व कल्प में थी वैसी ही सृष्टि यदि वेद में देखकर ईश्वर बनाता है तो हमेशा एक सरीखी सृष्टि होनी चाहिए थी । लेकिन यहाँ भी विसंगतता है । अतः यह पक्ष भी युक्तिसंगत सिद्ध नहीं होता है ।

## सृष्टि में विषमता और विचित्रता क्यों ?

अच्छा चलो मान भी लें कि सर्वशक्तिमान ईश्वर ने यह सृष्टि निर्माण की है तो ईश्वर ने सृष्टि में सैकड़ों विसंगतियाँ क्यों रखी हैं ? ऐसी विषम सृष्टि क्यों निर्माण की है ?

जबकि सर्वज्ञ ईश्वर दयालु है । परम करुणालु है । दया का भण्डार और करुणा का सागर है । और कुछ ईश्वर में मानें या न मानें परन्तु ईश्वर में राग–द्वेष रहितता तो माननी ही पड़ेगी । चूँकि मनुष्य–पशु–पक्षी सभी राग–द्वेषग्रस्त जीव हैं । और यदि ईश्वर भी रागादियुक्त हो तो ईश्वर में क्या श्रेष्ठता रही ? फिर तो रागादि भावों से युक्त मनुष्य–पशु–पक्षी और ईश्वर रागादि की कक्षा में सभी समान समकक्ष हुए । यदि रागादि रहते हुए भी ईश्वर को ईश्वर–महान–सर्वज्ञ कहेंगे तो उसी रागादिवाले मनुष्य की सृष्टिकर्तृत्व शक्ति नहीं है । वह तो कुम्हार की तरह घड़े ही बना सकता है । नदी–नद–वृक्ष–पर्वत–पृथ्वी–समुद्रादि बनाने में सक्षम नहीं हैं । यदि रागादिमान ईश्वर को सृष्टिकर्ता कहें तो सर्व सृष्टि एकसी एकसरीखी क्यों नहीं है ? सृष्टि में विषमता क्यों भरी पड़ी है ? क्या दयालु–करुणालु ईश्वर भी एक को राजा, एक को रंक, एक को अमीर, एक को गरीब, एक को सुखी, एक को दुःखी इत्यादि क्यों बनाता है ? ऐसी विषम सृष्टि ईश्वर क्यों बनाता है ? यदि राग–द्वेष के अधीन ईश्वर हैं तो ही यह विषमता और विचित्रता है । यदि आप ना कहते हैं कि रागादि नहीं है तो विचित्रता–विषमता जो जगत् में प्रत्यक्ष गोचर है इसका क्या कारण है ? यहाँ ईश्वरवादी उत्तर देते हैं कि ईश्वरेच्छा बलीयसी । सृष्टि की रचना करने के पीछे ईश्वर की इच्छा ही बलवान तत्त्व है । अच्छा, आपने इच्छा तत्त्व मान लिया तो अब आप यह बताइये कि ईश्वर बड़ा कि इच्छा ? आप कहेंगे ऐसा भी क्या प्रश्न खड़ा हो सकता है ? ऐसा प्रश्न करना भी प्रश्नकर्ता की मूर्खता है । अच्छा भाई, मैंने मेरी मूर्खता भी मान ली, परन्तु उत्तर तो दीजिए । चूंकि आप ईश्वर को इच्छा के अधीन बता रहे तो फिर ईश्वर बड़ा हुआ कि इच्छा ? क्या ईश्वर इच्छा के अधीन है या इच्छा के अधीन ईश्वर है ? यदि ईश्वर इच्छा के अधीन होकर सृष्टि की रचना करता है और उसी तरह कुम्हार–कुलालादि इच्छा द्वारा प्रेरित होकर इच्छा के अधीन होकर ही घट–पट बनाता है तो मनुष्य ऐसे कुम्हार और ईश्वर में क्या अन्तर रहा ? दोनों में क्या भेद रहा ? दोनों ही इच्छा के धरातल पर समान गिने जायेंगे । तो फिर मनुष्य को तो इच्छा के बन्धन से मुक्त होने के लिए, इच्छा को सीमित करने के लिए, इच्छा पर विजय पाने के लिए उपदेश दिया जाता है और ईश्वर के लिए किसी उपदेश की आवश्यकता नहीं है, क्यों ? क्या इच्छा अच्छी है ? इच्छा क्या है ? इच्छा किसे कहते हैं ? इस विषय में उमास्वाति वाचकमुख्य पूर्वधर महापुरुष प्रशमरति में कहते हैं—

**इच्छा, मूर्छा–कामः स्नेहो, गार्ध्यं ममत्वमभिनन्दः ।**
**अभिलाष इत्यनेकानि रागपर्याय वचनानि ॥**

इच्छा, मूर्च्छा, काम, स्नेह, गृद्धता, ममत्व, अभिनन्द, अभिलाषा इत्यादि राग के पर्यायवाची शब्द हैं । यदि इच्छा ही राग का रूपान्तर है, पर्यायवाची समानार्थक शब्द है, तो फिर ईश्वर को रागादि युक्त ही मानना पड़ेगा । और रागादि युक्त हुआ तो वीतरागता नहीं रहेगी । वीतरागता का धरातल भूकम्प से हिलने लगा तो फिर उस पर रही हुई ईश्वरत्व की इमारत का स्थिर रहना सम्भव नहीं है । रागादि कर्मजन्य है । शुभाशुभ कर्म ही रागादि के कारण हैं । उत्तराध्ययन सूत्र में स्पष्ट कहा है कि "रागो य दोषो वि य कम्म बीयं" राग–द्वेष ही कर्म के बीज हैं । इन्हीं बीजों से सारा कर्मवृक्ष खड़ा होता है । यदि ईश्वर भी रागादि कर्म कारणों के अधीन होकर इच्छा से प्रेरित होता है और संसारस्थ मनुष्य पशु–पक्षी आदि सभी जीवों की भी यही दशा है । वे भी रागादि बीजजन्य कर्म–कारणों के विपाक स्वरूप इच्छादि तत्त्व से प्रेरित होकर ही प्रवृत्ति करते हैं तो फिर दोनों में अन्तर क्या रहा ?

अच्छा, चलो भाई ! मान भी लें कि इच्छा के अधीन ईश्वर सृष्टि की रचना करता है तो ईश्वर ने एक को सुखी, एक को दुःखी, एक को ऊँचा, एक को नीचा, एक को विष्ठा खानेवाला सूअर और दूसरे को मेवा–मिठाई खानेवाला क्यों बनाया ? यदि सब कुछ ईश्वर के अधीन है तो क्या ईश्वर अपनी सृष्टि अत्यधिक सुन्दर, निर्दोष, सर्वदोषक्षतिरहित नहीं बना सकता है ? ऐसा क्यों ? वह ऐसी सृष्टि बनाए जिससे सृष्टि के मनुष्यादि भी ईश्वर को एकवाक्यता की प्रशंसा के शब्दों में याद करें । लेकिन वह भी नहीं । एक तरफ संतान के अभाववाले को संतान देकर दूसरी तरफ संतान की जन्मदाता माता को उठा लेता है । अब और भी समस्या बढ़ गई । ऐसे कारणों से ईश्वर की दया–करुणा के विषय में शंका उत्पन्न होती है । क्यों नहीं ईश्वर अपनी दया करुणा का उपयोग करता है जबकि उसमें पड़ी है तो ?

हम वर्तमान विज्ञान युग में देखते हैं कि एक मशीन यदि लाखों वस्तुएं ग्लास आदि बनाती है तो वे लाखों ग्लास एक सरीखे बनाती है । एक से दूसरे में कोई भेद नहीं । परन्तु यहाँ ईश्वर की रचना में तो वह भी नहीं है । एक माँ के चार पुत्र हैं तो वे भी वर्णादि में भी समान नहीं हैं । उसी तरह स्वभावादि में भी समान नहीं है । एक का स्वभाव दूसरे से नहीं मिलता, यह कैसी विषमता है । समुद्र का इतना पानी होते हुए सारा ही खारा है ।

अच्छा, यह पूछा जाये कि ईश्वर सृष्टि क्यों बनाता है ? क्या ईश्वर का स्वभाव है ? उत्तर में यदि हाँ कहते हैं कि सृष्टि निर्माण करना ईश्वर का स्वभाव विशेष है तो वह स्वभाव ईश्वर के साथ सदा ही रहेगा । यदि ईश्वर शान्त नहीं और नित्य है तो वह सृष्टि निर्माण का स्वभाव भी नित्य रहेगा । तो फिर उस स्वभाव के अधीन नित्य ईश्वर सदाकाल सृष्टिनिर्माण का कार्य ही करता रहेगा । फिर वह सृष्टिनिर्माण को छोड़कर अन्य कुछ भी करे यह सम्भव ही नहीं है । तो फिर नित्य ईश्वर नित्य काल तक निरन्तर सतत सृष्टि निर्माण करता ही रहेगा । यह सातत्य रहेगा । चूँकि ईश्वर स्व-सत्ता से नित्य है और सृष्टिरचना का स्वभाव भी नित्य है, तो सृष्टिरचना का कार्य भी निरंतर सतत चलता ही रहेगा । और यदि यह स्वीकार करेंगे तो सृष्टि तो अपूर्ण ही माननी पड़ेगी । कभी भी सृष्टि पूरी रची गई है यह कह ही नहीं सकेंगे । चूँकि जो कार्य अविरत चल रहा है, चालू है, उसे समाप्त हुआ यह कैसे कह सकेंगे ? तो तो फिर नित्य ईश्वर सदा काल ही सृष्टि निर्माण करता रहेगा, तब तक सदा काल ही सृष्टि रचना पूर्ण हो गई है, यह कहना सम्भव भी नहीं होगा । हजारों लाखों साल के बाद भी पूछोगे तो भी उत्तर यही मिलेगा कि अभी भी रचनाकार्य जारी है । चल रहा ह । अच्छा, यह स्वीकारने पर ईश्वर को सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापी कैसे कह सकेंगे ? सर्वशक्तिमान होते हुए भी ईश्वर इतने लम्बे काल से कार्यरत होते हुए भी अभी तक भी एक सृष्टिरचना का भी कार्य समाप्त नहीं कर सका है तो फिर सृष्टिरचना ही पूरी नहीं हुई है, वही अपूर्ण है, तो फिर प्रलय करेगा किसका ? क्या रचना पूरी किये बिना ही उसका प्रलय कैसे संभव है ? जो पुत्र जन्मा ही नहीं वह मर गया यह परस्पर विरोधाभास खड़ा करेगा ।

दूसरी तरफ ईश्वर के जिम्मे काम भी कई हैं । पहले सृष्टि निर्माण करना, फिर पालन करना, फिर जीवों को कर्मफल देना, फिर सृष्टि का प्रलय करना, इत्यादि । मान लो, काम ज्यादा है, इसलिए ईश्वर के तीन रूप की व्यवस्था की है । एक सृष्टिकर्ता, दूसरा पालनहार और तीसरा प्रलयकर्ता संहारक ! तो कर्मफल दाता के रूप में क्यों किसी की व्यवस्था नहीं है ? फिर ईश्वर को एक रूप में ही मानें या अनेक रूप में मानें ? चूँकि कार्यव्यवस्थानुसार तीन रूप स्वीकारे गये हैं, तो फिर सृष्टि में तो एक नहीं, अनेक कार्य हैं । पृथ्वी, पर्वत, समुद्र, नदी, नद, वृक्ष, स्वर्ग, नरक, पाताल, पशु—पक्षी, कृमि, कीट—पतंग आदि सैकड़ों, हजारों, लाखों, नहीं, अगणित कार्य हैं । तो ईश्वर क्या अपने अगणित रूप करता है ? या अगणित ईश्वर मिलकर कार्य करते हैं ? या एक ही ईश्वर क्रमशः एक के बाद एक कार्य करता है ? या किस तरह की व्यवस्था है ? इस समस्या को हल करने के

लिए यदि आप यह कहो कि ईश्वर क्रमशः एक के बाद एक कार्य करता है । तो पहले—पीछे की क्रम व्यवस्था किस तरह बैठाई है ? पहले क्या बनाया ? बाद में क्या बनाया ? फिर उसके बाद क्या बनाया ? इत्यादि । मनुस्मृति में बताये गये क्रम के अनुसार समझ लिया जाय कि इस क्रम से बनाया है तो क्या सभी कार्य समाप्त हो गये ? यदि यह कहते हो तो अब सृष्टिकर्ता ईश्वर की निरुपयोगिता सिद्ध होगी । अब ईश्वर को निरर्थक निष्काम बैठा रहना पड़ेगा तो शायद ईश्वर के नित्यत्व के अस्तित्व पर भी वज्रपात होगा ।

अच्छा, क्रमशः उत्पत्ति स्वीकार करने में नाना ईश्वर की कल्पना सामने आयेगी । कितने ईश्वरों ने मिलकर सृष्टि का कार्य किया है ? नाना ईश्वर मानने में एकेश्वरवाद का पक्ष चला जायेगा और नाना नहीं मानें तो अनन्त ब्रह्माण्ड, स्वर्ग, पाताल, नरक, मनुष्य, कृमि, कीट, पतंगादि किस क्रम से क्या और कैसे मानें ? इसमें क्रमापत्ति आयेगी । आप ईश्वर को सर्वव्यापी, सर्वगत मान लेंगे तो भी एक ईश्वर और अगणित असंख्य कार्य कैसे होंगे ? अच्छा, सशरीरी मानकर तो सर्वव्यापी सर्वगत मानने में परस्पर विरोध आयेगा । और अशरीरी मानने में सर्वव्यापी, सर्वगत हो जायेगा तो सभी कार्य अशरीरी कैसे करेगा ? आकाश भी अशरीरी सर्वव्यापी सर्वगत है तो फिर आकाश को ही ईश्वर मानने की आपत्ति खड़ी होगी । वह भी नित्य है । लेकिन आकाश निर्जीव, निष्क्रिय है । ईश्वर तो सक्रिय है ।

अच्छा, आप सारी सृष्टि सह—भू एक साथ ही उत्पन्न हुई है ऐसा मानोगे तो या तो ईश्वर को जादूगर मानना पड़ेगा जैसा कि कहते हैं कि हमारे ईश्वर ने एक जादू किया और सारा संसार बन गया । कोई कहता है कि कुन्द शब्द कहा और सृष्टि बन गई । तो इन्द्रादि भी इन्द्रजाल करते हैं । जादगर अपने जादू आदि से कई वस्तुएं बनाते हैं । तो ईश्वर को जादूगर मानें या इन्द्रजाल का कर्ता इन्द्र मानें ? या क्या करें ? जादूगर की माया सही भी नहीं होती । वह भूतपिशाच आदि की सहायता भी लेता है । तो क्या ईश्वर भी जादूगर के रूप में पिशाचादि की सहायता लेकर सृष्टि बनाता है ? अच्छा, तो पिशाचादि क्या सृष्टि के अंग नहीं है ? क्या वे ईश्वर के अनुचर हैं, या अंश हैं ?

यदि यह मानने जाएंगे तो ईश्वर की इच्छा के क्रम का क्या होगा ? क्या सृष्टि मात्र ईश्वर के संकल्प मात्र से निर्माण हो जाती है ? जैसा कि कहा गया है कि— "एकोऽहं बहुस्याम प्रजायेय" एक तो मैं हूँ वह बहुरूपी हो जाऊँ और प्रजोत्पत्ति करूँ । यह संकल्प है या इच्छा है ? इच्छा है तो इच्छा भी ईश्वर में नित्य रहनेवाली है या अनित्य ? यदि नित्य है तो नित्य ही ईश्वर को यह इच्छा होती ही रहेगी । और नित्य ही सृष्टि चलती रहेगी । यदि अनित्य है तो सम्भव है कि सृष्टि कार्य की समाप्ति के पहले भी इच्छा नष्ट हो जाय ?

तो फिर इच्छा के अभाव में ईश्वर आगे का कार्य कैसे करेंगे ? सृष्टि अधूरी रह जाएगी। फिर इच्छा के बिना तो ईश्वर सृष्टि निर्माण कर नहीं सकेंगे। एक सर्वशक्तिमान नित्य ईश्वर जो समर्थ है उसका सृष्टि निर्माण का एक कार्य अपूर्ण–अधूरा रहेगा यह दोष किस पर डालेंगे ? दूसरी तरफ अधूरी सृष्टि का प्रलय करना भी अनुचित गिना जाएगा।

यदि आप यह कहो कि ईश्वर लीला के हेतु से अवतार लेते हैं। वह सिर्फ लीला करने आते हैं। लीला करना भी उनका मुख्य उद्देश्य है। ठीक है, यह भी आप कहते हैं— लीला के उद्देश्य से अवतार लेते हैं। परन्तु लीला किस विषय में ? सृष्टि निर्माणार्थ या प्रलय के लिए ? न्याय सिद्धान्त मुक्तावली ग्रन्थ की रचना के प्रारम्भ में मंगलचरण के श्लोक में लिखते हैं कि—

**चूडामणि–कृत–विधुर्वलयीकृतवासुकि:।**
**भवो भवतु भव्याय लीला–ताण्डव–पण्डित:॥**
**नूतनजलधररूचये गोपवधूटीदुकूलचौराय।**
**तस्मै कृष्णाय नम: संसारमहीरुहस्य बीजाय॥**

उपरोक्त दो श्लोकों में एक में शंकर की स्तुति की है। भवो शब्द शंकर के लिए प्रयुक्त है। उनके विशेषण के लिए आगे का पद है— **"लीलाताण्डवपण्डित:"** अर्थात् जो ताण्डव लीला करने में कुशल है— पण्डित है। ताण्डव लीला अर्थात् संहार कार्य में, अर्थात् सृष्टि के प्रलय में जो पण्डित है—कुशल है—जानकार है। शंकर के जिम्मे सृष्टि के प्रलय की जिम्मेदारी है। वे अन्त में नटराज का रूप लेते हैं। उल्टे घड़े पर एक पैर पर खड़े रहकर हाथ में प्रलय का डमरू लेकर नाचने लगेंगे तब सारी सृष्टि का संहार हो जाएगा। प्रलय बड़ा भयंकर विनाशकारी होगा। समस्त सृष्टि का एक तिनका भी नहीं बचेगा। यह सोचते हुए कभी आश्चर्य लगता है कि क्या इसे लीला समझना ? ईश्वर की तो मानों लीला होती होगी लेकिन अनन्त जीवों की जीवन लीला ही समाप्त हो जाय उसका क्या ? अनन्त जीवों को मारने का पाप किसके सिर पर ? चलो, आप तो कहते हैं ईश्वर को पाप कभी लगता ही नहीं। भले वह करे तो भी वह लीला कहा जाएगा। दूसरे श्लोक में श्रीकृष्ण को नमस्कार किया गया है। वहाँ भी कृष्ण के विशेषण के रूप में **गोप वधूटि दुकूल चौराय** यह विशेषण रखा है। अर्थात् स्नान करने के लिए गोपियाँ जब सरोवर या नदी में उतरी वे निर्वस्त्र होकर स्नान करने में मस्त हो गई। तब उनके बाहर रखे हुए कपड़े चुरानेवाले श्रीकृष्ण को मैं नमस्कार करता हूँ। जिनको हम भगवान का दर्जा देते हैं उन्हें क्या इन शब्दों से नमस्कार किया जाय ? हाँ, यह तो भगवान का दर्जा देते हैं, उन्हें क्या

इन शब्दों से नमस्कार किया जाय ? हाँ, यह तो भगवान की लीला थी । इस उत्तर से क्या समाधान होता है ? भगवान ये कार्य करे, तो लीला है, और यदि भगवान का ही भक्त यदि भगवान का अनुकरण करके वैसा ही कार्य करे, उदाहरणार्थ आज यदि कोई व्यक्ति किसी स्नान करती हुई स्त्री के वस्त्र चुराता है तो वह लीला नहीं—चोरी है । लोग उसे चोर—चोर बदमाश कहीं का, कह कर पीटने लग जाते हैं । अच्छा तो ऐसे समय में यदि वह चोर यह कह दे कि मैं तो लीला करने आया हूँ । जैसा भगवान ने किया था, वैसा अनुकरण करने आया हूँ तो फिर क्या होगा ? यदि इस कार्य को चोरी कही जाती हो तो ऐसा कार्य जो भी कोई करे वह चोर ही कहा जाना चाहिए । चाहे वह मनुष्य हो, या भगवान हो । धर्मशास्त्र ऐसा पक्षपात क्यों करता है ? एक कार्य को एक ने किया तो लीला, और वही कार्य कोई सामान्य मानवी करे तो चोरी ? वस्त्रचोर, मक्खनचोर के विशेषण लगाकर हम किसी को भगवान कह सकते हैं, परन्तु मनुष्य यदि उस कार्य को करे तो वह भगवान नहीं बन सकता, वह चोर कहलाएगा । ऐसा अन्याय क्यों ? भगवान का आदर्श हमारे लिए कितना ऊँचा होना चाहिए ? बेदाग सर्वथा दागरहित, आदर्श, निष्पाप—निष्कलंक जीवन होना चाहिए तो ही वह भक्त के लिए अनुकरणीय, अनुसरणीय बनेगा । अन्यथा बाप अण्डे खाए और बेटे को ना कहे यह कैसे चरितार्थ होगा ? क्या भगवान का ऐसा स्वरूप करके हमने भगवान के स्वरूप को विकृत नहीं बनाया है ? कितनी विकृति लाई है ।

इतना ही नहीं, जिस भगवान को सृष्टि का कर्ता कहा उसे ही सृष्टि का संहारक, विनाशक भी माना, और वह भी ईश्वर । लोक व्यवहार के संसार में देखें कि क्या एक माता अपने संतान को जन्म देकर वही संतान को खाने लग जाएगी ? या क्या वही माँ बालक का गला घोंट कर मार देगी ? यदि मार दे तो क्या वह माँ कहलाएगी या नरपिशाची राक्षसी चुडैल कहलाएगी ? जिस माँ के खून से जो बालक बना है, और बड़े भारी कष्ट सहन करते हुए जिस माँ ने सन्तान को अपने गर्भ में साढे नौ महिने धारण करके रखा है, जिस बालक के वात्सल्य से, स्नेह से माता के स्तन में दूध बना है । आज दिन तक जब तक संतान नहीं थी माता नहीं बनी थी तब तक जो दूध निर्माण ही नहीं हुआ था वह दूध आज संतानोत्पत्ति एवं वात्सल्य स्नेह के कारण बना है । वह दूध अपने सीने से बालक को पिलानेवाली माँ क्या बालक को मार डालने का विचार भी करेगी ? क्या बालक का गला घोंटने का वह स्वप्न में भी सोचेगी ? सोचे तो माँ का मातृत्व कहाँ गया ? अजी, माँ की बात तो छोडिए, पशु—पक्षी में भी यह स्नेह प्रकट देखा जाता है। गाय—भैंस—घोड़ा—गधा भी अपने संतान को जीभ से चाट कर स्नेह व्यक्त करते हैं । वे

पशु होते हुए भी संतान को मार नहीं डालते तो फिर जो ईश्वर है वह अपने द्वारा उत्पन्न की हुई इस सृष्टि का संहार कर दे यह कैसे संभव है ? जबकि ईश्वर को ही जगत् का पिता कहा जाय, त्वमेव माता—पिता त्वमेव कहा जाय वह ईश्वर पुत्रवत् अपनी सृष्टि का संहार करे यह कैसे संभव है ? अच्छा मान भी लें कि पशु—पक्षी या माता नरपिशाची, राक्षसी, चुडैल, स्वसंतान भक्षक बन भी जाय लेकिन जो दयालु है, करुणालु है, दया का सागर है, करुणा का भण्डार है ऐसा ईश्वर स्वनिर्मित, अपने द्वारा उत्पन्न की हुई इस सृष्टि जिसमें अनन्त जीव हैं उन सबको मारने का संहारकारी—प्रलयकारी कार्य क्यों करे ? ऐसे कार्य के कारण के रूप में जब कोई हेतु नहीं मिला तो एक मात्र लीला शब्द का प्रयोग कर दिया । लेकिन सिर्फ लीला शब्द मनःसमाधानकारक नहीं है । जबकि सृष्टि निर्माण करने के कार्य के लिए इच्छा एवं दयालु और करुणालु हेतु दिए थे तब उचित लगते भी थे, लेकिन संहार प्रलय कार्य के लिए सिर्फ लीला शब्द देना पर्याप्त नहीं है ? दूसरी तरफ जैसे सूर्य के रहते अन्धेरे का रहना सम्भव नहीं है, चूंकि दोनों परस्पर विरोधी तत्त्व हैं । ठीक उसी तरह दयालुता और करुणालुता रहने पर संहार प्रलय सम्भव नहीं है । जिस दृष्टि से माँ को देखा जाता है उसी दृष्टि से पत्नी—बहन और बेटी को कैसे देखा जाय ? यह कैसे सम्भव है ? उसी तरह जिस दयालुता आदि से ईश्वर सृष्टि निर्माण करता है वही ईश्वर उस दया करुणा आदि के रहते संहार प्रलय कैसे कर सकता है ? या यों कहिए कि ईश्वर में से दया—करुणा के गुण चले जाते हैं, और क्रूरता, निर्दयता आदि दुर्गुण आ जाते हैं । अरे—रे ! ईश्वर का स्वरूप विकृत करने की भी कोई सीमा होती है ? हाश ! जिसे मानना है, पूजना है, अहर्निश जिसका नामस्मरण करना है, उसका इतना विकृत स्वरूप ? आश्चर्य .. । इससे बड़ा आश्चर्य और क्या हो सकता है ?

अरे भाई ! मैं तो यह कहता हूँ कि जब आगे चलकर सृष्टि का प्रलय करना ही था तो फिर पहले से सृष्टि निर्माण ही क्यों की ? निर्माण ही नहीं करते तो फिर प्रलय—संहार करने का प्रश्न ही नहीं खडा होता ? यह तो समुद्र से पानी नदी में उलेचने के समान निरर्थक कार्य हुआ ? क्या फायदा ? इधर से समुद्र से पानी भर—भर कर नदी में डालना, जो नदी बहती हुई आकर समुद्र में ही मिलती है । तो फिर ऐसा प्रयत्न क्या बुद्धिमान आदमी का कार्य हो सकता है ? उसी तरह सृष्टि की रचना करो और फिर उसका संहार करो । फिर दूसरे युग में पुनः सृष्टि की रचना करो, फिर प्रलय करो । फिर तीसरे युग में पुनः सृष्टि निर्माण करो ... फिर संहार करके समाप्त करो ! ... अरे ... भगवान ! ईश्वर को कैसे कार्य में जोड़ दिया है ? कुम्हार घड़ा बनाता जाय फिर उसे तोड़कर मिट्टी बनाए,

फिर उस मिट्टी से घड़ा बनाता जाय, फिर तोड़कर उसे मिट्टी बनाए, फिर घड़े बनाता जाय, फिर मिट्टी .... फिर घड़ा ...क्या ऐसा कोई कुम्हार कभी करता है ? संभव भी नहीं। यदि कुम्हार जो नासमझ है वह नहीं करता है, सर्वशक्तिमान सर्वज्ञ ईश्वर क्या ऐसा कार्य करे यह संभव भी है ? इस तरह वह बार–बार सृष्टि बनाता रहे और बार–बार संहार से समाप्त करता रहे ... पुनः बनाना पुनः प्रलय .... यंत्रवत् ईश्वर को उसी कार्य में जोड़ दिया ? यह ईश्वर की कैसी बिडंबना की है ? अरे ..... रे .... ! इसके बजाय यदि सृष्टि बनानी भी है तो एक बार बना के कार्य समाप्ति के बाद ईश्वर निवृत्त हो जाय। बस फिर बनाने, नाश करने आदि की समस्या ही नहीं रहेगी ? लेकिन क्या करें ? ईश्वर को नित्य भी कह दिया, उसे ही एक कहा है। वह एक ही नित्य है। उसकी इच्छा भी नित्य है। वह सदा बनाता ही रहे। उसी का सदा ही संहार प्रलय भी करता ही रहे। ऐसा ईश्वर का स्वरूप नियत कर दिया है। न मालुम ईश्वर का ऐसा स्वरूप किसने खड़ा किया है ? क्या ईश्वर ने ही अपना जैसा स्वरूप है वैसा बताया है कि फिर ईश्वर ऐसा है यह किसी और ने बताया है ?

ईश्वर ने खुद ने तो अपना ऐसा स्वरूप है यह बताया ही नहीं है। चूंकि ईश्वर के ऊपर भी वेद की सत्ता मानी है। ईश्वर तो उत्पन्न तत्त्व है। परन्तु वेद तो अपौरुषेय अनुत्पन्न तत्त्व हैं। वेद ईश्वर के पहले भी विद्यमान थे। तभी तो ईश्वर ने वेद में देखकर सृष्टि की रचना की है। वेद नहीं होते तो ईश्वर सृष्टि की रचना ही कैसे करते ? किंकर्तव्यमूढ़ बनकर बैठे रहते, क्योंकि पूर्व के कल्प में सृष्टि कैसी रची थी यह कैसे पता चलता ? इसलिए सृष्टि निर्माण करने के लिए ईश्वर को वेद में देखना अनिवार्य है। वेद में लिखे अनुसार ही ईश्वर सृष्टि की रचना कर सकता है। यहाँ ईश्वर को भी वेद के अधीन कर दिया। ईश्वर की स्वतंत्रता छीन ली और परवश, परतन्त्र बना दिया। तो फिर ईश्वर की स्वतन्त्रता कहाँ रही ? ईश्वर सर्वोपरि सर्वोच्च कहाँ रहा ? और दूसरी तरफ आश्चर्य देखिए कि ईश्वर को सर्वज्ञ, सर्वविद, सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान कहा। तो यह गलत सिद्ध होगा। वेद को ही सर्वज्ञ–सर्वविद् कहते तो ही ठीक रहता। परन्तु वेद चेतन–सक्रिय तत्त्व कहाँ है ? फिर तो वेद सृष्टि की रचना करता ऐसा होता। लेकिन ऐसा न करके भी ईश्वर को वेद का दास अनुचर बना दिया। अरेरे... ! सर्वशक्तिमान सर्वज्ञ कहकर भी ईश्वर की लगाम वेद के हाथ में देकर ईश्वर को अश्व का रूप दे दिया। यह क्या ईश्वर की कम विडंबना है ? एक तरफ वेद को भी नित्य मानते हैं तथा दूसरी तरफ ईश्वर को भी नित्य मानते हैं। जब दोनों नित्य हैं तो फिर ईश्वर को वेद में दोषापत्ति आएगी। जिसको आपने सर्वज्ञ–सर्वविद् कहा

उसे भी आपने वेदाधीन कर दिया—तो फिर ईश्वर सर्वज्ञ नहीं रहा यह सिद्ध हुआ । और सर्वज्ञता ईश्वर में ही है यह पक्ष भी पकड़कर रखना चाहते हो तो फिर वेदपारतन्त्र्य से ईश्वर को मुक्त करो । हाश ! भगवान की भक्तों के हाथ में कैसी गति हो रही है ? ईश्वर की इतनी विकृत विडंबना और किसी अन्य ने नहीं परन्तु उसी के द्वारा उत्पन्न की सृष्टि के मानवी ने कर दी । तो यह भी तो सर्वज्ञ ईश्वर जानते ही होंगे तो फिर उनको ईश्वर ने उत्पन्न ही क्यों किया ? ईश्वर के द्वेषी भी इस संसार में कई हैं जो ईश्वर को ही गालियाँ देते हैं । ईश्वर का अस्तित्व ही न माननेवाले नास्तिक हैं । उसको ईश्वर ने क्यों बनाया ? क्या मैं जिसको बनाऊँ वही मुझे न माने ? मेरे से ही पैदा हुआ मेरा ही बेटा मुझे न माने ? और क्या ईश्वर यह जानते हुए भी अनिष्ट सृष्टि को निर्माण करे जो ईश्वर का ही स्वरूप विकृत करे । ऐसा भी नहीं है कि ईश्वर का सारा स्वरूप अनीश्वरवादियों ने ही निर्माण किया है । नहीं । अनीश्वरवादी या निरीश्वरवादियों ने तो बड़ा उपकार किया है । उन्होंने तो ईश्वर के विकृत स्वरूप को ठीक किया है, सुधारा है । परस्पर विरोधी बातों को हटाकर ईश्वर स्वरूप की विकृतियाँ हटाकर स्वरूप शुद्ध बनाया है । इसीलिए निरीश्वरवादी जैन आदि ने ईश्वर को सृष्टिकर्ता—संहर्ता के रूप में नहीं अपितु परम शुद्ध पूर्ण परमात्म स्वरूप में माना है । तो ईश्वरकर्तृत्ववादियों ने इन निरीश्वरवादियों को नास्तिक कह दिया । अरे भाई ! नास्तिक किसे कहते हैं ? जो आत्मा—परमात्मा—मोक्षादि तत्त्वों को न मानें उन्हें । सही अर्थ में चार्वाक एक ही सबसे बड़ा सही अर्थ में नास्तिक है । जैनादि तो परम आस्तिक हैं । चूंकि ये आत्मा—परमात्मा, लोक—परलोक, मोक्षादि सभी तत्त्वों को मानते हैं फिर नास्तिक कहना भी कहनेवाले की अल्पज्ञता को सिद्ध करता है ।

दूसरी तरफ देखें तो चार्वाक नास्तिक को भी ईश्वर ने ही निर्माण किया है । तो क्यों निर्माण किया ? क्या त्रिकालविद् सर्वज्ञ होते हुए भी ईश्वर यह नहीं जानते थे कि भविष्य में ये क्या करेंगे ? मेरा स्वरूप ही नहीं मानेगे । यह समझकर ईश्वर ने निर्माण ही नहीं किये होते तो कितना अच्छा होता ? परन्तु यही सिद्ध करता है कि ईश्वर ने सृष्टि निर्माण की है ऐसा लगता नहीं है । क्योंकि ईश्वर के विपरीत भी सृष्टि निर्माण हो गई है ।

यहाँ क्या समझा जाय ? ईश्वर अपनी स्व इच्छा से सृष्टि निर्माण करनेवाला और वही क्या अनिष्ट सृष्टि निर्माण करेगा ? नहीं । लेकिन अनिष्ट सृष्टि है तो सही । फिर यह भूल कैसे हो गई ? अरेरे . . . ! भगवान में भूल दिखाना अर्थात् सूर्य में अंधेरा दिखाने जैसी मूर्खता है । जो भगवान होते हैं वे भूल नहीं करते और जो भूल करते हैं वे भगवान नहीं कहलाते । भगवान और भूल दोनों ही परस्पर विरोधी पदार्थ हैं । जैसे पूर्व—पश्चिम

दोनों विरोधी दिशाएं, एक तरफ एक साथ नहीं रह सकती वैसे ही भगवान और भूल दोनों तत्त्व एक साथ नहीं हो सकते। इसीलिए भगवान भूल से ऊपर उठे हुए रहते हैं। अभी–अभी संसार में आप देख रहे हैं जो भगवान बनकर भारत से भाग गया था और भारत वापिस आया है चूंकि बेचारे को दुनिया में किसी ने पैर रखने भी नहीं दिया। क्यों नहीं पैर रखने दिया ? क्योंकि तथाकथित बेचारा विवादास्पद भगवान बन बैठा है। अतः उसकी भोग लीला सभी जानते हैं। भोग लीला भी पाप लीला बन चुकी है। अच्छा हुआ कि बेचारे को सद्बुद्धि सूझी कि कहा अब मुझे कोई भगवान मत कहना। अब उसे भगवान कहनेवाले को ही वह खुद बेवकूफ कहता है। भूल करता हुआ भगवान बन नहीं सकता यह इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है।

### अनुग्रह–निग्रह समर्थ ईश्वर

**"अनुग्रह–निग्रह समर्थो ईश्वरः"** ऐसा ईश्वर के विषय में वेद में कहा गया है। यदि ईश्वर चाहे तो किसी पर कृपा करे और यदि न चाहे तो ईश्वर किसी का नाश भी कर दे। यह दोनों सामर्थ्य ईश्वर में है ऐसा वेद कहता है। जगत् कर्तृत्ववादी ईश्वरविषयक धर्मशास्त्र कहते हैं। चूंकि इच्छा तत्त्व के पराधीन ईश्वर है इसलिए ईश्वर चाहे वैसा कर सकता है। यह सब चाहना इच्छा के ऊपर निर्भर है। अतः अनुग्रहात्मक और निग्रहात्मक दोनों प्रकार की इच्छा ईश्वर में सन्निहित है। परन्तु यह पता नहीं कि कब कौनसी इच्छा काम करेगी ? जीवनभर पापाचार में लिप्त रहनेवाला अजामिल भी ईश्वर की कृपा से अन्ततः मोक्ष में चला जाता है। यदि ईश्वर ऐसों पर कृपा करता है, निष्पाप दीन बेचारे कई संसार में पडे हैं उन पर क्यों कृपा नहीं कर देता ? चूंकि ईश्वर दयालु और करुणालु है तो ईश्वर में अनुग्रह की ही बहुलता रहनी चाहिए। दयालु कृपालु—करुणालु बनकर भी ईश्वर निग्रहकर्ता कैसे बन सकता है ? यह तो कितना बडा आश्चर्य है ? शीतल चन्द्र सूर्य से भी तेज आग का गोला बन गया। यह ईश्वर की ऐसी विडंबना क्यों की गई है। दयालु कहकर भी निग्रहता सिद्ध करनी कैसे संभव है ? क्या यह ईश्वर का उपहास नहीं है ? करुणासागर दयालु ईश्वर को संसारस्थ जीवों को देखकर दिल में करुणा उभर आनी चाहिए। क्यों नहीं ईश्वर संसारस्थ बेचारे त्रस्त दुःखी जीवों को मोक्ष में नहीं भेज देता ? सदा के लिए दुःख से छुटकारा तो पा जाय। इसी में ईश्वर की परम करुणा का परिचय है। यदि वह परम कारुणिक है तो उसे ऐसा करना चाहिए। चूंकि ईश्वर में वह शक्ति है। किसी को स्वर्ग में भेजता है, किसी को नरक में... इत्यादि कहते हुए कहा है कि—

**ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा।**
**अन्यो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः ॥**

ईश्वर के द्वारा ही भेजा हुआ जीव स्वर्ग में नरक में जाता है। ईश्वर की सहायता के बिना कोई भी जीव अपने सुख–दुःख को पाने में, उत्पन्न करने में स्वतन्त्र भी नहीं है एवं समर्थ भी नहीं है। संसारस्थ सभी जीवों के सुख–दुःख की लगाम भी ईश्वर के अधीन रखी है। ईश्वर ही जिसको जैसा रखे उसको वैसा रहना होगा। ईश्वर की इच्छा पर ही सब कुछ निर्भर है। यहाँ तक कि ईश्वर की इच्छा के बिना एक वृक्ष का पत्ता भी नहीं हिल सकता। ईश्वर ही किसी को जिन्दा रखता है ईश्वर ही किसी को मारता है। तो फिर संसार में सभी ऐसा ही कहेंगे–एक खून करनेवाला भी कहेगा मैं थोड़े ही मारता हूँ–ईश्वर मेरे द्वारा तुम्हें मरवाता है। चोर चोरी करके यह कहेगा कि मैं थोड़ी ही चोरी कर रहा हूँ? मेरे द्वारा तुम्हारा घर चुराकर ईश्वर ही तुम्हें दुःखी कर रहा है। जो कुछ करता है वह सब ईश्वर ही करता है। मनुष्य तो ईश्वर के इशारे पर नाचनेवाली कठपुतली मात्र है।

अच्छा उपरोक्त स्वीकारें, लेकिन खून–हिंसा–चोरी का पाप भी ईश्वर को ही लगना चाहिए। चूंकि जब ईश्वर ही किसी के जरिये करवाता है। परन्तु यह तो स्वीकार नहीं है। ईश्वर भले ही करवाये परन्तु पाप तो मनुष्य को–करनेवाले को ही लगेगा। अरेरे ! ईश्वर ने मनुष्य के पास करवाया और फिर भी ईश्वर को पाप नहीं लगता। क्यों नहीं लगता? बस ! इसका उत्तर इतना ही है कि वह ईश्वर है। जंगल में लुटेरा डाकू भी लूटते समय शेठ को कहेगा— शेठ, तुम्हारे को लूटकर धन लेकर दुःखी करने की आज्ञा मुझे ईश्वर ने दी है, इसलिए मैं आया हूँ। मैं मेरी इच्छा से नहीं लूट रहा हूँ। सब कुछ ईश्वरेच्छा कर रही है। मैं जिम्मेदार नहीं हूँ। ईश्वर जिम्मेदार है। इस तरह संसार में आतंक का साम्राज्य फैल जाएगा। फिर तो रोज इतना उपदेश क्यों देते हैं? सब निरर्थक है। निष्फल है। हमारे द्वारा कल ईश्वर क्या करवायेगा? या हमें ही कल ईश्वर क्या करेगा? क्या बनायेगा? यही निश्चित नहीं है तो फिर हम धर्मादि भी करके क्या करें। नहीं–नहीं ! हम करनेवाले भी कौन होते हैं? धर्म भी करवाना होगा तब ईश्वर करा देगा। इस तरह तो सभी अनन्त जीव निष्क्रिय हो जाएंगे। और तो ईश्वर कर्तृत्ववादी कहते ही हैं कि संसार निष्क्रिय है ईश्वर की इच्छा के अधीन ईश्वर की आँख के इशारे पर नाचनेवाली कठपुतली मात्र है। शेर–सिंह–चीता बाघ भी मनुष्य को फाड़कर खाएंगे और यही कहेंगे कि हम क्या करें? ईश्वर की इच्छा ही ऐसी थी। फिर मनुष्य को भी ईश्वरेच्छा को मान देना चाहिए। अर्थात् मौत के मुँह में जाने के लिए डरना नहीं चाहिए। लेकिन प्रत्यक्ष सिद्ध बात है कि मृत्यु से

सभी डरते हैं । कोई भी मरने के लिए तैयार नहीं है । संसार की हालत बडी विचित्र बन जाएगी । एक ही ईश्वर और अनन्त जीवों की व्यवस्था कैसे कर पाएगा । आप कहेंगे हजार हाथ है ईश्वर के, वह सर्वव्यापी है । सर्वव्यापी मानोगे तो अशरीरी मानना पडेगा । शरीरधारी तो सर्वव्यापी हो नहीं सकता । और अशरीरी मानोगे तो सृष्टि की रचना कैसे करेगा । और यदि अशरीरी भी सृष्टिरचना कर सकता है ऐसा कहोगे तो सभी अशरीरी मुक्तात्मा भी सृष्टि करने लग जाएंगे । तो एक सृष्टिकर्ता ही नहीं अनेक सृष्टिकर्ता मानने की आपत्ति आएगी ।

दूसरी तरफ जो राग–द्वेष ग्रस्त मनुष्य है उसमें इच्छा नहीं रहनी चाहिए । और इच्छा रहती भी है तो अपनी खुद की इच्छा तो मनुष्य के लिए कोई काम नहीं आएगी । क्योंकि मनुष्य की इच्छा तो चलती ही नहीं है । जो कुछ चलती है वह सिर्फ ईश्वर की ही एकमात्र इच्छा चलती है । दूसरी तरफ इच्छा रागस्वरूप में रागादि भाव कर्मजन्य है । मनुष्य कर्मयुक्त है । वह कर्मयुक्त संसार में क्रमोपार्जित इच्छा आदि से त्रस्त है । अनेक इच्छाओं से ऊब गया है । जबकि कर्मरहित है । कर्म नहीं तो राग–द्वेषादि नहीं और राग–द्वेषादि नहीं तो इच्छा भी नहीं ठहर सकती । इच्छा नहीं तो सृष्टि नहीं । यह मानना पडेगा । अन्यथा ईश्वर में इच्छा मानों और रागादि कर्म को न मानों यह घर का न्याय कहाँ से चलेगा । तो फिर ईश्वर को भी इच्छा के कारण रागादियुक्त कर्मसंयुक्त मानना पडेगा । और ऐसा माननेपर ईश्वरत्व ही चला जाएगा । वह हमारे जैसा सामान्य मनुष्य सिद्ध हो जाएगा । अरेरे ! छोटे बच्चे पर हजार मन वजन उठाने की तरह हिमालय जितनी कितनी आपत्तियाँ आएंगी । पार ही नहीं है ।

### कर्मफलदाता ईश्वर क्यों ?

पहले तो ईश्वर सृष्टि की रचना करे । फिर जीवों को स्व-इच्छानुसार प्रवृत्ति करायें । अच्छी–बुरी सभी प्रवृत्ति ईश्वर करावे । उसमें बेचारे जिस जीव ने खराब प्रवृत्ति की उसे पाप लगा । उस पाप कर्म का भागीदार करानेवाला ईश्वर भी नहीं बनता, सिर्फ जीव अकेला ही रहता है । अब उस जीव को ईश्वर पाप कर्म के फल के रूप में सजा देता है । उसे सजा देने के लिए नरक में भेजता है और वह नरक भी ईश्वर ने ही बनाई है । वहाँ नरक में उस को खूब मारता है, खूब दुःखी करता है । बेचारे जीव को मार–मार कर चटणी बना देता है । काट–काट कर टुकड़े कर देता है । पकोड़ी की तरह उबलते तेल की कढ़ाई में तलता है । इतना जब ईश्वर करता है तब ईश्वर की दया–करुणा कहाँ गयी ? तो क्या ईश्वर में से

दया—करुणा चली भी जाती है क्या ? क्रूरता और निर्दयता आती भी है क्या ? चूँकि अनुग्रह—निग्रह दोनों ही कार्य ईश्वर करता है अतः दया—करुणा और क्रूरता—निर्दयता दोनों ही ईश्वर में मानने पड़ेंगे । और दोनों अवस्था के अधीन जब ईश्वर एक को स्वर्गीय सुख देने का और दूसरे को रौरव नरक में दुःख देने का काम करेगा, तब क्या ईश्वर को कोई पुण्य—पाप नहीं लगेगा ? वाह भाई वाह ! पुण्य—पाप जीव को लगता है और कराता है सब कुछ ईश्वर ! फिर फल देने की सत्ता भी ईश्वर के हाथों में ! फल देने का काम भी ईश्वर ही करता है ? अरेरे... ! इसकी अपेक्षा ईश्वर जीवों को कुछ भी कराए ही नहीं तो फिर अच्छे—बुरे का प्रश्न ही खड़ा नहीं होगा । तो फिर फल देने की नौबत ही नहीं आयेगी । अच्छा यही है कि हम यही पक्ष मानें । क्यों दयालु—करुणालु ईश्वर के हाथ निर्दयता और क्रूरता के रंग में खराब करते हो ? क्यों ईश्वर के हाथ नरक में जीव को कटवाकर खून से लथपथ करते हो ? अरे भाई ! ईश्वर को इतनी निम्न श्रेणी तक तो मत ले जाओ । ईश्वर को क्रूर नरकसंत्री परमाधामी की तरह मत बना दो । बचाओ.... बचाओ..... ! ईश्वर का स्वरूप बचाओ । बचाओ.... बचाओ.... । ईश्वर का स्वरूप विकृत होने से बचाओ । ईश्वर का स्वरूप गिरने से बचाओ । शायद हमें ऐसा ईश्वर बचाओ का आन्दोलन करना पड़ेगा । ईश्वर को जेलर बनने से रोको । ईश्वर को कोड़े मारनेवाला बनने से रोको । यदि फल देने का कार्य ईश्वर अपने हाथ में ले लेगा तो ईश्वर का एक स्वरूप या एकसा शुद्ध स्वरूप टिक ही नहीं पायेगा । फिर तो जज, न्यायाधीश, पोलीस, हंटर—कोड़े मारनेवालों को भी ईश्वर या ईश्वरावतार या ईश्वरस्वरूप ही मानना पड़ेगा । अरेरे ! ईश्वर को इतना निम्नस्तर पर ले जाने का पाप किस के सिर पर रहेगा ?

**ईश्वर में सर्वगतत्वादि भी सिद्ध नहीं होगा ।**

सृष्टिकर्ता ईश्वर को सृष्टिनिर्माणार्थ यदि सूक्ष्म शरीरी, या अशरीरी भी मानेंगे तो वह भी उपयुक्त नहीं होगा । या अदृष्य शरीरी भी मानेंगे तो भी उपयुक्त नहीं होगा । चूँकि अनन्त कार्य निर्माणार्थ अनन्त शरीर बनाये तो स्वशरीर बनाना ही सृष्टि हो जाएगी । फिर ईश्वर स्वशरीर बनायेगा कि अन्य सृष्टि बनायेगा ? दूसरी तरफ यदि आप ईश्वर को सर्वगत—सर्वव्यापी मानते हैं तो किस तरह मानते हैं ? शरीर से या ज्ञान से ? एक शरीर से तो कोई भी शरीरधारी हो नहीं सकता और होगा तो मनुष्यादि भी हो जायेंगे । चूँकि ये भी शरीरधारी हैं । अच्छा, तो शरीर से ही ईश्वर सर्व लोक व्यापी—तीनों लोक व्यापी हो जायेगा । तो फिर दूसरे बनाने योग्य निर्मेय पदार्थों के लिए स्थान ही नहीं रहेगा तो

बनायेगा कहाँ ? यदि ईश्वर एक स्थान पर रहकर ज्ञान योग से सर्वव्यापी है ऐसा कहें तो हमारा सर्वज्ञ पक्ष सिद्ध होता है । परन्तु सर्वज्ञ वह है जो स्थित पदार्थों को मात्र जानता है । सर्वदर्शी समस्त ब्रह्माण्ड के स्थित पदार्थों को देखता मात्र है परन्तु बनाता नहीं है । आप ज्ञानयोग से सर्वज्ञ मानते जाओगे तो फिर ईश्वर सृष्टि बना नहीं सकेगा ! क्योंकि पहले सृष्टि बनाई कि पहले देखी या जानी ? यदि पहले से ही ईश्वर को सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, सर्वव्यापी, सर्वगत मानते हो तो फिर ईश्वर ने देखा ही क्या ? जबकि बनाया कुछ भी नहीं है तो देखेगा कैसे ? और यदि बनाकर बाद में देखने की बात आप स्वीकारते हैं तो ईश्वर में सर्वज्ञत्व–सर्वदर्शित्व–सर्वव्यापित्व स्वीकारना व्यर्थ है । दूसरी तरफ स्वीकारने पर वेद विरोध आएगा । वेद में ईश्वर को शरीर की अपेक्षा से सर्वव्यापी कहा है । श्रुति भी ऐसा कहती है कि ईश्वर सर्वत्र नेत्रों का, मुख का, हाथों का और पैरों का धारक है । इस तरह इधर बाघ और उधर नदी जैसे स्थिति खड़ी होती है ।

## सर्वगतत्त्व पक्ष भी सिद्ध नहीं हो सकता

दूसरी तरफ सशरीरी ईश्वर को सर्वगत–सर्वव्यापी मानें तो फिर कूड़े–करकट मल–मूत्रवाले स्थानों में तथा अशुचिपूर्ण–हाड़–मांस–रक्त–रुधिर की नदियाँ जहाँ बहती है ऐसी नरक पृथ्वियों में भी ईश्वर को मानना पड़ेगा जो कि ईश्वरवादी को भी इष्ट नहीं होगा ।

अच्छा, यदि ईश्वर को ज्ञान की अपेक्षा सर्वगत–सर्वव्यापी मानते हैं तो जैनों का अभीष्ट पक्ष आप स्वीकारते हैं । जैन भी १३ वें सयोगी केवली गुणस्थान पर आए हुए सर्वज्ञ केवलज्ञानी को एक स्थान पर विराजमान रहते हुए भी और देहधारी होते हुए भी सर्वज्ञानी–सर्वदर्शी मानते हैं । एक स्थान पर स्थित होकर भी समस्त–लोक–अलोक को अपने ज्ञान का विषय बना लेते हैं । अच्छा है, आप भी हमारी तरह ही ईश्वर को ज्ञान से सर्वज्ञ–सर्वव्यापी–सर्वगत स्वीकार कर लीजिए । हमें आपत्ति नहीं है । परन्तु आप को आपत्ति यह आएगी कि सर्वज्ञ सृष्टिकर्ता सिद्ध नहीं हो सकेगा । क्योंकि योगी, साधक, तपस्वी भी ज्ञानी होते हैं, ज्ञान प्राप्त करते हैं । परन्तु उन्हें अपने ज्ञान के आधार पर सृष्टिकर्ता नहीं माना जाता । जरूरी नहीं है कि जो ज्ञानी हो वह सृष्टिकर्ता या कर्तृत्वशक्ति सम्पन्न हो ही । यह संभव नहीं है । उसी तरह सर्वज्ञ और सृष्टिकर्तृत्व की व्याप्ति भी नहीं बैठेगी । जो जो सर्वज्ञ हों वह वह सृष्टिकर्ता हों ही ऐसा भी नहीं है । चूंकि जैनादि अभीष्ट सर्वज्ञ केवलज्ञानी वीतराग दशा को प्राप्त हो चुके हैं । कृतकृत्य हो चुके हैं वे सृष्टिसर्जन का कार्य

नहीं करते । उसी तरह जो जो सृष्टिकर्ता—सर्जनहार हों वह सर्वज्ञ होना ही चाहिए यह भी नियम नही बन सकता । चूंकि इन्द्रादि स्वर्गीय देवता भी संकल्पबल या इच्छा मात्र से इन्द्रजाल की रचना में बहुत कुछ रचना कर सकते हैं । नगर के नगर, जो देवताओं के द्वारा निर्माण किये जाते हैं । समवसरण आदि जो देवताओं के द्वारा निर्माण किये जाते हैं । शून्य स्थान में भी क्षण मात्र में संकल्प बल से सारी नगर रचना करनेवाले इन्द्रादि देवता सर्वज्ञ नहीं है । यदि आप ईश्वर को भी संकल्प बल से इच्छानुसार सृष्टिरचना करने में इन्द्रादि सदृष्य स्वीकार करोगे तो ईश्वर भी इन्द्ररूप में सिद्ध हो जाएगा । जबकि इन्द्र तो सिर्फ स्वर्ग का स्वामी हे । और आप ईश्वर को त्रिभुवन का स्वामी मानना चाहते हैं । अतः सर्वज्ञ सृष्टि की रचना कर नहीं सकता । ज्ञान के साथ कर्तृत्व की व्याप्ति नहीं बैठती । हमारे में घट—पटादि पदार्थों का ज्ञान है परन्तु घट—पटादि पदार्थों का कृत्रिमत्व हमारे में नहीं है । अतः ज्ञान के साथ कृत्रिमत्व का रहना अनिवार्य नहीं है । अतः बलात् भी ईश्वर में ये दोनों साथ नहीं रह सकते ।

यदि आप मानते हो कि ईश्वर के सर्वज्ञत्व के बिना संसार की विचित्रता असंभव लगती है तो यह भी ठीक नहीं है । आपने माना है कि विचित्रता विविध प्रकार की है, और ईश्वर को यदि वैसा वैविध्य अपनी सृष्टि में लाना है तो ईश्वर में ज्ञान का वैविध्य होना अनिवार्य है । जैसे एक कुशल रसोइया विविध प्रकार के व्यंजन, रसवती पदार्थों की जानकारी (ज्ञान) रखता है तो ही विविध प्रकार की मिठाई, व्यंजन, आदि रसोई बना सकता है अन्यथा संभव नहीं है । ठीक वैसे ही ईश्वर भी सृष्टि में खूब वैविध्य और वैचित्र्य रखता है । विसदृशता खूब ज्यादा है तो ईश्वर में उन सबका ज्ञान होना आवश्यक है । अतः आप किसी भी तरह तोड़ मरोड़ कर भी सृष्टिकर्तृत्व को सिद्ध करने के हेतु से ईश्वर में सर्वज्ञता सिद्ध करने जाते हैं । यह भी उचित नहीं है । संसार की विचित्रता—विविधता—विषमता का कारण जीवों के अपने कृत कर्म ही स्वीकार कर लो तो फिर प्रश्न ही कहाँ रहा ? उसी तरह संसारस्थ जड़ पदार्थों में भी मिश्रण—संमिश्रण, विघटन से वैविध्य है यह स्वभावजन्य ही मान लो तो ईश्वर का स्वरूप तो विकृत होने से बच जाएगा । क्यों आप द्रविड प्राणायाम करते हैं ? संसार में त्रस—स्थावर विकलेन्द्रिय—सकलेन्द्रिय देव—नारक—तिर्यंच—मनुष्यादि विचित्रता तथा सुख—दुःखादि की विषमता स्वयं जीवों के द्वारा उपार्जित कर्मानुसार है, यह स्वीकारने में बहुत ज्यादा सरलता है । अतः आप सर्वज्ञता से सृष्टिकर्तृत्व या सृष्टिकर्तृत्व से सर्वज्ञता सिद्ध करने का बालिश प्रयत्न न करें । चूंकि कोई एक दूसरे का अन्यथासिद्ध नियतपूर्ववर्ती शरण नहीं है । न ही ये जन्य जनक

हैं। अन्यथा बुद्ध—महावीरादि कई सर्वज्ञों को सृष्टिकर्ता स्वीकारना पड़ेगा, तो फिर ऐसे सर्वज्ञ कितने हुए हैं ?— उत्तर में संख्या अनन्त की है। तो क्या आप अनन्त सर्वज्ञों को सृष्टिकर्ता मानेंगे ? तो फिर आपका एकत्व पक्ष चला जाएगा। अच्छा, यदि हमारी तरह संसार को अनादि—अनन्त और जड़—चेतन, संयोग—वियोगात्मक या जीव—कर्म संयोग—वियोगजन्य मान लो तो क्या तकलीफ है ? चूंकि अनादि संसार में जड़ और चेतन ये दो ही मूलभूत द्रव्य हैं। इन्हीं की सत्ता है। इन्हीं का अस्तित्व है। चेतन को ही जीव कहते हैं। और जड़ का एक अंश कार्मण वर्गणा के पुद्गल परमाणु से अपने में खींचता है। उसे कर्म रूप में परिणत करता है। जैसे चुम्बक में चुम्बकीय शक्ति है। मूलभूत पड़ी ही है। चूंकि वस्तु अनन्त धर्मात्मक है। उसी तरह चेतन आत्मा में भी रागादि भाव पदार्थ निमित्तक हैं। अतः वह आकर्षित करता है। उससे कार्मण वर्गणा आत्मसंयोगी बनकर कर्म बनती है। जीव के साथ कर्म का संयोग—वियोग ही सृष्टि की वैचित्र्यता का सही कारण है ऐसा मानना उचित है।

दूसरी तरफ आप यदि ईश्वर को सृष्टि के वैचित्र्य का कारण मानोगे तो भी आवश्यक उपकरणों के रूप में जीव और कर्म का अस्तित्व प्रथम स्वीकारना ही पड़ेगा। क्योंकि आवश्यक उपकरणों के अभाव में ईश्वर सृष्टि की रचना कैसे कर सकेगा ? जैसे एक कुम्हार घड़ा बनाता है तो मिट्टी—पानी, अग्नि, दण्ड—चक्र आदि आवश्यक उपकरण उपस्थित हो तो ही बना सकता है। यदि ये उपकरण न हो तो कुम्हार घड़ा कैसे बनाए ? साधन के बिना बनाए किससे ? एक रसोइया रसवती बनाने में काफी कुशल है। सारी जानकारी अच्छी है। परन्तु सामग्री के अभाव में अच्छी रसोई कैसे बना सकेगा ? वैसे ही आपके कथनानुसार मान लिया कि ईश्वर सर्वज्ञ है। सृष्टिरचना एवं वैचित्र्यादि के निर्माण का पूरा ज्ञान ईश्वर को है। अतः वह सृष्टि निर्माण करने में समर्थ है। परन्तु हमारा यह पूछना है कि क्या समर्थ ईश्वर भी आवश्यक सामग्री के अभाव में भी सृष्टि निर्माण कर सकेगा ? जो आवश्यक उपकरण चाहिए उसके बिना ईश्वर सृष्टि कैसे बना पाएगा ? घड़ा बनाने के लिए जैसे मिट्टी, पानी आदि सामग्री की आवश्यकता है। रसोई बनाने के लिए अनाज—सब्जी—पानी—अग्नि आदि सामग्री की आवश्यकता है उसी तरह सृष्टि निर्माण करने के लिए ईश्वर को भी जीव—कर्मादि आवश्यक उपकरण या सामग्री की आवश्यकता पड़ेगी। जबकि जीव कर्मादि सामग्री के अभाव में ईश्वर सृष्टि रचना करे यह संभव नहीं है। यदि आप सामग्री के अभाव में सृष्टि मानते हो तो अनाज—पानी—अग्नि आदि सामग्री के अभाव में रसोई बनाकर बताइए, या मिट्टी—पानी आदि किसी भी सामग्री के बिना घड़ा

बनाकर बताइये । इस तरह संसार में अनर्थ की परम्परा चल पड़ेगी । अच्छा तो फिर कर्म फल देने में जीवों में कर्म का अस्तित्व क्यों माना है ? क्यों ईश्वर किसी को कर्म का फल देते समय उस जीव के कर्मानुसार फल देता है, ऐसा भी क्यों कहते हैं ? फल देने के लिए कर्म भी आवश्यक सामग्री हो गई । यह तो आप खुद स्वीकार करके ही बोल रहे हैं । आपके शास्त्र कह रहे हैं कि— ईश्वर जीव के कर्मानुसार फल देता है । मतलब आपने ईश्वरनिर्मित सृष्टि के लिए जीव और कर्म को अनुत्पन्न रूप से आवश्यक सामग्री मान ली है । और यदि नहीं मानते हैं तो ईश्वर का कृत्रिमत्व सामग्री के अभाव में निरर्थक सिद्ध हो जाएगा। दूसरी तरफ सामग्री को स्वीकारते हैं तो भी ईश्वर का कृत्रिमत्व निरर्थक—निष्प्रयोजन सिद्ध हो जाता है। चूंकि जो सामग्री या उपकरण के रूप में जीव—कर्म को स्वीकारते हो वे ही परस्पर संयोग—वियोग से संसार की विचित्रता का निर्माण कर लेते हैं । जीव स्वयं भी सक्रिय सचेतन द्रव्य हैं, फिर ईश्वर के कृतिमत्व की आवश्यकता ही कहाँ पड़ी ? अतः जीव कर्मसंयोगजन्य वैचित्र्यरूप संसार के लिए ईश्वर को कारण मानना युक्तिसंगत भी नहीं लगता ।

दूसरी तरफ ईश्वर ही जीवों के पास शुभाशुभ कर्म कराये और फिर वही उसके शुभाशुभ कर्म का फल देनेवाला बने । सिर्फ अपने ईश्वरत्व—स्वामित्व की रक्षा के लिए फलदाता बने, यह द्रविड प्राणायाम क्यों करते हैं ? विष्टा में हाथ—पैर गंदा करके फिर गंगा में धोने के लिए काशी यात्रा करना यह कहाँ तक युक्तिसंगत है ?

दूसरी तरफ **"जीवो ब्रह्मैव नाऽपरः"** या **"जीवो ममैवांऽशः"** जीव ब्रह्मस्वरूप ही है कोई अलग नहीं है । या जीव मेरा ही अंश है अन्य नहीं है । यह कहनेवाले भी जब सृष्टिकर्ता ईश्वर को फलदाता भी कहते हैं तो ईश्वर फल देगा किसको ? जबकि उससे भिन्न तो जीव कोई है ही नहीं । अच्छा, जब ईश्वरातिरिक्त जीव कोई है ही नहीं तो फिर कर्म किये किसने ? करनेवाला ही नहीं है और फिर भी कर्म मानना और उसके आधार पर फलदाता ईश्वर फल देता है यह मानना अभाव पर भाव की परम्परा मानने जैसा है । या रस्सी को सर्प मानने का भ्रमज्ञान है । तो क्या भ्रमज्ञान और ब्रह्मज्ञान में कोई अन्तर ही नहीं है ? दूसरी तरफ ईश्वर को फलदाता मानकर भी अनुग्रह—निग्रह समर्थ भी मानना कहाँ तक सुसंगता है ? तो फिर करुणावान दयालु गुणप्रधान ईश्वर सभी जीवों पर एक साथ अनुग्रह क्यों नहीं कर देता ? यदि अनुग्रह नहीं करता है तो उसकी करुणा निरर्थक जाएगी । दूसरी तरफ दानवी सृष्टि असूर आदि भी ईश्वर द्वारा ही उत्पन्न किये हैं ऐसा मानते हैं तो फिर ईश्वर ने उनका निग्रह क्यों नहीं किया ? पहले दानवों को उत्पन्न करना और फिर निग्रह करना ।

फिर वही बात । विष्ठा में हाथ बिगाडो और धोने के लिए काशी गंगा जाओ । ईश्वर जब सर्वज्ञ थे, सर्ववेत्ता थे, सब कुछ जानते थे तो फिर ईश्वरवाद जगत्कर्तृत्ववाद न स्वीकारनेवाले और इसका विरोध करनेवाले हमारे जैसों का क्यों निर्माण किया है ? क्या यह ईश्वर की भूल नहीं है ? यदि आप ईश्वर की सृष्टि में भूल निकालते हैं तो ईश्वर की सर्वज्ञता चली जाएगी । फिर तो भूल करें वह भी भगवान और भगवान भी भूल करता है यह स्वीकारना पड़ेगा । या हम ऐसा कहेंगे कि हमारा क्या कसूर है ?'ईश्वर हमारे द्वारा ही यह विरोध करवा रहा है । हम तो निर्दोष हैं । कठपुतली की तरह हमको नचाता हुआ ईश्वर ही हमारे द्वारा यह करवाता है तो ईश्वर ही कारण ठहरेगा ।

ईश्वर को कैसा मानें—इस द्विधा में आप पड़े हैं । अब इस भंवर में से बाहर कैसे निकलना यह एक समस्या है । जीव को माता की कुक्षी में शुक्र—शोणित ग्रहण कर पिण्ड बनाकर देह रूप में परिणत करने के कारण में कर्म ही कारण है । ईश्वर को न तो कारण मान सकते हैं और न ही सामग्री । अतः यह बात माननी ही पड़ेगी कि जीव कर्मरूप उपकरण के द्वारा ही देह का निर्माण करता है । अपना संसार जीव स्वयं ही बनाता है और चलाता है । इस तरह संसार में अनन्त संसारी जीव कर्माधीन हैं । सभी कर्म संयोगवश अपना संसार निर्माण करते हैं और चलाते हैं । बस ईश्वर को कर्तृत्व, फलदाता आदि के रूप में बीच में स्वीकारने की आवश्यकता नहीं है । बलात् जबर्दस्ती करने पर ईश्वरस्वरूप विकृत होता है ।

### ईश्वरकर्तृत्व की निष्प्रयोजनता

निष्कर्म = कर्मरहित जीव शरीरादि नहीं बनाता है । चूंकि वह निश्चेष्ट है । जो आकाशादि के समान निश्चेष्ट हो वह आरम्भ कार्य में असमर्थ होता है । कर्मरहित जीव जो सिद्धात्मा—मुक्तात्मा कहलाता है । वह निश्चेष्ट निष्क्रिय है तथा वहाँ कर्म उपकरण भी नहीं है अतः देह निर्माण या संसार निर्माण कुछ भी संभव नहीं है । जहाँ कर्म उपकरण है वहीं संभव है ।

अब यदि आप ईश्वर को सशरीरी मानकर कुम्हार की तरह सृष्टि का कर्ता मानते हो तो हमारा प्रश्न यह है कि ईश्वर ने अपने शरीर की रचना स्वयं बनाई या दूसरे के द्वारा ? दूसरे के द्वारा मानने पर अनवस्था दोष आएगा । यदि यह कहें कि ईश्वर ने स्व-शरीर की रचना स्वयं की, तो यह बताइये कि ईश्वर ने स्व-शरीर की रचना सकर्म होकर की या अकर्म होकर की ? यदि कर्मरहित होकर की कहेंगे तो आकाश भी कर सकता है । वह निष्कर्म

है अथवा कर्म रहित ईश्वर सामग्री के अभाव में देहरचना कैसे कर सकता है ? तो फिर सिद्धात्मा भी कर सकता है, यह मानोगे तो सिद्ध पुनः संसार में आ जाएगा । अतः उनका सिद्ध होना व्यर्थ सिद्ध होगा । इस तरह तो सिद्धत्व ही निरर्थक निष्प्रयोजन सिद्ध हो जाएगा तो कोई सिद्ध बनेगा ही नहीं ।

सिद्ध बनने के लिए पुरुषार्थ भी नहीं करेगा । पुरुषार्थ धर्मप्रधान है, वह भी नहीं करेगा । इस तरह सब कुछ निरर्थक—निष्प्रयोजन सिद्ध हो जाएगा । अच्छा अकर्म ईश्वर की सामग्री के अभाव में स्व-शरीर रचना ही असंभव है तो फिर सृष्टिरचना कैसे संभव हो सकती है ? सकर्म मानते हैं तो सकर्मी तो मनुष्य भी हैं । पशु—पक्षी भी हैं । सकर्मी सशरीरी सभी हैं तो ईश्वर की मनुष्यादि से भिन्नता संभव नहीं है ।

अच्छा यदि ईश्वर बिना किसी प्रयोजन के जीवों के शरीरादि या सृष्टि की रचना करता है तो निष्प्रयोजन प्रवृत्ति उन्मत्त प्रवृत्ति कहलाती है । अतः ईश्वर को उन्मत्त मानने की आपत्ति आएगी । अच्छा यदि कोई प्रयोजन है तो वह ईश्वर क्यों कहलाएगा ? ईश्वर ही अनीश्वर सिद्ध होगा । यदि अनादि शुद्ध ईश्वर भी सृष्टि की रचना करता है यह मानेंगे तो भी संभव नहीं है । कारण शुद्धि राग—द्वेषादि के अभाव में होती है । और रागादि के अभाव में सृष्टि संभव नहीं है । अब क्या करेंगे ? इच्छा मानते हैं तो रागादि युक्त सकर्म ईश्वर मानना पड़ेगा और नहीं मानते हैं तो सृष्टिरचना में बाधा आएगी । इतो व्याघ्रस्ततो तटी जैसी स्थिति में छूटना मुश्किल है । अतः ईश्वर के ऊपर सृष्टिकर्तृत्व का बोझ डालकर ईश्वर का स्वरूप विकृत करने का कुकर्म न करें इसी में हमारी सज्जनता है ।

### करुणा में दोष

बुद्धिमानों की प्रवृत्ति प्रयोजन अथवा करुणा बुद्धिपूर्वक ही होती है । अतः यहाँ प्रश्न होता है कि ईश्वर स्वार्थ से सृष्टि निर्माण में प्रवृत्त होता है या करुणावृत्ति से ? स्वार्थ अथवा प्रयोजन मानें तो वह ईश्वर में कैसे घटेगी ? चूंकि ईश्वर तो कृतकृत्य है । कृतकृत्य ईश्वर का प्रयोजन या स्वार्थ भी कैसे संभव हो सकता है ? स्वार्थी कहना ईश्वर की ज्यादा विडंबना करने जैसी बात होगी । अच्छा यदि करुणा बुद्धि से मानें तो भी संभव नहीं है । क्योंकि दुःखों को दूर करने की इच्छा को करुणा कहते हैं । यह करुणा की व्याख्या गलत तो नहीं है । जबकि सृष्टिरचना के पहले जीवों के इन्द्रियाँ, शरीर और विषयादि नहीं थे तो फिर जीवों को दुःख ही कहाँ था ? और जब दुःख ही नहीं था तो फिर किस दुःख को दूर करने की करुणा ईश्वर में उत्पन्न हुई ? फिर आप यह कैसे कह सकते हैं कि करुणा प्रेरक इच्छा से प्रेरित होकर ईश्वर ने सृष्टि बनाई ?

अच्छा यदि आप ऐसा कहो कि सृष्टिरचना करने के बाद दुःखी जीवों को देखकर ईश्वर में करुणा का भाव उत्पन्न हुआ। तो क्या यह इतरेतराश्रय दोष नहीं कहलाएगा? ईश्वर दुःखी जीवों को बनाए और फिर उन पर करुणा जगाए। उस करुणा से अनुग्रह करे। अरे भगवान! ऐसी समुद्री प्रदक्षिणा से क्या लाभ? इसकी अपेक्षा तो आप सृष्टि निर्माण करने का पक्ष ही न स्वीकारो तो क्या आपत्ति है? करुणा से जगत् की रचना और जगत् रचना से पुनः करुणा ऐसा यदि दोषयुक्त भी मानोगे तो तो अण्डे—मुर्गी की तरह यह क्रम सदा ही चलता रहेगा। इसका अन्त ही नहीं आएगा। करुणा से जगत्, जगत् से पुनः करुणा, पुनः करुणा से जगत् रचना, पुनः करुणा, पुनः जगत्। इस तरह सदा ही करुणा और सदा ही जगत् की रचना चलती ही रहेगी। अच्छा यह बात यदि आपको आपकी पक्ष पुष्टि की लगे भी सही, परन्तु सदा ही करुणा और सदा ही जगत् रचना यदि चलती ही रहेगी तो ईश्वर संहार प्रलय कब करेगा? या तो आपको दोनों में से एक पक्ष स्वीकारना पडेगा। परन्तु सृष्टि ही नहीं बनी होगी तो संहार किसका करेगा? सृष्टि की रचना ही सिद्ध नहीं हो रही है तो संहार—प्रलय की बात किसकी करें?

दूसरी तरफ सृष्टि और संहार दोनों एक साथ स्वीकारें तो भी संभव नहीं है। कुम्हार घडे बनाता जाय और फोडता जाय? माँ बच्चे को जन्म देती जाये और फिर मारती जाये। फिर जन्म दे और फिर मार दे तो निरर्थक प्रसव पीड़ा सहन करने का दुःख क्यों सिर पर ले? उसी तरह दोनों स्वभाव साथ रखकर ईश्वर कार्य करे तो सृष्टि निर्माण और संहार दोनों एक साथ संभव भी कैसे हो सकता है? सृष्टिरचना निरर्थक निष्प्रयोजन सिद्ध होगी। आप यदि यह कहें कि लीला—विलास मात्र के लिए ही ईश्वर ऐसा करता है—यह पक्ष स्वीकारते हैं तो फिर करुणा—अनुग्रह—निग्रहादि या सर्वज्ञत्व या सर्वशक्तिमानादि पक्ष निष्प्रयोजन सिद्ध होंगे। करुणा के रहने पर संहार मानना यह पानी में से आग निकालने के बराबर होगा। करुणा से संहार हो नहीं सकता है। तो क्या आप संहार—प्रलय के लिए दानवी—राक्षसी क्रूरता का अस्तित्व ईश्वर में मानेंगे? यह तो ईश्वर का उपहास करने की चरम सीमा हो जाएगी। क्रूर—दानव—राक्षस भी कहना और ईश्वर भी कहना यह मूर्ख व्यक्ति भी नहीं स्वीकारेगा।

अच्छा आप सृष्टि रचना और प्रलयकारक संहार दोनों ईश्वर के कार्य मानोगे तो ईश्वर में नित्यत्व सिद्ध नहीं होगा। अनित्यत्व आ जाएगा। अच्छा दोनों क्रिया के कर्ता भिन्न—भिन्न मानोगे तो आपका एकत्व पक्ष चला जाएगा। एक ईश्वर नहीं रहेगा। नाना ईश्वर मानोगे तो अनेकेश्वरवादी कहे जाओगे। यह तो पैर के नीचे की भी जमीन जा रही है।

क्या ईश्वर जिस स्वभाव से सृष्टि की रचना करता है उसी स्वभाव से संहार करता है या भिन्न स्वभाव से ? यदि ईश्वर को सदा एक ही स्वभाववाला मानोगे तो दो भिन्न—भिन्न कार्यों की संभावना ही नहीं रहेगी । सृष्टिरचना और प्रलय दोनों ही ठीक एक दूसरे के सर्वथा विपरीत कार्य हैं । अतः एक ही स्वभाव से दोनों विरोधी कार्य हो नहीं सकते तथा ईश्वर को एकान्त नित्य मानने पर सृष्टि की तरह संहार बन नहीं पाएगा । यदि ईश्वर सृष्टिरचना तथा संहारादि अनेक कार्यों को करेगा तो वह अनित्य हो जाएगा । अनेक कार्य तो आप स्वीकारते हैं । सिर्फ एक सृष्टिरचना ही नहीं अपितु पालन और संहार भी आप ईश्वर के ही कार्य के रूप में स्वीकारते हैं तो फिर अनेक कार्य हुए । और अनेक कार्यों के कारण ईश्वर में अनित्यता आ जाएगी । अनेक कार्य और एकान्त नित्य दोनों परस्पर विरोधी हैं यदि ईश्वर के स्वभाव में भेद नहीं है तो सभी कार्य एक साथ ही हो जायेंगे तथा एक स्वभाव से अनेक कार्य संभव नहीं हैं । चूँकि कार्यानुरूप स्वभाव एवं स्वभावानुरूप कार्य होता है । स्वभाव भेद अनित्यता का लक्षण है । आप ही कहते हैं कि ईश्वर सृष्टिरचना में रजोगुण, संहार में तमोगुण, एवं स्थिति में सत्त्वगुण रूप से प्रवृत्ति करता है । इस तरह अनेक अवस्थाओं एवं स्वभावों के भेद एवं परिवर्तन से ईश्वर को एकान्त नित्य कैसे मान सकते हैं ?

मान लो कि ईश्वर नित्य है तो उसमें रही हुई इच्छा भी नित्य होगी । इच्छा नित्य है तो सृष्टि रचना का कार्य नित्य चलते ही रहना चाहिए । इच्छा ईश्वर को सदा काल प्रवृत्त करती ही रहेगी । दूसरी तरफ आप ईश्वर में बुद्धि—इच्छा—प्रयत्न—संख्या—परिमाण—पृथक्त्व—संयोग और विभाग नामक आठ गुणों को स्वीकारते हो । ईश्वर की नित्यता के साथ इच्छा की भी सदा नित्यता ईश्वर में स्वीकारें तो नाना कार्यों के आधार पर इच्छाएं भिन्न—भिन्न विषयक माननी पडेगी । चूंकि कार्य कई प्रकार के हैं । इस तरह ईश्वर की इच्छाओं के विषय होने से ईश्वर को भी अनित्य मानना पडेगा ।

## क्या ईश्वर को कर्ता या निमित्त कारण मानें ?

यदि ईश्वर ने पृथ्वी—पानी—अग्नि—वायु के परमाणुओं से तथा अदृष्ट (पूर्व कर्म संस्कार) को ध्यान में रखकर यदि जीवों के कल्याण हेतु इस जगत की सृष्टि की है और वह भी नित्य विद्यमान दिशा, काल और आकाश में की है तो फिर ईश्वर को अधिक से अधिक निमित्त कारण *(Efficient Cause)* मान सकते हैं परन्तु सृष्टिकर्ता नहीं कहा जा सकता; क्योंकि न्यायवैशेषिक मतानुसार ईश्वर इस जगत को शून्य से उत्पन्न नहीं करता

है । अच्छा इस तरह ईश्वर को निमित्त कारण मानें तो फिर ईश्वर जीवों की शुभाशुभ कार्य प्रवृत्ति में निमित्त नहीं बनेगा । चूंकि अदृष्ट ही जीवों के लिए कारण है । अपने पूर्वकृत कर्म संस्कार रूप अदृष्ट के लिए जीव स्वयं उत्तरदायी है, ईश्वर नहीं । इस तरह जीव स्वयं अपने शुभाशुभ का कर्ता है, तो उसे ही भोक्ता भी मानना ही पडेगा । कालानुसार वह जीव उस अदृष्ट (कर्म) के फल को भोगेगा । अतः ईश्वर का जीवों के शुभाशुभ कर्म एवं फल के विषय में हस्तक्षेप फिर नहीं रहेगा । अतः ईश्वर न तो सृष्टिकर्ता और न ही कर्मफलदाता सिद्ध होता है ।

## शुद्ध परमेश्वर–स्वरूप

इतनी सुदीर्घ एवं सुविस्तृत तर्कयुक्तिपुरस्सर चर्चा से यह निष्कर्ष निकलता है कि ईश्वर कोई ऐसी सत्ता नहीं है जो सृष्टि की रचना करता है, प्रलय–संहारादि करता है– यह किसी भी रूप में सिद्ध हो नहीं सकता है । उसी तरह ऐसे ईश्वर के विषय में दिये गए विशेषण जगत का कर्ता, एक ही है, वही नित्य है, सर्वव्यापी तथा स्वतन्त्र है । ये कोई विशेषण भी सिद्ध नहीं होते । परस्पर विरोधाभास इन विशेषणों से खडा होता है । जैसे तराजु में चूहों को तौलना कठिन है वैसे ही इन विशेषणों का तर्क युक्ति की तुला में बैठाना कठिन है, असंभवसा है । एक सिद्ध करने जाओ तो दूसरे टूटते हैं । दूसरे सिद्ध करने जाओ तो तीसरा असिद्ध होता है । इस तरह यह चर्चा तो काफी लम्बी–चौडी है । परन्तु मूल में ही जो सृष्टिकर्तृत्व माना है वही सिद्ध नहीं हो सकता है तो दूसरी बातें उसी के आधार पर सिद्ध नहीं होती है ।

अतः निरीश्वरवादी जैनों का कहना है कि बलात् ईश्वर पर कर्ता–नित्य–एकादि विशेषण बैठाने से दोष आता है और ये विशेषण शोभास्पद नहीं ठहरते अपितु ईश्वर की विडंबना करते हैं । योग्य आभूषणों को स्वरूपवान स्त्री भी यदि सुयोग्य स्थानपर नहीं पहनती है तो वह भी हास्यास्पद बनती है । उसी तरह ईश्वर में जो सृष्टिकर्तृत्व–फलदातृत्व आदि सिद्ध होते ही नहीं है उनको जबरदस्ती ईश्वर पर बैठाने से ईश्वर का स्वरूप हास्यास्पद–विकृत सिद्ध होता है । फिर ऐसे विकृत स्वरूपवाले, ईश्वर की हम उपासना, भक्ति–नामस्मरण–ध्यानादि कैसे करें ? पत्नी को दुराचारिणी दुश्चरित्र देखकर फिर उसके प्रति प्रेम कैसे उत्पन्न होगा ? इसी तरह बिडंबनायुक्त हास्यास्पद विकृत स्वरूप ईश्वर का देखते हुए उसके प्रति आदर, पूज्यभाव, भक्तिभाव कैसे उत्पन्न होंगे ? संभव ही नहीं है ।

अतः ईश्वर को पूर्ण शुद्ध स्वरूप में स्वीकारना अनिवार्य है। उसे सृष्टिकर्ता संहारकर्ता न मानकर सर्वकर्ममुक्त, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, राग–द्वेषरहित–वीतराग, सिद्ध–बुद्ध–मुक्त मानना जरूरी है। मोक्षमार्ग का उपदेष्टा मानना चाहिए। आत्मा का ही पूर्ण शुद्ध स्वरूप है। विद्यानंदी ने यही कहा है—

**मोक्षमार्गस्य नेतारं, भेत्तारं कर्मभूभृताम्।**
**ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां, तीर्थेशं स्मृतिमानये॥**

जो मोक्षमार्ग दिखानेवाले हैं, गन्तव्य मोक्ष तक ले जाने में सहायक आलम्बन हैं, कर्मों के पर्वतों को जिसने तोड़ दिये हैं, तथा जो समस्त विश्व के सभी तत्त्वों पदार्थों के ज्ञाता सर्वज्ञ है ऐसे तीर्थेश–तीर्थंकर को मैं स्मृतिपटल में स्मरण करता हूँ। बात यही सही है। जो अरिहंत हो वही भगवान कहलाने योग्य है। परन्तु जो भगवान हो वह अरिहंत नहीं भी कहला सकते हैं। चूंकि अरिहंत अरि = काम क्रोधादि शत्रु (काम–क्रोध–मान–माया–लोभ–राग–द्वेषादि), हंत = नाश अर्थात् जिन्होंने राग–द्वेषादि आत्मशत्रुओं का नाश–(क्षय) किया है ऐसे अरिहंत ही भगवान–ईश्वर कहलाने योग्य हैं।

ईश्वर ही नहीं परमेश्वर वे ही कहे जाएंगे। परम + ईश्वर = परमेश्वर। परम + आत्मा = परमात्मा। अतः जैन निरीश्वरवादी नहीं परमेश्वरवादी हैं। सृष्टिकर्तृक ईश्वर को जैन नहीं स्वीकारते हैं, इस अपेक्षा से जैनों को निरीश्वरवादी कहना उचित है। परन्तु साथ ही साथ परम शुद्ध आत्मा को परमेश्वर कहते हुए जैनों को परमेश्वरवादी भी कहना होगा। परमोच्च–सर्वोच्च–परम शुद्ध–पूर्ण वीतराग परमात्मा को परमेश्वर माननेवाले जैनों ने प्रभु के स्वरूप में हास्यास्पदता या विकृति खड़ी नहीं की। अतः भक्ति उपासना में सदा ही परमात्मभक्ति करनेवाले जैनों को नास्तिक कहना भी मूर्खता होगी।

जैन दर्शन अवतारवाद भी नहीं स्वीकारता। मुक्तात्मा मोक्ष से पुनः लौटकर संसार में नहीं आती। अपूर्ण पूर्ण बनता है। रागी–वीतरागी बनता है। अशुद्ध–शुद्ध बनता है। उसी तरह संसारी सिद्ध बनता है। बुद्ध–मुक्त बनता है। इसका उल्टा नहीं होता। अतः सर्व कर्मबंधनों से मुक्त सिद्धात्मा पुनः संसार में नहीं आते, पुनः जन्म नहीं लेते। उन्हें न तो लीला करनी है, न ही अनुग्रह–निग्रह करना है, न ही सृष्टि रचनी है, न ही प्रलय करना है, न ही कर्मफल देना है। इन सब विडंबनाओं से ऊपर उठे हुए वे सिद्ध–बुद्ध–मुक्त–कृतकृत्य–धन्य हो चुके हैं। अतः न तो वहाँ कर्मबंध है, और कर्मबंध न होने से पुनरागमन नहीं है। चूंकि नीचे पतन या संसार में पुनरागमन तो कर्मजन्य है,

और वहाँ मोक्ष में कर्मबंधादि का अभाव है। फिर अधःपतन संभव ही नहीं है। ऊपर से नीचे नहीं स्वीकारा गया है। अतः संसार से एक नहीं अनेक नहीं अनन्तात्मा मोक्ष में जाती हैं। गई हैं, जो भी सर्वकर्मक्षय करें वह मोक्ष में जाती है। सिद्ध–बुद्ध–मुक्त बनती है। अतः जैनदर्शन अनन्तात्मवादी है। अतः अनन्तसिद्धात्मवादी है। परमात्मा बनने की ठेकेदारी एक ही ईश्वर को नहीं दी गई है। जो भी सर्वकर्मक्षय करके परमात्मा स्वरूप शुद्ध स्वरूप प्राप्त करे वह परमात्मा बनती है। इसलिए परम पद को कोई भी पामर प्राप्त कर सकता है। पामर ही परम बनता है, बन सकता है। सिर्फ उसे कर्मक्षय करते हुए उन गुणस्थानों से होते हुए गुजरना पडेगा। राग–द्वेषादि का क्षय हो जाएगा और सर्वज्ञता–वीतरागता प्रगट हो जाएगी, फिर सवाल ही कहाँ रहा ? पूर्ण परमात्मा बन गये।

ऐसे परमात्मा बनने के लिए पूर्व में बने हुए परमात्मा का आलम्बन लेना, उनकी स्तुति–स्तवना करना, उनकी प्रतिमा समक्ष दर्शन–वंदन–पूजन–पूजा करना उसी पद को पाने का आलम्बन है, भक्ति मार्ग है। अतः पूजा भक्ति यह उपासना मार्ग है। जाप–नामस्मरण–ध्यान–साधना आदि कई प्रकार उपास्य की उपासना के हैं, एक भी गलत नहीं है। दर्शन–पूजन आदि को गलत कहना भी गलती है, भूल है। यही मार्ग है भक्ति का–जिससे भक्त भगवान बन सकता है। स्वयं परमात्मा ने पामरात्मा को यह मार्ग दिखाते हुए परमात्मा बनने का तरीका बताया है।

इस दृष्टि से सिर्फ सृष्टिकर्ता के स्वरूप में ईश्वर को न मानते हुए जैन शुद्ध पूर्ण परमेश्वर परमात्मा अरिहंत–वीतराग तीर्थंकर–सर्वज्ञ को भगवान ईश्वर मानते हैं। ईश्वर ही नहीं परमेश्वर माननेवाले जैनों को परमेश्वरवादी, परमात्मवादी, सर्वज्ञात्मवादी, वीतरागवादी, सिद्धात्मवादी, आदि शब्दों से नवाजना उचित होगा। सिर्फ निरीश्वरवादी कहकर नास्तिक कहने की धृष्टता करने के बजाय पूर्ण परमात्मवादी, पूर्ण परमेश्वरवादी कहना पडेगा। इतना ही नहीं सिर्फ आस्तिक ही नहीं परमास्तिक जैनों को कहना पडेगा। परमात्म भक्ति के उदाहरण के रूप में आज भी हजारों लाखों मंदिर जो लाखों वर्षों से विद्यमान हैं, इतने बडे तीर्थ और जिन मंदिरादि ही जैनों की परमास्तिकता–परमभक्ति की गौरवगाथा सदियों से गा रहे हैं। सदियों से पूजा हो रही है।

इस तरह जैनदर्शन ईश्वरकर्तृत्ववादी दर्शन नहीं है। अवतारवादी भी नहीं है। एकेश्वरवादी भी नहीं है, नित्य ईश्वरवादी भी नहीं है तो ऐसी मान्यतावाले हिन्दु धर्म की शाखा भी कैसे हो सकता है ? नीम के वृक्ष की एक शाखा मीठी कैसे हो सकती है। आम्र वृक्ष की शाखा को नीम के वृक्ष की शाखा कैसे कह सकते हैं ? जैन दर्शन की मौलिक

मान्यता, एवं सिद्धान्त की धारा हिन्दु धर्म की विचारधारा से सर्वथा विपरीत ही है । दोनों में पूर्व–पश्चिम का या आसमान जमीन का अन्तर है तो फिर शाखा मानने का सवाल ही कहाँ उत्पन्न होता है ? हिन्दु धर्म में से जैन धर्म निकला है यह कहना भी नितान्त तर्कयुक्तिरहित है । अतः जैनदर्शन हिन्दु धर्म की शाखा नहीं है । न ही इसमें से निकला है ।

**यह एक स्वतंत्र मौलिक दर्शन है। स्वतंत्र धर्म है।**

अतः परमेश्वर–परमात्मा का शुद्ध स्वरूप समझने के लिए यह सुदीर्घ विस्तृत चर्चा तर्कयुक्तिपूर्वक की है । जिससे संसार एवं स्वयं के सुख–दुःख के कर्ता जगत्कर्ता ईश्वर है या नहीं यह पता चल सके । अब एक पक्ष को विविध पासों में देख लिया कि ईश्वर इस संसार की विचित्रता, विषमता एवं विविधता तथा जीवों के सुख–दुःख का तथा कर्मफल का कारण नहीं है । यह स्पष्ट निश्चय एवं निर्णय होने के बाद अन्य कारण कालादि हो सकते हैं या नहीं इसके बारे में फिर आगे सोचेंगे । एक पक्ष में निर्णय हुआ अन्य निर्णय आगे देखेंगे ।

इति शुभं भवतु ॥

# अध्याय ४

# संसार

## संसार क्या है ?

संसार शब्द की व्याख्या करते हुए कहा है कि— **"संसरतीति संसारः" "सृ गतौ"** यहाँ संस्कृत भाषा की "सृ" धातु गति के अर्थ में है। इस सृ धातु से सरति गच्छति—जाना—चलना गति अर्थ में संसार शब्द बना है। अर्थात् जहाँ जीवों का निरंतर गति करना होता रहे उसे संसार कहते हैं। निरंतर गति करने का तात्पर्य है जीव सदा एक गति से दूसरी गति में— एक जाति से दूसरी जाति में, एक जन्म से दूसरे जन्म में एक भव से दूसरे भव में सतत गति करता ही रहता है। गति दोनों प्रकार की होती है। १) जाने की गति और २) आने की गति। जीव एक गति में से दूसरी गति में जाते हैं तो आते भी रहते हैं। यह आवागमन कर्मनिमित्तक है। न कि ईश्वर प्रेरित। हम 'ईश्वर' के कर्तापने के बारे में काफी विचारणा कर आए हैं। तदनुसार निष्पक्षभाव की तटस्थभाव की दृष्टि से विचार करने पर यह स्पष्ट ख्याल आता है कि . . . जीवों की एक गति से दूसरी गति आदि में जाने—आने में सिर्फ जीवकृत कर्म ही कारण है। जैसे कर्मों का उपार्जन जीव ने किया है उसके फलस्वरूप ही जीव को गति—जाति में गमनागमन करना पडता है। एक गति में आने का अर्थ है जन्म लेना, और जाने का अर्थ है जीव का शरीर छोडकर—मृत्यु पाकर अन्य गति में जाना। इस तरह यह जन्म—मरण का चक्र जहाँ चलता ही रहे उसे संसार कहते हैं।

इसी तरह सुख से दुःख में जाना, पुनः दुःखी अवस्था से सुखी अवस्था में आना, कर्मानुसार यह क्रम निरंतर अखंडित रूप से चलता ही रहता है। बस, इसे ही संसार कहते हैं। इसीलिए संसार को सुख—दुःख से भरा हुआ कहा गया है। अतः संसार में सुखी—दुःखी जीवों की भरमार है। इस तरह गति में, जाति में, जन्म मरण के चक्र में, सुख—दुःख में जहाँ निरन्तर गमनागमन होता ही रहे उसी का नाम संसार है। यह निरन्तर संसरणशील है।

ऐसा संसार अनादि—अनन्त है। इस संसार की भी उत्पत्ति नहीं है। अतः अनुत्पन्न है। और दूसरी तरफ अविनाशी है। अनन्त है। संसरणशील ऐसे संसार का कभी अन्त

भी नहीं आता है अतः अनन्त है । अतः शाश्वत है । यह अनन्त जीवों की अपेक्षा से है । जब जीवों की संख्या ही अनन्त है जिसका कभी अन्त होनेवाला ही नहीं है । ऐसे संसार की उत्पत्ति कहाँ से गिने ? शुरुआत कहाँ से गिने ? गिनती भी संभव नहीं है । अतः जब से जीव हैं तब से संसार है ही और जब से संसार है तब से जीव हैं ही । दोनों एक दूसरे के पूरक कार्यकारण हैं । संसार के कारण जीव और जीवों के कारण संसार यह क्रम चलता ही रहता है । जब जीवों की संख्या अनन्त है उसकी समाप्ति कभी भी होनी संभव ही नहीं है तो फिर संसार का अन्त आने का तो प्रश्न खडा ही नहीं होता है । इसीलिए संसार की अनन्तता सिद्ध होती है ।

आखिर संसार किसका ? जीव का या अजीव का ? सोचिए, अजीव का क्या संसार हो सकता है ? वह तो जड है—निर्जीव है—चेतनारहित है । इसलिए अजीव—जड पुद्गल परमाणुओं का जिनको न तो सुःख—दुःख की संवेदना है और न ही... कर्म बांधना—छोडना है, न ही जन्म—मरण लेना है, और न ही एक गति से दूसरी गति में आना—जाना है । किसी भी प्रकार की संसार की कोई व्याख्या जब अजीव—जड में घट ही नहीं सकती है तो फिर अजीव—जड का संसार कैसे कहा जाय ? संभव ही नहीं है । कहना ही गलत है । संसार तो सिर्फ जीव का ही होता है । क्योंकि सारी व्याख्याएँ जीव के साथ बैठती हैं । घटती हें । इसलिए जीवकृत संसार है न कि.... संसार कृत जीव । जीव ने संसार बनाया है परन्तु संसार ने जीव को बनाया है ऐसा नहीं कहा जा सकता । इसलिए जीव का संसार कहा जाता है ।

संसार किसी वस्तु विशेष का नाम नहीं है । यह कोई नाम वाची संज्ञा ही नहीं है । किसी भी मकान, टेबल, ईंट, चूने या अन्य किसी भी वस्तु विशेष को संसार कह ही नहीं सकते हैं । इसी तरह जड पुद्गल पदार्थों के मिलने को भी संसार नहीं कहा जा सकता । लेकिन जीवों का ही संसार है, इसमें भी अकेले जीव के कारण संसार है यह भी बात नहीं है । क्योंकि संसारी अवस्था में जीव—अजीव जड—पुद्गल पदार्थों के साथ घुला—मिला है । जड—पुद्गल के घेरे में फँसकर ही जी रहा है । जीव ने बनाया हुआ यह शरीर भी जड—पुद्गल परमाणुओं का ही है । मन, इन्द्रियाँ, श्वासोच्छ्वास, भाषा, तथा कर्म, एवं अनेक प्रकार की लाखों वस्तुएँ जड—पुद्गल—परमाणुओं को ग्रहण करके जीव ने अपने लिए बनाई है । और उन्हीं के बीच जीव जी रहा है । जैसे एक मकडी स्वयं जाल बांधती है और स्वयं ही उसी में फँसती भी है । पुद्गल परमाणुओं की सहायता के बिना तो जीव

संसार में रह ही नहीं सकता है । संसार में रहना और पुद्गल—परमाणुओं की, अजीव पदार्थों की सर्वथा सहायता के बिना या उनको ग्रहण किये बिना तो रहना ही संभव नहीं है । अतः अजीव—जड—पुद्गल की सहायता उपयोगिता संसार में जीव के लिए अनिवार्य है । उसी के साथ रह सकता है जीव । हाँ, जिस दिन मुक्त हो जाएगा . . . . संसार से छूट जाएगा, उस दिन किसी भी पुद्गल परमाणुओं की या किसी भी पदार्थ की आवश्यकता नहीं रहेगी । वह जीव सर्वथा मुक्त गिना जाएगा । पुद्गल संग से भी सर्वथा मुक्त ही गिना जाएगा । लेकिन जब तक जीव मुक्त नहीं हो पाता है तब तक तो संसार के घेरे मे फँसा हुआ है । कर्म जन्य संसार है । और कर्मकृत संसार है । जीवोपार्जित कर्मजन्य संसार है । अतः जीव कर्म के कारण भिन्न—भिन्न अवस्थाओं में संसार में है ।

**मिथ्यात्वादि निमित्तोपार्जितकर्मवशादात्मनो भवान्तरप्राप्तिरूपत्वं संसारित्वस्य लक्षणम् ।**

कर्म के विभाग में हम जो कर्म की मिथ्यात्वादि प्रकृतियों का विचार कर चुके हैं उन मिथ्यात्वादि कर्मों के निमित्त जीवों का एक भव से आगे के दूसरे भवों में जाना यह संसारी जीव का लक्षण है । संसार में रहनेवाले जीव को संसारी कहते हैं । जो कर्म संसक्त होता है वह संसारी होता है । और जो संसारी होता है वह अवश्य कर्म संसक्त होता है । जीव की संसारी अवस्था ही कर्मजन्य है । कर्मोपार्जित है । कर्मरहित तो मुक्ती है । मुक्तावस्था सर्वथा कर्म रहित है ।

जैसे बच्चा एक ही है उसे भिन्न भिन्न प्रकार की वेशभूषा पहनाने पर भिन्न—भिन्न प्रकार का दिखाई देता है । कभी पोलीस, कभी डॉक्टर, कभी वकील, कभी स्त्री, कभी पुरुष, कभी नेता, कभी अभिनेता इत्यादि रूपों में वह दिखाई देगा । क्योंकि वैसी भिन्न—भिन्न प्रकार की वेशभूषा बदल—बदलकर पहनाई गई है इसलिए । जैसे सोना एक ही मूल धातु है परन्तु भिन्न—भिन्न प्रकार की आकृतियाँ देकर अलग—अलग गहने—आभूषण बनाए जाते हैं । उनमें आकार प्रकार भिन्न हैं परन्तु मूलधातु सुवर्ण तो वही है । ठीक वैसे ही . . जीवात्मा तो वही है परन्तु नाम कर्म के संयोग वश जीव को भिन्न भिन्न शरीर धारण करने पडते हैं । अतः शरीर पर्याय में वह जीव भिन्न—भिन्न प्रकार का होता है—बनता है । कर्मजन्य वैसे देह धारण करने पडते हैं । इस देह धारण करने की प्रक्रिया को वेशभूषा की उपमा दी गई है । आभूषणों की उपमा दी गई है । इस तरह संसार में संसारी जीवों के जो भेद पडते हैं वह निम्न तालिका से आसानी से समझ सकते हैं—

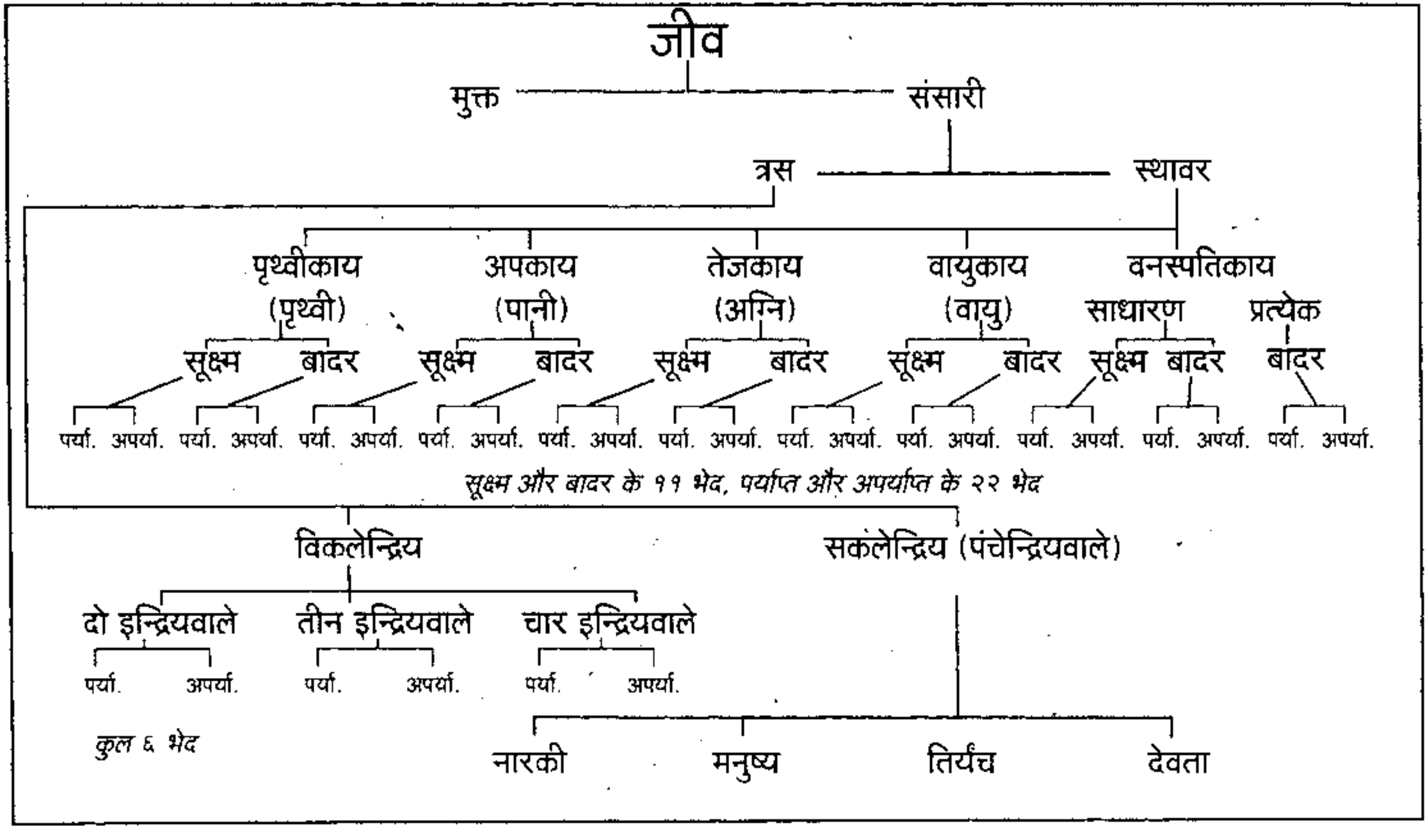
जीव
मुक्त
संसारी
त्रस
स्थावर
पृथ्वीकाय (पृथ्वी)
अपकाय (पानी)
तेजकाय (अग्नि)
वायुकाय (वायु)
वनस्पतिकाय
साधारण
प्रत्येक
सूक्ष्म बादर सूक्ष्म बादर सूक्ष्म बादर सूक्ष्म बादर सूक्ष्म बादर बादर
पर्या. अपर्या. पर्या. अपर्या. पर्या. अपर्या. पर्या. अपर्या. पर्या. अपर्या. पर्या. अपर्या. पर्या. अपर्या. पर्या. अपर्या. पर्या. अपर्या. पर्या. अपर्या. पर्या. अपर्या.
सूक्ष्म और बादर के ११ भेद, पर्याप्त और अपर्याप्त के २२ भेद
विकलेन्द्रिय
सकलेन्द्रिय (पंचेन्द्रियवाले)
दो इन्द्रियवाले
तीन इन्द्रियवाले
चार इन्द्रियवाले
पर्या. अपर्या. पर्या. अपर्या. पर्या. अपर्या.
कुल ६ भेद
नारकी
मनुष्य
तिर्यंच
देवता

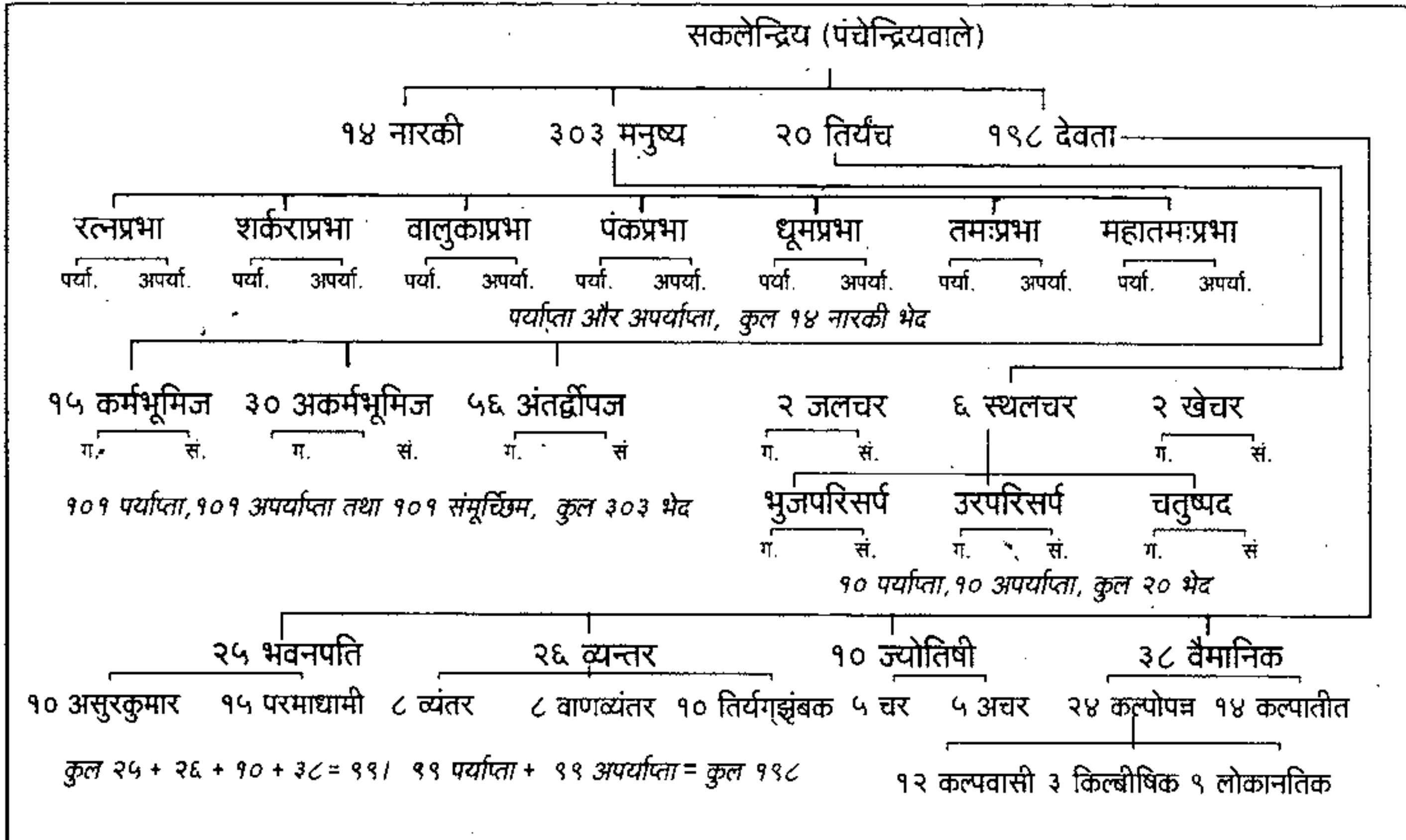

सकलेन्द्रिय (पंचेन्द्रियवाले)
१४ नारकी
३०३ मनुष्य
२० तिर्यंच
१९८ देवता
रत्नप्रभा
शर्कराप्रभा
वालुकाप्रभा
पंकप्रभा
धूमप्रभा
तमःप्रभा
महातमःप्रभा
पर्या. अपर्या.
पर्याप्ता और अपर्याप्ता, कुल १४ नारकी भेद
१५ कर्मभूमिज
३० अकर्मभूमिज
५६ अंतर्द्वीपज
ग. सं.
१०१ पर्याप्ता, १०१ अपर्याप्ता तथा १०१ संमूर्च्छिम, कुल ३०३ भेद
२ जलचर
६ स्थलचर
२ खेचर
भुजपरिसर्प
उरपरिसर्प
चतुष्पद
ग. सं.
१० पर्याप्ता, १० अपर्याप्ता, कुल २० भेद
२५ भवनपति
२६ व्यन्तर
१० ज्योतिषी
३८ वैमानिक
१० असुरकुमार
१५ परमाधामी
८ व्यंतर
८ वाणव्यंतर
१० तिर्यग्ज़ृंबक
५ चर
५ अचर
२४ कल्पोपन्न
१४ कल्पातीत
१२ कल्पवासी
३ किल्बीषिक
९ लोकानतिक
कुल २५ + २६ + १० + ३८ = ९९। ९९ पर्याप्ता + ९९ अपर्याप्ता = कुल १९८

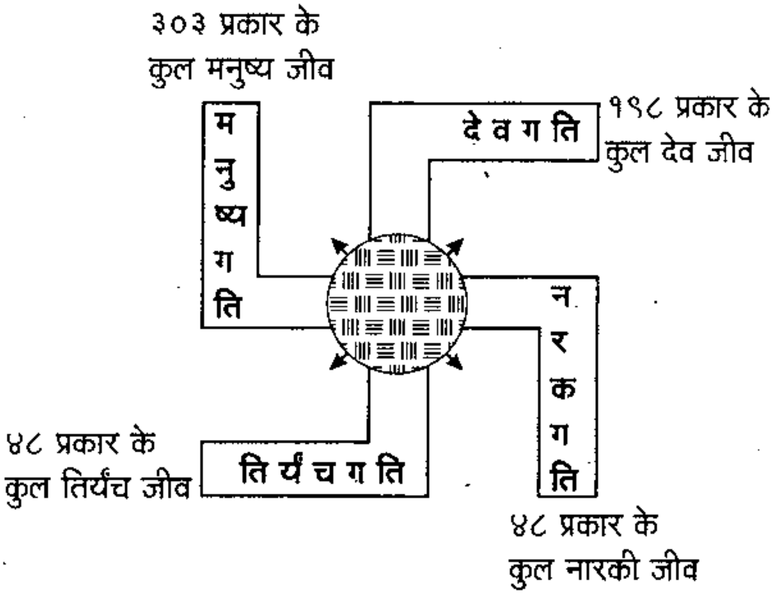


१) मनुष्य गति में कुल प्रकार के सभी जीव— ३०३ भेद
२) तिर्यंच गति में कुल प्रकार के सभी जीव— ४८ भेद
३) नरक गति में गति में कुल प्रकार के सभी जीव— २२+६+१०=३८ भेद
४) देवगति में गति में कुल प्रकार के सभी जीव— ९९+९९=१९८ भेद

चारों गति में कुलमिलाकर ५६३ प्रकार के जीव होते हैं। इस संसार में जीवों के ५६३ जन्मजन्य प्रकार हैं। इतने प्रकार के अलग–अलग जीव हैं। यह जीवों की संख्या नहीं है। जन्मगत जाती की भिन्नता के प्रकार हैं। वैसे शास्त्रों में अनेक दृष्टि से जीवों का विचार किया गया है।

**एगविह–दुविह–तिविहा, चउव्विहा पंच–छव्विहा जीवा।**
**चेयण–तसइयरेहिं, वेय–गई, करण–काएहिं॥**

एक प्रकार से, दो प्रकार से, तीन प्रकार से, चार प्रकार से, पाँच प्रकार से, छह प्रकार से, संसार के सभी जीवों का विचार किया गया है। एक प्रकार से विचार करने पर समस्त जीव चेतन आत्मा है। इसमें सभी का समावेश हो गया, दो प्रकार से विचार करने पर त्रस

और स्थावर के २ प्रकार में समस्त ब्रह्माण्ड के सभी जीवों का समावेश हो जाता है । स्त्री वेद, पुरुष वेद, और नपुंसक वेद की दृष्टि से विचार करने पर ३ वेदों में समस्त जीवों का समावेश हो जाता है । क्योंकि सभी जीव इन ३ वेदों वाले ही हैं । देव, मनुष्य, नरक और तिर्यंच इन चार गति की दृष्टि से संसार के समस्त जीवों का विभाजन इन चार गति में किया गया है । इन्द्रियों की दृष्टि से जगत के सभी जीवों का समावेश १, २, ३, ४, ५ इन्द्रियों में किया गया है । और काया—शरीर की भिन्नता की दृष्टि से जीवों को १) पृथ्वीकायिक, २) अपकायिक, ३) तैजसकायिक, ४) वायुकायिक, ५) वनस्पतिकायिक और ६) त्रसकायिक इन ६ कायों में विभाजित करके सोचा गया है ।

## मुक्त और संसारी जीव—

**"संसारिणो मुक्ताश्च"** २—१० तत्त्वार्थ सूत्रकार ने सर्वप्रथम जीवों को २ विभाग में विभक्त किया है । १) मुक्त जीव और दूसरे २) संसारी जीव । चित्र में दर्शाए अनुसार १४ राजलोक के अग्रभाग—लोकाग्र पर या लोकान्त भाग पर सिद्धशिला पर ही रहनेवाले सभी सिद्धात्मा हैं । ये सभी कर्मरहित—अकर्मी अशरीरी हैं । अतः ये सिद्ध—बुद्ध—मुक्त कहलाते हैं। ये संसार से परे हैं। अतः इनको इन्द्रियाँ—शरीर—गति—जाति—जन्म—मरणादि कुछ भी नहीं रहता हैं। **संसारी जीव—** ठीक इससे विपरीत

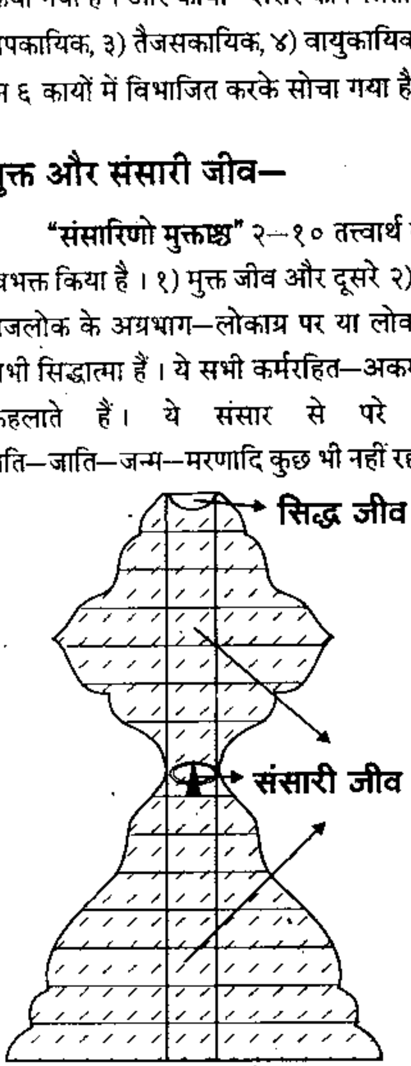


संसारी जीवों का स्वरूप है । संसारी जीव कर्मग्रस्त हैं । कर्मजन्य स्थिति में सुख—दुःखादि भुगतते हुए . . . जन्म—मरणादि धारण करते हुए . . . काल व्यतीत करते हैं । अतः इनके लिए शरीर—इन्द्रियाँ आदि सब कुछ है । अतः ये संसारी कहलाते हैं ।

संसारी

१ त्रस     २ स्थावर

**संसारिणस्त्रसस्थावराः २/१२**

संसारी जीव त्रस और स्थावर रूप से २ प्रकार के हैं.।

**१) त्रस जीव**— त्रस नामकर्म के उदय से जो गति करने आदि का स्वभाव प्राप्त हुआ है ऐसे जीवों को त्रस जीव कहते हैं । ये १) गति त्रस और २) लब्धि त्रस भेद से पुनः २ प्रकार के होते हैं । त्रस अर्थात् त्रास = पीडा = दुःख से बचने के लिए जो जा सके, गति कर सके उन्हें त्रस जीव कहते हैं । तेज और वायु के जीवों को तत्त्वार्थकार ने गति त्रस की कक्षा के अन्तर्गत गिना है । और लब्धि त्रस में २, ३, ४ और ५ इन्द्रियवाले जीवों की गिनती होती है ।

**२) स्थावर जीव**— स्थिर को स्थावर जीव कहते हैं । जो दुःख पीडा आदि के समय गति न कर सके, बचने के लिए भी भाग न सके उन्हें स्थावर कहते हैं । पृथ्वी, पानी, वनस्पति के जीव स्थावर कक्षा के हैं । यद्यपि तेज, अग्नि और वायु के जीवों की गणना भी स्थावर में ही होती है । अतः पाँच स्थावर के प्रकार गिने गए हैं । सिर्फ वायु की स्वाभाविक गति के कारण, तथा अग्नि की ज्वाला के ऊर्ध्वगमन स्वभाव के कारण उन्हें गति त्रस की कक्षा के कहे हैं ।

जैन जीव विज्ञान में पृथ्वी के पत्थर, हीरा, सोना, चांदि आदि धातुओं, स्फटिक, मणि, रत्न, हरताल, सैंधव, निमक, संगमरमर आदि सभी जाती के पाषाण आदि को पृथ्वीकायिक जीव कहा है । ये एकेन्द्रिय की कक्षा के हैं । ये जीव अन्य गति—जाति में से आकर पत्थर रूप से उत्पन्न होते हैं । अपने शरीर की वृद्धि करते हैं । तब सब मिलकर विशाल शिला, और अनेक शिलाओं का सम्मिलित पर्वत का रूप धारण करते हैं । ये पर्थिव जाति के जीव हैं । विज्ञान के क्षेत्र में किसी पत्थर का निर्माण प्रयोगशाला में किया नहीं गया है । इतना ही नहीं, पानी, अग्नि और वायु को भी जैन जीव विज्ञान ने स्वतंत्र जीव कहा है । ये सिर्फ जड भौतिक ही नहीं है, पंचभूत मात्र भौतिक या जड ही नहीं है । ये सभी एक इन्द्रियवाले हैं । सजीव सृष्टि है । इन में भी चेतन जीवात्मा है । ये भी जन्म—मरण धारण करते हैं । इनके भी कर्मों का उदय बंध आदि सब कुछ है । जगदीशचंन्द्र बोस ने तो सिर्फ वनस्पति में ही जीव का अस्तित्व बताया है परन्तु जैन जीव विज्ञान में सर्वज्ञ भगवंतों ने पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति इन सब में भी जीव बताया है । यह जीव सृष्टि है । अजीव सृष्टि नहीं है । अतः मात्र भौतिक नहीं है । देह धारी जीव है । मात्र जीवों का अस्तित्व ही बताया है, इतना ही नहीं अपितु इसकी गहराई में जाकर उनके प्राण, योनि, आयु कर्म सब कुछ बताया है । कई सेंकडों विषय की बातें की हैं इनसे शास्त्रों के शास्त्र भरे पडे हैं ।

**पानी—** अप्काय = पानी स्वयं जीव है । दिखाई देती हुई पानी की एक बूँद उसकी काया—शरीर है । अतः पानी को अप्काय कहा गया है । पानी के आधार पर रहनेवाले,

जीनेवाले मछली आदि अनेक प्रकार के जीव हैं । वे अलग से २ इन्द्रियवाले, ५ इन्द्रिय वाले हैं । लेकिन पानी स्वयं एकेन्द्रिय जीव है । नदी, तालाब, कुएँ, झरने, बरसात, समुद्रादि अनेक स्थलों का भिन्न भिन्न पानी होने से अलग–अलग प्रकार का पानी गिना जा सकता है । अन्यथा एक ही है ।

**अग्नि—** अग्नि की जो ज्वाला दिखाई देती है वह भी अग्निकाय के जीवों का शरीर—काया है । उसमें रहनेवाले जीव अग्निकायिक जीव कहलाते हैं । शरीर को तो सिर्फ जीव ही बना सकता है... धारण कर सकता है । अतः वह जीव कहलाता है । वह भी आहार लेता है । प्राणवायु ऑक्सीजन ग्रहण करता है । उसके भी आयुष्य–काल आदि की गणना की गई है । सिगडी के जलते कोयले की भट्टी की, बिजली की, तिनके आदि रूप में इत्यादि ज्वालारूप या प्रज्वलित अनेक प्रकार की अग्नि है

**वायु—** वायुकाय के जीवों का शरीर अदृश्य है, अतः दृष्टिगोचर नहीं होता है । स्पर्शजन्य अनुभव है । परन्तु ये भी एकेन्द्रिय जीव हैं । सर्वथा अजीव सृष्टि नहीं कहा है । वायु के जीवों का भी जन्म–मरण आदि सब होता है । क्षेत्रविशेष से भिन्न–भिन्न प्रकार का वायु कहा जा सकता है । समुद्री संभाग का वायु, पर्वती प्रदेश का वायु आंधी–तूफान का वायु, आदि भेद हैं ।

**वनस्पति काय के जीव—** पत्ति शब्द पेड़–पौधों के पत्तों को कहते हैं । और उनके समूह को वन कहते हैं । ये वनस्पति के जीव कहलाते हैं । काया अर्थात् शरीर । इनके

शरीर पत्तिरूप, बीजरूप, फलरूप, वृक्षरूप, फूलरूप अनेक प्रकार के हैं । रूप–रंग–आकार–प्रकार आदि से लाखों प्रकार की वनस्पतियाँ संसार में विद्यमान हैं । एक से दूसरे की पत्तियों या आकार–प्रकार–गुणधर्मादि सर्वथा भिन्न है । बीजादि में इनकी जीवनी शक्ती विशेष रूप से रहती है । जगदीशचन्द्र बोस ने मात्र वनस्पति में ही जीव है इतना ही कहा है । जबकि जैन जीव विज्ञान के शास्त्र तो इस विषय में भरे पडे हैं कि... वनस्पति को इन्द्रियों में से पहली एक स्पर्शेन्द्रिय होती है । अतः ये एकेन्द्रिय कहलाते हैं । ये भी

आहार पानी—ग्रहण करके जीते हैं । श्वासोच्छ्वास लेते—छोडते हैं । इनके भी प्राण ४ होते हैं । इनके आयुष्यों की गणना की गई है । वनस्पति के मुख्य २ भेद बताए हैं—

१) साधारण वनस्पतिकाय और २) प्रत्येक वनस्पतिकाय के भेद से वनस्पतिकाय मुख्य २ भेद में विभक्त है ।

**१) साधारण वनस्पतिकाय—** साधारण शब्द का यहाँ अर्थ है सर्व सामान्य *In General – Common* रूप से सभी जीवों के लिए एक साथ सामान्य रूप से आहार प्राण — जन्म — मरणादि सब कुछ एक साथ सामान्य रूप से रहे उसे साधारण कहा है । ऐसे वनस्पतिकाय के जीव जो इस प्रकार के हैं उन्हें साधारण वनस्पतिकायिक जीव कहा जाता है । ये भी २ प्रकार के हैं— १) सूक्ष्मसाधारण वनस्पतिकाय तथा २) बादर साधारण वनस्पतिकाय

**१) सूक्ष्म साधारण वनस्पतिकायिक जीव—**

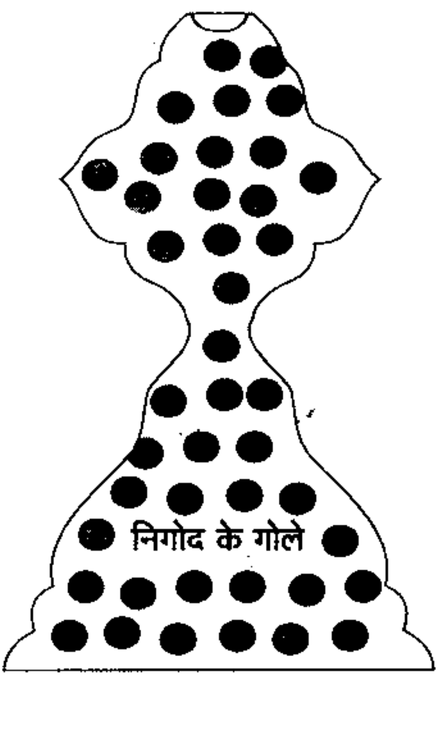


पहले हम ब्रह्माण्ड के स्वरूप में समस्त १४ राजलोक का जो स्वरूप देखकर आए हैं ऐसे १४ राजलोकमय समस्त ब्रह्माण्ड में असंख्य गोले भरे पडे हैं । जैसे बच्चे साबुन का पानी बनाकर फूंक मारकर नली विशेष से उडाते हैं और कैसे *Air Bubbles* फैलते हैं — उडते हैं । उसी तरह असंख्य गोले इस बह्माण्ड में हैं । जैसे काजल डिब्बी में भरी रहती है वैसे ठूंस—ठूंसकर ये असंख्य गोले संपूर्ण लोक में भरे पडे हैं । कहीं भी एक सूई डालने जितनी जगह भी खाली नहीं है । इन एक एक—प्रत्येक गोलों में अनन्त—अनन्त जीव—चेतनात्माएँ भरी पडी है । बस, यही जीवों की मूलभूत खान (खदान) है । जीवों की

उत्पत्ति नहीं है परन्तु मूलभूत अस्तित्व यहाँ पर है । यहीं से क्रमशः जीव बाहर आते रहते हैं । यहाँ अनन्त की संख्या में है । बृहत्संग्रहणी शास्त्र में लिखते हैं कि—

**गोला य असंखिज्जा, अस्संखनिगोअओ हवइ गोलो ।**
**एक्केकम्मि निगोए, अणंतजीवा मुणेयव्वा ॥ ३०१ ॥**

संपूर्ण लोक में गोले असंख्य हैं । असंख्य–असंख्य गोले एक बनते हैं । उसे निगोद संज्ञा दी है । ऐसे एक–एक गोले में अनन्त–अनन्त जीवों का अस्तित्व है । ये सभी सूक्ष्मरूप हैं—अदृश्य हैं । अतः चर्मचक्षु से दृष्टिगोचर होते ही नहीं है । सचमुच तो ये सर्वज्ञ के ज्ञान से ही गम्य हैं । ज्ञानग्राह्य हैं । अनन्त ज्ञानी—सर्वज्ञ के केवलज्ञान की ही यह विशेषता है कि ऐसा स्वरूप जगत् को बता सके हैं । जगत् के जीवों पर कितना महान उपकार किया है । इस प्रकार इन निगोद के गोलों के जीवों का स्वरूप बताने से सर्वज्ञ की सर्वज्ञता का प्रत्यक्ष रूप से अस्तित्व सिद्ध होता है । सर्वज्ञ के सिवाय अन्य कोई भी नहीं बता सकता ऐसा स्वरूप । अतः जहाँ जिन मतों में—धर्मों में सर्वज्ञ के स्वरूप को नहीं स्वीकारा ग ा है वहाँ ऐसी एक भी बात आती ही नहीं है । यहाँ निगोद के स्वरूप को सर्वज्ञ प्रभु और कितना विशद समझाते हैं वह आगे देखिए—

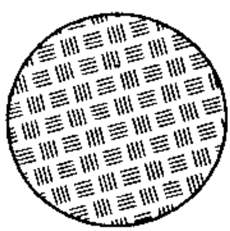

यह जो निगोद का गोला है इसमें अनन्त जीव एकसाथ पडे हुए हैं । इन सबके लिए एक ही शरीर है । वह गोला रूप है । उसी में सबको एक साथ रहना है । जब गोला ही अदृश्य है तो जीवों का दिखाई देना तो संभव ही नहीं है । इन सबको उसी गोले में अनन्त बार मरना है और अनन्त बार जन्म लेना है उस गोले में ही । शास्त्रों में कहा है कि—

**समयं वक्कंताणं समयं तेसिं सरीरनिव्वती ।**
**समयं आणुग्गहणं समयं ऊसासनीसासो ॥ ५३ ॥**

**इक्कस्स जंगहणं बहूण साहारणाण तं चेव ।**
**जं बहुयाणं गहणं समासओ तं पि इक्कस्स ॥ ५४ ॥**

**साहारणमाहारो साहारणमाणुपाणगहणं च ।**
**साहारणजीवाणं साहारणलक्खणं एयं ॥ ५५ ॥**

**जह अयगोलो धंतो जाओ तत्ततवणिज्जसंकासो ।**
**सव्वो अगणि परिणओ निगोयजीवे तहा जाण ॥ ५६ ॥**

**एगस्स दोण्ह तिण्ह व संखिज्जाण व न पासिउं सक्का ।**
**दीसंति सरीराइं निगोयजीवाणणंताणं ॥ ५७ ॥**
**लोगागास पएसे निगोयजीवं ठवेहि इक्किक्कं ।**
**एवं मविज्जमाण हवंति लोगा अणंता उ ॥ ५८ ॥**

श्री पन्नापना (पन्नवणा) आगम शास्त्र में निगोद के स्वरूप के बारे में कहा है कि— साधारण वनस्पतिकायिकजीवों की एक ही समान काल में एक साथ उत्पत्ति (जन्म) होती है । एक ही साथ प्राणापानग्रहण—श्वासोच्छ्वास योग्य पुद्गल परमाणुओं का ग्रहण होता है । एक ही साथ उच्छ्वास—निःश्वास होता है । आहारादि पुद्गल परमाणुओं का जो एक ग्रहण करता है वही सभी एक साथ ग्रहण करते हैं । अर्थात् सबका आहार निहार एक साथ होता है । क्योंकि अनन्त जीवों के लिए शरीर एक ही है । अतः आहार एक ही शरीर द्वारा सबके लिए एक साथ ही होगा । साधारण जीवों का यही लक्षण है कि साधारण अर्थात् सभी में एक साथ—एक समान ही आहार—निहार—श्वासोच्छ्वास एवं उत्पत्ति—मरणादि सब होता है । निगोद की स्थिति में जहाँ अनन्त जीव एक साथ परिणत हुए हैं । अतः वहाँ सब कुछ एक साथ ही चलता है । जैसे तपाये हुए लोहे का एक गोला चारों तरफ से अग्नि से व्याप्त हो जाता है वैसे ही निगोद का एक गोला चारों तरफ से संपूर्ण जीवों से भरा हुआ रहता है । अनन्त जीवों का एक साथ एक गोले में रहना है । अब इनमें से एक—दो या संख्यात—असंख्यात निगोद के जीवों का शरीर भी दृष्टि गोचर होना संभव नहीं है क्योंकि अतिसूक्ष्मता दृष्टिगोचर नहीं होती । यह तो सिर्फ ज्ञानगम्य है । एक—दो—चार आदि जीवों के स्वतंत्र अलग—अलग शरीर तो निगोद में है ही नहीं । अतः दिखाई देने का सवाल ही नहीं है । वहाँ तो अनन्त जीवों का एक साथ—समूहात्मक पिण्ड ही शरीर है और वह भी सूक्ष्मतम है ।

अब यही गोले एकत्र होते होते ... एक के अनेक गोलों का समूह बनता है । जुडते हैं ... ऐसे जुडते समय अनेकों का पिण्ड बनता है तब बादर—स्थूल अवस्था प्राप्त होती है । तभी वे दृष्टिगोचर होते हैं । उस बादर निगोद के जीवों का स्वरूप— आलु—प्याज—लसून—गाजर—मूला—शकरकंद आदु—अदरक, अंकुरित धान्य, बिना नसोंवाले कोमल पत्ते—जिनको किसलय कहते हैं, बीज न बना हो तब तक की फल की अवस्था आदि स्थूल साधारण वनस्पतिकायिक जीवों का स्वरूप है । ये जीव और अपने जीव—जीवत्व की दृष्टि से सभी एक समान ही हैं । अतः सर्वथा इनकी हिंसा वर्ज्य है । अनन्तकाय शब्द में— काय शब्द शरीरवाची है । और अनन्त शब्द जीवों की संख्या के

लिए प्रयुक्त है । अतः भूमि की सतह के नीचे उत्पन्न होने वाले कन्द आदि अनन्त काय हैं । जो कि अनन्त जीवों का पिण्ड है । अतः इनकी हिंसा सर्वथा वर्ज्य है ।

सूक्ष्म साधारण वनस्पतिकाय के जो निगोद के गोले हैं उनमें अनन्त जीव हैं । वहीं से विकास की यात्रा शुरू होती है । आगे बढना होता है । सर्वप्रथम सूक्ष्मता में से स्थूल स्वरूप में आगमन होता है । यह भी विकास है । शरीर स्थूल–बडा हुआ है । सूक्ष्म अवस्था में तो दिखाई नहीं देता था लेकिन स्थूल अवस्था में तो दिखाई देता है । अतः अब इनकी हिंसा से बचना सरल है ।

सूक्ष्म साधारण वनस्पतिकाय में दो प्रकार हैं । १) व्यवहार राशी निगोद और २) अव्यवहार राशी निगोद

जो संसार में आगे के व्यवहार में जाकर वापिस आया हो उसे व्यवहार राशी निगोद कहते हैं । सूक्ष्म में से आगे बढकर स्थूल–बादर में गया... वहाँ से और भी काफी आगे गया हो .... और फिर कर्मवश पतन हुआ हो .... वह गिरकर वापिस निगोद में आकर जन्म धारण करे तो .... वह व्यवहार राशी निगोद जीव कहलाता है । लेकिन जो अभी तक कभी भी सूक्ष्म साधारण की अवस्था से निकलकर बाहर कभी गया ही नहीं है, बाहर की किसी भी योनि में अभी तक जन्म लिया ही नहीं है वह अव्यवहार राशी निगोद जीव कहलाता है। ये अनन्त की संख्या में हैं। यही जीवों की खान है। यहाँ से ही निकल–निकलकर जीव संसार के व्यवहार में आते जाते हैं । फिर भी इतनी अनन्त की संख्या है कि.. अनन्तकाल के बाद भी यह संख्या समाप्त होनेवाली नहीं है । अनन्त काल बीतने के बाद भी यदि पूछा जाय कि.. निगोद में कितने जीव हैं तब भी "अनन्त" का ही उत्तर आएगा । शास्त्रकार कहते हैं कि—

**जइआइ होइ पुच्छा, जिणाणमग्गंमि उत्तरं तइया ।**
**इक्कस्स निगोयस्स य अणंत भागो य सिद्धिगओ ॥**

जब भी कभी अनन्तकाल के बाद भी यह प्रश्न पूछेंगे कि... कितने मोक्ष में गए ? तब भी अनन्त की संख्या में ही उत्तर रहेगा और उस दिन निगोद में कितने जीव रहे... इस प्रश्न के उत्तर में भी "अनन्त जीव" यही उत्तर जैन शासन में मिलेगा । अतः एक निगोद का भी अनन्तवाँ भाग ही मोक्ष गया समझना चाहिए । और निगोद में अनन्त $x$ अनन्त = अनन्तानन्त सूक्ष्म साधारण वनस्पतिकायिक जीवों का अस्तित्व है और रहेगा । इसीलिए कहते हैं कि— **"घटे न राशी निगोद की बढे न सिद्ध अनन्त"** निगोद की राशि में से ही

जीव बाहर निकल कर जाते हैं फिर भी निगोद में कुछ भी कमी नहीं आती है । और सिद्ध अनन्त की संख्या में हैं वहाँ बढते ही जाते हैं फिर भी अनन्त ही रहते हैं । जैसे महा सागर में से... कुछ बूंदे निकाल भी लें तो उसमें क्या फरक पडता है ? .... वैसे ही निगोद में जहाँ अनन्तानन्त हैं उसमें से जीव निकलते ही जाते हैं तो भी निगोद में कोई कमी नहीं आती है ।

निगोद की इस सूक्ष्मतम स्थिति में जीवों को सतत जन्म—मरण ही करते रहना पडता है । जैसे दिखावे के लिए.... लगाई हुई जीरो के गोले की लाइटें कितनी तीव्रता से बन्द होती हैं—चालू होती हैं—खुलती हैं इसी तरह इस निगोद में जीवों का सतत जन्म—मरण होता ही रहता है । हम एक श्वासोच्छ्वास लेते हैं इतनी देर में तो निगोद में १७१⁄२ बार जन्म—मरण हो जाते हैं । इस तरह २ घडी के १ अन्तर्मुहूर्त काल में ६५५३६ जन्म—मरण निगोद में हो जाते हैं । जन्म से लेकर मृत्यु तक का निगोद के जीवों का एक जीवन २५६ आवालिका प्रमाण शास्त्रकार भगवंतों ने बताया है । संसार के समस्त जीवों के जन्म—मरण में २५६ आवलिका का यही सबसे छोटे से छोटा जीवन है । अतः इसे क्षुल्लक भव कहा है । आवलिका यह काल का छोटा विभाग है । जैसे कलाक—मिनिट—सेकंड आदि का वर्तमानकालीन कालव्यवहार है ठीक वैसे ही समय आवलिका का कालव्यवहार है । जैसे परमाणु यह पुद्गल का सूक्ष्मतम अन्तिम स्वरूप है ठीक इसी तरह समय यह काल की अविभाज्य सूक्ष्मतम इकाई है । ऐसे असंख्य समयों की १ आवलिका बनती है । ऐसे २५६ आवलिका का १ निगोद के जीव का जीवन होता है । यह छोटे से छोटा जीवन इस संसार में है । इस तरह इतने छोटे—छोटे जीवन धारण करता हुआ निगोद का जीव जो अनन्तकाल तक निगोद में रहता है, उसके कितनी बार जन्म—मरण होते होंगे ? इसके उत्तर में अनन्त बार शब्द का प्रयोग किया गया है । अनन्त बार यहाँ जन्म मरण होते ही रहने के कारण ...निगोद में वेदना भी अनन्तगुनी है । श्री भगवतीसूत्र आगम शास्त्र की वृत्ती में कहा है कि—

**जं नरए नेरइया दुक्खं पावंति गोयमा तिक्खम् ।**
**तं पुण निगोअजीवा अणंतगुणियं वियाणाहि ॥**

श्री गौतम गणधर के प्रश्न के उत्तर में श्री वीर प्रभु फरमाते हैं कि— हे गौतम ! नरक गति के अन्दर रहे हुए नारकी जीव छेदन—भेदन आदि का जितना दुःख पाते हैं उनसे भी अनन्तगुनी वेदना निगोद के जीव पाते हैं ।

निगोद छत्तीशी, लोकप्रकाश, पन्नवणा तथा भगवतीसूत्र आगमशास्त्रादि में सर्वज्ञों द्वारा प्रतिपादित निगोद के जीवों का अद्भुत—अनोखा स्वरूप अवश्य पढने जैसा है। हम भी तो एक दिन निगोद के गोले में ही थे। हमारी भी उत्पत्ति वहीं से हुई है। हम सभी जीव उसी निगोद की खान में से आए हैं। एक ऐसा वैश्विक नियम शास्त्रकार भगवंत बताते हैं कि—

**सिज्झन्ति जत्तिया किर इह संववहार रासिमज्जाओ**
**इन्ति आगाइ वणस्सइ मज्जाओ तत्तिआ तम्मि॥**
**यद्व्यावहारिकाङ्गिभ्यो यावन्तो यान्ति निर्वृतिम्।**
**निर्यान्ति तावन्तोऽनादि निगोदेभ्यः शरीरिणः॥**

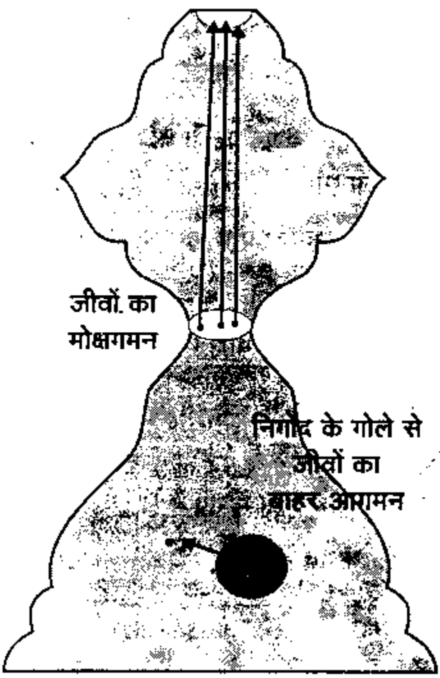


श्री पन्नवणा आगम शास्त्र तथा लोकप्रकाश ग्रन्थ के उपरोक्त श्लोक में फरमाया है कि.... जितने जीव इस संसार के बंधन से छूटकर मोक्ष में जाते हैं उतने जीव सूक्ष्म साधारण वनस्पतिकाय रूप निगोद के गोले में रहे हुए अव्यवहार राशी निगोद के जीवों में से गोले में से बाहर आते हैं। संसार के व्यवहार में आते हैं। सूक्ष्म से सर्वप्रथम स्थूल रूप धारण करते हैं। यद्यपि है साधारण वनस्पतिकाय में ही, लेकिन सूक्ष्म में से स्थूल की कक्षा में आने का तो हुआ है। जो अदृश्य थे वे अब स्थूल बनकर संसार के व्यवहार में तो आए। अब यहाँ से फिर आगे पृथ्वीकाय आदि में जाते जाते आगे बढेंगे। बढते जाएंगे। इस तरह हमारी विकास यात्रा—उत्क्रान्ति निगोद से ही शुरू होती है। हम वहीं से निकल कर बाहर आए हैं और क्रमशः आगे बढते—बढते आज मनुष्य तक पहुँचे हैं।

भगवान आदिनाथ एक समय में १०८ आत्माओं के साथ मोक्ष में गए—सिद्ध हुए ..उस दिन निगोद में से १०८ आत्माएं बाहर निकली। चैत्री पूर्णिमा को पुंडरीक गणधर स्वामी एक ही दिन में अपने ५ क्रोड साधु परिवार के साथ मोक्ष में गए, उस दिन निगोद में से एक साथ ५ क्रोड आत्माएं निकल कर संसार के व्यवहार में आई। कार्तिक पूर्णिमा की पर्वतिथि के दिन द्राविड और वारिखिल्लजी मुनि भगवंत अपने १० करोड साधु—साध्वीजी के परिवार के साथ एक ही दिन निर्वाण पाए। सर्वकर्म क्षय करके मोक्ष में गए। अतः उस दिन उतनी संख्या में एक साथ इतने १० करोड जीव निगोद में से निकलकर संसार के व्यवहार में आए। वैसे ही फाल्गुण मास की शुक्ल पक्ष की १३ तेरस की तिथि के शुभ दिन शांब और प्रद्युम्नजी भगवान नेमिनाथ प्रभु की आज्ञा से पालीताणा—शत्रुंजय गिरिराज पर आकर अनशन करके ८ ॥ करोड (साडे आठ करोड) की संख्या में भांडवा के पर्वतभाग पर से मोक्ष में गए... उस दिन उतनी बडी संख्या में जीव निगोद में से बाहर निकल कर संसार के व्यवहार में आए।

इस तरह सिर्फ एक ही तीर्थक्षेत्र शत्रुंजय (पालीताणा) पर ही कब कितने मोक्ष में गए, उनका विचार करें तो बहुत बडी सूची बन जाएगी।

पाँच पाण्डव भी २० क्रोड मुनियों के साथ मोक्ष में गए हैं।

अजितसेन १७ क्रोड मुनियों के साथ मोक्ष में गए हैं।

बाहुबली के पुत्र सोमयशा १३ क्रोड मुनियों के साथ मोक्ष में गए हैं।

भरत मुनि ५ क्रोड मुनियों के साथ मोक्ष में गए हैं।

राम—भरत जी ३ क्रोड मुनियों के साथ मोक्ष में गए हैं।

नमि—विनमि विद्याधर २ क्रोड मुनियों के साथ मोक्ष में गए हैं।

सागर मुनि १ क्रोड मुनियों के साथ मोक्ष में गए हैं।

श्री सार मुनि १ क्रोड मुनियों के साथ मोक्ष में गए हैं।

कदंब गणधर १ क्रोड मुनियों के साथ मोक्ष में गए हैं।

इतने महापुरुष करोडों के परिवार के साथ शत्रुंजय पर निर्वाण पाकर मोक्ष में गए हैं। शायद अश्रद्धा एवं शंका की वृत्ति के कारण किसी को ऐसी शंका भी हो सकती है कि ये करोडों की संख्या कैसे संभव हो सकती है? हो सकता है कि लोग करोडों को

संख्या का अर्थघटन कुछ और ही करने का प्रयत्न करेंगे। और संख्या को तोड–मरोड कर अपनी अल्प बुद्धि के अनुरूप भी बनाने की बालिश कोशिश करेंगे। लेकिन शास्त्रकार महर्षियों ने सिर्फ करोडों की ही संख्या नहीं दी है लाख और हजार की संख्या भी दी है। वह इस प्रकार है—

नारद ऋषी ९१०००००० की संख्या में मुनियों के साथ मोक्ष गए हैं।

भरत महाराजा के पुत्र आदित्ययशा
१ लाख की संख्या में मुनियों के साथ मोक्ष गए हैं।

वसुदेव की स्त्रियाँ ३५ हजार की संख्या में मोक्ष में गई हैं।

दमितारी मुनि १४००० की संख्या में मोक्ष में गए हैं।

अजितनाथ भगवान के १०००० साधु शत्रुंजय पर से मोक्ष में गए हैं।

बाहुबलीजी १००८ श्रमणों के साथ शत्रुंजय पर से मोक्ष में गए हैं।

थावच्चा पुत्र १००० श्रमणों के साथ शत्रुंजय पर से मोक्ष में गए हैं।

शुक परिव्राजक (शुकाचार्य)
१००० श्रमणों के साथ शत्रुंजय पर से मोक्ष में गए हैं।

भरत चक्रवर्ती १००० श्रमणों के साथ शत्रुंजय पर से मोक्ष में गए हैं।

कालिक मुनि १००० श्रमणों के साथ शत्रुंजय पर से मोक्ष में गए हैं।

संप्रति जिन के थावच्चा गणधर
१००० श्रमणों के साथ शत्रुंजय पर से मोक्ष में गए हैं।

सुभद्रमुनि अपने ७०० मुनियों के साथ शत्रुंजय पर से मोक्ष में गए हैं।

नमि विद्याधरकी पुत्री चर्या प्रमुख ६४ के साथ मोक्ष में गए हैं।

इतना ही नहीं जो स्वतंत्र अलग–अलग अकेले भी मोक्ष में गये हैं उनमें भी अनेक महात्मा हैं। दैवकी के ६ पुत्र, जाली, मयाली, उवयाली, मंडक मुनि, सुकोशल मुनि, अइमत्ता मुनि आदि अनेक मोक्ष में गए हैं। संख्या की दृष्टि से विचार करने पर करोड–लाख, हजार–सेंकडा एवं सौ तथा दशक की संख्या में भी जितने मोक्ष में गए हैं उन सबके भी नाम यहाँ हैं। अतः किसी भी संख्या को शंकावृत्ति से असत्य–गलत ठहराना यह उचित नहीं लगता है।

यह तो सिर्फ शत्रुंजय एक तीर्थ पर मोक्ष में गए हुए महापुरुषों की विचारणा की है। जहाँ २० तीर्थंकर भगवान मोक्ष में गए हैं ऐसे सम्मेदशिखरजी तीर्थ पर भी अनेक तीर्थंकर भगवंत अनेक मुनियों के साथ मासिक अनशन करके मोक्ष में गए हैं। जैसे पार्श्वनाथ भगवान ३३ मुनियों के साथ एक महीने का मासक्षमण करके अन्तमें सम्मेदशिखरजी तीर्थ से मोक्ष में गए थे। इसी तरह वर्तमान चौवीशी के भगवान ऋषभदेव से महावीर स्वामी तक जो २४ तीर्थंकर भगवान मोक्ष में गए हैं वे भी अनेक साधु–साध्वी परिवार के साथ मोक्ष में गए हैं। उनकी सूचि क्रम संख्या इस प्रकार है—

| भगवान का नाम | शिष्य परिवार | तप प्रमाण | निर्वाण क्षेत्र |
|---|---|---|---|
| १. भ. ऋषभदेव | १००० | ६ उपवास | अष्टापदजीतीर्थ |
| २. भ. अजितनाथ | १००० | ३० उपवास | सम्मेदशिखरजीतीर्थ |
| ३. भ. संभवनाथ | १००० | ३० उपवास | सम्मेदशिखरजीतीर्थ |
| ४. भ. अभिनंदन स्वामी | १००० | ३० उपवास | सम्मेदशिखरजीतीर्थ |
| ५. भ. सुमतिनाथ | १००० | ३० उपवास | सम्मेदशिखरजीतीर्थ |
| ६. भ. पद्मप्रभु | ३०८ | ३० उपवास | सम्मेदशिखरजीतीर्थ |
| ७. भ. सुपार्श्वनाथ | ५०० | ३० उपवास | सम्मेदशिखरजीतीर्थ |
| ८. भ. चन्द्रप्रभु | १००० | ३० उपवास | सम्मेदशिखरजीतीर्थ |
| ९. भ. सुविधिनाथ | १००० | ३० उपवास | सम्मेदशिखरजीतीर्थ |
| १०. भ. शीतलनाथ | १००० | ३० उपवास | सम्मेदशिखरजीतीर्थ |
| ११. भ. श्रेयांसनाथ | १००० | ३० उपवास | सम्मेदशिखरजीतीर्थ |
| १२. भ. वासुपूज्यस्वामी | ६०० | ३० उपवास | चंपापुरीजीतीर्थ |
| १३. भ. विमलनाथजी | ६००० | ३० उपवास | सम्मेदशिखरजीतीर्थ |
| १४. भ. अनंतनाथजी | ७००० | ३० उपवास | सम्मेदशिखरजीतीर्थ |
| १५. भ. धर्मनाथजी | १०८ | ३० उपवास | सम्मेदशिखरजीतीर्थ |
| १६. भ. शान्तिनाथजी | ९०० | ३० उपवास | सम्मेदशिखरजीतीर्थ |
| १७. भ. कुंथुनाथजी | १००० | ३० उपवास | सम्मेदशिखरजीतीर्थ |
| १८. भ. अरनाथजी | १००० | ३० उपवास | सम्मेदशिखरजीतीर्थ |
| १९. भ. मल्लिनाथजी | ५०० | ३० उपवास | सम्मेदशिखरजीतीर्थ |
| २०. भ. मुनिसुव्रतस्वामी | १००० | ३० उपवास | सम्मेदशिखरजीतीर्थ |
| २१. भ. नमिनाथजी | १००० | ३० उपवास | सम्मेदशिखरजीतीर्थ |

| | | | |
|---|---|---|---|
| २२. भ. नेमिनाथजी | ५३६ | ३० उपवास | गिरनारजीतीर्थ |
| २३. भ. पार्श्वनाथजी | ३३ | ३० उपवास | सम्मेदशिखरजीतीर्थ |
| २४. भ. महावीर | एकाकी | दो उपवास | पावापुरीजीतीर्थ |

इस तरह २४ तीर्थंकर भगवंतों के साथ इतनी संख्या में आत्माएं निर्वाण पाकर मोक्ष में गयी हैं।

इस तरह विचार करिए। पन्नवणाजी आगम शास्त्र में दर्शाए नियमानुसार इतनी आत्माएं मोक्ष में गई। अतः उसके सामने इतने जीव निगोद में से निकलकर बाहर आए।

**सिद्ध माता के स्थान पर है—**

संसार के व्यवहार में जैसे हमको एक माता जन्म देती है तब जाकर एक जीव जो साडे नौं महीने की गर्भावास की पीडा—वेदनां भुगतता था उसको जन्म से छुटकारा प्राप्त होता है। वह इतने से जन्म लेने के छोटे कारण मात्र से जननी जन्मदाता माता का उपकार जीवनभर मानता है। माता को पूज्य स्थान पर उपकारी मानता है। ठीक वैसे ही निगोद का गोला गर्भ समान है। साडे नौं महीने के गर्भकाल के समान निगोद में अनन्तकाल की दुःखद वेदना है। उसमें से जीव को जन्म देने समान बाहर निकालने वाला मोक्षगामी—निर्वाण पानेवाला जीव है। इसलिए निगोद में से जीव को बाहर निकालनेरूप जन्म देनेवाले सिद्ध भगवान है। वे सिद्ध मातातुल्य है। इसलिए नवकार में "नमो सिद्धाणं" पद मंत्रात्मक नमस्कारवाची पद है। नमो सिद्धाणं इसमें बहुवचन है। क्योंकि आज दिन तक अनन्त काल के संसार में अनन्त जीव मोक्ष में गए हैं। अतः अनन्त जीव निगोद से बाहर भी निकले हैं। ऐसे अनन्त उपकारी सिद्ध भगवंतों का जिनका अनन्तगुना उपकार है उनको कैसे भूला जाय। उनका तो अनन्तबार इस मंत्रपद से स्मरण करना चाहिए। उन्हें अनन्त बार नमस्कार करना ही चाहिए।

यदि कोई मोक्ष में गए ही नहीं होते तो कोई भी जीव निगोद में से बाहर निकला ही न होता। तो संसार क्या होता? अतः अनादि अनन्त इस प्रवाहमय संसार में अनन्त जीव हैं। अनन्त आज दिन तक मोक्ष में गए। और अनन्त जीव निगोद में से बाहर निकल कर संसार चक्र के व्यवहार में आए। यही क्रम रहा है और आगे भी यहीं क्रम चलता ही रहेगा। अतः हमारे जैसे जीवों को आज विचार करना चाहिए कि... हमें भी यथाशीघ्र निर्वाण पाकर मोक्ष में जाना ही चाहिए। हम जब तक मोक्ष में नहीं जाएंगे तब तक मेरे एक के कारण एक जीव निगोद के गोले में रुका रहेगा। पडा रहेगा। वह बिचारा बाहर

नहीं निकल पाएगा। और हम इस संसार चक्र के परिभ्रमण में जितना ज्यादा काल बिताते ही जाएंगे, वहाँ तक उस जीव को निगोद के गोले में काफी ज्यादा विलंब होगा और वह बेचारा भयंकर निगोद की जन्म—मरण की वेदना सहन करता ही जाएगा। उसे छुटकारा दिलाना हमारे हाथ में है। अतः इस संसारचक्र में हमने जो दूसरे आनेवाले की जगह रोक रखी है वह जल्दी खाली करनी चाहिए। और खाली करने के लिए हमको संसार में से जल्दी से जल्दी मोक्ष में जाना ही चाहिए।

मोक्ष में जाने के लिए जो धर्म की व्यवस्था है उसका आलंबन लेना चाहिए और धर्म का आलंबन लेने के लिए धर्म के संस्थापक—प्ररूपक देव—गुरु—भगवान का आलंबन लेना चाहिए। जो जो मोक्ष में गए हैं वे जिस मार्ग पर चले हैं उस मार्ग को हमें भी स्वीकार करके उसी मार्ग पर चलना चाहिए। बस उसी मार्ग को धर्म कहा है। और उस मार्ग पर चलने की क्रिया को धर्माराधना कहा है। और ऐसी धर्माराधना जहाँ हुई है, जिस क्षेत्र में .. करके जो मोक्ष में गए हैं उन्हें तीर्थक्षेत्र कहा है। शत्रुंजय सम्मेदशिखरजी जो तीर्थक्षेत्र है, जहाँ से कितनी बडी संख्या में कितनी आत्माएं मोक्ष में गई है ? काल जरूर बदलता गया है परन्तु क्षेत्र तो वही रहा है। इस तरह बीते हुए अनन्तकाल में अनन्त आत्माएं मोक्ष में गई हैं। अतः ये पावन भूमि हमें भी पावन करती है। अतः ये तारक होने से तीर्थ कहे जाते हैं। इतने संसार में से मोक्ष में गए अतः उनके पीछे कितनी अनन्त आत्माएं मोक्ष में गई है ? इस का द्योतक—प्रतीक यह तीर्थ है। यह संसार का क्रम है जो निरंतर चलता ही रहता है। ऐसी प्रेरणा लेकर हमारा भी यह कर्तव्य हो जाता है कि हम भी यथासंभव शीघ्रातिशीघ्र इस संसारचक्र से मुक्त होकर सिद्ध बन जाए, क्योंकि हमारे कारण भी हमारे पीछे कोई न कोई निगोदस्थ जीव रुका हुआ है। उसे निगोद के अनन्त दुःख में से बाहर निकालने की करुणा—दया से भी हमें मोक्ष में जाने के लिए जल्दबाजी करनी ही चाहिए।

## सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीवों का स्वरूप

**पत्तेय तरुं मुत्तुं पंचवि पुढवाइणो सयल लोए।**
**सुहुमा हवंति नियमा, अंतमुहुत्ताऊ अद्दिसा ॥**

प्रत्येक वनस्पतिकाय के वृक्षों को छोडकर शेष पृथ्वीकाय, अपकाय—पानी के जीव, अग्नि के जीव, वायु के जीव और साधारण वनस्पतिकाय इन पाँचों स्थावर के सभी सूक्ष्म जीवों का अस्तित्व सम्पूर्ण १४ राजलोक के समग्र क्षेत्र में सर्वत्र व्याप्त है। ये सभी सूक्ष्म

होने के कारण दृष्टिगोचर नहीं होते हैं। जिस तरह डिब्बी में काजल भरी हुई रहती है। वैसे संपूर्ण १४ राजलोक के असंख्य योजनों के क्षेत्र में सर्वत्र पाँचों प्रकार के सूक्ष्म जीव भरे पडे हैं। एक तिल जितनी भी जगह खाली नहीं है, जहाँ जीव सृष्टि न हो। ये सभी सूक्ष्म स्थावर जीव सिर्फ अन्तर्मुहूर्त के ही आयुष्यवाले होते हैं। अन्तर्मुहूर्त अर्थात् २ घडी = ४८ मिनिट का काल होता है। पृथ्वी—आकाश—पानी—अग्नि और वायु इन पाँचों में प्रत्येक की तरह एक शरीर में एक जीव रहता ही है, फिर भी है सूक्ष्म। सूक्ष्म दृष्टिगोचर नहीं होते हैं। अदृश्य हैं। वनस्पति में सूक्ष्म साधारण के भेद में एक शरीर में अनन्त जीव होते हैं। अन्य पाँच स्थावर और साधारण वनस्पति में इतना भेद है। एक तरफ एक ही शरीर और वह भी अत्यन्त सूक्ष्म और उसमें भी अनन्त जीवों का मिलकर रहना यह सूक्ष्म साधारण वनस्पति के जीवों की विशेषता है। **व्याख्या में कहा है कि— "जेसिमणंताणं तणु एगा साहारणा तेउ"** जहाँ अनन्त जीवों को एक साथ रहने के लिए शरीर एक ही हो वे साधारण वनस्पति के जीव कहलाते हैं। उसमें वापिस सूक्ष्म और स्थूल के २ भेद हैं। सूक्ष्म साधारण—निगोद के गोले रूप हैं और स्थूल (बादर) साधारण आलु—प्याज—लसून—गाजर—मूला— शकरकंद—आदु—अदरक—अंकुरित कोमल फल, किसलय पत्ते, आदि अनेक प्रकार के हैं। ये स्थूल—बादर होने से दृष्टिगोचर होते हैं।

इस तरह जीवों का सूक्ष्म स्वरूप में और स्थूल स्वरूप में अस्तित्व सदाकाल ही है। संख्या की दृष्टि से ये अनन्त की संख्या में है। काल की दृष्टि से भी इन जीवों की सत्ता अनन्तकाल है। ऐसा जगत है, इस प्रकार का ब्रह्माण्ड है, जिसे लोकस्वरूप कहते हैं। जगत मात्र अजीव का ही है ऐसा नहीं जीवसृष्टि भी बडी भारी है।

## त्रस जीवों का स्वरूप

**तेजोवायुद्वीन्द्रियादयश्च त्रसाः ॥ २-१४ ॥**

गति त्रस, तथा लब्धि त्रस इन दो प्रकार के त्रस के भेदों में— तेज और वायु के जीव लब्धित्रस भेदवाले जीव हैं। त्रास दुःख—पीड़ा से बचने के लिए जो गति आदि कर सके वे त्रस जीव हैं। इनमें २, ३, ४ और पाँच इन्द्रियवाले सभी जीवों की गणना त्रस की संज्ञा के अन्तर्गत की गई है। इन्द्रिय की अपेक्षा से दो विभाग किये गए हैं। एक विकलेन्द्रिय और दूसरा—सकलेन्द्रिय। विकल का अर्थ है अधूरा—अपूर्ण। और सकल अर्थात् पूर्ण—संपूर्ण पूरा। जगत में कुल ५ इन्द्रियाँ है। अतः जिनको पाँचो इन्द्रियाँ पूरी हो वह पंचेन्द्रिय या सकलेन्द्रिय की कक्षा का जीव कहलाता है। और जिनको पाँच से कम २, ३, और ४ इन्द्रियाँ होती हैं वे जीव विकलेन्द्रिय की कक्षा के कहलाते हैं।

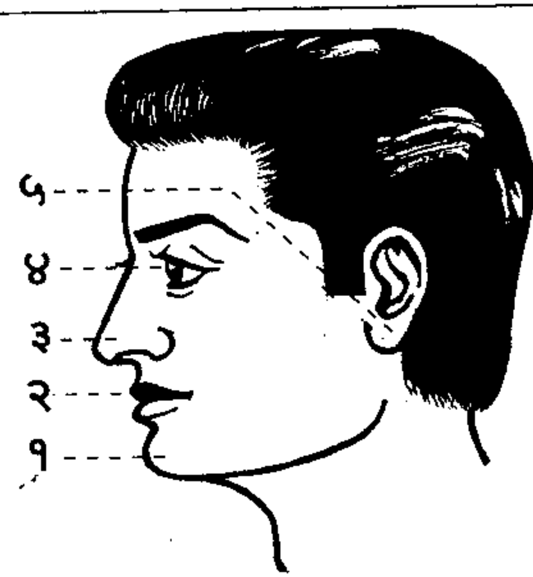


१. स्पर्शेन्द्रिय, २. रसनेन्द्रिय, ३. घ्राणेन्द्रिय
४. चक्षुरिन्द्रिय, ५. श्रवणेन्द्रिय

## इन्द्रियों के विकास का क्रम

चित्र में दर्शाए अनुसार ये पाँच इन्द्रियाँ हैं । सर्वप्रथम जीव को एक इन्द्रिय मिलती है । पहली स्पर्शेन्द्रिय हैं । जो शीत उष्ण, खुरदरा (रफ), स्निग्ध (स्मूथ) आदि स्पर्शों का अनुभव कराती है वह स्पर्शेन्द्रिय है । पृथ्वी के पार्थिव जीव पत्थरादि, पानी के, अग्नि के, वायु के और वनस्पतिकाय के इन पाँचों स्थावर जीवों को पहली स्पर्शेन्द्रिय होती है । अतः ये एकेन्द्रिय जीव कहलाते हैं । ये एकेन्द्रिय स्पर्श से सब कुछ अनुभव करते हैं । इसके बाद आगे विकास होता है-- दूसरी इन्द्रिय मिलती है । तब १ ली और २ री दो मिलाकार जीव दोइन्द्रिय कहलाता है । उसे स्पर्शेन्द्रिय--त्वचा—चमडी और दूसरी रसनेन्द्रिय--जीभ मिलती है । जीभ—रसना से आहार के रसास्वाद का अनुभव करता है । ऐसे दोइन्द्रिय जीवों में—शंख, कोडी--जलो, कृमि, अलसीये आदि जीवों की गिनती होती है । ये भी सभी जीव हैं। स्वकर्मानुसार ऐसा शरीर धारण करते हैं। और अपने आयुष्यकर्मानुसार काल प्रमाण जीवन जीते हैं ।

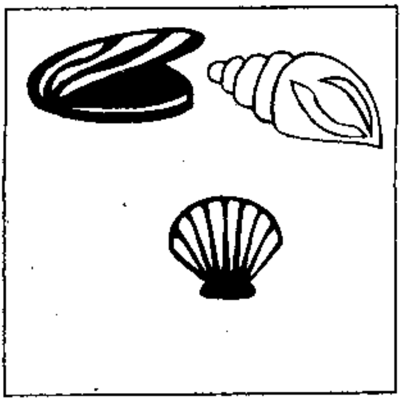

इसके बाद जीवों का इन्द्रियां प्राप्त करने के क्षेत्र में आगे विकास होता है । आगे बढता हुआ जीव तीसरी इन्द्रिय प्राप्त करता है । पहली दो और तीसरी घ्राणेन्द्रिय—नासिका प्राप्त होती है । इससे सुगंध—दुर्गन्ध को जीव ग्रहण करता है । इन तीन इन्द्रियवाले जीव संसार में अनेक प्रकार के हैं । जिनमें चिंटी, मकोडे, जू, दीमक, अनाज में होनेवाले कीडे, विष्ठा—मल में होनेवाले कीडे, कुंथु इयल, खटमल आदि अनेक प्रकार के तेइन्द्रिय जीव हैं जो सर्वत्र दृष्टिगोचर होते हैं ।

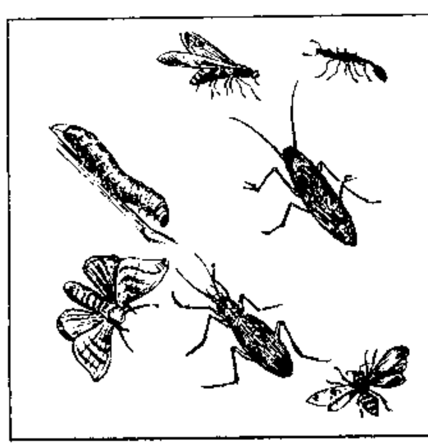

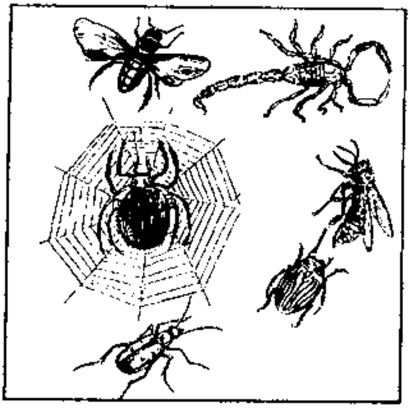

इसके पश्चात तेइन्द्रिय से और ऊपर उठते हुए... विकास साधते हुए जीव चउरिन्द्रिय की अवस्था में आते हैं। तीन के बाद चौथी इन्द्रिय चक्षु—आँख मिलती है । जिससे जीव सब कुछ देख सकता है। चक्षु का विषय है– रूप रंग को ग्रहण करना। पहली तीन इन्द्रियाँ तो थी ही । उनसे उनके विषयों को जीव ग्रहण करता ही था । अब चौथी चक्षु इन्द्रिय और मिलने से रूप—रंग के विषयों का भी ग्रहण होने लगा। ऐसे जीव भी संसार में अनेक प्रकार के हैं। जिनमें बिच्छु, भौंरे, तीड, मक्खी, मच्छर, तितलियाँ, मकडी, आदि अनेक प्रकार के चउरिन्द्रिय जीव हैं ।

यह जीव सृष्टि भी बहुत लम्बी—चौडी है। स्वकृत कर्मानुसार जीव को वैसी गति—जाति और शरीर धारण करने पडते हैं । अब निगोद से आगे बढते—बढते जीव चउरिन्द्रिय तक विकास साधता हुआ यहाँ तक तो आ गया। अभी भी आगे बढना तो अवशिष्ट है ।

## पंचेन्द्रिय की कक्षा में प्रवेश

चउरिन्द्रिय की कक्षा से आगे बढता हुआ जीव पंचेन्द्रिय में आता है। पांचवी श्रवणेन्द्रिय की प्राप्ति होती है । श्रवण करना अर्थात् सुनना । अतः श्रवणेन्द्रिय के लिए दूसरा शब्द श्रोत्रेन्द्रिय भी है । श्रवण—सुनने का साधनभूत शरीर में अंग — कान है । अतः कर्णेन्द्रिय भी कहते हैं। उसका विषय ध्वनि—शब्द ग्रहण करने का है। क्रम में ऊपर—चढते कान—कर्णेन्द्रिय का अन्तिम नम्बर है । बस, इन्द्रियों की प्राप्ति करने की दिशा में यह अन्तिम इन्द्रिय है । इसके बाद कोई इन्द्रिय नहीं है । जगत में अनादि काल से आज दिन तक सिर्फ पाँच ही इन्द्रियाँ है । पाँच के आगे छट्ठी इन्द्रिय ही नहीं है । अतः जब जब भी जीव इन्द्रियों को प्राप्त करते हुए आगे पहुँचते हैं तब इन पाँच इन्द्रियों तक ही आगे बढ़ पाते हैं । संसार में यह भी एक प्रकार का विकास है, शारीरिक विकास है। शरीर इन्द्रियों को धारण करते करते आगे बढे तो अन्त में पाँचवी इन्द्रिय तक ही आगे बढ सकता है । यह अन्तिम विकास इन्द्रियों के विषय में है । यह क्रम अनादि काल से

सुव्यवस्थित ऐसा ही है । अनादि अनन्त काल पहले भी जीव इन पाँचों इन्द्रियोंवाले ही थे... इनमें ही विभक्त थे । अतः इन्द्रियों की दृष्टि से जीव पाँच ही प्रकार के हैं । यही क्रम आगे भविष्य में भी अनन्त काल तक ऐसे ही रहेगा । भविष्य में अनन्तकाल के बाद भी पाँच की छः इन्द्रियाँ तो होती ही नहीं है और होगी भी नहीं । इस तरह इन्द्रियों की प्राप्ति में अन्तिम विकास पाँचवी इन्द्रिय तक ही सीमित है । पाँचों इन्द्रियोंवाले जीव भूतकाल में अनन्तकाल से थे । उस अनन्त काल की शुरुआत आदि न होने से अनादि काल कहा गया है । और आगे भविष्य में अनन्त काल तक भी पाँचों इन्द्रियाँ यही रहेगी । जीव यहाँ तक ही पहुँच पाएगा ।

**पंचेन्द्रिय में ४ विभाग**

पाँच इन्द्रियों को धारण करनेवाले ४ प्रकार के जीव हैं— १) तिर्यंच, २) नारकी, ३) मनुष्य, और ४) देवता । यहाँ ४ की ही संख्या बताई गई है । पाँच भेद नहीं बताए हैं । बस सिर्फ ४ ही । पाँच इन्द्रियाँ जिन जिन जीवों ने प्राप्त की हैं उनमें ये चार प्रकार के जीव मुख्य हैं । निगोद से एकेन्द्रिय दोइन्द्रिय— तीनइन्द्रिय—चारइन्द्रिय वाले बनता बनता जीव अब आगे पाँच इन्द्रियवाला बनता है । उसमें प्रथम तिर्यंच पशु—पक्षी की अवस्था प्राप्त करता है । अतः पशु—पक्षी में प्रवेश पाता है ।

तिर्यंच में पशु—पक्षी मुख्य रूप से ३ प्रकार में विभक्त हैं ।

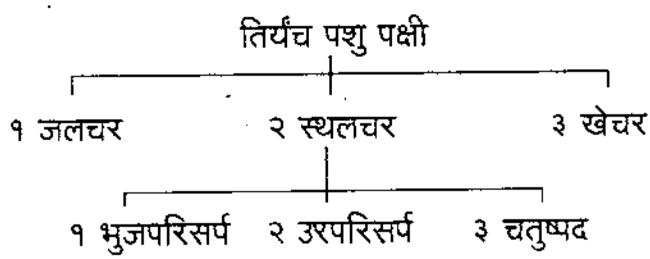


१) जल में रहनेवाले मछलियाँ आदि जलचर, स्थल—भूमि पर रहनेवाले स्थलचर कहलाते हैं । स्थलचर में, भुजा—हाथ से चलनेवाले चूहा, छिपकली, गिलहरी, बन्दर आदि भुजपरिसर्प कहलाते हैं । और कुछ ऐसे भी प्राणी हैं जिनको हाथ—पैर कुछ भी नहीं होते हैं वे सिर्फ पेट के बल पर ही—पेट रगडते हुए ही चलते हैं उनमें मुख्य साँप है । और चतुष्पद अर्थात् चार पैरवाले पशु हाथी—घोडा—ऊँट—बैल—बकरी—भैंस—गधा आदि

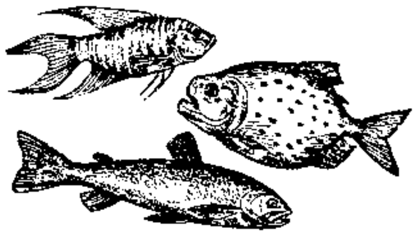

चार पैरवाले—चतुष्पद पशु हैं। ये सभी पंचेन्द्रिय जीव हैं। इनके बाद खेचर आते हैं। ख अर्थात् आकाश। आकाश में उडनेवाले पक्षी सभी खेचर कहे जाते हैं। इनके दोनों हाथ पंख की तरह काम करते हैं। अतः वे पक्षी कहलाते हैं। ये आकाश में स्वैर विहार करते हुए उड सकते हैं।

**खयरा रोमय पक्खी, चम्मय पक्खी य पायडा चेव।**
**नर लोगाओ बाहिं समुग्ग—पक्खी, वियय पक्खी॥**

पक्षियों में रोमज पक्षी—रोमवाले, और चर्मज पक्षी—बिना रोमवाली चमडे के पंखवाले ऐसे दोनों प्रकार के पक्षी होते हैं। ये दोनों प्रकार के पक्षी हमारे मनुष्य क्षेत्र में रहते हैं। स्पष्ट दृष्टिगोचर होते हैं। और नरलोक अर्थात् मनुष्य क्षेत्र के बाहर भी दो प्रकार के पक्षी होते हैं। (प्रथम अध्याय में आगे भौगोलिक वर्णन में अढाई द्वीप सीमित मनुष्य लोक का विचार कर आए हैं, अतः वहाँ से भौगोलिक अभ्यास करके मनुष्य लोक क्षेत्र समझ लेना चाहिए) अढाई द्वीप क्षेत्र के बाहर असंख्य द्वीप—समुद्रों का क्षेत्र है। उसमें दो प्रकार के पक्षी हैं। १) समुद्गक—पक्षी अर्थात् संकुचित पंखवाले। और दूसरे . . . वियय पक्खी = वितत अर्थात् विस्तरित पंखवाले—फैलाए हुए पंखवाले पक्षी

कहलाते है। कबुतर, तोता, कौए, गिध, चील, हंस, सारस, चिडिया आदि रोमज–रोमवाले पक्षी हैं। और उल्लु आदि बिना रोम के चर्मज पक्षी हैं। अढाई द्वीप के मनुष्य क्षेत्र के बाहर असंख्य द्वीपों पर समुद्गक और वियय पक्षियों की ही आबादी है।

## जन्म की दृष्टि से विचारणा–

**सव्वे जल–थल–खयरा–समुच्छिमा–गब्भया दुहा हुंति।**

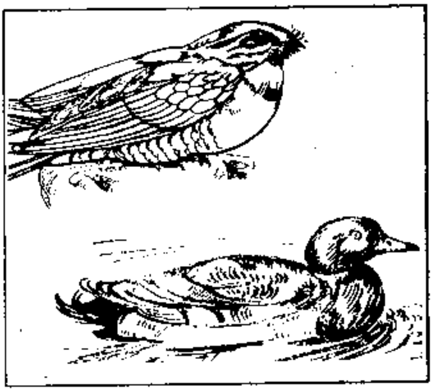

ये सभी जलचर, स्थलचर और खेचर प्रकार पशु–पक्षी प्राणी जन्म की दृष्टि से गर्भज और समुर्छिम दो प्रकार के होते हैं। नर और मादा के संयोग से गर्भ रह कर जिसका जन्म होता है वे गर्भज जीव कहलाते हैं। ये गर्भज भी ३ प्रकार के होते हैं।

**जराय्वण्डपोतजानां गर्भ। २–३४। तत्त्वार्थ**

१) जरायुज.... जरायु में रहे हुए गर्भ से सो जन्म लेते हैं वे जरायुज कहलाते हैं। २) अण्डज— अंडे के रूप में जो जन्म लेते हैं वे अण्डज प्राणी और ३) पोतज— हाथी आदि जो अण्डे और जरायु के सिवाय भी सीधे जन्म लेते हैं वे पोतज प्राणी कहलाते हैं। जैसे हाथी आदि।

**सम्मूर्च्छन–गर्भोपपाता जन्म। २–३२। तत्त्वार्थ**

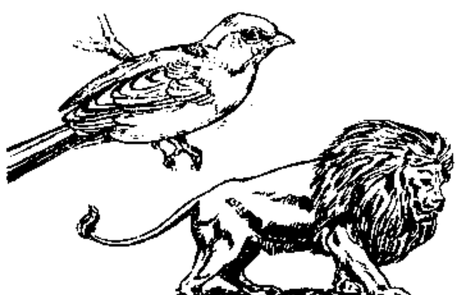

**संमूर्छिम जन्म—** जिसमें नर–मादा के किसी भी प्रकार के संयोग की आवश्यकता ही नहीं रहती है। एकेन्द्रिय और दोइन्द्रियवाले जीव तो मात्र उत्पन्न होने के अनुकूल वातावरण मिल जाय तथा अपने स्वजाति के जीवों के पास यथासंभव

स्वयं ही उत्पन्न हो जाते हैं। उन्हें संमूर्च्छिम जन्म कहते हैं। तेइन्द्रिय चिंटी आदि के जीव भी स्वजाति के जीवों के मल-मूत्र-विष्ठा आदि में जन्म ले लेते हैं। उस जन्म को संमूर्च्छिम जन्म कहते हैं। ४ इन्द्रियवाले जीव लाल—मल आदि में भी उत्पन्न हो जाते हैं। पंचेन्द्रिय जीवों में भी जलचर मछली आदि संमूर्च्छिम और गर्भज दोनों प्रकार के होतें हैं। भुजपरिसर्प और उरपरिसर्प जीव गर्भ से भी जन्म लेते हैं, और संमूर्च्छिम जन्म भी लेते हैं। पक्षियों में भी स्वजाति के मृत कलेवरों में से भी उत्पत्ति होती है। इसी तरह मनुष्यों में भी १४ प्रकार के अशुचि स्थानों में रस—रुधिर आदि में भी उत्पन्न होते हैं। अतः मनुष्यों की उत्पत्ति गर्भज तथा संमूर्च्छिम दोनों प्रकार से होती है।

यह उत्पत्ति स्थान ही योनि कहलाती है। गति की दृष्टि से ये सभी तिर्यंच गति के जीव कहलाते हैं। एकेन्द्रिय २, ३, और ४ इंद्रियवाले विकलेन्द्रिय तथा जलचरादि पंचेन्द्रिय सभी तिर्यंच गति के जीव कहलाते हैं। इनमें भेदों की विवक्षा इस प्रकार हैं—

| | |
|---|---|
| पृथ्वी—पानी—अग्नि—वायु—वनस्पति इन ५ स्थावरों के कुल | २२ प्रकार |
| २, ३, और ४ इन्द्रिय वाले विकलेन्द्रिय जीवों के कुल | ६ प्रकार |
| पंचेन्द्रिय जलचर—खेचर—स्थलचर—आदि तिर्यंचो के कुल | २० प्रकार |

इस तरह तिर्यंच गति के कुल मिलाकर४८ भेद होते हैं।

## मनुष्यों के भेद—

**कम्मा-ऽकम्मग-भूमि-अंतरदीवा-मणुस्सा य।**

१५ कर्म भूमि + ३० अकर्म भूमि + और ५६ अंतर्द्वीप में उत्पन्न होनेवाले मनुष्य जो अढाई द्वीप में रहनेवाले हैं। ऐसे १०१ प्रकार के मनुष्य होते हैं। जंबूद्वीप, धातकी खण्ड और पुष्करार्ध ये २१/२ द्वीप हैं। बस, इतना ही सिर्फ मनुष्य क्षेत्र है। इस २१/२ द्वीप में १५ कर्मभूमियाँ हैं। जहाँ असि, मसि और कृषि का व्यापार होता है। जहाँ धर्म—मोक्ष सुलभ है ऐसी कर्मभूमियाँ १५ हैं। ५ भरत क्षेत्र, ५ ऐरावत क्षेत्र,

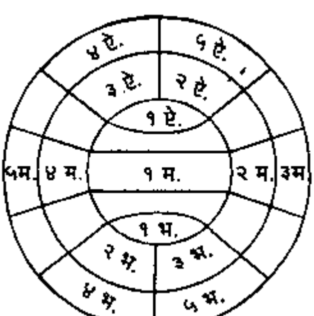

५ महाविदेह = इस तरह १५ कर्मभूमियाँ हैं । इसके अतिरिक्त ५ हिमवंत क्षेत्र + ५ हरिवर्ष + ५ हिरण्यवंत क्षेत्र + ५ रम्यक् क्षेत्र + ५ देवकुरु क्षेत्र + ५ उत्तरकुरु क्षेत्र = ये ३० अकर्मभूमियाँ हैं । तथा लवण समुद्र में जंबूद्वीप के पर्वत, हिमवन्त पर्वत तथा पर्वत की जो दाढाओं का भाग निकला हुआ है उसमें दोनों तरफ ऊपर—नीचे ऐसी शाखाएँ दंतशूल की तरह निकली हुई हैं । वे अंतर्द्वीप हैं । ऐसे ५६ अंतर्द्वीप हैं । इस तरह १५ + ३० + ५६ = कुल मिलाकर १०१ क्षेत्र हैं । इन १०१ क्षेत्रों में मनुष्य उत्पन्न होते हैं । अतः ये मनुष्यक्षेत्र कहे जाते हैं । ये २१/२ द्वीप परिमित ही हैं । बस, इससे आगे नहीं हैं ।

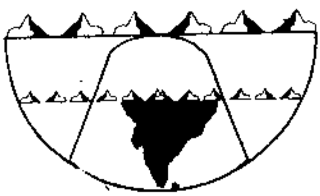

पुष्करवर द्वीप जो १६ लाख योजन के विस्तारवाला है । इसके बीचोबीच मानुषोत्तर पर्वत फैला हुआ है । जिसके उत्तर में (बाद में) मनुष्यों की आबादी उत्पत्ति जन्म—मरण नहीं है ऐसे मानुषोत्तर पर्वत के अन्दर ही मनुष्यक्षेत्र है । यह पूर्व से पश्चिम तक ४५ लाख योजन के विस्तारवाला है ।

इसमें उत्पन्न होनेवाले मनुष्य—जन्म की दृष्टि से ३ भाग में बंटे हुए हैं । १०१ गर्भज पर्याप्त + १०१ गर्भज अपर्याप्त + १०१ संमूर्च्छिम । इस तरह कुल ३०३ प्रकार के मनुष्य होते हैं । इनमें १०१ गर्भज अपर्याप्त तथा १०१ संमूर्च्छिम तो अल्पकालिक हैं । आयु कम है, मात्र अंतर्मुहूर्त । अतः मुख्यगणना १०१ गर्भज पर्याप्त की ही होती है । इनही का मुख्य व्यवहार होता है । वैसे भौगोलिक वर्णन पहले कर चुके हैं । वहाँ से अढाई द्वीप आदि विषय भूगोल संबंधी समझ लेना चाहिए । मनुष्यों आदि के भेदों को समझने के लिए भौगोलिक स्वरूप समझना अत्यन्त आवश्यक होता है । तभी ये भेद समझ में आ सकेंगे । **आर्याम्लिशश्च** ॥ ३—१५ । तत्त्वार्थकार ने आर्य मनुष्य और म्लेच्छ अर्थात् अनार्य मनुष्य ऐसे दोनों प्रकार के मनुष्यों का वर्णन किया है । इन १०१ प्रकार के मनुष्यों के जो निवास क्षेत्र हैं, उनमें भरत क्षेत्र के ६ खण्डों में २५ ॥ आर्य देश हैं । आर्यदेश में उत्पन्न होनेवाले मनुष्य आर्य कहलाते हैं । जहाँ देव—(भगवान) गुरु और धर्मादि सुलभ है । ऐसी भूमि के क्षेत्र आर्य देश हैं । इससे ठीक विपरीत अनार्य देश हैं और वहाँ उत्पन्न हुए मनुष्य अनार्य कहलाते हैं ।

## नरकगति के नारकी जीव—

पहले अध्याय में भौगोलिक वर्णन में अधोलोक—नरक लोक का वर्णन कर आए हैं। उसके आधार पर नरक क्षेत्र—अधोलोक—वहाँ की पृथ्वियाँ कैसी हैं ? इत्यादि स्वरूप समझें। अब ऐसी सात नरक पृथ्वियों में जाकर जो जीव उत्पन्न होते हैं वे नारकी जीव कहलाते हैं। नारकी जीवों के जन्म उपपात जन्म कहलाते हैं।

**नारकदेवानामुपपातः ॥ २–३५ ॥**

तत्त्वार्थकार वाचकमुख्यजी ने नारकी और देवताओं के जन्म को उपपात जन्म बताया है। वहाँ स्त्री—पुरुष की मैथुन क्रिया जैसे संबंध से गर्भधारणा होकर जन्म नहीं होता है। सातों नरक पृथ्वियों के प्रतरों में कुम्भियाँ होती हैं। उन्ही में अशुभ पाप कर्म के उदय से जीव आते हैं और जन्म लेते हैं। कुम्भी अर्थात् कुम्भ—घडा—गवाक्षादि आकार के स्थान होते हैं। ऐसे गुप्त गवाक्षादि स्थान तथा निष्कूटों में अशुभ—अशुभतर पापकर्म के उदयवाले जीव आते हैं। और सिर्फ अंतर्मुहूर्त काल में स्वशरीर की रचना करके उत्पन्न होते हैं और पीडा का अनुभव करते करते—बडे भारी दुःखी होते हुए.. जैसे जोर से पानी में पत्थर फेंका जाय वैसे वज्रमय कठोर तलभूमिभाग पर बाहर आकर फेंके जाते हैं। इस प्रकार के जन्म में तीव्र वेदना का अनुभव करते हैं। इसे उपपात जन्म कहते हैं।

नरक गति में आकर जन्म लेकर उत्पन्न हुए नारकी जीव . . . बहुत लम्बे लम्बे आयुष्यवाले होते हैं। १०००० वर्ष के आयुष्य से लेकर . . . ३३ सागरोपम वर्ष काल तक के आयुष्य वाले भी होते हैं। इस तरह जघन्य और मध्यम दो प्रकार के आयुष्यवाले नारकी जीव होते हैं।

| नरक पृथ्वीयाँ | जघन्य आयु | उत्कृष्ट आयु |
|---|---|---|
| १. रत्नप्रभा नरक में | १०००० वर्ष आयु | १ सागरोपम वर्ष |
| २. शर्कराप्रभा नरक में | १ सागरोपम वर्ष | ३ सागरोपम वर्ष |
| ३. वालुकाप्रभा नरक में | ३ सागरोपम वर्ष | ७ सागरोपम वर्ष |
| ४. पंकप्रभा नरक में | ७ सागरोपम वर्ष | १० सागरोपम वर्ष |
| ५. धूमप्रभा नरक मे | १० सागरोपम वर्ष | १७ सागरोपम वर्ष |
| ६. तमःप्रभा नरक में | १७ सागरोपम वर्ष | २२ सागरोपम वर्ष |
| ७. महातमःप्रभा नरक में | २२ सागरोपम वर्ष | ३३ सागरोपम वर्ष |

जहाँ मनुष्य गति में माँ के गर्भ में आकर जीव २ घडी के अंतर्मुहूर्त काल में आयुष्य समाप्त कर मृत्यु पाकर चला जाय ठीक इसी २ घडी की तुलना में नरक में कम से कम आयुष्य १०००० वर्ष का है। इतना लम्बा एक जीवन है। पूर्वकृत भयंकर पाप कर्मों की भारी सजा भुगतने के लिए जीवों को इतना लम्बा काल नरक में बिताना पडता है।

नारकी जीव सभी संज्ञी समनस्क मनुष्यों के जैसे ही होते हैं।सभी पंचेन्द्रिय हैं। और सभी नारकी जीव वहाँ नपुंसक वेदवाले होते हैं। विषयवासना की कामसंज्ञा बडी तीव्रतम होती है। इसी तरह आहारादि की क्षुधा भी बडी भारी होती है।

सात नरक में से १, २ और तीसरी इन तीन नरकों में परमाधामी होते हैं। ये वैसे ४ प्रकार के देवताओं में से भवनपति की जाति के देवता ही हैं। १५ प्रकार के परमाधामी बडे ही क्रूर स्वभाव के और परम अधार्मिक वृत्तिवाले होते हैं। वहाँ की भूमि के नारकी जीवों को मारने पीटने में ही उनको बहुत मजा आती है। अतः किसी भी नारकी जीव को तो वे देखते ही नहीं छोडते हैं। उनका अपना शरीर बडा ही खराब कुरूप राक्षसी होता है। भयानक डरावना रूप वे बनाते हैं और नारकियों को डराते हैं। नारकियों को करवत से काटना, अग्नि में शेकना, कढाई में तलना, कपडे धोने की तरह आस्फालित करना, रस्सी से बांधना, गरम तपे हुए लोहे से लगाना, आंखें

फोडना, नाक कानादि अंगोपांग काटना, उनके शरीर के टुकडे–टुकडे कर देना, छेदन–भेदन करना, उल्टे मुँह बांध कर लटकाना, इत्यादि अनेक तरह की, सेंकडों प्रकार की पीडा पहुँचाने–देने का काम ये परमाधामी करते हैं। इससे वे भी भारी पापकर्म उपार्जन करते हैं और मृत्यु के बाद उनकी भी अण्डगोलिक मनुष्य बनने की नौबत आती है। फिर भी वे भी असह्य वेदना पाते हैं।

वैसे नरक के नारकी जीव स्वयं ही अपने पूर्व जन्मों में किए हुए भारी पापकर्मों के उदय से दुःख–वेदना भारी सजा भुगतते ही हैं। लेकिन परमाधामी उसमें निमित्त बनते हैं। यहाँ मनुष्य–तिर्यंच के जन्म में काफी लम्बे काल तक सेंकडों प्रकार के पाप कर्म–वे

जीव सेंकडों बार—बार बार कर चुके हुए होते हैं । अतः अपने पाप कर्मों की सजा तो उन्हें वहाँ पर उन्हें भुगतनी ही है । **संक्लिष्टसुरोदीरितदुःखाश्च प्राक् चतुर्थ्याः ३–५** । चौथी तक ऐसे क्रूर असुर परमाधामियों द्वारा दी गई तीव्र वेदना को नारकी जीव भुगतते ही रहते हैं । **परस्परोदीरितदुःखाः ॥ ३–४ ॥** परमाधामी असुर तो नारकियों को दुःख देते ही हैं लेकिन नारकी जीव परस्पर भी अन्दर अन्दर कलह—झगड़ा—मारपीट करना, लडते रहना आदि भयंकर रीत से दुःखी होते ही रहते हैं । पिछली जिन नरकों में परमाधामी नहीं है वहाँ भी ये नारकी जीव क्षेत्र कृत, परस्पर कृत आदि दस प्रकार की वेदनाओं को भुगतते भुगतते बहुत लम्बा आयुष्य बिताते रहते हैं ।

आश्चर्य की बात तो यह है कि... नरक के इस नारकी जीवों के शरीर ऐसे वैक्रिय शरीर होते हैं कि जो कितनी भी बार काटा जाय, कितने भी छोटे टुकडे किये जाय तो भी ... वे सभी टुकडे पारे की तरह फिर से जुडकर वापिस खडे हो जाते हैं । आयुष्य भी इतना प्रबल होता है कि जल्दी मर भी नहीं सकते हैं । आत्महत्या नरक में होती ही नहीं है इसलिए जब तक आयुष्य पूर्ण समाप्त न हो वहाँ तक मरते भी नहीं है । और आयुष्य भी काफी लम्बें सागरोपमों के लम्बे होते हैं । एक सागरोपम बरोबर असंख्य वर्ष होते हैं तो ७ वीं नरक में ३३ सागरोपम का उत्कृष्ट आयुष्य रहता है । सातवीं नरक में थोडी संख्या में नारकी होते हैं लेकिन १ से ६ तक की नरकों में नारकियों की संख्या असंख्य होती है । क्योंकि तिर्यंच—पशु—पक्षी की गति और मनुष्य की गति में से—दोनों गति में से असंख्य जीव नरक में आते ही रहते हैं । सिर्फ देवगति के देवता मरकर नारकी नहीं बनते हैं । और नरक के नारकी जीव मरकर वापिस नारकी के रूप में नहीं जन्मते हैं । यह संक्षेप में सामान्य वर्णन यहाँ किया है । विस्तार से लोक प्रकाश, बृहत्संग्रहणी, उत्तराध्ययन एवं सूत्रकृतांग आगमशास्त्रादि अनेक शास्त्रों से समझना चाहिए ।

## देवगति एवं देवताओं का वर्णन—

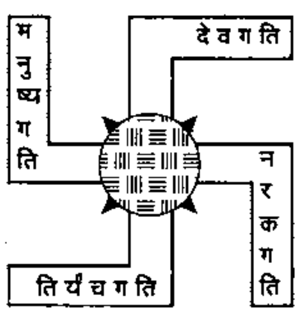


समस्त संसार में जो जीवसृष्टि है उसमें से हम ३ गति के जीवों का विचार कर आए हैं । अब क्रम प्राप्त यहाँ चार गति में चौथी देवगति है उसका वर्णन करते हैं । देवगति के देवताओं के विषय में भी अनेक भ्रान्तियाँ—भ्रमणाएँ एवं शंकाएँ मानव मन में बनी रहती हैं । अतः शास्त्रीय वर्णन के आधार पर हम काफी गहराई

से विशद स्वरूप देवताओं का भी समझ सकते हैं। तत्त्वार्थसूत्र के चौथे अध्याय में, बृहत्संग्रहणी, लोक प्रकाश, तथा पन्नवणा सूत्र, जीवाभिगमादि आगम शास्त्रों में आधारभूत प्रामाणिक वर्णन प्राप्त है। जिसके आधार मानवी जिज्ञासा संतोषी जा सकती है और अनोखी जानकारी प्राप्त करके ज्ञानवृद्धि तथा श्रद्धा की वृद्धि भी की जा सकती है।

प्रथम पुस्तिका में ब्रह्माण्ड का विचार करते समय ऊर्ध्वलोक का भौगोलिक वर्णन किया गया है। ऊर्ध्वलोक को ही स्वर्ग—देवलोक कहा गया है। अतः भौगोलिक तथा ब्रह्माण्डीय स्वरूप उस अध्याय से वहाँ से समझकर, देवताओं के जीवनादि के बारे में विशद जानकारी वहाँ से प्राप्त करें।

देवता ४ प्रकार के बताए गए हैं— **देवाश्चतुर्निकायाः।**

भवनपति, व्यंतर, ज्योतिषी, वैमानिक.

देवताओं को इन ४ जाती में विभक्त किया गया है। ये ४ प्रकार के हैं। इनके भी भेद—प्रभेद अनेक हैं—

**दसहा—भवणाहिवई, अट्ठविहा वाणमंतरा हुंति।**
**जोइसिया पंचविहा, दुविहा वेमाणिया देवा॥**

जीव विचार प्रकरण में संक्षेप में भेद बताते हुए १०, ८, ५ और २ ऐसे मुख्य २५ भेद बताए हैं। इनके अवान्तर भेदों प्रभेदों की संख्या ज्यादा बताई गई है। तत्त्वार्थ सूत्रकार ने ३५ की संख्या इस प्रकार बताई है— **दशाऽष्ट—पञ्च—द्वादश—विकल्पाः कल्पोपन्नपर्यन्ता॥ ४—३।** १० + ८ + ५ + और १२ कल्पोपन्न को गिनाते हुए ३५ की संख्या बताई है। भेदों के साथ प्रभेदों की गिनति करते हुए ९९ की कुल संख्या भी बताई गई है। वह इस प्रकार है—

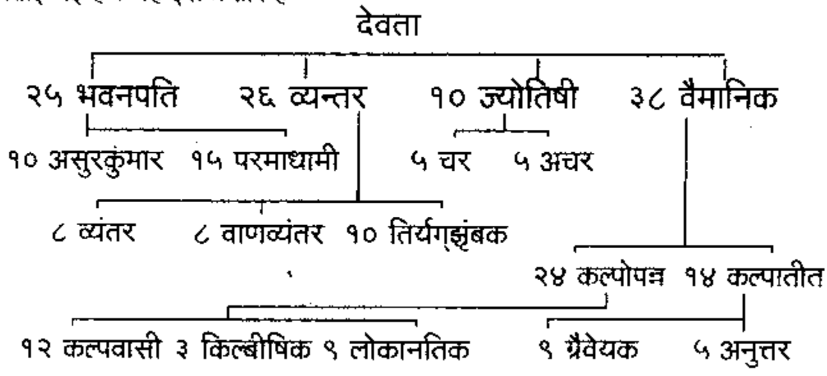

इसतरह कुल संख्या—

१०+१५+८+८+१०+५+५+१२+३+९+९+५ = कुल ९९ प्रकार के देवता हैं।

९९ पर्याप्ता + ९९ अपर्याप्ता = १९८.

देवताओं की विविध मुख्य ४ जातियाँ हैं और उनकी भी अवान्तर १२ जातियाँ प्रचलित हैं। इनके भेद—प्रभेद ऊपर के कोष्ठक से संक्षिप्त में समझ में आ सकेंगे।

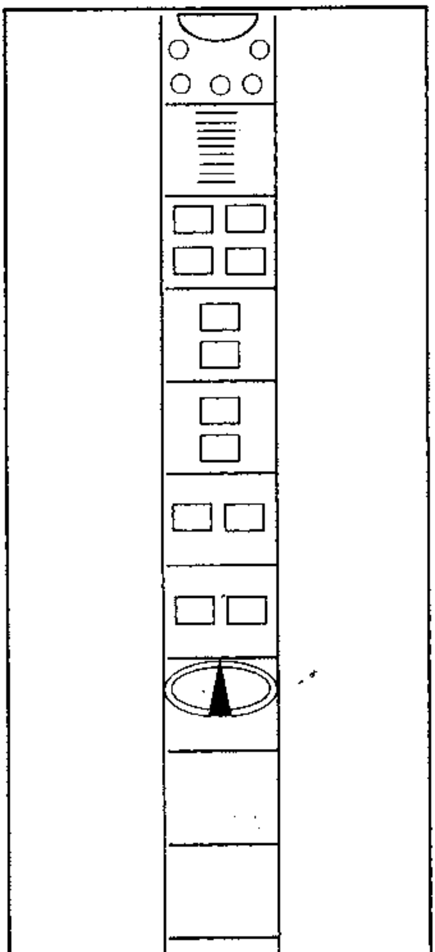

देवगतिगत देवताओं का लक्षण बताते हुए कहा है कि— **प्रायशः शुभतरादि लेश्यादिपरिणामवत्त्वे सति देवगति-नामकर्मोदयरूपत्वं देवगते-र्लक्षणम्॥** ज्यादातर शुभ—शुभतर आदि लेश्याओं के परिणामवाला देवगति नाम कर्म के उदय से देवगति में गया हुआ जीव देवता कहलाता है। देवताओं की भी एक अजीब सी दुनिया है। समस्त लोक (ब्रह्माण्ड) में तीनों लोक में देवता रहते हैं। प्राधान्य रूप से तो ऊर्ध्वलोक—देवलोक में ही रहते हैं। लेकिन तिर्छालोक में मनुष्यक्षेत्र में भी रहते हैं। और इस पृथ्वी के नीचे भवनों में तथा... नरक पृथ्वियों में देवताओं का वास है। नीचे से ऊपर तक उठते—उठते देवताओं की कैसी जातियाँ हैं? अतः नीचे से ऊपर उठते क्रम से भेदों की विवक्षा करते हुए देवताओं की चारों जातियों का वर्णन किया है। अतः देवताओं में भी अशुभ—अधम हल्की जाती के देव होते हैं।... फिर ऊपर उठते—उठते

कैसे शुभ—अच्छे और ऊँचे—अच्छेसे अच्छे उच्च—उच्चतर—उच्चतम कक्षा के हैं। इस क्रम से वर्णन किया गया है। इसे इस चित्र द्वारा समझा जा सकता है। सर्व प्रथम अधोलोक की ३ नरकों में परमाधामी देव हैं। यद्यपि ये गति की उपेक्षा से देवगति के भवनपति निकाय के देवता हैं, परन्तु रहना इनको नरकपृथ्वियों में नारकी जीवों के बीच में है। नारकी जीवों को मारना—पीटना—फाडना—काटना आदि दुःख देने की प्रवृत्ति करते हुए—उन्हें दुःख देकर—दुःखी करके ही राजी रहते हैं। इसी में उनको ज्यादा मजा आती है। ये अधम कक्षा के देवता हैं।

**परमाधामी देव—**

भवनपति की ही जाती के ये १५ प्रकार के परमाधामी है— १) अम्ब, २) अम्बरीश, ३) शबल, ४) श्याम, ५) रौद्र ६) उपरुद्र, ७) असिपत्र, ८) धनु, ९) कुम्भ, १०) महाकाल, ११) काल, १२) वैतरण, १३) वालुक, १४) महाघोष १५) खरस्वर इन नामों की १५ जातियाँवाले परमाधामी देव हैं। नारकी जीवों को दुःख देने में भी इनके भिन्न भिन्न कार्यक्षेत्र हैं। प्रथम अम्ब जाती के परमाधामी देव—नारकी जीवों को ऊपर फेंकने—पटकने का मुख्य काम करते हैं। दूसरे अम्बरीश जाती के देव नारकियों को भट्टी में पका सके ऐसे टुकडे करते हैं। तीसरे शबल जाति के नारकियों के हृदय तथा आतों के टुकडे आदि करके छेदन—भेदन का ही मुख्य काम करते हैं। चौथे श्याम जाति के देवों की मुख्य आदत लकडे की तरह करवत से काटने की है। पाँचवे रौद्र देवों का कार्य—भाले से भेदन करने का है। छट्ठे उपरुद्र जाति के देवों का काम नारकियों के अंगोपांगों को तोडने का है। सातवें असिपत्र देवता तलवार जैसे पत्तों का जंगल खडा करने का काम करते हैं। आठवें धनुष्य पर बाण चढाकर—छोडकर मारनेवाले होने से उनकी जाति का नाम धनु है। नौवें परमाधामी कुम्भजाती के हैं जो नारकी जीवों को पकाने का काम करते हैं। मांस के टुकडे निकालकर हमाम दस्ते से कूट कूट कर खाते हैं। ग्यारहवे काल जाती के देवता— कुंड आदि में डुबाना—पकाना आदि करते हैं। बारहवें वैतरण जाती के देव ... नारकियों को रक्त—रुधिर पूय—मवाद से भरी हुई वैतरणी नदी बनाते हैं। इसलिए वे वैतरण जाती के कहलाते हैं। तेरहवें वालुक जाती के देव—कदम्ब पुष्प आदि की आकारवाली वालु—रेती में नारकियों को शेकने का काम करते हैं। चौदहवें जाती के परमाधामी महाघोष इसलिए कहलाते हैं कि वे डरकर भागनेवाले नारकी जीवों को महाघोष = जोर से चिल्लाकर बडे डरावने शब्दप्रयोग कर रोकते हैं। और अन्तिम पन्द्रहवें जाती के परमाधामी जो खरस्वर

कहलाते हैं, वे वज्रमय कांटे बनाकर भयंकर शाल्मली वृक्ष पर नारकी जीवों को ऊपर चढाकर नीचे खींचते पटकते हैं इस तरह के ये १५ प्रकार के परमाधामी देव अपने अपने स्वभाव के अनुसार नारकी जीवों को बहुत ही ज्यादा पीडा पहुँचाते हैं। दुःखी करते हैं। छेदन–भेदन आदि करके वे स्वयं बहुत ही राजी होते हैं। सुख अनुभवते हैं। यद्यपि नारकी जीव स्वयं स्वकृत कर्मानुसार नरकगति में उत्पन्न होकर दुःखी होते ही हैं फिर भी परमाधामी उन्हें और ज्यादा दुःख देते हैं। १, २ और ३ नरकों में ही परमाधामी जाती के भवनपति देव रहते हैं। शेष चार ४, ५, ६, ७ में तो परमाधामी देव न होते हुए भी नारकी जीव बहुत ज्यादा दुःखद वेदना भुगतते हैं। आखिर इतने भयंकर पापकर्म उपार्जन करके ये परमाधामी देव भी मरकर दूसरे जन्म में अण्डगोलिक मनुष्य बनकर घण्टी(चक्की) में पीसे जाते हुए भारी दुःख अनुभवते हैं। यह संसार ऐसे ही चलता जाता है। ऐसा भावार्थ महानिशीथ सूत्र के चौथे अध्याय में है।

**भवनपति देव—**

**"भवननिवासशीलत्वं भवनपतेर्लक्षणम्" "भवनेषु वसन्तीति भवनवासिनः"**

अर्थात् भवनों में निवास करनेवाले देवता भवनपति कहलाते हैं। रत्नप्रभा नाम की जो प्रथम नरक की पृथ्वी है वह १,८०,००० योजन जाडी–मोटी है। इसमें से ऊपर के १००० योजन और नीचे के भी १००० योजन छोड दें तो १,७८,००० योजन बचते हैं। इसमें मंजिलों की तरह १३ प्रतर हैं। इनके बीच के १२ आंतरे होते हैं। इसमें से ऊपर–नीचे का एक–एक प्रतर छोडकर बीच के १० आंतर भागों में उनमें भवन बने हुए हैं। दक्षिण से उत्तर की तरफ फैले हुए भवन हैं। ये आवासरूप और भवनरूप दो प्रकार के हैं। असुरकुमार देव आवासों में रहते हैं और शेष सभी भवनों में रहते हैं। इनके भवन बाहर से गोल और अन्तर चौरस–चौकोन प्रकार के कमलों की कर्णिकाओं के आकार वाले भवन होते हैं। ऐसे भवनों में रहनेवाले भवनपति कहलाते हैं। ये भवनपति १० प्रकार के हैं— **भवनवासिनोऽसुर-नाग-विद्युत्-सुवर्णाऽग्निवात-स्तनितोदधि-द्वीपदिक्कुमाराः ॥ ४-११ ॥** १) असुर कुमार, २) नाग कुमार, ३) विद्युत कुमार, ४) सुवर्णकुमार, ५) अग्निकुमार, ६) वातकुमार, ७) स्तनितकुमार, ८) उदधिकुमार, ९) द्वीपकुमार, १०) दिक्कुमार ये १० प्रकार के देवता भवनपति के हैं। भवनपति के ये दसों कुमार कहलाते हैं। क्योंकि कुमारों की तरह ये खेलदिल होते हैं। रूपरंगवाले–सौंदर्ययुक्त शरीरधारी होते हैं। ये छटादार वेषधारी

गहने—आभूषण—वस्त्रादि धारण करनेवाले हैं । इसके यान—वाहनादि भी काफी होते हैं । प्रेमपूर्ण व्यवहार करनेवाले होते हैं ।

## व्यन्तर जाती के देवता—

व्यन्तर

८ व्यंतर ८ वाणव्यंतर १० तिर्यग्जृंबक

**"विविधमन्तरं—भवननगरावासरूपीऽवकाशो येषां ते व्यन्तराः। यदि वा विविधमन्तरं शैलान्तरं कन्दरान्तरं वनान्तरं वा आश्रयरूपं येषां ते व्यन्तराः"** वि + अन्तर = व्यन्तर — इस व्युत्पत्ति के आधार पर रहने के स्थान विविध अन्तर पर हो उन्हें व्यन्तर कहते हैं । देवताओं की चार प्रकार की जाति के अन्दर व्यन्तर भी एक जाती है । ऊर्ध्व, अधो और तिर्यक् इन तीनों लोक में भवनों में, शहरों में, आवासों में, तथा भिन्न भिन्न पर्वतों पर, गिरिकन्दराओं, गुफाओं में. . . . जंगलों में अनेक द्वीपों में व्यन्तर जाती के देवता रहते हैं । रत्नप्रभा पृथ्वी के ऊपर के १००० योजन में से ऊपर के १०० योजन और नीचे के १०० योजन छोड देने पर बीच के ८०० योजन के क्षेत्र में व्यन्तरों का निवास क्षेत्र है । और ऊपर के जो १०० योजन हैं उसमें १० ऊपर के और १० नीचे के छोड देने पर बीच के ८० योजन के क्षेत्र में व्यन्तर निकाय की ही अवान्तर वाणव्यन्तर जाती के देवता भी रहते हैं । वैसे निवासस्थान अनियत भी है । ये व्यन्तर अपनी इच्छानुसार, या आग्रहवश तीनों लोक में चारों तरफ कहीं भी घूमते फिरते भी हैं और कई प्रसंगों में नोकर की तरह मनुष्यों का कार्य भी कर लेते हैं ।

दुनिया में भूत—प्रेतादि है ही नहीं. . . यह गलत बात है । हमें आँखों से न दिखाई दे, अतः हम न मानें, ज्ञान का यह आधार ही गलत है । दुनिया में सब कुछ आँख से दिखाई देनेवाले ही नहीं होता है । भूत-प्रेतादि अपने शरीर अदृश्य रखते हैं । अतः दिखाई नहीं देते हैं । तीनों लोक के विशाल क्षेत्र में. . . . चारों गति के क्षेत्र में. . . . जो देवगति है उसमें भी ४ जातियाँ है उसमें व्यन्तर एक जाती है । और व्यन्तरों में भी वाणव्यंतर यह अवान्तर जाती है । लोकप्रकाश—बृहत्संग्रेहणी तत्त्वार्थसूत्रादि में इनके प्रकार—भेद—आयुष्य आदि कई बातों के स्वरूप का अद्भुत वर्णन किया गया है । व्यन्तर के ८ प्रकार के नाम इस प्रकार दर्शाए हैं— **व्यन्तराः किन्नर-किंपुरुष-महोरग-गन्धर्व-यक्ष-राक्षस-भूत-पिशाचाः**

४–१२ ॥ १) किन्नर, २) किंपुरुष, ३) महोरग, ४) गन्धर्व ५) यक्ष, ६) राक्षस, ७) भूत, और ८) पिशाच ये व्यन्तर की मुख्य आठ जातियाँ हैं । इन आठों व्यन्तरों की भी क्रमशः १) १० + २) १० +, ३) १० +, ४) १२ +, ५) १३ +, ६) ७ +, ७) ९ +, ८) १६ = कुल ८७ अवान्तर जातियाँ हैं । ये आभूषण धारण करते हैं । इनमें भी विविध प्रकार के चिन्ह आदि होते हैं । कई मनोहर रूपवाले होते हैं । सौम्य दर्शनवाले, रत्नादि के आभूषणों से भी सुशोभित होते हैं । मानोन्मान प्रमाण देहवाले होते हैं । बडे शरीर भी होते हैं और महावेगवाले भी होते हैं । उत्तम स्वर वाले भी होते हैं, सिर पर मुकुट धारण करनेवाले भी होते हैं । कई व्यन्तर जाती के देवता बाग-बगीचों में विविध प्रकार की क्रिया करने में तत्पर होते हैं । इनमें भी स्त्री–पुरुष की तरह देव और देवी के भेद होते हैं । ये भी मनुष्य की तरह मैथुन सेवनादि क्रीडा करते रहते हैं । इनका आयुष्य काफी लम्बा–चौडा होता है । कम से कम १०००० वर्ष का और अधिक १ पल्योपम का आयुष्य होता है ।

व्यन्तर निकाय की ही अवान्तर जाती के ८ वाणव्यंतर देवता भी हैं । वे इस प्रकार हैं— १) अणपन्नी, २) पणपन्नी, ३) इसीवादी, ४) भूतवादी, ५) कंदित, ६) महाकंदित, ७) कोहंड और ८) पतंग । इन आठों की गिनती वाणव्यंतरों में होती है ।

तथा अन्न, पान, वस्त्र, वसति, शय्या, पुष्प और फल इतनी वस्तुओं की कमी हो तो पूर्ती करनेवाले, रसपूर्ण करनेवाले ऐसे देवों की जाति को जृंभकजाति कहा है । इनका स्वच्छंदाचार नित्य (वि) जृम्भ होता हुआ अर्थात् बढता हुआ होने के कारण ये जृंभक कहलाते हैं । तथा तिर्यक् लोक में आए हुए विचित्र चित्र यमक–समक–कांचनादि पर्वतमालाओं पर रहते हैं । ये जंबूद्वीप के देवकुरु–उत्तरकुरु के चित्रकूट–विचित्रकूट तथा यमक–समक पर्वतमाला तथा अन्य कांचनगिरि एवं वैताढ्य पर्वत तथा मेरुपर्वत पर बसनेवाले हैं । ये सभी पर्वत तिर्यक् लोक में हैं । यहाँ ये देवता रहते हैं । अतः तिर्यक् जृंभक कहलाते हैं । इनका भी १ पल्योपम का आयुष्यकाल होता है । ये हमेशा ही आमोद–प्रमोद में मस्त रहते हैं । मैथुनक्रीडा आदि करते हुए–भोगलीला में लीन रहते हैं । इनकी १० अवान्तर जातियाँ इस प्रकार हैं— १) अन्नजृंभक, २) पानजृंभक ३) वस्त्रजृंभक, ४) लोणजृभक, ५) पुष्पजृंभक, ६) फल जृंभक, ७) पुष्पफलजृंभक, ८) शयनजृंभक ९) विद्याजृंभक और १०) अवियत्तजृंभक । श्री भगवतीसूत्र आगम शास्त्र के १४ वें शतक में तो यहाँ तक लिखा है कि... इनका श्राप देने का और अनुग्रह कृपा करने का भी स्वभाव होता है । क्योंकि इनमें इस प्रकार की शक्ती है । ये जब क्रोधातुर होते हैं ऐसे समय यदि कोई इनका दर्शन कर लें तो श्राप देते हैं, जिससे अपयश और अनर्थ होते

हैं । और ये जब सुखी हो ऐसे समय में इनका दर्शनादि हो तो... कृपाप्रसाद भी प्राप्त होता है । जैसा कि वज्रस्वामी मुनि को प्रसन्न होकर विद्या और यश दोनों प्राप्त हुआ था । इस तरह तिर्यक् जृंभक जाति के देवताओं का वर्णन शास्त्रों में मिलता है । पूर्व के ८७ व्यंतर + ८ वाणव्यंतर तथा १० प्रकार के तिर्यक् जृंभक आदि कुल मिलाकर १०५ भेद—प्रभेद बनते हैं ।

देवताओं के विषय में वर्णन करते हुए जैसे जैसे ऊपर चढते हैं वैसे वैसे और ऊपरी कक्षा के देवों का वर्णन आता है । भवनपति से भी ऊपर की कक्षा के देवता व्यन्तरादि हैं । इन व्यन्तरों में सिर्फ भूत प्रेत ही हैं ऐसी बात नहीं है । जब १०५ प्रकार व्यन्तर निकाय के हैं तो उनमें भूत—प्रेत—पिशाच एक जातिविशेष है । वे भी हैं, अतः उनका भी अस्तित्व जरूर है यह दिखाया गया है । तथा व्यन्तरों में ही यक्षों की भी जाति है । हमारे चौवीशों तीर्थंकर भगवंतों के शासन के अधिष्ठायक देव—देवी सभी यक्ष हैं । वे सभी व्यन्तर जाति में हैं । जैसे पूर्णभद्र मणिभद्र भैरवादि हैं । इसी तरह अम्बिकादेवी—पद्मावतीदेवी आदि भी व्यंतर निकाय की देवियाँ हैं ।

**ज्योतिषी देवता—**

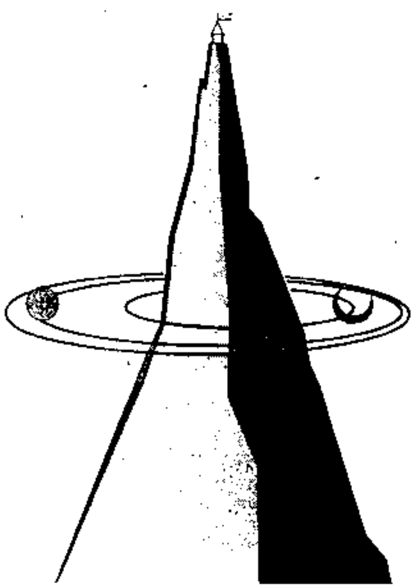

प्रथम अध्याय में हम... ब्रह्माण्ड विषयक विचारणा करते समय भूगोल—खगोल संबंधी विचारणा कर चुके हैं । जैसे खगोल विषयक विचारणा में जिन सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र तथा तारा आदि के नाम आए हैं वे सब ज्योतिषी देवता हैं । उन ज्योतिष चक्र के देवताओं के विमान हैं । विमान शब्द का अर्थ आज के जैसे उडते हवाई जहाज नहीं है । परन्तु वहाँ की पृथ्वी ही है । वे सदा ही आकाश में गतिशील— भ्रमणशील विमान हैं । ये मेरु पर्वत के चारों तरफ सतत गोलाकार स्थिति में भ्रमण करते

ही रहते हैं। अति गतिशीलता के कारण चर ज्योतिषी कहलाते हैं। और ढाई द्वीप के अन्दर के सभी सूर्य चन्द्रादि गोलाकार भ्रमण करते रहते हैं। परन्तु.... ढाई द्वीप के बाहर के सभी ज्योतिषी देवता स्थिर होते हैं। वे नहीं घूमते हैं।

ये देवगति के ज्योतिष निकाय के देवता हैं। अतः यहाँ पर इनकी भी देव दुनिया कैसी है इसका वर्णन प्राधान्य रूप से करना अवसर प्राप्त है। (खगोलिक वर्णन पहले कर आए हैं। वहाँ से पुनः विशेष जानकारी प्राप्त करके फिर यहाँ आगे पढें।)

**ज्योतिष्का पंच चन्द्रार्कग्रहनक्षत्रतारकाः।**
**द्विधा स्थिरश्चराश्चेति दशभेदा भवन्ति ते ॥**

लोकप्रकाश में ज्योतिषी देवता मुख्य पाँच प्रकार के बताए गए हैं— १) सूर्य, २) चन्द्र, ३) ग्रह, ४) नक्षत्र, और ५) तारा। ये पाँचो स्थिर और अस्थिर अर्थात् चर और अचर भेद से पुनः १० प्रकार के हैं। ५ चर + ५ अचर = १०। ढाई द्वीप अन्तर्गत सभी चर ज्योतिषी हैं जो निरन्तर भ्रमणशील है। और ढाई द्वीप के बाहर के असंख्य द्वीप—समुद्रों पर स्थित सभी सूर्यचन्द्रादि स्थिर—अचर कक्षा के हैं। **तत्कृतकालविभागः** सूर्य-चन्द्रादि काल की व्यवस्था में निमित्त कारण बनते हैं।

ज्योतिषी देवताओं कें परिवारों की व्यवस्था है। यहाँ देवता भी हैं और देवियाँ भी हैं। ये कायप्रविचारी अर्थात् मनुष्य की तरह मैथुन—रतिक्रीडा आदि द्वारा भोग भोगनेवाले हैं। परन्तु वहाँ गर्भादि द्वारा जीवों की उत्पत्ति—जन्मादि नहीं होते हैं। वहाँ जन्मादि की सारी व्यवस्था ही अलग प्रकार की है। वैसे देवताओं का जन्म उपपात जन्म कहलाता

है। अर्थात् पुष्पशय्या पर जन्म लेकर युवराज की तरह खडे हो जाते हैं। बस, इसी प्रकार वहाँ जन्म होता है। ज्योतिषी देव निकाय में प्रतिदिन वहाँ पर मनुष्य और तिर्यंच गति के जीव आकर जन्म लेते ही रहते हैं। ज्यादा से ज्यादा २४ मुहूर्त काल मात्र का ही विरहकाल–विलम्ब हो सकता है। और वहाँ से मरकर (च्युत होकर) वापिस अन्यत्र जानेवाले भी संख्यात–असंख्यात होते हैं। मरने का उत्कृष्ट अनन्तर भी १२ अंतर्मुहूर्त का है। और एक साथ १, २, ३, ५, और ज्यादा हजारों लाखों तथा संख्यात–असंख्यात भी जन्मते–मरते हैं। इनकी भवस्थिति एक ही जन्म की होती है। देवता देवगति में एक साथ एक ही जन्म कर सकते हैं, ज्यादा नहीं। एक ही जन्म पूर्ण होने के बाद अवश्य मरकर तिर्यंच या मनुष्य गति में जाते हैं। इनके अपने शरीर की ऊँचाई ज्यादा से ज्यादा ७ हाथ प्रमाण ही होती है। वैक्रिय शरीर की रचना करते समय कितना भी लम्बा बना सकते हैं।

## सूर्य–चन्द्र प्रकाश संबंधि विचार–

सूर्य–चन्द्र ज्योतिषी देवता हैं। ज्योति शब्द का अर्थ ही है– प्रकाशपुंज। प्रकाशमय देदीप्यमान ज्योतिरूप दीप्तमान इनके शरीर हैं। सूर्य–चन्द्र के जो विमान है उनका प्रकाश भी काफी ज्यादा है। सूर्य के काफी बडे विशाल विमान पृथ्वीकायमय पार्थिव है। विशेषता यह है कि . . इन पृथ्वीकाय के जीवों का आतप नाम कर्म की कर्मप्रकृति का उदय है। इस आतप नामकर्म के कारण ऐसे पृथ्वीवाले पार्थिव जीवों के देह का प्रकाश बडा ही उष्ण होता है। जो सर्वत्र फैलता है। कर्मग्रन्थ में कहा है कि— **रविबिंबे उ जियंगं तावजुयं आयवाउ न उजलेण। जमुसिण फासस्स तहिं लोहियवण्णस्स उदओत्ति**॥ सूर्य का जो यह बिंब दिखाई दे रहा है उसके विमान में आतप नाम कर्म के उदयवाले पृथ्वीकायिक जीव हैं। आतप नाम कर्म की इस विशिष्ट कक्षा की कर्म प्रकृति का अर्थ यह है कि . . पृथ्वीकाय के एकेन्द्रिय जीवों का पार्थिव शरीर जो स्वभाव से अपने आप में अनुष्ण हो, अर्थात् शीत हो फिर भी दूर उष्ण प्रकाशरूप आतप को करनेवाला होता है। यह सिर्फ सूर्य विमान में रहे हुए एकेन्द्रिय पृथ्वीकायिक जीवों की ही विशेषता है। बस उनके सिवाय अन्यत्र कहीं भी नहीं होता है। शायद आप शंका करेंगे कि अग्नि का भी उष्ण स्पर्श होता है। गर्म प्रकाश होता है। लेकिन अपने आप में शीत नहीं है। और ये पृथ्वीकायिक भी नहीं है। अतः इस प्रकार की आतप नाम कर्म की विशिष्ट नाम कर्म की प्रकृति एकमात्र सिर्फ पृथ्वीकायिक जीवों में ही है और वे भी एकमात्र सूर्यविमान में रहे हुए में ही है। अतः हमें जो सूर्य का ताप–प्रकाश (धूप) जो गरम लगता

है वह सूर्यदेव या सूर्य के इन्द्रदेव का नहीं है जैसा कि हिन्दु धर्मशास्त्रों में माना गया है, वह उचित नहीं है। सूर्य विमान में जो पृथ्वीकायिक एकेन्द्रिय पार्थिव जीव होते हैं उनकी जो आतप नाम कर्म की कर्म प्रकृति विशेष है। उसका प्रकाश यही धूप—ताप है—यह उसीकी गरमी है। अग्निकायिक जीवों को आतप नाम कर्म का उदय न होने से उनमें यह बात नहीं घटती है। अग्नि में उष्णस्पर्श तथा रक्तवर्ण नामक प्रकृति से उष्णता है।

## चन्द्र–ग्रह तारादि का प्रकाश—

**अणुसिण–पयासरुवं, जिअंगमुज्जोअए इहुज्जोआ।**
**जइ–देवुत्तर–विक्कीअ–जोइस–खज्जोअमाइव्व॥**

जैसा सूर्य के प्रकाश के विषय में विचार किया है उससे सर्वथा विपरीत चन्द्र—ग्रह—नक्षत्र—तारादि का प्रकाश है। इस विषय में प्रथम "कर्मविपाक" नामक कर्मग्रन्थ में उपरोक्त गाथा में कहा है कि... अणुसिण = अनुष्ण अर्थात् गरम नहीं... यह विशिष्ट प्रकार की उद्योत नाम कर्म की प्रत्येक प्रकृति में से है। ऐसे ८ प्रकारकी प्रत्येक प्रकृतियाँ हैं। इस प्रकृति के विशेष उदय के कारण देवताओं, मुनियों के उत्तर वैक्रिय शरीर, चन्द्र, ग्रह—नक्षत्र और ताराओं के विमान में उत्पन्न पृथ्वीकायिक पार्थिव जीवों को खद्योत—जुगनू, मणि, रत्न तथा औषधि विशेषों में भी इस प्रकार की उद्योत नाम कर्म की प्रकृति का उदय होता है। इस प्रकृति से उनके अन्दर एक प्रकार का प्रकाश—उद्योत होता है। वह प्रकाश उष्ण नहीं अनुष्ण होता है। उससे शीतलता का अनुभव होता है। वैसा प्रकाश चन्द्र—ग्रह—नक्षत्र तथा ताराओं के विमान में उत्पन्न पृथ्वीकाय के एकेन्द्रिय पार्थिव जीवों का है जो किरणों के माध्यम से सर्वत्र प्रसारित होता है। ये स्फटिकमय है। अतः चन्द्र का कोई इन्द्र देवादि ऐसा प्रकाश फैलाता है इत्यादि बातें निरर्थक हैं। ज्योतिषी विमान स्फटिकमय होते हैं।

ये ज्योतिषी देवता ज्यादा से ज्यादा ७ हाथ की शरीर की ऊंचाईवाले होते हैं और जब उत्तर वैक्रिय शरीर बनाते हैं तब तो १ लाख योजन ऊँचा लम्बा शरीर भी निर्माण कर सकते हैं। और संकुचित करके अंगुल के असंख्यातवें भाग के जितना छोटा भी बना सकते हैं। वैसे ही अन्य जाती के देवताओं के लिए भी यह नियम लागू होता है। उत्पात विरह काल अर्थात् एक देवता के जन्म के बाद दूसरे देवता के जन्म के बीच का अन्तर काल ज्यादा से ज्यादा २४ मुहूर्त का बताया गया है। (१ दिन + रात ३० मूहूर्त प्रमाण होता है) अर्थात् इतने २४ मुहूर्त के अन्तर काल में कोई न कोई जीव मनुष्य या तिर्यंच

गति में से आकर जन्म लेते ही हैं। इसी तरह एक साथ अनेकों संख्यात असंख्यात देवताओं का जन्म भी हो सकता है। और च्यवन अर्थात् मरण भी हो सकता है। मृत्यु के बाद ये देवता मनुष्य और तिर्यंच नामक इन दो गतियों में जाते हैं। तिर्यंच गति के पशु—पक्षी के जीव ८ वें सहस्रार देवलोक तक जाकर जन्म ले सकते हैं। इनमें भी असंख्य वर्ण के आयुष्यवाले युगलिक मनुष्य तथा पशु—पक्षी तिर्यचादि तो अवश्य ही देवलोक में जाकर जन्म ग्रहण करते हैं। कई तापस आदि भी भवनपति व्यंतर और ज्योतिष निकाय में जाकर जन्म ग्रहण करते हैं। कई मनुष्य, विषभक्षण—जहर खाकर, आत्महत्या द्वारा मरकर, पर्वत पर से गिरकर, भूख—प्यासादि से मरकर, अग्नि में जलकर, पानी में डूबकर, रस्सी से फाँसी लगाकर... इत्यादि अनेक तरीकों से मरने वाले जीव भी यदि रौद्रपरिणाम रहित मरते हो तो व्यन्तर की भूतपिशाच राक्षसादि की जाति में आकर उत्पन्न होते हैं। यद्यपि ऐसे कृत्यों के कारण नरक गति की ही प्राधान्यता जादा बड़ी है। फिर भी आयुष्य के बन्ध के पहले यदि शुभ भावनादि द्वारा तथा रौद्रपरिणाम रहित हो तो नरक में जाने से बचकर व्यन्तर निकाय में भी जाते हैं।

साधुवेषधारी हो और मिथ्यात्व युक्त हो तो वह... उत्कृष्ट से नौं ग्रैवेयक तक भी जा सकता है। उत्कृष्ट चारित्रधारी ज्ञान—ध्यानवंत साधु महात्मा उत्कृष्ट से सर्वार्थसिद्ध विमान में जाकर उत्पन्न होते हैं। श्रावक की व्रतधारी कक्षा में आकर गृहस्थ भी सौधर्म नामक प्रथम देवलोक तक जाता है।

## वैमानिक देवलोक—

देवगति की ४ जातियों में वैमानिक की जाति ही सर्वश्रेष्ठ जाति है। यही सबसे ऊंची है। इसमें दो विभाग हैं— **वैमानिकाः ॥ ४–१७ ॥ कल्पोपपन्नाः कल्पातीताश्च ॥ ४–१८ ॥ उपर्युपरि ॥ ४–१९ ॥** तत्त्वार्थकार इन सूत्रों से कहते हैं कि— वैमानिक देवता कल्पोपपन्न और कल्पातीत दो प्रकार के होते हैं। ये विमान में रहनेवाले होने के कारण वैमानिक कहे जाते हैं। विमाने भवाः वैमानिकाः, विशिष्टपुण्यैर्जन्तुभिर्मान्यन्ते उपयुज्यन्त इति विमानानि। अर्थात् विशिष्ट पुण्यशाली जीवों द्वारा जो भोगने योग्य स्थान है उसे विमान कहा है। ऐसी पृथ्वियाँ और उनमें उत्पन्न देवताओं को वैमानिक देव कहते हैं। इनके विमान— "उपर्युपरि" अर्थात् ऊपर—ऊपर होते हैं। वज्रमय बनी हुई पृथ्वी विशिष्ट जो विमान है वे ऊपर के ७ राजलोक में स्थित है। ऐसे एक एक देवलोक में संख्या में अनेक विमान दर्शाए गए हैं। वे इस प्रकार हैं—

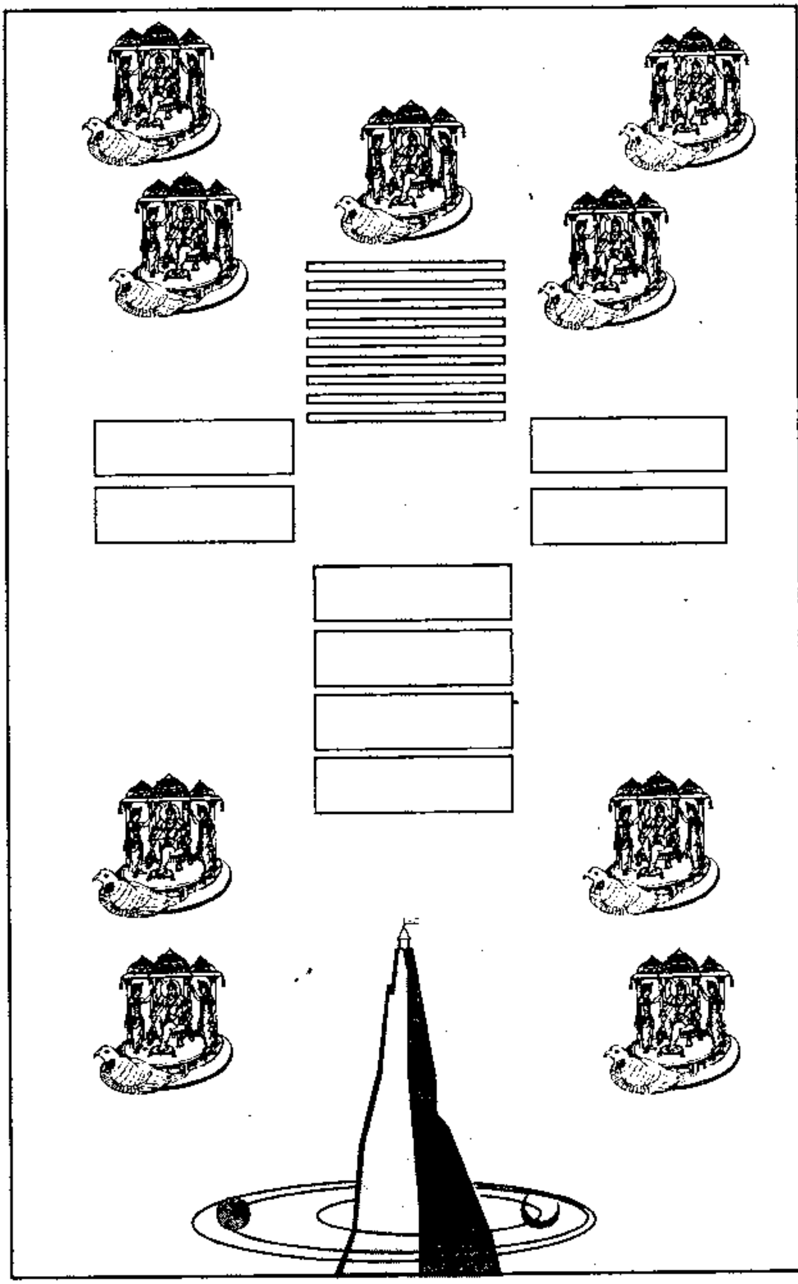

| | | |
|---|---|---|
| १) | प्रथम सौधर्म देवलोक में विमान संख्या — | ३२ लाख |
| २) | दूसरे—ईशान देवलोक में विमान संख्या — | २८ लाख |
| ३) | तीसरे—सनत् कुमार में विमान संख्या — | १२ लाख |
| ४) | चौथे—माहेन्द्र में विमान संख्या — | ८ लाख |
| ५) | पाँचवे—ब्रह्मदेवलोक में विमान संख्या — | ४ लाख |
| ६) | लांतक देवलोक में विमान संख्या — | ५० हजार |
| ७) | शुक्र में विमान संख्या — | ४० हजार |
| ८) | सहस्रारमें विमान संख्या — | ६ हजार |
| ९) | आनत में विमान संख्या — | ४०० |
| १०) | प्राणतमें विमान संख्या — | ४०० |
| ११) | आरणमें विमान संख्या — | ३०० |
| १२) | अच्चुत में विमान संख्या — | ३०० |
| १) | प्रथम—सुदर्शन ग्रैवेयक में विमान संख्या — | १११ |
| २) | द्वितीय—सुप्तभद्र में विमान संख्या — | १११ |
| ३) | तीसरे—मनोरम में विमान संख्या — | १११ |
| ४) | चौथे—सर्वभद्र में विमान संख्या — | १०७ |
| ५) | पाँचवे—सुविशाल में विमान संख्या — | १०७ |
| ६) | छट्ठे—सुमनस में विमान संख्या — | १०७ |
| ७) | सातवें—सौमनस में विमान संख्या — | १०० |
| ८) | आठवें—प्रियंकर में विमान संख्या — | १०० |
| ९) | नौवे—आदित्य में विमान संख्या — | १०० |
| | पाँचो अनुत्तर देवलोक में विमान संख्या — | ५ |

१२ + ९ + ५ = इन २६ देवलोकों के विमानों की कुल संख्या ८४,९७,०२३ है। इतने विमानों में भी ६२ इन्द्रक विमान हैं। इन कल्पगत विमानों के ऊपर उन उन निकाय के अन्दर का वहाँ आधिपत्य होता है। पुष्पावकीर्ण और आवलिकागत श्रेणी संख्या में ऊपर—ऊपर प्रतरों पर विमान है। इन विमानों के भी भिन्न भिन्न आकार विशेष होते हैं। इन्द्रों के विमान गोलाकार होते हैं। इनके चारों तरफ चारों दिशा में— चार पंक्तियों में प्रथम त्रिकोणाकार विमान होते हैं फिर चौकोन आकार के होते हैं। इस तरह ऊपर—ऊपर पंक्तिबद्ध विमानों की स्थिति है। पुष्पावकीर्ण विमानों में तो स्वस्तिक, नन्दावर्त, श्रीवत्स,

चक्र, खड्गादि विचित्र प्रकार के विमान भी होते हैं । आवलिकागत विमानों का परस्पर अन्तर असंख्यात योजन का होता है । जबकि पुष्पावकीर्ण विमानों का अन्तर सिर्फ संख्यात योजन का होता है । तथा असंख्यात योजन का भी होता है ।

दक्षिण दिशा में रहे हुए आवलिकागत विमान दक्षिणेन्द्रों के होते हैं, उसी तरह उत्तरदिशा में आवलिकागत विमान उत्तरेन्द्रों के होते हैं । पूर्वपश्चिम की पंक्तियाँ सामान्यतः जानी जाती है । बीच–बीच में जो वृत्त (गोल) विमान आते हैं वे दक्षिणेन्द्रों के जाने जाते हैं । अत्यन्त सुरभि = सुगंधवाले, सुखकारी स्पर्श वाले, रमणीय, जगत्स्वभावानुसारी स्वयंप्रभा तेज करनेवाले, निरंतर प्रकाश फैलाने वाले ये विमान होते हैं । आवलिका प्रविष्ट विमानों के चारों तरफ किल्लों की तरह गढ होता है । और चतुष्कोण विमानों के चारों तरफ वेदिका होती है । ये विमान पृथ्वियाँ स्फटिकमय देदीप्यमान हैं । इनके आधार के रूप में घनोदधि, घनवात तथा आकाशादि के आधार पर स्थित है । पहले दो स्वर्ग सौधर्म तथा ईशान देवलोक के विमान घनोदधि के आधार पर रहे हुए हैं । ऊपर के ३, ४, ५ अर्थात् सनत्कुमार, माहेन्द्र और ब्रह्मलोक नामक स्वर्ग के विमान. . . घनवात तनवात के आधार पर हैं । तथा आगे के ६, ७, और ८ वाँ स्वर्ग = अर्थात् लांतक शुक्र तथा सहस्रार इन तीनों स्वर्ग के विमान प्रथम घनोदधि और फिर ऊपर घनवात इन दोनों के आधार पर आधारित है । और आगे के आनत–प्राणतादि के सभी स्वर्ग के देवलोक के विमान . . . आकाशाधारित हैं ।

## स्वर्गीय विमानों के माप प्रमाण–

इन देवलोक के विमानों के माप–प्रमाण आदि के विषय में कहते हैं कि एक एक द्वीप से भी काफी ज्यादा बडे विशाल होते हैं । पहले २ देवलोक के विमानों की पृथ्वियों का पिण्ड प्रमाण अर्थात् जमीन की मोटाई २७०० योजन प्रमाण है । तथा ऊँचाई ५०० योजन प्रमाण है ।

३ तथा ४ थे स्वर्ग के विमान की पृथ्वी की मोटाई —
२६०० यो. तथा ऊँचाई ६०० यो.

५ तथा ६ ठे स्वर्ग के विमान की पृथ्वी की मोटाई —
२५०० यो. तथा ऊँचाई ७०० यो.

७ तथा ८ वें स्वर्ग के विमान की पृथ्वी की मोटाई —
२४०० यो. तथा ऊँचाई ८०० यो.

९ तथा १० वें स्वर्ग के विमान की पृथ्वी की मोटाई —

२३०० यो. तथा ऊँचाई ९०० यो.

११ तथा १२ वे स्वर्ग के विमान की पृथ्वी की मोटाई —

२३०० यो. तथा ऊँचाई ९०० यो.

९ ग्रैवेयक के विमानों की पृथ्वी की मोटाई —

२२०० यो. तथा ऊँचाई १००० यो.

५ अनुत्तर विमानों की पृथ्वी की मोटाई —

२१०० यो. तथा ऊँचाई ११०० यो.

## स्वर्गीय विमानों के रंग—

भुवनपति देवताओं के भवन, व्यन्तरों के नगर, और ज्योतिषी के विमान विविध वर्णवाले... भिन्न भिन्न रंग वाले रंगीन होते हैं। आगे ऊपर वैमानिक देवलोक के विमानों के वर्णादि (रंगादि) इस प्रकार बताए हैं। १ ले २ रे स्वर्ग का विमान श्यामवर्णी — काला, नीला, लाल, पीला और सफेद इन पाँचों रंगवाले होते हैं। २ रे तथा ३ रे स्वर्ग विमान इनमें से ४ रंगवाले, ५ वे तथा ६ ठे स्वर्ग के विमान लाल पीले तथा सफेद इन ३ रंग वाले होते हैं। और ७ वें तथा ८ वें स्वर्ग के विमान पीले—श्वेत २ रंग वाले होते हैं। और ९ वें स्वर्ग के बाद आगे के सभी देवलोकों के विमान सिर्फ श्वेत सफेद रंग के ही होते हैं। इस तरह इन विमान पृथ्वियों के रंग कहे। इससे ये भिन्न—भिन्न रंग वाली अलग—अलग प्रकार की पृथ्वियाँ कही गई हैं।

## समान मापवाली पृथ्वियाँ—

१४ राजलोक के इस विशाल ब्रह्माण्ड में प्रथम नरक के प्रथम प्रतर में आया हुआ सीमंत नामक इन्द्रक नरकावास, और समस्त मनुष्य क्षेत्र उडु नामक विमान पृथ्वी, तथा सिद्धों के निवासवाली सिद्धशिला पृथ्वी ये चार पृथ्वियाँ ४५००००० (४५ लाख) योजन के माप—विस्तारवाली है। साँतवी नरकभूमि के अंतिम प्रतर के बीच के अप्रतिष्ठित नरकावास, पाँच अनुत्तर कल्प में रहे हुए सर्वार्थसिद्ध विमान और हम मनुष्यादि जो रह रहे हैं वह जंबूद्वीप की पृथ्वी ये तीनों वृत्त—गोलाकार आकृति के रूप में तथा १ लाख योजन के विस्तारवाली है। इस तरह समान माप—प्रमाणवाली पृथ्वियाँ श्री बृहत् संग्रहणी ग्रन्थ में दर्शायी गई हैं।

## देवलोक में शाश्वत जैन मंदिर तथा मूर्तियाँ—

देवगति की चारों निकायों—जातियों में जितने भी भवन, आवास तथा विमानादि हैं उन सब में शाश्वत जिन चैत्य अर्थात् जैन मंदिर हैं। कई ऊँची कक्षा के श्रद्धावंत—सम्यक् दृष्टि देवता जैन मंदिरों में जिनेश्वर भगवंतों की मूर्तियों—प्रतिमाओं की पूजा—भक्ति—दर्शनादि नित्य करते हैं। हम प्रतिदिन जो.राई प्रतिक्रमण करते हैं उसमें "सकलतीर्थवंदना" का जो सूत्र पाठ बोलते हैं उसमें मंदिर और मूर्तियों की संख्या बोलते हुए वंदन करते हैं। वह निम्न प्रकार है—

| क्रम | देवलोक का नाम | मंदिर संख्या | मूर्ति संख्या |
|---|---|---|---|
| १. | पहले स्वर्ग—सौधर्म देवलोक में | ३२ लाख | ५७,६०,००,००० |
| २. | दूसरे स्वर्ग—ईशान " " | २८ लाख | ५०,४०,००,००० |
| ३. | तीसरे स्वर्ग—सनतकुमार " " | १२ लाख | २१,६०,००,००० |
| ४. | चौथे स्वर्ग—माहेन्द्र " " | ६० लाख | १४,४०,००,००० |
| ५. | पाँचवे स्वर्ग—ब्रह्मलोक " " | ४ लाख | ७,२०,००,००० |
| ६. | छट्ठे स्वर्ग—लांतक " " | ५० हजार | ९०,००,००० |
| ७. | सातवें स्वर्ग—महाशुक्र " " | ४० हजार | ७२,००,००० |
| ८. | आठवें स्वर्ग—सहस्रार " " | ६ हजार | १०,८०,००० |
| ९. | नौंवे स्वर्ग—आनत " " | ४०० | ७२,००० |
| १०. | दसवें स्वर्ग—प्राणत " " | ४०० | ७२,००० |
| ११. | ग्यारहवें स्वर्ग—आरण " " | ३०० | ५४,००० |
| १२. | बारहवें स्वर्ग—अच्युत " " | ३०० | ५४,००० |
| * | नौ ग्रैवेयक देवलोक " " | ३१८ | ३८,१६० |
| | पाँच अनुत्तर विमान के पाँचों देवलोक में | ५ | ६०० |

इन १२ देवलोक + ९ ग्रैवेयक + तथा ५ अनुत्तर ऐसे कुल १६ देवलोक के विमानों में कुल मिलाकर ८४९७०२३ (चौराशी लाख सत्याणवे हजार और तेईस इतने जिन भवन = जैन मंदिर हैं। इन जिनेश्वर भगवंतों के जैन मंदिरों का माप—प्रमाण भी आगम शास्त्रों में बताते हुए कहा है कि... ये मंदिर... १०० योजन लम्बे, ५० योजन ऊँचे और ७२ योजन चौडे विस्तारवाले विशाल हैं, और मात्र मंदिर ही नहीं यहाँ पर मूर्तियों की संख्या भी गिनाई है। इन चैत्यों (मंदिरों) में सभा सहित १८० जिन बिम्ब अर्थात् प्रतिमाएं—मूर्तियाँ हैं। उपरोक्त १२ देवलोक + ९ ग्रैवेयक तथा ५ अनुत्तर इन सब

देवलोक में प्रत्येक में १८० प्रतिमाएँ . . . हैं। इस तरह कुल मिलाकर— १५२,९४,४४,७६० (एक सौ बावन करोड, चौराण्वे लाख, चौआलीस हजार सात सौ साठ) इतनी शाश्वत मूर्तियाँ प्रतिमाएँ हैं। ये सभी मंदिर और मूर्तियाँ शाश्वत—नित्य *(Permanent)* हैं।

यह बात तो हुई ऊपर के वैमानिक देवलोक की। इसी तरह भवनपति की देव जाती के जो आवास और भवन हैं उनमें भी कई जिन मंदिर हैं। उनकी संख्या शास्त्रों में ७,७२,००,००० (सात करोड और बहत्तर लाख) बताई है। उन प्रत्येक जिन मंदिरों में १८० जिन मूर्तियाँ हैं। इस तरह प्रत्येक मंदिर में १८० के हिसाब से कुल मिलाकर १३८९६०००००० तेरह सौ नव्यासी करोड और साठ लाख इतनी कुल जिनेश्वर भगवंतों की मूर्तियाँ हैं। इसी तरह व्यन्तर निकाय और ज्योतिषी देवों के विमानों में भी अनेक जिनमंदिर तथा मूर्तियाँ है। लेकिन इस सकल तीर्थवंदना के सूत्र पाठ में वह संख्या गिनाई नहीं है। लेकिन चोमासी देववंदन में शाश्वता—अशाश्वता चैत्यवंदन में पद्मविजयजी महाराज कह रहे हैं कि—

**असंख्यात व्यंतर तणा नगर नामे। नमो. ॥ २ ॥**
**असंख्यात तिहाँ चैत्य तेम ज्योतिषीए।**
**बिंब एकशत एंशी भाख्या ऋषिए॥**

व्यंतर जाति के निवासों का जो वर्णन पहले कर आए हैं उसमें असंख्य नगरादि हैं उनमें असंख्य जिन चैत्य हैं। इसी तरह ज्योतिष्क मण्डल के देव विमानों में भी असंख्य जिन चैत्यादि हैं। वहाँ भी शाश्वत प्रतिमाएँ १८० के हिसाब से गिनी जाती हैं। शाश्वत जिन नामों में १) ऋषभ, २) चन्द्रानन, ३) वारिषेण, तथा ४) वर्धमान ये चार नाम शाश्वत हैं। इन चारों प्रकार के नाम सदाकाल होते हैं। अतः ये चारों नाम शाश्वत हैं।

इसी तरह तिर्च्छा लोक में भी . . . जंबुद्वीप, धातकी खंड और पुष्करार्ध द्वीप . . . आदि ढाई द्वीपों में भी अनेक पर्वतों तथा क्षेत्रों में अनेक जिन मंदिर हैं। तथा अनेक प्रतिमाजी भी हैं। वर्तमान में हमारे भारत देश में जो अनेक प्राचीन ऐसिहासिक तीर्थ आदि हैं, उनकी संख्या भी काफी विशाल है। और उन सभी तीर्थों में रही हुई मूर्तियों की संख्या भी काफी विस्तृत है। इनमें शाश्वत तथा अशाश्वत सब प्रकार की प्रतिमाजी गिनी गई है। उदाहरणार्थ . . . . श्री शत्रुंजय (पालीताणा) सम्मेत शिखरजी आदि अनेक तीर्थ हैं . . . और ऐसे अनेक तीर्थों में अनेक जिन प्रतिमाएँ हैं।

अब समस्त शाश्वत जिन मंदिरों तथा मूर्तियों की कुल संख्या कहते हैं—

**ऊर्ध्व–अधो–तिर्छा लोके थइ, कोडि पन्नरसे जाणोजी।**
**ऊपर कोडि बैतालिस प्रणमो, अडवन्न लख मन आणोजी।**
**छत्तीस सहस अस्सी ते ऊपरे, बिंब तणो परिमाणोजी।**
**असंख्यात व्यंतर ज्योतिषीमां प्रणमुं ते सुविहाणोजी॥**

ऊर्ध्व अधो और तिर्छा लोक इन तीनों लोकों में कुल मिलाकर १५४२५८३६०८० इतनी शाश्वत प्रतिमाएं मूर्तियाँ हैं। व्यन्तर और ज्योतिष देवलोक में तो असंख्य है। अतः उनकी गिनती इसमें नहीं है। तथा हमारे यहाँ जो अशाश्वत जिनालय तथा प्रतिमाएँ हैं, उनकी गिनती भी इसमें नहीं है। तथा ढाई द्वीप के बाहर नौंवा जो नंदीश्वर द्वीप है वहाँ जिन मंदिर–मूर्तियाँ हैं। देवता वहाँ जाते हैं और अष्टान्हिका महोत्सव आदि पूर्वक प्रभु भक्ति पूजा–पाठ आदि सब करते हैं।

देवलोक की चारों निकाय में दोनों प्रकार के देवता हैं। मिथ्यात्वी अधर्मी और सम्यग् दृष्टि–धर्मी। सम्यक्दृष्टि धर्मिष्ठ प्रकार के देवी–देवता जिस प्रकार की धर्माराधना करते हैं उसमें मुख्य है— जिनदर्शन, पूजा–पाठ, भक्ती, महोत्सवादि। क्योंकि स्वर्ग पाताल में न तो देवाधिदेव तीर्थंकर भगवान हैं, न हुए हैं, और न ही होते हैं। तथा कभी होंगे भी नहीं। वहाँ संदेह से कोई भी तीर्थंकर नहीं हुए हैं। और न ही कोई साधुसंत मुनि हुए हैं। भगवान और गुरु तो यहाँ हमारी पृथ्वी पर होते हैं। मनुष्यलोक में होते हैं। इसलिए भगवान और गुरु के अभाव में धर्म का उपदेश भी वहाँ नहीं है। अतः वहाँ धर्म भी क्या होगा? और कैसा होगा? व्रत–विरति और पच्चक्खाण का धर्म तो वहाँ संभव ही नहीं है। आयंबिल–उपवास तथा सामायिक–प्रतिक्रमण–पौषधादि तो वहाँ संभव ही नहीं हैं, क्योंकि देवता अविरति के उदयवाले होते हैं। अतः बचा एक मात्र श्रद्धा भक्ती का धर्म। उसमें देवता–दर्शन–पूजा–भक्ती करते हैं। तथा प्रभु के समवसरण में आते हैं, देशना श्रवण करते हैं। नंदीश्वर द्वीप जाते हैं। वहाँ अष्टान्हिका भक्ती महोत्सव करते हैं। तथा मेरु पर्वत पर परमात्मा के जन्माभिषेक का महोत्सव मनाते हैं। पाँचों कल्याणक मनाते हैं। तथा कल्याणक तीर्थों की यात्रा आदि करके लम्बे आयुष्य का काल निर्गमन करते हैं।

## वैमानिक देवताओं के अन्य प्रकार—

कल्पोपन्न देवलोक

१२ देवलोक ९ लोकान्तिक ३ किल्बीषिक

कल्पातीत देवलोक

९ ग्रैवेयक ५ अनुत्तर

२४ + १४ = ३८

इन ३८ प्रकार के वैमानिक देवताओं में— १२ देवलोक हैं। जो कल्पवासी देवता हैं। उनके नाम तत्त्वार्थकार इस प्रकार बताते हैं—

**सौधर्मेशान–सनत्कुमार–माहेन्द्र–ब्रह्मलोक–लान्तक–महाशुक्र–सहस्त्रारेष्वानत–प्राणतयोरारणा ऽच्युतयोर्नवसु ग्रैवेयकेषु विजय–वैजयन्त–जयन्ताऽपराजितेषु सर्वार्थसिद्धे च ॥ ४–२० ॥**

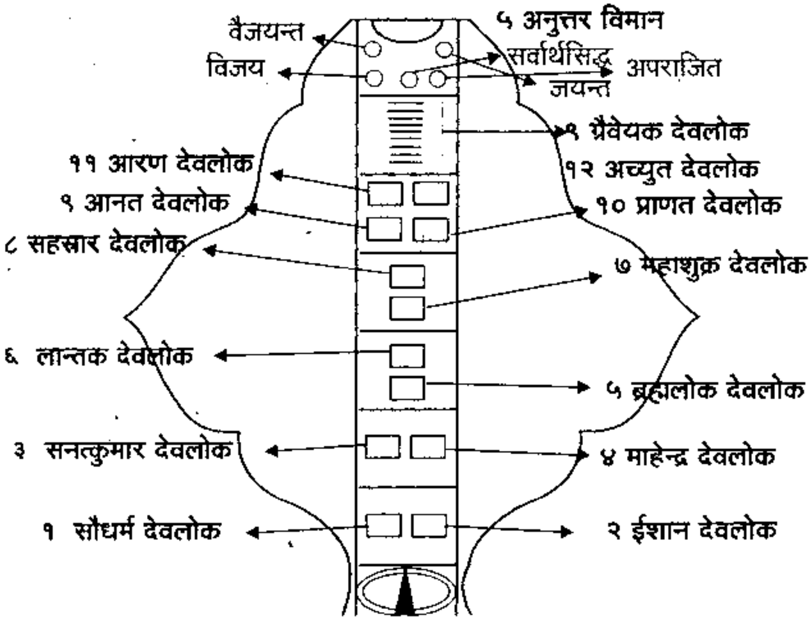

इस तरह १२ देवलोक ९ ग्रैवेयक + और ५ अनुत्तरवासी इन २६ देवताओं के नाम इस सूत्र में दर्शाए गए हैं। देवों की भी अजीबसी दुनिया है। आखिर देवता कितने भी ऊँचे, कितने भी सुखी.... सम्पन्न हो, शक्ती—लब्धिधारी हो लेकिन वे भी है तो इसी संसार में। चार गति के संसार चक्र में उनका भी परिभ्रमण है। वे भी जन्म—मरण धारण करतें हैं। वे भी पापादि की प्रवृत्ति में आसक्त रहते हैं। और किये हुए कर्मों का फल उनको भी भुगतना ही पडता है। वे देवता भी मरकर वापिस तिर्यंच एवं मनुष्यगति में जाते ही हैं। अतः ये भी इसी संसारचक्र में परिभ्रमण करनेवाले चार गति के चक्र में घूमनेवाले एक प्रकार के संसारी जीव हैं। हाँ... एक बात जरूर है कि... वैमानिक देवों में सुख—संपत्ति शक्ती—लब्धि काफी ज्यादा है। ऐश—आराम—भोग—विलास की प्रचुरता वहाँ काफी ज्यादा है। लेकिन सभी के लिए नहीं। देवताओं में भी हल्की कक्षा के देव भी होते ही हैं। भूत—प्रेत राक्षसादि के कई प्रकार के देवता इसी कक्षा में गिने जाते हैं। उनको भी कई प्रकार के दुःख वेदना भुगतनी पडती है। अतः वे तो बिचारे कई दुःखी भी हैं।

भवनपति की निकाय के देवताओं की अपेक्षा व्यंतर जाती के देवता ज्यादा सुखी हैं। ज्यादा ऊँची कक्षा के हैं। और व्यन्तरों से भी ज्योतिषी देवता ज्यादा ऊँची कक्षा के हैं। और ज्यादा सुखी हैं। इनकी ऋद्धी—सिद्धि—संपत्ति आदि ज्यादा है। ज्योतिषी देवों से भी ज्यादा .. वैमानिक देवता काफी सुखी संपन्न हैं। ऋद्धिवंत हैं। लब्धिवंत—शक्तीसम्पन्न हैं। और वैमानिकों में भी और ऊपर—ऊपर के देवता ... और ज्यादा ऋद्धि—सिद्धि—लब्धि—शक्ति संपन्न हैं। सुख की मात्रा और बढती ही जाती है तथा दुःख की मात्रा घटती ही जाती है। तत्त्वार्थकार कहते हैं कि—

**स्थिति-प्रभाव-सुख-द्युति-लेश्या-विशुद्धीन्द्रियाऽवधिविषयतोऽधिकाः ॥ ४-२१ ॥**

स्थिति—प्रभाव—सुख—प्रकाश = अर्थात् तेज, लेश्या = विचारों में शुभाशुभ तरतमता, इन्द्रियों के विषय, और अवधिज्ञान के विषय ऊपर—ऊपर के देवताओं को और अधिक—अधिक होते हैं।

## देवताओं की आयुष्य स्थिति—

**"स्थितिः"** ॥ ४-२९ ॥ इस सूत्र में वाचकमुख्यजी ने देवताओं की आयुष्य स्थिति का वर्णन किया है। आयुष्य की स्थिति कम और ज्यादा दोनों प्रकार की होती है। कम से कम स्थिति के लिए शास्त्रों का पारिभाषिक शब्द है 'जघन्य' और ज्यादा से ज्यादा

स्थिति के लिए 'उत्कृष्ट' शब्द है । एक बार कोई भी देवगति में चला जाता है तो वहाँ कम से कम (जघन्य) आयु १०,००० वर्ष की होती है । इससे कम नहीं होती है । जैसे हमारे मनुष्य जन्म में जीव माँ के गर्भ में आए और २ घडी के अंतर्मुहूर्त में ४८ मिनिट में मृत्यु पाकर चला जाय ठीक उसी तरह देवगति में देवता के जीव का कम से कम १०००० वर्ष का आयुष्य रहता ही है । इसके बाद अधिक की बात करते हुए आयुष्य इस प्रकार बताए हैं—

भवनपति निकाय के देवताओं की उत्कृष्ट आयुस्थिति — १ पल्योपम
असुरकुमार के उत्तरार्धपति देवताओं की उत्कृष्ट आयुस्थिति — १ सागरोपम
व्यंतर निकाय के देवताओं की उत्कृष्ट आयुस्थिति— १ पल्योपम
ज्योतिष्क में सूर्य—चन्द्र देवों की उत्कृष्ट आयुस्थिति— १ पल्योपम कुछ अधिक
ज्योतिष्क में ग्रहों की उत्कृष्ट आयुस्थिति— १ पल्योपम कुछ अधिक
ज्योतिष्क में नक्षत्रों की उत्कृष्ट आयुस्थिति— १/२ पल्योपम कुछ अधिक
ज्योतिष्क मे ताराओं की उत्कृष्ट आयुस्थिति— १/४ पल्योपम कुछ अधिक

वैमानिक में १ ले देवलोक में — उत्कृष्ट २ सागरोपम और जघन्य १ पल्योपम
वैमानिक में २ रे देवलोक में — उत्कृष्ट ३ सागरोपम और जघन्य १ पल्योपम साधिक
वैमानिक में ३ + ४ थे देवलोक में — उत्कृष्ट ७ सागरोपम और जघन्य २ सागरोपम
वैमानिक में ५ वे देवलोक में — उत्कृष्ट १० सागरोपम और जघन्य ७ सागरोपम
वैमानिक में ६ ठे देवलोक में — उत्कृष्ट १४ सागरोपम और जघन्य १० सागरोपम
वैमानिक में ७ वें देवलोक में — उत्कृष्ट १७ सागरोपम और जघन्य १४ सागरोपम
वैमानिक में ८ वें देवलोक में — उत्कृष्ट १८ सागरोपम और जघन्य १७ सागरोपम
वैमानिक में ९वें + १० वे देवलोक में —
उत्कृष्ट २० सागरोपम और जघन्य १८ सागरोपम
वैमानिक में ११ वे + १२ वें देवलोक में —
उत्कृष्ट २२ सागरोपम और जघन्य २० सागरोपम
वैमानिक में १ ले ग्रैवेयक देवलोक में —
उत्कृष्ट २३ सागरोपम और जघन्य २२ सागरोपम
वैमानिक में २ रे ग्रैवेयक देवलोक में —
उत्कृष्ट २४ सागरोपम और जघन्य २३ सागरोपम
वैमानिक में ३ रे ग्रैवेयक देवलोक में —
उत्कृष्ट २५ सागरोपम और जघन्य २४ सागरोपम

वैमानिक में ४ थे ग्रैवेयक देवलोक में —

उत्कृष्ट २६ सागरोपम और जघन्य २५ सागरोपम

वैमानिक में ५ वे ग्रैवेयक देवलोक में —

उत्कृष्ट २७ सागरोपम और जघन्य २६ सागरोपम

वैमानिक में ६ ठे ग्रैवेयक देवलोक में —

उत्कृष्ट २८ सागरोपम और जघन्य २७ सागरोपम

वैमानिक में ७ वे ग्रैवेयक देवलोक में —

उत्कृष्ट २९ सागरोपम और जघन्य २८ सागरोपम

वैमानिक में ८ वे ग्रैवेयक देवलोक में —

उत्कृष्ट ३० सागरोपम और जघन्य २९ सागरोपम

वैमानिक में ९ वे ग्रैवेयक देवलोक में —

उत्कृष्ट ३१ सागरोपम और जघन्य ३० सागरोपम

अनुत्तर के विजयादि ४ देवलोक में —

उत्कृष्ट ३२ सागरोपम और जघन्य ३१ सागरोपम

सर्वार्थसिद्धदेवलोक में —

उत्कृष्ट ३३ सागरोपम और जघन्य नहीं।

इस तरह देवताओं की भिन्न–भिन्न आयुष्य की काल स्थिति शास्त्रों में बताई गई हैं। यह शाश्वत स्थिति है। उन उन देवलोक में आनेवाले देवताओं की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति उतनी ही होती है। देवों की दुनिया की यह आयु मर्यादा भिन्न भिन्न प्रकार की होती है।

**प्रभाव—** देवताओं में शिक्षा करने की शक्ती, किसी पर अनुग्रह अनुकंपा करने की शक्ती, वैक्रिय शरीर की रचना करने की शक्ती, एक दूसरे पर युद्ध करने की शक्ती आदि अनेक प्रकार की शक्ती के प्रभाव के विषय में देवताओं की जातियो में जैसे जैसे नीचे से ऊपर जाय वैसे वैसे प्रभाव—शक्ती क्रमशः बढती ही जाती है। अनेक गुना प्रभाव बढता है। इसलिए ऊपर—ऊपर के देवता ज्यादा शक्तीशाली महाबलशाली—महान प्रभाववाले होते हैं। ठीक इससे विपरीत नीचे के देवता कम—कम प्रभाव शक्ती वाले होते हैं। जैसे जैसे ऊपर—ऊपर के देवताओं के जीवन के बारे में देखें, सोचें, तो शास्त्रकार महापुरुष कहते हैं कि... ऊपर—ऊपर के देवलोक के देवताओं का मान—अभिमान काफी कम होता है, मन की क्लिष्ट भावनाएँ काफी कम—कम होती जाती हैं, अतः ऊपर—ऊपर वाले देवता बहुत ज्यादा प्रवृत्ति भी नहीं करते हैं।

**सुख और प्रकाश में अधिकता—** ऊपर—ऊपर के देवलोकवासी देवताओं के क्षेत्र के प्रभाव से और पुद्गलों के शुभ परिणाम के कारण ऊपर—ऊपर के देवलोक के देवताओं को सुख और प्रकाश भी अनन्तगुना ज्यादा से ज्यादा होता है । सुख की मात्रा बढती हुई ही दिखाई देती है ।

**इन्द्रियों के विषयों में अधिकता—** दूर से ही इन्द्रियों के विषय जान लेने की शक्ती जो प्रथम कल्पवासी इन्द्रों की होती है उससे ऊपर—ऊपर के देवताओं की अधिक—अधिक ही होती है ।

**लेश्या विशुद्धि की अधिकता—** विचारों—परिणामों की तरतमता को लेश्या कहा गया है । इनमें शुभ और अशुभ दोनों प्रकारों की लेश्याएँ हैं । ३ शुभ और ३ अशुभ मिलाकर ६ लेश्याएँ प्रसिद्ध हैं । १ कृष्ण, २ नील, ३ कापोत, ४ पीत, ५ पद्म और छट्ठी शुक्ल लेश्या । इन ६ लेश्याओं में से देवताओं में जो लेश्याएँ होती हैं उसके बारे में कहते हैं— **पीत–पद्म–शुक्ल लेश्या द्वि-त्रि-शेषेषु ॥ ४–२३ ॥** तत्त्वार्थकार कहते हैं कि— वैमानिक देवलोक के पहले तथा दूसरे सौधर्म—तथा ईशान देवलोक के देवता पीत लेश्या वाले होते हैं । सनत्कुमार, माहेन्द्र, तथा ब्रह्मलोक ३, ४, और ५ इन तीन देवलोक में पद्मलेश्या की प्राधान्यता रहती है । और ५ वें के ऊपर के अर्थात् ६ ट्ठे देवलोक से १२ वें तथा, ९ ग्रैवेयक और ५ अनुत्तरवासी सभी देवताओं में शुक्ल लेश्या होती है । लेकिन इस शुक्ल लेश्या की शुद्धि में उत्तरोत्तर ऊपर—ऊपर के देवताओं में विशुद्धि काफी ज्यादा होती है । लेकिन वैमानिक देवों से नीचे की निकाय के देवताओं की तो अशुभ लेश्याएँ भी होती हैं । उससे और नीचे—नीचे उतरते उतरते देवताओं की लेश्या का अशुद्ध का प्रमाण बढता ही जाता है । इसीलिए व्यंतर जाति के भूत—प्रेत—पिशाच—राक्षस आदि की अशुभ लेश्या की वृत्ति के कारण हिंसक प्रवृत्ति देखी जाती है । इससे भी नीचे भवनपति के असुर और उनसे भी नीचे परमाधामी जो भयंकर कृष्ण लेश्या में जीनेवाले हैं उनकी हिंसक वृत्ति आदि सबसे ज्यादा खतरनाक होती है ।

**गति–शरीर–परिग्रहाऽभिमानतो हीनाः ॥ ४–२२ ॥**

देवों की दुनिया भी हमारे जैसी ही है । काफी अंशों में विशेषता जरूर है लेकिन फिर भी चार गति के संसार चक्र में वे भी हैं । अतः अनेक जन्म—मरण—शरीरादि सब है । जहाँ जन्म—मरण—जीवनकर्म—सुख-दुःख—शरीरवेदना—राग-द्वेषादि हो वह संसार ही है । और ये सब देवताओं में भी है अतः वे भी संसारी ही कहलाते हैं । सिर्फ गति काफी

अच्छी सुख–पूर्ण देव की है। वैमानिकादि देवताओं के गमनागमन–गति के क्षेत्र की बात करते हुए तत्त्वार्थकार महर्षी इस श्लोक में कहते हैं कि... जैसे जैसे ऊपर–ऊपर के देवलोक के देवताओं के बारे में विचार करें तो वे गति, शरीर, परिग्रह और अभिमान आदि का प्रमाण कम–कम होता ही जाता है।

इन देवताओं की शक्ती अचिन्त्य है। ये देवता क्षणभर में अपनी वैक्रिय शक्ती से पलभर में कितने ही अरबों खरबों योजन अन्य क्षेत्र में लम्बे जा सकते हैं। २ सागरोपम से कम स्थितिवाले देव नीचे अधोलोक में सातवीं नरक पृथ्वी तक जा सकते हैं। २ सागरोपम से भी ज्यादा स्थितिवाले देवता तिर्यक् लोक में असंख्य कोडाकोडी योजनों तक भी गति कर सकते हैं। आगे की ज्यादा स्थितिवाले देवता १–१ नरक पृथ्वी कम–कम जाते हैं। कम से कम तीसरी नरक तक सभी देवता जा सकते हैं। क्वचित्–कदाचित् जानेवालों में सीतेन्द्र देव की बात शास्त्रों में आती है। सबसे ऊपर के ऊँची कक्षा के देवता जो महानुभाव के स्वभाव जैसे होते हैं अतः वे गति आदि करके जाने में उदासीन होते हैं। एक मात्र तीर्थंकर भगवंतों के पंचकल्याणक प्रसंगों पर धार्मिक श्रद्धा–भावना के कारण निकलते हैं। परन्तु कल्पातीत देवलोक के ग्रैवेयक एवं अनुत्तर विमानवासी देवता तो ऐसे प्रसंगों पर भी न जाते हुए अपने स्वाध्याय–ज्ञान–ध्यान में तल्लीन रहते हैं।

**शारीरिक ऊँचाई**– देवताओं का जो मूल शरीर है उसकी ऊँचाई सबकी भिन्न–भिन्न है।

| | |
|---|---|
| पहले–दूसरे सौधर्म तथा ईशान इन २ देवलोक के देवताओं के शरीर की ऊँचाई — | ७ हाथ प्रमाण है। |
| तीसरे + चौथे स्वर्ग के देवताओं के शरीर की ऊँचाई — | ६ हाथ प्रमाण |
| ५ + ६ ट्ठे स्वर्ग के देवताओं के शरीर की ऊँचाई — | ५ हाथ प्रमाण |
| ७ वे + ८ वे स्वर्ग के देवताओं के शरीर की ऊँचाई — | ४ हाथ प्रमाण |
| ९ + १० + ११ वे तथा १२ वें स्वर्ग के देवताओं के शरीर की ऊँचाई — | ३ हाथ प्रमाण |
| नौं ग्रैवेयकों के देवताओं के शरीर की ऊँचाई — | सिर्फ १ हाथ प्रमाण |

इस तरह शरीर की ऊँचाई–देहमान घटता–हुआ भिन्न–भिन्न प्रकार का है।

विमानों की संख्या के बारे में भी पहले विचार कर चुके हैं। उसमें पुनः देखने पर देवताओं के विमानों की संख्या जैसे जैसे ऊपर–ऊपर के देवताओं का विचार करें

वैसे—वैसे घटती—घटती कम होती जाती है । उदाहरणार्थ— पहले देवलोक सौधर्मकल्प की कुल संख्या ३२ लाख विमानों की है । दूसरे की २८ लाख की और अन्त में जाते जाते पाँच अनुत्तर विमानों के वैमानिक देवताओं के विमानों की संख्या सिर्फ ५ ही है ।

इस तरह विमानों की संख्या, स्थान, देव-देवी परिवार, शक्ती, इन्द्रिय विषय, अवधिज्ञान के विषय, संपत्ति, आयुष्य स्थिति आदि काफी ज्यादा होते हुए भी ऊपर—ऊपर के देवताओं को अभिमान, ममत्व, अहंकारादि घटते हुए कम से कम होते ही जाते हैं । अर्थात् नीचे नीचे के देवताओं में प्रमाण काफी ज्यादा रहता है । ऊपर के देवताओं में ये सब बहुत कम—अल्प प्रमाण में रहता है ।

## आहारादि का प्रमाण—

देवताओं की अजीब दुनिया अद्भुत अनोखी जिन्दगी के बारे में विचार करते हुए, ज्ञानी—महाज्ञानी भगवन्तों ने उनके जीवन की श्वासोच्छ्वास—आहार आदि कई विषयों पर काफी प्रकाश डाला है । जघन्य—कम स्थितिवाले देवता ७ लवकाल में १ बार ही श्वासोच्छ्वास लेते हैं । पल्योपम की स्थितिवाले देवता पूरे एक दिन में एक ही बार श्वास लेते हैं । जिनकी स्थिति जितने सागरोपमों की होती है उतने अर्धमास परिमित काल में वे श्वासोच्छ्वास लेते हैं । हमारे से भिन्न प्रक्रिया होती है ।

आहार के विषय में जैसा कि हम भोजनादि करते हैं वैसा तो उनको होता ही नहीं है । हमारा तो औदारिक पौद्गलिक देहपिण्ड है । अतः रोटी—चावल—दाल आदि का भोजन करते हैं । लेकिन देवताओं का तो वैक्रिय शरीर है अतः हमारे जैसा रोटी आदि का आहार संभव ही नहीं है ।

ओजाहार, लोमाहार और प्रक्षेपाहार आदि भेद से आहार तीन प्रकार का होता है । गर्भस्थान में या देहनिर्माण के समय जिन आहार के पुद्गल परमाणुओं को ग्रहण करके जीव शरीर रचना करता है । वह ओजाहार है । लोम अर्थात् रोम । पूरे शरीर पर लगी चमडी के लोमादि द्वारा ग्रहण किया जाता आहार वह लोमाहार कहलाता है । देवताओं तथा नारकी जीवों को प्रथम ओजाहार जन्म समय में होता है । बाद में सदाकाल आयुष्य पर्यन्त लोमाहार होता है । मुँह में आहार भोजन के केवल ग्रास डाले जाय वह प्रक्षेपाहार कहा जाता है । देवताओं का आहार अचित्त प्रकार का आहार होता है । वैक्रिय पुद्गल परमाणुओं को ग्रहण करके सुमनोज्ञ प्रिय आहार ग्रहण करके परम संतुष्टि का अनुभव करते हैं । जबकि नारकी जीवों को अशुभ कक्षा का अमनोज्ञ आहार रहता है । देवता

इच्छामात्र आहारी मनोभक्षी कहलाते हैं। देवता पुण्योदय से मन से कल्पित स्वशरीर पुष्टिजनक इष्ट मनोज्ञ आहार के शुभ पुद्गल समग्र स्पर्शेन्द्रिय द्वारा ग्रहण करते हैं। १—२ देवलोकवाले देवता २ हजार वर्ष में आहार ग्रहण करते हैं। ३—४ कल्पवासी ७ हजार वर्ष में, आगे के कल्पवासी देवता यथा क्रम से ५ वें — १०, ६ ट्ठे — १४, ७ वे — १७, ८ वे — १८, ९ वे — १९, १० वे — २०, ११ वें — २१, १२ वे — २३, नौं ग्रैवेयक के देवता — २३ से ३१ हजार वर्ष के अन्तराल में, तथा पाँच अनुत्तरवासी देवता — ३२ हजार वर्ष के अन्तराल में आहार ग्रहण करते हैं। इस देवताओं का भी आहार होता रहता है।

## वेदना—

वेदन—संवेदन! संवेदना सुखद और दुःखद दोनों ही प्रकार की होती है। सुखद हो या दुःखद आखिर तो दोनों संवेदना ही हैं। हाँ, स्वर्गस्थ देवता ज्यादा पुण्यशाली होते हैं अतः पुण्योदय से सुख की शाता वेदना ही ज्यादा भुगतते हैं। जबकि दुःख का प्रमाण बहुत ही अल्प होता है। यद्यपि दुःख का सर्वथा अभाव तो नहीं होता है, क्योंकि अशाता वेदनीय कर्म की सत्ता होती है। लेकिन दुःख बहुत ही अल्प होता है। ठीक इससे विपरीत नरक गति के नारकी जीवों को दुःख ही दुःख होता है। सुख की मात्रा नाम मात्र होती है। स्वर्गस्थ देवों में भी नीचे की निकाय से जैसे—जैसे ऊपर—ऊपर के देवताओं तक देखते जाएँ तो सुख की मात्रा बढती—बढती जाती है और दुःख की मात्रा घटती जाती है। हाँ, एक बात जरूर है कि... मृत्यु (च्यवन) के काल की छ महीने की वेदना बडी भारी भुगतनी पडती है।

## उपपात अर्थात् जन्म—

पहले विचार कर चुके हैं कि... देवताओं का जन्म हमारी तरह गर्भज जन्म नहीं होता है। फूलों की शय्या में उत्पन्न होते हैं। यही उपपात जन्म कहलाता है। और २ घडी के अंतर्मुहूर्त मात्र समय में तो १६ वर्ष के राजकुमार के जैसे स्वरूप में खडे हो जाते हैं। ११ वे १२ वे आरण और अच्युत देवलोक के ऊपर के ऊँचे देवलोक में अर्थात् नौं ग्रैवेयक तथा ५ अनुत्तरों में अन्य तीर्थिक उत्पन्न नहीं होते हैं। मिथ्यादृष्टि और स्वलिंगी तो ग्रैवेयकों तक भी जाते हैं। सम्यक् दृष्टि—चारित्रधारी संयमी ५ अनुत्तर में सर्वार्थसिद्ध तक जाते हैं। १४ पूर्वधारी महापुरुष ५ वे ब्रह्मलोक से सर्वार्थसिद्ध तक जाते हैं।

**प्रभाव—**

देवलोक के विशाल एवं लाखों योजन विस्तृत विराट विमान पृथ्वियाँ जगत्स्वभाव से स्थिर ही रहती है । सिद्धशिला जो ४५ लाख योजन विस्तृत पृथ्वी ही है, स्फटिकमय है, वह भी आधारगत स्वभावानुसार आकाश में स्थिर है । यह विश्वघटना का प्रभाव है ।

**प्राग् ग्रैवेयकेभ्यः कल्पाः ॥ ४-२४ ॥**

कल्प अर्थात् आचार । आचार द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार का है । द्रव्य कल्प में इन्द्र सामानिक—आभियोगिक—अंगरक्षक—तथा छोटे—बडे स्वामी—सेवकों आदि का जो सामाजिक व्यवहार द्रव्य कल्प कहा गया है । तथा तीर्थंकर भगवन्तों के कल्याणकादि प्रसंगों पर तथा समवसरण की रचना आदि करके देशनाश्रवणार्थ उपस्थित होना । पूजा—पाठ भक्ती आदि करना .. तथा नंदीश्वर द्वीपादि जाकर शाश्वत तीर्थों आदि की पूजा भक्ती आदि करना रूप कल्प अर्थात् आचार यह सब बारहवें अच्युत देवलोक तक ही होते हैं । अतः १२ वे देवलोक तक कल्पोपपन्न कहलाते हैं । आगे के देवताओं के लिए ऐसे कोई आचार नहीं होते हैं । अतः नौं ग्रैवेयक और अनुत्तर आदि की गणना कल्प में नहीं है । अतः उन्हें कल्पातीत कहा गया है । इसीलिए कल्पोपपन्न और कल्पातीत ये दो भेद होते हैं ।

**कायप्रवीचारा आ ऐशानात् ॥ ४-८ ॥ शेषाः स्पर्श-रूप-शब्द-मनः-प्रवीचारा द्वयोर्द्वयोः ॥ ४-९ ॥ परेऽप्रवीचाराः ॥ ४-१० ॥**

वाचक मुख्यजी ने इन ३ सूत्रों से तत्त्वार्थ सूत्र में देव गति के देवताओं के जीवन की विषय—वासना की मैथून संज्ञा की प्रवृत्ति का भी घटस्फोट करते हुए कहते हैं कि .. : भवनपति, व्यंतर तथा ज्योतिषी देवता और वैमानिक के प्रथम २ देवलोक के देवता इतने सभी मनुष्यों में जैसे स्त्री—पुरुष स्व देहसंबंध से वैशयिक—रति सुख मैथुन क्रिया से भोगते हैं वैसे ही इतने देवता भी मनुष्यों की तरह मैथुन क्रीडा करके वैषयिक सुख भोगते हैं । अतः उन्हें कायप्रविचारी कहा है । आखिर वेदमोहनीय कर्म की प्रकृति जो सत्ता में पडी है और उसके उदय में आने के कारण कामवासना जागृत होती है । अतः देवता भी अपनी कामवासना की तृप्ती इस तरह करते हैं । २ देवलोक के ऊपर के देवता अर्थात् ३ रे तथा ४ थे देवलोक के देवता देवियों के स्पर्शसुख से अपनी वासना संतुष्ट करते हैं । ५ वे और ६ ट्ठे देवलोक के देवता देवियों के मोहक रूपों को देख—देखकर ही अपनी वासना तृप्त करते हैं । ७ वे तथा ८ वें देव लोक के देवता देवियों के गीत—संगीत आदि सुनकर

भी अपनी कामेच्छा का शमन कर लेते हैं। इसके ऊपर के ९ वें तथा १० वें देवलोक के देवता इनकी भी वासना जब जब बढती है तब तब वे भी ... मानसिक रूप से ही देवियों का चिन्तन--विचार मात्र करते ही ... सुख पा लेते हैं।

वैसे देवियों के रूप में जन्म तो १ ले तथा २ रे देवलोक तक ही होता है। बस, इसके बाद ऊपर के देवलोकों में देवियाँ नहीं जन्मती है। लेकिन ८ वे देवलोक तक देवियाँ ऊपर जाती जरूर है। वहाँ भी अपना रूप--रंग--सौंदर्य हावभाव नृत्यादि दिखाकर वहाँ के देवताओं को संतुष्ट करती है। ऊपर--ऊपर के देवताओं की वेदोदय की प्रकृति का प्रमाण ही कम होता है अतः थोडे में ही वे शमन कर लेते हैं। बाद के नौं ग्रैवेयक तथा पाँच अनुत्तरवासी देवों की तो वेदमोहनीय प्रकृति का उदय ही नहींवत् अल्पमात्र रहता है। क्योंकि काफी ऊँची तपश्चर्या--ब्रह्मचर्यादि का ऊँचा पालन करके तपस्वी--ब्रह्मचारी आदि ऊपर--ऊपर के देवलोक में गए हुए होते हैं। अतः वे काय प्रविचारी आदि नहीं होते हैं। भावि भव में स्वर्ग में देवगति में पुनः कामवासना की यह पाप प्रकृति परेशान न करें, कल वहाँ भी मैथुन सेवन की अशुभ पापकारक प्रवृत्ति से बच सकें इसके लिए भी यहाँ मनुष्य गति में इस उत्तम मानव जन्म में तपश्चर्या, चारित्र पालन तथा ब्रह्मचर्यादि का पालन करना अत्यन्त आवश्यक एवं हितकारी है। जिससे और ऊँचे ऊँचे देवलोक में आत्मा जा सके और वहाँ इस प्रकार के दलदल से बच सके।

## नौ लोकान्तिक देवों का स्वरूप--

**ब्रह्मलोकालया लोकान्तिकाः** ॥ ४--२५ ॥ वैमानिक १२ देवलोक में जो पाँचवाँ ब्रह्मलोक है उस देवलोक के लोकान्त के क्षेत्र में रहनेवाले विशिष्ट प्रकार के देवताओं को लोकान्तिक जाति के देवता कहते हैं। ये सिर्फ ब्रह्मलोक नामक पाँचवे देवलोक के क्षेत्र के व्यतिरिक्त अन्यत्र कहीं नहीं रहते हैं। एक तरफ लोक के अन्त में उनके स्थान अतः लोकान्तिक कहते हैं। लोक को यदि सांसारिक अर्थ में संसार कहें तो लोकान्त अर्थात् संसार का अन्त करने के किनारे बैठे हैं वे लोकान्तिक जाति के देवता कहलाते हैं। इन लोकान्तिक देवताओं के संसार की समाप्ति करके मोक्ष में जाने के लिए मात्र सात--आठ भव ही शेष बचे हैं। अतः निश्चित रूप से ७--८ भव करके वे मोक्ष में जाते हैं। अतः भाव अर्थ में भी लोकान्तिक कहे गए हैं। यह भी उचित है। अतः दोनों तरीकों से लोकान्तिक नाम सार्थक है। ब्रह्मलोक के चारों तरफ चारों दिशा तथा चारों विदिशा में रहते हैं। उसके नौं प्रकार के नामादि इस प्रकार हैं--

**सारस्वतादित्य-वन्ह्यरुण-गर्दतोय-तुषिताऽव्याबाध-मरुतोऽरिष्टाश्च ॥ ४-२६ ॥**

१) सारस्वत, २) आदित्य, ३) वह्नि, ४) अरुण, ५) गर्दतोय, ६) तुषित, ७) अव्याबाध, ८) मरुत और ९ वे अरिष्ट । इस प्रकार इन नौं नामों के धारक लोकान्तिक देवता नौं प्रकार के होते हैं । उनकी संख्या मात्र नौं ही नहीं है । काफी अधिक है । इनकी भी अपनी स्वतंत्र विमान—पृथ्वी है । ये पुण्यशाली तथा नजदीक में मोक्षगामी जीव हैं । आश्चर्य की बात तो यह है कि ये सभी लोकान्तिक देवता सम्यक् दृष्टि श्रद्धासम्पन्न हैं । हाँ,... जब नजदीक में मोक्षगामी है, तो सम्यग् दृष्टि अवश्य होने ही चाहिए । इनके अपने भाव काफी शुद्ध कक्षा के होते हैं । उनको सद्धर्म के प्रति काफी ज्यादा सद्भाव होता है । संसार के दुःख से दुःखी जीवों पर करुणाभाव लाकर... परमात्मा को भी जाकर विनंति करते हैं कि... "हे भगवन् ! आप तीर्थ प्रवर्ताइए ।" जिस तीर्थंकर भगवान का दीक्षा लेने का अवसर हो चुका है उसके १ वर्ष पहले जाकर प्रभु को "जय जय नंदा—जय—जय भद्दा" की ध्वनी करते हुए नाचते नाचते गाते—बजाते खुश—खुशाल होकर ये शब्द बोलते हुए जाते हैं और फिर प्रभु के तीर्थ स्थापनार्थ दीक्षा ग्रहणार्थ विनंति करते हैं । यद्यपि प्रभु तो जन्मजात तीन ज्ञानधारक ही है । अपने संयमग्रहण के अवसर को भली—भांति जानते ही हैं फिर अपने आचार का पालन करते हुए ये लोकान्तिक देवता विनंति करने आते हैं । और इनकी विनंति को मान देकर... भगवान वर्षीदान देना प्रारंभ करते हैं और वर्ष के अन्त में दीक्षा ग्रहण करते हैं ।

## देवलोक में कल्प व्यवस्था—

**इन्द्र–सामानिक–त्रायस्त्रिंश–पारिषद्यात्मरक्ष–लोकपालाऽनीक–**
**प्रकीर्णकाऽभियोग्य–किल्बिषिका–श्चैकशः ॥ ४–४ ॥**

देवों की दुनिया भी बहुत ही विशाल है । मनुष्यों की इतनी छोटीसी जनसंख्या में राजा—मंत्री आदि की व्यवस्था करनी पडती है तो फिर जहाँ देवलोक में असंख्य देवताओं की जनसंख्या है वहाँ क्या व्यवस्था की आवश्यकता नहीं पडेगी ? पूरी आवश्यकता रहेगी । कल्पवासी कल्पोपपन्न देवताओं के देवलोक में १० प्रकार के देवताओं की व्यवस्था है । उनके प्रकार तत्त्वार्थकार ने इस सूत्र से दर्शाए हैं—

**१) इन्द्र—** जो राजा के स्थानपर—अधिपति कहलाते हैं । हुकम का मुख्य पत्ता इन्द्र के हाथ में होता है । **२) सामानिक—** जो इन्द्र नहीं होते हैं । परन्तु इन्द्र के जैसे ही इनके समकक्ष होते हैं वे सामानिक कहलाते हैं । **३) त्रायस्त्रिंश—** जो पुरोहित और मंत्रियों

के जैसे होते हैं। वैसी जिम्मेदारी संभालते हैं। ४) **पारिषद्य—** जो मित्रस्थान पर रहनेवाले देवता होते हैं। सलाहकार एवं परामर्शदाता का काम करते हैं। ५) **आत्मरक्षक—** इन्द्र के खास अंगरक्षक *Bodyguards* होते हैं। ६) **लोकपाल—** जो *Watchman* चोकियात के जैसा कार्य करनेवाले होते हैं। ७) **अनीक—** सैन्य और सेनाधिपति के स्थान पर रहनेवाले अनीक प्रकार के देवता कहलाते हैं। ८) **प्रकीर्णक—** देवलोक के समस्त सर्व सामान्य देवता जो हमारे यहाँ नागरिक को, देशवासियों को कहते हैं वैसे ९) **आभियोगिक—** महानगरपालिका में जैसे कर्मचारी–नोकर–चाकर होते हैं वैसे ये भी नोकर दास की कक्षा के देवताओं का प्रकार है। आखिर इतनी बडी दुनिया है तो वहाँ भी नोकर–चाकर–मजदूर आदि सब प्रकार के देवताओं की आवश्यकता तो पडती ही है। १०) **किल्बिषिक—** जैसे मनुष्य क्षेत्र में यहाँ पर हरिजन–भंगी चमार आदि होते हैं। वैसे ही देवलोक में भी चण्डाल जैसे अस्पृश्य देवताओं को किल्बिषिक नाम की संज्ञा दी गई है। ये १ ले २ रे तथा ३ रे और ४ थे, तथा लांतक छट्ठे देवलोक कल्प के नीचे रहनेवाले देवता हैं। इनको वहाँ देवलोक में भी अस्पृश्य की तरह गिनकर उनका तिरस्कार करते हैं। इनके भी ३ पल्योपम, ३ और १३ सागरोपम का आयुष्य काल होता है।

इन १० प्रकार के देवताओं की जैसी व्यवस्था वैमानिक देवलोक में है। उससे कुछ कम प्रकार की व्यवस्था व्यन्तर एवं ज्योतिषी देवताओं में भी है। **त्रायस्त्रिंश–लोकपालवर्ज्या व्यन्तर–ज्योतिष्काः ॥ ४–५ ॥** त्रायस्त्रिंश अर्थात् राजपुरोहित मंत्री आदि और लोकपाल अर्थात् कोतवाल या रक्षा करनेवाले चौकियात जैसे इन दो प्रकार के देवताओं के बिना शेष ८ प्रकार की व्यवस्था व्यन्तर और ज्योतिषी देवताओं में है। वहाँ इतने से ही काम चलता है।

**इन्द्र वर्णन—** देवलोक में राजा–राष्ट्रपति स्थानीय मालिक जैसे मुख्य देवताओं को इन्द्र कहते हैं। इन्द्र सम्यग्दृष्टि श्रद्धा सम्पन्न होते हैं। सबसे ज्यादा अतुल बलशाली–शक्तीशाली इन्द्र होते हैं। इन्द्र ही वहाँ के अर्थात् अपने–अपने विमानों में मुख्य राजा होते हैं। उनकी ही आज्ञा में सबको चलना पडता है। मुख्य ६४ इन्द्रों की गिनती प्रसिद्ध है। भवनपति के २० + व्यन्तर के १६ + वाणव्यंतर के १६ + ज्योतिष्क के २ + वैमानिकों के १० = इस तरह कुल मिलाकर ६४ इन्द्र होते हैं। वैमानिकों में प्रथम के ८ देवलोक के एक–एक के हिसाब से ८ इन्द्र और ९ वें तथा १० वें देवलोक तथा ११ वें और १२ वें इन दोनों के एक–एक ऐसे २ इस तरह ८ + २ = १० इन्द्र होते हैं। ९ ग्रैवेयक और पाँच अनुत्तर ये कल्पातीत हैं। अतः वहाँ इन्द्र–सामानिक आदि

की किसी भी प्रकार की व्यवस्था नहीं होती है। इन्द्रादि की सारी राज्यव्यवस्था पद्धति सिर्फ १३ वे देवलोक तक होती है। इसके ऊपर नहीं।

नीचे भवनपति के देवताओं से ऊपर—ऊपर तक आते—आते क्रमशः देखने पर देवताओं के स्वभाव क्रूर—फिर अतिक्रूर और ऊपर—ऊपर वाले अल्पक्रूर अल्पतर—अल्पतमादि स्वभाववाले होते हैं। तदनुसार उनकी लेश्या होती है।

## नौं ग्रैवेयक देवलोक—

कल्प = अर्थात् आचार—विचार की सारी व्यवस्था तथा १० प्रकार के इन्द्रादि की सारी व्यवस्था वाला स्वर्ग कल्पोपपन्न देवलोक कहलाता है। परन्तु इसके ऊपर के १४ कल्पातीत देवलोक कहलाते हैं। इनमें इन्द्रादि की व्यवस्था नहीं होती है। कल्प के जैसे आचार—विचार और नियमों की व्यवस्था यहाँ नहीं होती है। इसलिए कल्पातीत कल्प से अतीत अर्थात् परे कहलाते हैं। इनमें नौं ग्रैवेयक और + ५ अनुत्तर को मिलाकर १४ प्रकार के देवता कहलाते हैं। ये बहुत ही ऊँची कक्षा के देवता कहलाते हैं।

लोक पुरुष का जो वैशाख संस्थान पुरुषाकार ब्रह्माण्ड स्वरूप पहले हम देख आए हैं उस लोक पुरुष के ग्रीवा अर्थात् गर्दन भाग में जिनके विमान स्थित हैं, उस ग्रीवा प्रदेश में रहने वाले देवताओं को ग्रैवेयक कहते हैं। ये संख्या में नौ हैं। १) सुदर्शन, २) सुप्रतिबद्ध, ३) मनोरम, ४) सर्वतोभद्र, ५) सुविशाल, ६) सुमनस, ७) सौमनस्य, ८) प्रियंकर ९) नंदिकर, ये नौं इनके क्रमशः नाम हैं। नौं ग्रैवेयकों में १ से लगाकर नौंवे ग्रैवेयक तक के विमानवासी देवताओं का कम से कम जघन्य आयुष्य २२ सागरोपम का होता है। तथा अधिक से अधिक उत्कृष्ट आयुष्य ३१ सागरोपम तक का होता है। ये बहुत ही ऊँची कक्षा के देवता होते हैं। यहाँ पर देवियाँ होती ही नहीं हैं। न तो यहाँ उत्पन्न होती हैं तथा न ही यहाँ कभी आती हैं। यहाँ जन्म—मरण तथा देवियों के गमनागमन की भी कोई समस्या है ही नहीं। अतः यहाँ नौं ग्रैवेयकों के देवताओं को कामवासना—विषयवासना की संज्ञा ही नहीं होती है। अर्थात् सर्वथा अभाव नहीं फिर भी अल्पतर प्रमाण की संभावना है। इनके कषायों की मात्रा भी अत्यन्त अल्पप्राय होती है। इनकी लेश्या भी खराब नहीं होती। सदा ही श्वेत लेश्या—मानसिक परिणति होती है। और देह का रंग वर्ण भी श्वेत—सफेद होता है। तथा शरीर की अवगाहना ऊँचाई २ हाथ होती है। ये बडे ही मनोरम रूप सौंदर्य—लावण्ययुक्त तथा ऋद्धि—सिद्धि सम्पन्न होते हैं। दुःख का तो नाम निशान नहीं है। वैसे भी मनुष्यलोक से अत्यन्त ज्यादा तपश्चर्या धर्माराधना ब्रह्मचर्यादि कठिनतम व्रतों का पालन करके उस

प्रकार के प्रबलतर पुण्योदय को प्राप्त करके यहाँ आए हुए होते हैं। ये ज्ञान–ध्यान–साधना में मस्त–तल्लीन रहते हैं। नौ ग्रैवेयकों के प्रथम ३ में– १११, दूसरे ३ में – १०७ तथा तीसरे ७ में १०० विमान ऐसे कुल मिलाकर ३१८ विमान पृथ्वियाँ हैं। यहाँ सुख–समृद्धि का कोई पार ही नहीं है। इनके अवधिज्ञान का क्षेत्र भी बहुत ही विस्तृत है। ये छट्ठी सातवी नरक पृथ्वी तक प्रत्यक्ष–देख तथा जान सकते हैं। ग्रैवेयक से मरकर देवताओं के जीव निश्चित ही ऊँची मनुष्य की गति में ही जाते हैं तथा अल्पभवी होते हैं। कुछ ही भवों में मोक्ष में जाते हैं।

## पाँच अनुत्तर विमान के देवता–

देवगति में तथा वैमानिक देवलोक में सर्वोत्कृष्ट देवता पाँच अनुत्तर विमान के कहलाते हैं। चारों तरफ के सभी दृष्टिकोण से देखने विचारने पर यहाँ के ५ अनुत्तरों की सर्वोत्कृष्टता बिल्कुल ही देखते बनती हैं। अनुत्तर अर्थात् जिसके उत्तर में अर्थात् आगे अब कोई देवलोक है ही नहीं ऐसे अनुत्तर विमान। ये संख्या में ५ हैं। इनके नाम १) विजय, २) वैजयन्त, ३) जयन्त, ४) अपराजित और ५) सर्वार्थसिद्ध। ये भी कल्पातीत की कक्षा में हैं। अतः यहाँ भी कल्प के जैसी कोई व्यवस्था ही नहीं है। यहाँ कोई इन्द्र सामानिक आदि का प्रश्न ही नहीं है। ये सभी अनुत्तरवासी देवता काम संज्ञा–विषय वासना की वृत्ति से सर्वथा ऊपर उठे हुए हैं। कषायादि संक्लिष्ट परिणाम का तो यहाँ नाम निशान ही नहीं है। ये देवता यहाँ नीचे आने आदि का नाम ही नहीं लेते हैं। ये सर्वथा अपने ध्यान–स्वाध्याय आदि में मग्न रहते हैं। इनका सबसे अधिक से अधिक उत्कृष्ट आयुष्य ३२ और ३३ सागरोपम का होता है। तथा कम से कम जघन्य आयुष्य— ३१ सागरोपम विजयादि ४ अनुत्तर में रहता है। लेकिन सर्वार्थसिद्ध में जघन्य स्थिति नहीं होती है। यहाँ ३३ सागरोपम ही आयुष्य की स्थिति होती है। १ सागरोपम बरोबर असंख्य वर्षों का काल होता है। ऐसे ३३ सागरोपम अर्थात् असंख्य $x$ ३३ इतने वर्षों का सुदीर्घ लम्बा काल वहाँ एक जन्म का बिताते हैं। लेकिन अपने ज्ञान–ध्यान–स्वाध्यायादि शुभतर चिन्तनादि में वे मस्त तल्लीन रहते हैं। अतः उनको काल का कोई उद्वेगादि भी नहीं रहता है। अनुत्तरवासी सभी श्वेत–शुभतर लेश्या के मानसिक शुभ परिणामवाले रहते हैं। अतः क्लेश–कषाय–लडाई–झंगडे आदि का कोई प्रश्न ही नहीं रहता है। उनके शरीर बहुत ही सुंदर–रूप–रंग लावण्य–सौंदर्य से भरे हुए गौर वर्ण के होते हैं। सिर्फ १ हाथ प्रमाण ही अनुत्तरवासियों के शरीर की ऊँचाई होती है। इनके विमानों की संख्या भी ज्यादा नहीं सिर्फ ५ ही होती है। ये विशाल पृथ्वियाँ हैं।

पाँचवाँ अनुत्तर सर्वार्थसिद्ध विमान १ लाख योजन के विस्तार वाला है। जैसी हमारी जंबूद्वीप की समग्र पृथ्वी १ लाख योजन विस्तार वाली है ठीक वैसी ही सर्वार्थ सिद्ध की भी माप—प्रमाण में १ लाख योजन विस्तार वाली है। अन्य देवलोकों के देवताओं की अपेक्षा अनुत्तर विमानों में देवताओं की संख्या काफी कम होती है। उनमें भी जो सर्वोपरि सर्वश्रेष्ठ सर्वार्थसिद्ध विमान में देवताओं की संख्या सबसे कम है। अनुत्तरवासी देवता सभी सम्यग्दृष्टि श्रद्धासम्पन्न होते हैं। ये आत्माएँ अत्यन्त ज्यादा सर्वोत्कृष्ट धर्माराधना पुण्योपार्जन करके आए हुए देवता हैं। जिसमें उत्कृष्ट कक्षा की ध्यान साधना, तपश्चर्या ब्रह्मचर्यादि का पालन, व्रत—महाव्रतों की पालना करके परिणाम स्वरूप यहाँ आए हैं। ये सभी मोक्षगामी जीव हैं। बस, अब यहाँ से मृत्यु (च्यवन पश्चात) पाकर सीधे ही महाविदेहादि उत्कृष्ट धर्मक्षेत्र में जाकर—जन्म लेकर... अल्पायु में दीक्षा ग्रहण करके.. आराधना—तपश्चर्या उत्कृष्ट कक्षा की करके कर्मक्षय करके केवलज्ञानादि प्राप्त करके... निर्वाण पद—मोक्ष को प्राप्त करते हैं। अतः इनको एकावतारी कहे जाते हैं। अर्थात् सिर्फ १ जन्म.. करके मोक्ष में जानेवाले होते हैं।

अनुत्तरवासियों की सुख संपत्ति—वैभव का तो वर्णन करना भी मुश्किल है। ये बिल्कुल सिद्धशिला की इषत्प्राग्भारा पृथ्वी के समीप ही रहते हैं। इनके विमान वहाँ पास में ही हैं। लेकिन देवभव हैं। अतः सीधे देवगति से मोक्ष में जा नहीं सकते हैं। मनुष्यभव की इनके लिए आवश्यकता रहती है। अतः वहाँ से मनुष्य गति में आकर १ भव करके उसी भव में मोक्ष में जाते हैं। और मोक्ष में जाने के लिए चारित्र—सर्वविरति ग्रहण करना आवश्यक है। अतः चारित्र के लिए भी मनुष्य गति में आने के सिवाय दूसरा कोई विकल्प ही नहीं हैं। पाँच अनुत्तरवासी देवताओं के अवधिज्ञान का विषय... सातवीं नरक पृथ्वी तक है। इसलिए इतने ऊँचे लोक के ऊपरी भाग पर रहे हुए... वहाँ से ही पूरे लोक क्षेत्र को १४ राजलोक के संपूर्ण ब्रह्माण्ड को जानते हैं। देखते हैं। ज्ञान की मस्ती अपूर्व होती है।

४५ आगमशास्त्रों के ११ अंगसूत्रों में नौवें अंगसूत्र अनुत्तरोपपातिक नामक आगम शास्त्र है, जो एक स्वतंत्र आगम शास्त्र ही अनुत्तर स्वर्ग में उत्पन्न होनेवाले देवताओं का चरित्रात्मक अद्भुत वर्णन खास पढने लायक है।

ऐसा देवों की अजीब दुनिया का अद्भुत वर्णन है। मात्र सार-सार संक्षिप्त वर्णन यहाँ प्रस्तुत किया है। समस्त लोक स्वरूप ब्रह्माण्ड में सर्व जीवों का वर्णन यहाँ किया गया है। इससे समस्त जीव सृष्टि का ख्याल आ सके। समस्त लोक में... शाश्वत स्वरूप

से जीवों की स्थिति कहाँ कैसी होती है उसका ख्याल लाने के लिए यह वर्णन किया गया है। जिससे चारों गति के और पाँचों जाति के सर्व जीवों का ख्याल आ सके। आखिर जीवों का ही संसार है। अतः समस्त जीवसृष्टि का विचार किया है। यह शाश्वत व्यवस्था है। अनादि—अनन्त कालीन शाश्वत स्वरूप है। इसलिए जीवों को बनाने--उत्पन्न करने आदि का कोई प्रश्न ही नहीं रहता है। जीवों को उत्पन्न करने आदि का विचार करना मिथ्यात्व है। मिथ्या—गलत विचार है। जो शाश्वत स्वरूप जीव और जगत् का है वही और ठीक वैसा ही जानना-मानना ही सम्यग् दर्शन है। अतः जगत के सूक्ष्म से लेकर स्थूल तक के निगोद से लेकर सर्वार्थ सिद्ध तक के, एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के सर्वार्थ सिद्ध विमान के सर्वोत्कृष्ट देवताओं तक का वर्णन यहाँ किया गया है। जगत् के समस्त ५६३ जीवों के भेदों द्वारा सर्व जीवों का वर्णन समझकर जानकर उनके प्रति कैसा आचार, विचार और व्यवहार करना यह जानना चाहिए। बस, इन ५६३ के सिवाय एक भी भेद ज्यादा नहीं है और कम भी नहीं है। ५६३ भेद तीनों काल में शाश्वत भेद संख्या है। अतः समस्त जीव सृष्टि का सुयोग्य यथार्थ विचार सर्वज्ञोपदिष्ट दृष्टि से ही करना चाहिए। उसी दिशा में यहाँ संक्षेप में अल्प परिचय कराया गया है। विशेष ज्यादा विशद स्वरूप आगमादि शास्त्रों से जानना--समझना और मानना चाहिए। और उसके बाद उन जीवों के साथ उस प्रकार से व्यवहार आदि भी करना चाहिए।

॥ इति शुभं भवतु सर्वस्य ॥

## अध्याय ५

# डार्विन के विकासवाद की समीक्षा

परम पूजनीय... परमपिता... परमात्मा परमेष्ठी... श्री महावीर प्रभु के चरणारविन्द में... अनन्त वन्दना करते हुए...

**सरीरमाहु नावत्ति, जीवो वुच्चइ नाविओ।**
**संसारो अण्णवो वुत्तो, जं तरन्ति महेसिणो ॥ आ. २३/७३ ॥**

उत्तराध्ययन सूत्र आगम शास्त्र में सर्वज्ञ प्रभु श्री महावीरस्वामी फरमाते हैं कि... यह जो शरीर है यह नौका समान है और आत्मा इसमें नाविक की तरह है। यह सारा संसार एक महासमुद्र के जैसा है। बस, ऐसे अगाध संसार समुद्र को जो पार कर जाय वह महर्षी है। समुद्र को तैरकर भी पार किया जाता है और नौका से भी पार किया जाता है। जैसे लकडे की नौका में बैठकर नाविक उसे चलाकर समुद्र के किनारे पहुँच सकता है। ठीक वैसे ही प्रभु कह रहे हैं कि... यह शरीर जड पुद्गल परमाणुओं का बना हुआ पिण्ड है। शरीर चेतनात्मा से सर्वथा भिन्न है और चेतनात्मा शरीर से सर्वथा भिन्न--स्वतंत्र द्रव्य है। यद्यपि दोनों मिलकर--एक होकर, एकरसीभाव--समरसीभाव होकर ही संसार में रहते हैं। फिर भी एक--दूसरे से दोनों सर्वथा भिन्न स्वतंत्र द्रव्य है। दोनों का अपने--अपने गुणधर्मों के कारण स्वतंत्र अस्तित्व है। आखिर शरीर जड है। जीव के निकल जाने के बाद मृत शरीर सर्वथा निष्क्रिय निश्चेष्ट होकर पडा रहता है। कुछ भी नहीं कर पाता है। क्योंकि कर्ता--भोक्ता--ज्ञाता--दृष्टा--गुणवान जो चेतन आत्मा था वह निकल गया। उसने इस काया को छोडकर अन्यत्र गमन कर लिया। अब उस मृत जड शरीर की कोई कीमत नहीं रहती है। उपयोगिता आवश्यकता भी नहीं रहती है। अतः निरुपयोगी--अनावश्यक समझकर उसे जला दिया जाता है।

प्रभु कह रहे हैं कि... ऐसे शरीर को नौका बनाकर चेतनात्मा नाविक बनकर उसमें बैठ (रह) जाय और फिर इस अगाध--असीम भयंकर संसार समुद्र को तैर जाय। पार उतर जाय। तात्पर्य यह है कि यही शरीर है, यही जीवन है तो आत्मा को संसार समुद्र से

पार उतार सकता है । अतः इस शरीर की इस जीवन—जन्म की पूरी कीमत करनी चाहिए। इसे निष्फल न गुमा दिया जाय यह ध्यान में रखें ।

**संसार में सभी सशरीरी और मोक्ष में सभी अशरीरी—**

मुक्तावस्था में ही जीव सर्वथा अशरीरी रहता है । बन पाता है । अतः सर्वथा इस शरीर का त्याग हो जाय और वापिस धारण ही न करना पडे, बस, सिर्फ चेतनात्मा अकेली ही अपने पूर्ण शुद्ध स्वरूप में रहे, यही सिद्ध स्वरूप है—मुक्त स्वरूप है । लेकिन मुक्ती के विरुद्ध जो संसार है इस संसार में अनन्त काल तक जीव रहा है । अनादि से जीव ने अनन्तानन्त जन्म लिये हैं । इन अनन्त जन्मों—भवों में जीव ने शरीर तो धारण किया ही है । शरीर के बिना कभी भी जीव संसार में नहीं रह ही नहीं सकता है । और शरीर के साथ जीव कभी भी मोक्ष में नहीं रह सकता है । अतः मोक्ष और संसार दोनों ही परस्पर विरोधि—विपरीत अवस्थाएं हैं । ये दोनों जीव की ही अवस्था है । स्वतंत्र पदार्थ या वस्तु नहीं है । जीव की अवस्था मात्र है ।

अतः स्पष्ट कह सकते हैं कि . . . जीव है तो संसार है और संसार है तो जीव है । जीव के बिना संसार का अस्तित्व नहीं है और संसार के बिना भी जीव का अस्तित्व नहीं रहता है । इसलिए आखिर इतना बडा संसार क्या है ? मात्र जीव और अजीवों के संयोग—वियोग की अवस्था का प्रतीक है । अजीव पुद्गल परमाणुओं के संचय से जीव ने . . . अपने रहने के लिए शरीर निर्माण किया और उस शरीर में जीव रहने लगा । बिना शरीर के तो रह ही नहीं सकता है । हाँ, बिना मन के जीव संसार में रह सकता है । बिना मन के अनन्त जन्म जीव ने इस चार गति के संसार में किये हैं । यहाँ तक कि पंचेन्द्रिय मनुष्य में भी असंज्ञी मनुष्य बने हैं । जिन्हें असंज्ञी—अमनस्क कहे जाते हैं ।

**संज्ञी** + असंज्ञी जीव— संसार के समस्त जीवों को मन के अस्तित्व और अभाव के आधार पर संज्ञी और असंज्ञी इन दो भागों में विभक्त किये गए हैं । **संज्ञिनः समनस्काः ॥ २५** । संज्ञी अर्थात् संज्ञावाले जीव समनस्क अर्थात् मनवाले बनते हैं । और ठीक इसके विपरीत **"असंज्ञिनः अमनस्काः"** संज्ञारहित असंज्ञी सभी जीव अमनस्काः अर्थात् मनरहित होते हैं । जैसे १, २, ३, ४ इन्द्रियोंवाले सभी जीव सदा ही असंज्ञि—अमनस्क ही रहते हैं । उदाहरण के लिए . . . पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वृक्ष, वनस्पति, कृमि, चिंटी, मकोडे, खटमल, जू, मक्खी, मच्छर, भौरे, तीड, पतंगिये आदि एक से चार इन्द्रियवाले जीवों तक सर्वथा मन होता ही नहीं है । अतः ये सभी अमनस्क ही

होते हैं। इनसे भी आगे पंचेन्द्रिय तिर्यंचों में पशु पक्षी आदि में भी जो संमूर्च्छिम रूप में उत्पन्न होनेवाले जीव हैं वे भी अमनस्क असंज्ञि होते हैं। लेकिन जो हाथी, घोडे, ऊँट, बैल, बकरियाँ, कुत्ते आदि जीव जो गर्भज होते हैं वे सभी संज्ञी—मनवाले ही होते हैं। इतना ही नहीं, मनुष्यों में जो संमूर्च्छिम मनुष्य हैं वे सभी असंज्ञी मनरहित होते हैं। जैसे मल, मूत्र, मांस, खून, रस्सी, पूयमवादादि तथा कफ—थूंकादि में भी उत्पन्न होने वाले पंचेन्द्रिय संमूर्च्छिम मनुष्य कहलाते हैं। उनको इन्द्रियाँ पाँचों पूरी होती हैं, लेकिन मन नहीं होता है अतः वे असंज्ञी अमनस्क होते हैं।

मन की सहायता चिन्तन, मनन, चिन्ता, विचार करने में होती है। हम जितने भी विचार करते हैं वे सभी मन के जरिये करते हैं। अगर मन हो तो ही विचार करना संभव है अन्यथा बिना मन के कभी भी कोई विचार कर ही नहीं सकता है। नाम कर्म की १०३ प्रकृतियों में से त्रसदशक प्रकृति में से पर्याप्ति नाम कर्म की प्रकृति के आधार पर जीव इन्द्रियाँ और मन निर्माण करता है—बनाता है। इन्द्रियपर्याप्ति कर्म के आधार पर जीव १ से ५ प्रकार की इन्द्रियाँ बनाता है। और मनःपर्याप्ति नाम कर्म के आधार पर मनोवर्गणा के अजीव—जड पुद्गल—परमाणुओं को ग्रहण करके विचारयोग्य मन बनाता है। उस मन के जरिए जीव विचार करता है। और जिन जीवों को इस प्रकार की पर्याप्ति नाम कर्म की त्रस प्रकृति का उदय न हो तो वे स्थावर दशक नामक नाम कर्म की प्रकृति के उदय वाले जीव "अपर्याप्ति" कर्म प्रकृति के आधार पर इन्द्रियाँ मनादि की रचना पूर्ण रूप से नहीं कर पाता है। अतः ऐसे जीव असंज्ञी—अमनस्क रह जाते हैं। बिना मन के विचारशक्ती नहीं होती है। अब वे विचार नहीं कर पाते हैं।

इस तरह जीव ने बिना मन के—बिना आँख—कान—नाकादि के भी अनन्त जन्म इस संसार चक्र में किये हैं। इन्द्रियाँ कम—ज्यादा जरूर पाई लेकिन सर्वथा बिना इन्द्रिय का कोई भी जन्म नहीं किया। अन्त में १ इन्द्रिय तो पृथ्वी—पानी—अग्नि—वायु और वनसपतिकाय के जीवों को अनिवार्य रूप से होती ही है। निगोद के जीवों को भी जो सूक्ष्म शरीर होता है उनको भी पहली स्पर्शेन्द्रिय तो होती ही है। आलु—प्याज और निगोद जो साधारण वनस्पति काय हैं, जिनमें एक शरीर में अनन्त जीव एक साथ रहते हैं। उस शरीर में एक इन्द्रिय तो होती ही है। जिस निगोद की अवस्था में जीव ने अनन्त जन्म—मरण धारण किये ऐसी निगोद में एकेन्द्रिय पर्याय में रहकर जीव ने एक इन्द्रिय के द्वारा भी अपना व्यवहार चलाया है। जब जब कम या ज्यादा जितनी इन्द्रिय मिली तब तब जीव ने उतनी इन्द्रियों से अपना व्यवहार चलाया है। जीवन जिया है। मन का भी उपयोग

करके विचारादि किये हैं। और यह भी ध्यान में रखिए कि... जिन इन्द्रियों और मन से सुख भोगा जाता है उन्हीं से दुःख भी भोगा जाता है। यही जीव का संसार है, जहाँ जीव इन्द्रियों तथा मन आदि से सुख और दुःख दोनों भुगतता रहता है।

शरीर है तो इन्द्रियाँ हैं, और इन्द्रियाँ है तो शरीर है। दोनों एक दूसरे के साथ हैं। बिना शरीर के इन्द्रियाँ नहीं और बिना इन्द्रियों का शरीर नहीं है। इन्द्रियाँ तो शरीर के द्वार रूप में हैं, अंग रूप हैं। जैसे एक मकान के लिए खिडकी–दरवाजे होने अनिवार्य हैं, ठीक वैसे ही शरीर के लिए भी खिडकी–दरवाजे के रूप में इन्द्रियाँ होनी आवश्यक हैं। मकान में जैसे खिडकी–दरवाजों से हवा–प्रकाश का आना–जाना रहता है वैसे ही इन पाँचों इन्द्रियों रूपी खिडकी–दरवाजे से आत्मा में ज्ञान का आवागमन सतत रहता है। इसीलिए ये पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। लेकिन शरीर जड–पुद्गल का होने के कारण उसी से बनी ये इन्द्रियाँ भी जड–पुद्गल हैं। ये अपने आप अकेली क्या कर सकती हैं? आखिर तो इनके मध्य में चेतनात्मा का वास हो तो ही ये कार्यरत रहती हैं। अन्यथा सर्वथा निष्क्रिय बन जाती हैं। इसके स्पष्ट–प्रत्यक्ष उदाहरण के लिए एक प्रश्न पर ध्यान से सोचिए... कि... हम आँखों से देखते हैं? या आखें ही देखती हैं? कानों से सुनते हैं? या कान स्वयं सुनते हैं? यदि आप ऐसा कहें कि.... आँख ही देखती है तो... मृत शरीर में भी तो आँखे यही हैं। जिससे एक मिनिट पहले देखता था, बोलता–सुनता था और अब एक मिनिट पश्चात् मृत्यु के बाद अब बिल्कुल ही नहीं देखता–सुनता है। क्यों? .... देखने की इन्द्रियाँ आँख तो उस समय भी मौजूद हैं। फिर कहाँ सवाल है? लेकिन आँख के पीछे–कान के पीछे ज्ञानकारक द्रव्य जो चेतनात्मा है उसकी उपस्थिति अनिवार्य है। वही मुख्य ज्ञान का आधार स्रोत है। इन्द्रियाँ तो ज्ञान की प्राप्ति में माध्यम–सहायक साधन मात्र हैं। इसलिए आँख देखती है, कान सुनते हैं, यह सही नहीं है। आँख से देखते हैं, कान से सुनते हैं यह सही है।

"आंख से देखते हैं" इस वाक्य में "से" कर्मणिवाचक है। 'से' का सीधा अर्थ है "के द्वारा"। अतः से–या के द्वारा के अन्दर स्पष्ट ध्वनि निकलती है कि देखने–सुनने की क्रिया करनेवाला इन आँख और कान से कोई अलग ही द्रव्य है। मुख्य कर्ता वही है। क्रिया का कर्ता वही चेतनात्मा है। यह क्रिया भी ज्ञान की क्रिया है। और आत्मा ज्ञानमय द्रव्य है आत्मा से अतिरिक्त ज्ञान कहीं अन्यत्र नहीं रहता है। ज्ञानपूर्ण ज्ञानमय द्रव्य जगत् में एक मात्र चेतनात्मा ही है। अतः अपने ज्ञान की प्राप्ति के लिए क्रिया भी वही करेगा। इसके लिए आँख कानादि अवयव तो उस क्रिया के सहायक–माध्यम–साधन मात्र हैं।

अतः ये जड–पुद्गल साधन हैं । जड अपने आप स्वयं क्रिया नहीं करता है । निष्क्रिय है । अतः यहाँ पर "से" शब्द से ज्ञान की क्रिया का कर्ता चेतनात्मा सिद्ध होता है। आँख–कानादि इन्द्रियाँ मात्र करण अर्थ में सिद्ध होती हैं ।

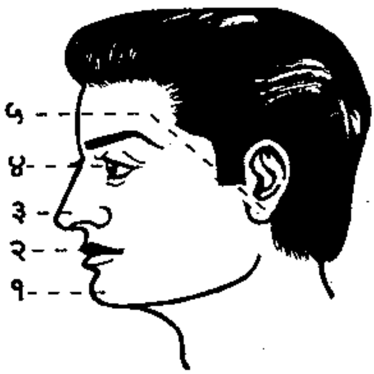


ऐसी इन्द्रियाँ अपने–अपने किये हुए कर्मानुसार जीवों को कम ज्यादा प्राप्त होती हैं। पाँच इन्द्रियाँ संपूर्ण हैं। इसमें से कम होने पर विकलेन्द्रियता आती है । इन्द्रियों की परिपूर्णता गुणात्मक एवं संख्यात्मक दोनों अवस्था में प्राप्त होनी–यह भी प्रबल पुण्योदय की निशानी है। अपने–अपने विषयों का ज्ञान आत्मा तक पहुँचाने का काम इन्द्रियाँ करती है । १) स्पर्शेन्द्रिय–अंग–चमडी–त्वचा जो सारे शरीर पर लगी हुई है वह . . . ठंडा–गरम (शीत–उष्ण), स्निग्ध–रुक्ष, गुरु–लघु एवं मृदु–कर्कश इन ८ स्पर्शों का अनुभव करती है । अनुभव ज्ञान है । जैसे हवा नहीं दिखाई देती है फिर भी चमडी उसके स्पर्श से हवा के अस्तित्व तथा स्वरूप का भान (ज्ञान) कराती है । आँख से देखने की क्रिया होती है और चमडी से स्पर्श द्वारा ज्ञान होता है । जब वायु का रूप–रंग नहीं है तो वह आँखों से दिखाई नहीं देती है । अतः स्पर्शगुण का ग्राहक हमारी स्पर्शेन्द्रिय बनी ।

रसना–जीभ, स्वाद का ग्रहण करती है । इसलिए रसनेन्द्रिय–जीभ कहलाती है । कडवा (कटु), तीखा, तूरा, खट्टा और मीठा ये मुख्य पाँच रस हैं । खारे रस को मीठों के समूह में या कटु के अन्तर्गत उसकी प्रारंभिक अवस्था में समा लिया है । गंध– १) सुगंध, और २) दुर्गंध ऐसे २ प्रकार की है, जिसे नासिका ग्रहण करती है । चक्षु इन्द्रिय का काम रूप–रंग ग्रहण करने का है । काला, सफेद, लाल, पीला और हरा इन पाँच रंगों के द्वारा चक्षुइन्द्रिय वैसे पदार्थों का ग्रहण करती है । आत्मा रूपी नहीं है । इसलिए आत्मा के रूप–रंग नहीं होते हैं । अतः आत्मा दृष्टिगोचर भी नहीं होती है । आँखों से देखी नहीं जाती है । कान ध्वनि–शब्द को ग्रहण करनेवाली इन्द्रिय है । सचित्त–अचित्त–मिश्र तीनों प्रकार के शब्दों को कान से सुनते हैं अतः पाँचवी इन्द्रिय को श्रवणेन्द्रिय कहते हैं । ये

पाँचों इन्द्रियाँ इन २३ विषयों का ज्ञान आत्मा तक पहुँचाती हैं । अतः ये ज्ञानोपकारक ज्ञानेन्द्रियाँ हैं ।

मन इन्द्रिय नहीं लेकिन अतीन्द्रिय है । इसका काम प्रत्यक्ष रूप में इन २३ विषयों को देखना, सूंघना आदि नहीं है । परन्तु चिन्तन करना—विचार करना—सोचना है । विचारधारा में सहायक मन साधन है, माध्यम है । मुख्य रूप से तो आत्मा ही ज्ञान का स्रोत है । परन्तु मन माध्यम के रूप में सहायक साधन हैं । अतः मन के जरिए विचारों द्वारा—ज्ञान की प्राप्ति होती है ।

तथाप्रकार के ज्ञानावरणीय—दर्शनावरणीय कर्मों के कारण जीव को इन्द्रियों का कम—ज्यादा मिलना होता है और मन का मिलना न मिलना भी होता है । अतः संसार चक्र के अनन्त जन्मों में जीव ने कम—ज्यादा इन्द्रियोंवाले तथा मनसहित संज्ञी—समनस्क तथा मनरहित अमनस्क—असंज्ञि के अनन्त जन्म लिये हैं ।

## संसार चक्र में जीवों के जन्म-मरण—

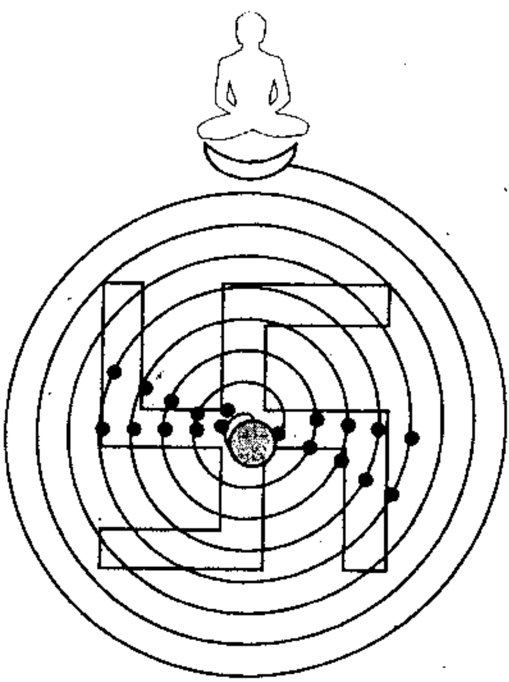

यह संसार और कुछ भी नहीं सिर्फ जीवों के जन्म—मरण का स्थान—क्षेत्र है । और जीव भी स्वकृत कर्मानुसार जन्म—मृत्यु धारण करता ही रहता है । जैसे एक ही सुवर्ण के सेकडों बार अलग—अलग आकार—प्रकार के गहने—आभूषण बनते हैं, उनमें सुवर्ण द्रव्य अनुगत रहता है । ठीक वैसे ही एक चेतनात्मा द्रव्य स्वकृत कर्मानुसार अनन्त जन्म—मरण धारण करता ही रहता है । जन्म लेने पर शरीर बनता है और मृत्यु होने पर शरीर विलीन हो जाता है । शरीर के आकार—प्रकार भिन्न—भिन्न प्रकार के बनते हैं । अनन्त बार शरीर बना है और विलीन हो चुका है, फिर भी चेतनात्मा द्रव्य शाश्वत होने से अनुगत मूल द्रव्य के रूप में एक जैसा ही रहा है । नित्य रहा है । यह स्थायी—नित्य—शाश्वत द्रव्य है इसलिए अनन्त काल तक एक जैसा रह पाया है । जबकि शरीर जड़—पुद्गल का बना हुआ पौद्गलिक है । यह विनाशी—नाशवंत है । वर्तमान सजीवावस्था जड—चेतन के संयोग की अवस्था मात्र है । एक दिन इन दोनों द्रव्यों का वियोग भी होगा उस दिन मृत्यु कहेंगे । इस संसार में लोगों को संयोग सुखकारक लगता है और वियोग दुःखकारक लगता है । परन्तु यह सब मोहवश लगता है । यदि मोह से ऊपर उठकर... ज्ञान की तटस्थ दृष्टि से देखा जाय तो जैसे एक व्यक्ती दिन में दस बार वेष परिवर्तन करता है ठीक वैसे ही आत्मा देह परिवर्तन करती है । यह देह आत्मा के लिए वेष—वस्त्र की तरह है । पुराना देह छोडकर नया वेश धारण करना जीव का कर्मवश स्वभाव है । उस चेतनात्मा को कुछ भी नहीं लगता है । परन्तु सगे—संबंधियों को मोहवश सुख—दुःख लगता है। क्योंकि उनके साथ संयोग—वियोग होता है ।

**पुनर्जन्म** *Rebirth* – पुनः *(Re)* अर्थात् फिर से ... बार—बार ... पुनः पुनः इस तरह एक के बाद एक ... बार—बार जन्म—धारण करते जाना इसको पुनर्जन्म कहा है । जन्म का अर्थ है— माँ के गर्भ में एक जीवात्मा का आकर स्वकर्मानुसार रहने के लिए (घर) शरीर बनाना और काल की परिपक्वता के ९ ॥ मास बाद धरती पर अवतरना । पुनर्जन्म का सिद्धान्त आत्मवादियों का है । जो आत्मा को मानते हैं उनके लिए पुनर्जन्म मानना अनिवार्य सिद्धान्त है । और जो आत्मा को न माननेवाले अनात्मवादी दर्शन हैं, नास्तिक दर्शन या धर्म हैं, वे जो आत्मा को नहीं मानते हैं, उनके दर्शन में पुनर्जन्म मानने की व्यवस्था होनी ही नहीं चाहिए । क्योंकि जन्म का आधार केन्द्र आत्मा है । आत्मा ही जन्म लेती है । यदि आत्मा न हो तो जन्म ले कौन ? शरीर रचना का कार्य करे कौन ? क्या माता अपने संतान के शरीर की रचना गर्भ में करती है ? जी नहीं । माँ तो सर्वथा अन्जान रहती है । गर्भ में ९ ॥ महीने तक क्या हो रहा है इस विषय में माँ बिचारी सर्वथा अज्ञात रहती

है । यदि माँ ही अपने संतान के शरीर की रचना गर्भ में कर सकती होती तो मनचाहा... सुन्दर से सुन्दर बच्चा बना सकती थी । सर्वांग संपूर्ण—सर्वेन्द्रिय सम्पन्न... बल—बुद्धी युक्त बालक बना सकती थी । परन्तु अफसोस, माँ बिचारी न तो कुछ जानती है और न ही कुछ कर सकती है और न ही संतान बना सकती है ।

यह तो जीवात्मा है जो स्वकृत कर्मानुसार माँ के गर्भ में प्राणवायु और आहार के पुद्गल परमाणुओं को ग्रहण करते हुए शरीर की रचना करता है । जैसे कर्म होंगे वैसा शरीर निर्माण होगा । हो सकता है कि जन्मजात अंधा हो—गूंगा हो, बहरा हो । लूला—लंगडा हो, पंगु हो । मूर्ख हो या बुद्धिमान हो.... कुछ भी कहा नहीं जा सकता । जैसे उसके कर्म वैसे ही उसके शरीर की रचना होगी ।

जब केन्द्र में चेतनात्मा है और जो नित्य शाश्वत है तथा संसारी अवस्था में कर्मग्रस्त है तब तो उसे फिर—फिर जन्म लेना ही पडेगा । बस, इसे ही पुनर्जन्म कहते हैं । चेतनात्मा ही न होती तो जन्म ही कौन लेता ? और चेतनात्मा एक ऐसा अनुगत नित्य द्रव्य है जो जन्म धारण करता है । आयुष्य कर्म के आधार पर निर्धारित वर्षों का जीवन जीता है । और काल समाप्त हो जाने पर... मृत्यु पाता है । मृत्यु कुछ भी नहीं सिर्फ जीवात्मा के शरीर छोडने की क्रिया मात्र है । दोनों का वियोग मात्र है लेकिन यह वियोग जो स्थूल शरीर के साथ है वह कितनी क्षण तक है... सिर्फ ३—४ समय तक । बस, इतने में एक जीवात्मा इस शरीर से निकलकर—जाकर दूसरे जन्मस्थान रूप योनि में प्रवेश कर ही लेती है । और २ घडी के अन्तर्मुहूर्त काल में शरीर धारण कर लेती है । बस, बाद में तो शरीर का सिर्फ विकास ही करना रहता है । उसके लिए मनुष्य गर्भ हो तो ९ ॥ महीने का समय है । सभी योनियों में भिन्न—भिन्न काल व्यवस्था है उस हिसाब से वहाँ उतना रहकर बाद में जन्म लेकर धरती पर अवतरना होता है । इस तरह एक के बाद दूसरा... दूसरे के बाद तीसरा.... इस क्रम से बार—बार जन्म चलते ही जाते हैं । इसे ही पुनर्जन्म कहते हैं ।

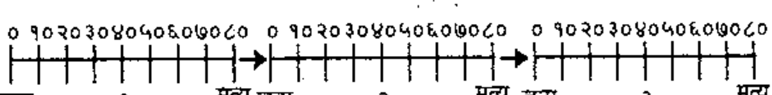


इस तरह जन्म—मरण का चक्र चलता ही रहता है । यह अनन्त की संख्या में है । बस जहाँ जीवों के सतत जन्म—मरण होते ही रहे इसे ही संसार चक्र कहते हैं ।

## संसार चक्र में अनन्त भवभ्रमण—

भव अर्थात् संसार ऐसे संसार—चक्र में जीव कर्मवश सतत परिभ्रमण करते ही रहते हैं। इसे भवभ्रमण कहते हैं। भ्रमण अर्थात् घूमना। कहाँ होता है? जन्मों में। एक के बाद दूसरा जन्म। इस तरह जन्म—मरण धारण करते ही रहने की प्रक्रिया को भव—भ्रमण कहते हैं। जब जीवात्मा ही अनन्त काल से नित्य—शाश्वत है और भावि में भी अनन्त काल तक जिसका अस्तित्व सदा ही बना रहेगा। फिर अन्त का सवाल ही कहाँ खडा होता है? अनादि से लेकर अनन्त तक की लम्बी परंपरा चलती ही रहती है।

यह परंपरा निगोद से प्रारंभ होती है और सिद्ध न बने वहाँ तक चलती ही रहती है। बस, सिद्ध मुक्त बनने के बाद इस भव—भ्रमण का अन्त आ जाता है। निगोद के पहले कुछ नहीं और सिद्ध—मुक्त के बाद भी कुछ नहीं। ये दोनों एक रस्सी के दो किनारों की तरह हैं। पहला किनारा निगोद का और अन्तिम किनारा मुक्ती का। बस, इसके बीच में अनन्त जन्मों का परिभ्रमण चलता ही रहता है। जब तक जीव स्वयं कर्म बांधना—कर्म उपार्जन करना बंद नहीं करेगा तब तक भव—भ्रमण चलता ही रहेगा। कारण हो तो कार्य होता है। जैसे सूर्य हो तो प्रकाश—धूप फैलती ही रहती है। इस तरह कर्म बांधे हुए हो तो आगे जन्म—मरण भवभ्रमण का चक्र चलता ही रहता है। बस, कर्मक्षय शुरू कर दें और "सव्वपावप्पणासणो" सर्व पापकर्मों का संपूर्ण सर्वथा क्षय हो जाय तब मुक्ती हो जाती है। फिर वापिस संसार चक्र में परिभ्रमण करना नहीं पडता है।

एक आत्मा के मोक्ष में जाने से एक जीव का निगोद के गोले में से बाहर निकलना होता है। साधारण वनस्पतिकाय की सूक्ष्मतम अवस्था में से दृश्य—दर्शनीय बनता है। सूक्ष्म में से स्थूल बनता है। आलु—प्याज—लहसून—आदु—अदरक—गाजर—मूला—शक्करकंद—अंकूरा आदि बादर—स्थूल वनस्पतिकाय में जीव आता है। बडे आकार में बनता है। हाँ, सूक्ष्म और स्थूल दोनों ही अवस्था में साधारण वनस्पतिकाय में जीवों की संख्या तो एक शरीर में अनन्त की थी। एक ही शरीर में अनन्त जीवों को एक साथ रहना है। बडी दुःखदायी स्थिति है।

इस निगोद जैसी दुःखद अवस्था में भी जीव ने अनन्त काल बिताया है। अब वह साधारण अवस्था में से बाहर निकलकर... थोडा ऊपर उठकर... प्रत्येक वनस्पतिकाय में आता है। साधारण वनस्पतिकाय की स्थिति में जो एक ही शरीर में अनन्त जीव को रहना पडता था उसके बदले अब प्रत्येक वनस्पतिकाय में एक शरीर में एक ही जीव अलग

से स्वतंत्र रूप से रहने लगा। यह कितनी सुखद अवस्था है ? साधारण की तुलना में प्रत्येक की अवस्था में अनेक गुना ज्यादा सुख है। आनन्द है। प्रत्येक वनस्पतिकाय में भी जीव ने फल–फूल–अनाज–कठोल–तरकारियाँ–औषधियाँ आदि अनेक प्रकार के जन्म लिये। कभी भिण्डी, कभी सेब, कभी गेहूं–ज्वार–बाजरी–मकाई, कभी गुलाब का फूल–कभी आम का वृक्ष–नीम–इमली के वृक्ष आदि के रूप में जाकर जन्म लेना पडा। वनस्पतिकाय में ही जीव को अनन्त काल बिता देना पडता है।

फिर जीव आगे बढा। अप् काय – पानी की योनि में जीव आया। यहाँ पर भी छोटा सा शरीर है और एक साथ असंख्य जीवों को साथ रहना है। अंगुल के असंख्यातवें भाग के समान पानी के जीव का शरीर होता है। कितना छोटा सा.... उस छोटे–छोटे शरीरों के मिलने से स्थूलरूप पानी बना और उसे हमने एक बूंद कहना शुरु किया। लेकिन यह एक भी असंख्य अप्काय के जीवों के शरीरों का पिण्ड है। असंख्य इकट्ठे होने पर ही बादर स्वरूप होता है। तभी दिखाई देने लगता है। दृश्य बनता है। अन्यथा दृश्य नहीं बन सकता। सूक्ष्म रूप में पानी के जीव सकल लोक में सर्वत्र फैले हुए हैं। और स्थूल रूप धारण करनेवाले पानी के जीव लोक में सर्वत्र नहीं हैं। वे तो कुए–तालाब–नदी–झरने–समुद्र आदि स्थानों पर हैं। बरसात की पानी की एक बूंद में .... असंख्य अप्काय के जीव होते हैं।

**पानी में जीव–** पानी में से जीव आगे बढता है और पृथ्वीकाय की योनि में जाता है। पार्थिव शरीर धारण करके पृथ्वी के आकार में आता है। मिट्टी–पत्थर–सोना–चांदी–तांबा–पीतल–लोहा आदि धातुएं बनता है। हीरा–मोती–रत्न बनता है। जगत् में सब प्रकार के पत्थर–मिट्टी–रेती आदि बनता है। अरे पारा, गंधक, हरताल, मनशील, निमक–काला सफेद निमक, फिटकरी आदि कई प्रकार के भिन्न भिन्न शरीर धारण करता है। इन पृथ्वीकायिक जीवों के शरीर भी अंगुल के असंख्यातवें भाग के जितने सूक्ष्म होते हैं। लेकिन एकसाथ जुडकर–मिलकर रहने से वे स्थूल स्वरूप में दिखाई देते हैं। अन्यथा सूक्ष्म स्वरूप में तो वे सकल लोक में फैले हुए हैं। इतने सूक्ष्म देह को धारण करने वाले पृथ्वीकाय की जाति के पार्थिव शरीरों का पिण्ड इकट्ठे होकर कितने बडे विशाल पहाड का रूप धारण कर लेते हैं। पूरी पृथ्वी इन पृथ्वीकायिक जीवों से भरी पडी है। सोचिए, एक पहाड में, पृथ्वी में पृथ्वीकाय के कितने जीव होंगे ? एक शिला–विशालकाय पत्थर.... कितने जीवों का पिण्ड होगा ? समस्त पृथ्वीकाय में जीवों की संख्या गिनने बैठें तो अनन्त की विशाल संख्या आएगी।

फिर आगे बढकर जीव.... अग्निकाय में जाता है । अग्नि भी अग्निकाय के जीवों का पिण्ड स्थूल रूप है। दिखाई देती हुई ज्वाला, चिनगारी आदि अग्निकाय के आकार—प्रकार हैं । इसके बाद जीव वायुकाय में जाता है । हवा के रूप में भी जन्म धारण करता है । ये अरूपी शरीर धारण करते हैं । दिखाई नहीं देते हैं । परन्तु स्पर्श के द्वारा.. .. इनके अस्तित्व का अनुभव होता है । ये भी सूक्ष्म रूप में तो सर्वत्र लोक में फैले हुए हैं । स्थूल रूप में भिन्न—भिन्न क्षेत्रों में दृश्य बनते हैं ।

## विकलेन्द्रिय में जन्म—

जीव की यात्रा इस तरह आगे बढती ही जाती है। पाँच स्थावरों में पृथ्वी—पानी—अग्नि—वायु और वनस्पति के जन्मों की अनन्त बार—अनन्त काल तक करके बाद में जीव एकेन्द्रिय में से दोइन्द्रिय की जाती में आता है। इसमें जीव कृमि—शंख—कोडी—अलसिये—नासूर के कीडे, जलो, बेक्टीरिया, आदि सैंकडों प्रकार के जन्म धारण करता रहता है । स्वकाय स्थिति अर्थात् अपनी ही दोइन्द्रिय की काया में बारबार जन्मना, पुनः मरना, पुनः इन्ही दोइन्द्रिय में जन्म लेते रहना इस स्वकाय स्थिति में जीव जन्म—मरण करता ही रहता है ।

**बेइन्दिय काय मइगओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे ।**
**कालं संखिज्ज सन्निंयं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥ १०/१० ॥**

श्री उत्तराध्ययन आगम शास्त्र में परमात्मा श्री महावीर प्रभु गौतम गणधर को एक समय भी प्रमाद न करने के हेतु से सावधान करने के लिए कह रहे हैं कि— दोइन्द्रिय में गया हुआ जीव संख्यात हजार वर्ष काल तक उत्कृष्ट रूप से स्वकाय स्थिति करता है । अर्थात् संख्यात हजार वर्ष का काल वह जीव सिर्फ दोइन्द्रियवाले जन्मों में बिताता रहता है । पुनः पुनः जन्म—मरण दोइन्द्रियवाले जीवों में ही करना । उसमें से इतने वर्षों तक वह बाहर निकल कर आगे की इन्द्रियवाले शरीर को धारण नहीं करता है । जन्म लेकर फिर मृत्यु पाया । फिर दूसरा जन्म लिया । इससे हमको क्या लगता है ? वह जीव आगे बढ गया । लेकिन वह तो वहीं है । हाँ, मात्र आयुष्य का काल पूर्ण हो जाता है । अतः वह जन्म समाप्त करके दूसरा जन्म—दूसरा शरीर जरूर धारण कर लेता है, परन्तु .... अपनी ही दोइन्द्रियवाली काया पुनः धारण करता है । शरीर का आकार—प्रकार ही सिर्फ बदला है, परन्तु आगे विकासगति नहीं हुई है । आगे की ३ इन्द्रिय वाला नहीं बन पाया है । कभी कृमि में से मरकर बेक्टीरिया बन जाय तो फिर बेक्टीरिया में से मरकर जलो के रूप में

बन जाय जो चमडी पर चिपक कर खून खींच लेती है । फिर मरकर शंख के रूप में जन्म ले, फिर मरकर नासूर का कीडा बन जाय, फिर मृत्यु पाकर अलसिया बन जाय । इस तरह जन्म बदलता जरूर है परन्तु इन्द्रिय की प्राप्ति की कक्षा नहीं बदलती है । जब तक आगे की इन्द्रिय की कक्षा न मिले तब तक आगे विकास भी नहीं होता है ।

**तीन इन्द्रियवाले भव—**

अब संख्यात हजार वर्ष काल के बाद जीव तेइन्द्रिय की कक्षा में आता है । एक कदम आगे बढता है । १ ली स्पर्शेन्द्रिय (चमडी) + २ री रसनेन्द्रिय (जीभ) + ३ री घ्राणेन्द्रिय (नासिका) प्राप्त होती है । दो इन्द्रियाँ तो पहले की थी, और एक और पाई । और जीव ने एक कदम आगे प्रगति की । इतना विकास हुआ... स्पर्श और रस दो का ज्ञान था.... इन दो को ग्रहण करता था.... अब तीसरी घ्राणोन्द्रिय से— सुगंध—दुर्गन्ध को भी ग्रहण करने लगा । विषय बढा । इसी के साथ जीव की गति प्रवृत्ति—भी बढी । अब वह चिंटी—मकोडा—खटमल—सिर की जू, लीक, चमडी पर की जू, सावा, कीडा, रेशम का कीडा, लट—(इयल) अनाज का कीडा, फल—फूल तरकारियों का कीडा, दीमक—ऊधई आदि कई प्रकार के जन्म धारण करने लगा । शरीर भी थोडा बढा, गति भी काफी बढी । प्रवृत्ति भी काफी बढी । अब आहारादि के लिए इधर—उधर भागना आदि शुरु हुआ । चिंटी—शक्कर की कण लाती है । बिल में रखती है । मकोडे दौडते हैं इत्यादि ।

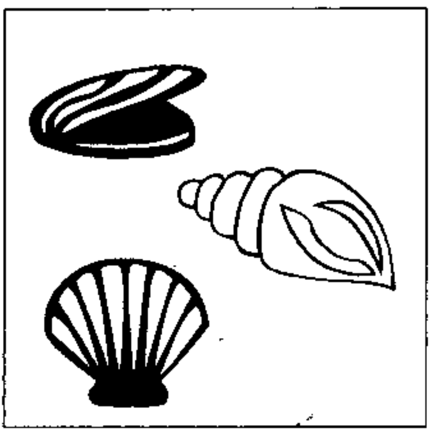

इन ३ इन्द्रिय वाले ही शरीर में रहते रहते जीव कितना काल बिताता जाएगा । ३ इन्द्रियवालों की स्वकाय स्थिति का काल बताते हुए प्रभु फरमाते हैं—

**तेइन्दियकाय मइ गओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे ।**
**कालं संखिज्जसन्नियं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥**

३ इन्द्रियवाले शरीर को धारण करता—करता जीव उत्कृष्ट से संख्यात हजार वर्षों का काल भी बिता देता है । जबकि आप देख ही रहे हैं कि— चिंटी, मकोडे, जूं, लीक, रेशम

के कीडे आदि कितने उत्पन्न होते हैं ? कितनी इनकी संख्या है और कितना जल्दी मर भी जाते हैं, और रोज कितने हजारों लाखों की तादात में उत्पन्न—पैदा होते रहते हैं ? जल्दी मरनेवाले जीवों का आयुष्य काल बहुत छोटा होता है । वह जीव बहुत जल्दी मरने से ऐसा न समझ लें कि... अच्छा हुआ, चलो, अब वह जीव बहुत आगे चला जाएगा । जी नहीं । हजारों वर्षों तक पुनः ३ इन्द्रियवाले शरीरों को धारण करता ही रहेगा । हाँ, पर्याय

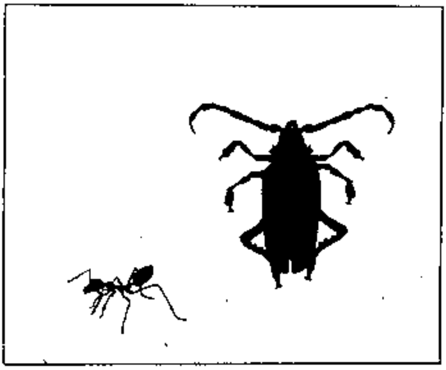

अर्थात् आकार—प्रकार जरूर बदलते रहेंगे । जूं का आकार छोटा होगा तो चिंटी का बडा और मकोडे का उससे भी बड़ा आकार रहेगा । और रेशम के कीडे—लटादि का उससे भी बडा रहेगा । लेकिन शरीर छोटा—बडा होने से उसे कुछ भी फरक नहीं पडता है । जैसे हमारे मनुष्यों में भी कोई ७ ॥ फीट लम्बा हो और कोई २ ॥ फीट का बावना ही हो तो प्रवृत्ति आदि किसी में भीं किसी प्रकार का कोई फरक नहीं पडता है । व्हेल मछली १०० फीट से भी ज्यादा लम्बी होती है और २—४ इंच वाली छोटी—छोटी मछलियाँ भी होती ही हैं । दोनों के आहार निहार गति आदि में क्या फरक पडता है ? कुछ भी नहीं । वैसे ही ३ इन्द्रिय वाले जीव जो तेइन्द्रिय की जाति में ही हैं उनमें शरीर की पर्याय का आकार—प्रकार बदल जाने या घट—बढ जाने से कोई फरक नहीं पडता है । कोई शरीर बडा हो जाने मात्र से कोई विकास हो नहीं जाता है । शरीर की दृष्टि से देखने पर तो २ इन्द्रियवाले अलसिये, जलो, नासूर का कीडा आदि कई काफी बडे—लम्बे—चौडे भी होते ही हैं । लेकिन इससे उनका विकास संभव नहीं है । संसार चक्र में परिभ्रमण करते करते जीव... तेइन्द्रिय काय में कितने जन्म बिता देता है इसकी कोई गिनती नहीं हो सकती है ।

### ४ इन्द्रियवाले चउरिन्द्रिय जीव—

जैसे जैसे जीव आगे बढता है वैसे वैसे १ इन्द्रिय अधिक प्राप्त होती है । अकाम निर्जरा के बल पर जीव थोडा विकास साधता हुआ आगे बढता है । और चौथी एक और इन्द्रिय प्राप्त करता है । वह है चक्षु—आँख । तेइन्द्रिय के चिंटी मकोडे आदि जीवों को

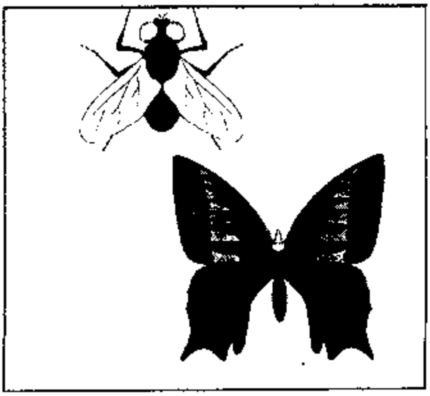

अब तक देखने की शक्ती नहीं मिली थी। अब चउरिन्द्रिय बनने पर उसे आँख मिली। पहले की तीन– १ स्पर्शेन्द्रिय, + २ रसनेन्द्रिय + ३ घ्राणेन्द्रिय, ये तीन थी और अब चौथी चक्षु–आँख और मिलने से जीव चउरिन्द्रिय बना। चउरिन्द्रियपने में आकर जीव . . . .बिच्छू–मक्खी–मच्छर–भौरा–तीड–पतंगिया–तितली आदि रूप धारण करने लगा। इन सबको आँख होती है। और इसके साथ साथ चमडी–जीभ तथा नासिका तो होती ही है। चौथी आँख और मिल गई जिससे अब देखने की शक्ती प्राप्त हो गई। एक कदम जीव का आगे और विकास हुआ। लेकिन कितने हजार वर्षों बाद हुआ? फिर भी हुआ तो सही। अकाम निर्जरा करते करते जीव आगे बढ रहा है। लेकिन फिर चउरिन्द्रिय में भी कितना काल बिता देगा इसका कोई ठिकाना नहीं है। ऐसा नहीं है कि सिर्फ १ मक्खी का भव किया और आगे बढ जाएगा। और पंचेन्द्रिय हो जाएगा। नहीं, असंभवसा लगता है। फिर भी एक मरुदेवा माता के जीव की तो बात ही अलग है। वनस्पति काय में से सीधी छलांग लगा दी और सीधे मनुष्यगति में पहुँच गया। लेकिन वैसा दूसरा दृष्टान्त कहाँ मिलता है?

यद्यपि चउरिन्द्रिय काय में मक्खी–मच्छर आदि के भव काफी छोटे होते हैं। जल्दी जन्मते हैं और जल्दी मरते भी हैं लेकिन . . . . ये वापिस चउरिन्द्रियपने में ही जन्म लेते जाएँ और मक्खी के बाद मच्छर बने, मच्छर के बाद भौरा बने, फिर तीड बने, फिर तितली बने, फिर पतंग बने इत्यादि बनते ही जाय तो इस प्रकार की स्वकाय स्थिति में कितना काल बिता दें? . . . प्रभु फरमाते हैं कि—

**चउरिंदियकायमइगओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे।**
**कालं संखिज्जसन्नियं, समयं गोयम! मा पमायए॥ १०–११॥**

चार इन्द्रियवाला बनकर चउरिन्द्रियकाय की जाती में आकर जन्म धारण करते करते जीव संख्यात हजार (हजारों) वर्षों का काल भी बिताता है। इस तरह संसार चक्र में

परिभ्रमण करते करते जीव बहुत लम्बा—दीर्घ काल बिताता है। और अनन्त भवों को करता—करता भव—भ्रमण करता है।

**शाकाहारी मांसाहारी दोनों प्रकार के जीव—**

जब से दूसरी इन्द्रिय—जीभ—रसनेन्द्रिय प्राप्त हुई है तब से जीव... मुँह से आहार करता ही आया है। खाते ही रहना एक प्रकार की वृत्ति बन गई है। लेकिन क्या खाना—क्या नहीं खाना इसका विवेक कहाँ है? कर्मबंधकारक वैसी वृत्ति—प्रवृत्ति भी तो रहती ही है। उसीके आधार पर भावि की भव परंपरा बढती ही रहती है। तेइन्द्रिय में देखिए— रेशम के कीडे कैसे शाकाहारी हैं? शहतूत की पत्तियाँ खाते हैं, अनाज के कीडे अनाज खाते हैं। फल—तरकारियों में मटर—भिंडी आदि में रहनेवाले उसी का आहार करते हैं। अतः शाकाहारी हैं। काजु—बादाम—पिस्ते में भी कीडे पडते हैं और उनको भी अंदर से खा जाते हैं। यह तो रोज देखते ही हैं। ये शुद्ध शाकाहारी हैं। और खटमल मांसाहारी हैं। जो चमडी में अपना काँटा फँसाकर खून चाटेंगे। चिंटियों में भी लाल चिंटी देखिए— चमडी पर पक्कड मजबूत बनाकर चिपक जाएगी। और अपनी नोंक चमडी के अन्दर डालकर खून चाटती रहती है। वही हालत जूं की भी है। देखिए.... इतने छोटे से तेइन्द्रिय के शरीर के रहकर भी ये कितनी पीडा दूसरों को पहुँचाकर रक्त पीने का—मांसाहार करने का पाप करते हैं। फिर कर्मबंध से हजारों वर्षों तक स्वकाय स्थिति में भव—भ्रमण नहीं करना पडेगा तो क्या होगा? अरे! स्वकायस्थिति में ही करें तो तो और भी अच्छा ही है लेकिन... पापकर्मों के आधार पर नीचे गिरकर पुनः २ इन्द्रियवाले तथा एकेन्द्रियवाले भव भी धारण करने पडते हैं जहाँ से असंख्य वर्षों का—अनन्त वर्षों का काल बिताकर जीव आया था वहीं वापिस जाना पडे.... फिर वे सब धारण करना पडे तो यह कितना भारी पतन होगा?

इसी तरह चउरिन्द्रिय— में भी... मक्खी मच्छर भौंरा आदि जीव भी दोनों प्रकार के हैं। मक्खी की एक छोटी ग्रामीण जाति शाकाहारी है। जो आहार पर बैठकर अपना खाद्य ग्रहण करती है। मधुमक्खियाँ बगीचों में से पुष्पों पर बैठ कर परागकण ही ग्रहण करती हैं। परन्तु जंगली बडी मक्खियाँ मांसाहारी भी होती हैं। किसी की चमडी पर बैठकर शरीर से रक्त खींचती हैं। और मच्छरों को तो आप पहचानते ही हैं। ये तो पक्के एक नंबर के मांसाहारी ही हैं। ये आहार पर नहीं बैठेंगे। ये शरीर पर बैठकर—चमडी के अन्दर अपनी नोंक घुसा देंगे और खून चूसते रहेंगे। इससे मनुष्यों को वेदना होती है।

कई किसम के भौंरे भी ऐसा ही करते हैं । इस तरह चउरिन्द्रिय निकाय में भी जीवों को हजारों वर्षों तक जन्म—मरण करने पडते हैं । तथा चउरिन्द्रिय में से वापिस नीचे पतन भी होता है । तेइन्द्रिय, दोइन्द्रिय और एकेन्द्रिय में भी चले जाते हैं । वापिस वहाँ की भव परंपरा करनी पडे ।

**वनस्पति में भी मांसाहार—** वनस्पति के वृक्ष तो एकेन्द्रिय की कक्षा में गिने जाते हैं । सिर्फ स्पर्श मात्र का थोडा सा ज्ञान है । ऐसे एकेन्द्रिय जाती में प्रत्येक वनस्पतिकाय में कई वृक्ष इस प्रकार के हैं जो अपने फल—फूल का मुँह खुल्ला रखते हैं । जब खिलते हैं और उसमें बाहर से कोई भौंरा—मक्खी आदि आकर बैठ जाए तो उनके पुष्प सिकुडकर बन्द हो जाते हैं । और फिर संकुचनादि की क्रिया करते हैं । इस तरह अन्दर की खुरदरी सतह पर घिस कर वे भौंरे आदि मर जाते हैं । उनका खून आदि जो होता है उसे वे पौधे चूस लेते हैं ग्रहण करते हैं । कुछ वृक्षों के कांटे होते हैं । कुछ वृक्षों के पत्ते . . . कांटेदार नूकीले होते हैं । जो सूंई की तरह चुभते हैं । और वे काटे शरीर में—चमडी पर फँस जाते हैं । जिससे वे खून चूसने का काम करते हैं । तथा कई पौधों के बीजों को सादी जमीन में बोया गया तथा कुछ को मृत कलेवर वाली भूमि पर बोया गया अर्थात् जिस भूमि में किसी भी पशु—पक्षी आदि के मृत शरीर दबे हुए हो । ऐसी भूमि पर बीज बोया गया तो वे बीज उन मृत कलेवरों से आहार के परमाणुओं को खींचकर अपने शरीर की वृद्धि काफी जल्दी कर लेते हैं । इस तरह वनस्पति के अन्दर भी शाकाहारी—मांसाहारी के भेद पडते हैं । परिणाम स्वरूप इस छोटी सी वनस्पति की काया में जाकर भी एक मात्र आहार के कारण कितने कर्म उपार्जन करता है और किस तरह अपना पतन करता है ?

**वनस्पति में स्वकायस्थिति—** एकेन्द्रिय में भी जो मात्र वनस्पतिकाय की स्थिति में ही रहते हैं वे जीव भी वहाँ पर कितना काल बिताते हैं ? जन्म—मरण तो निरंतर चलते ही रहेंगे ? इस तरह कितना काल बिताता है जीव ? इस पर श्री वीर प्रभु फरमाते हैं कि—

**वणस्सइकाय मइगओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे ।**
**कालमणंतं दुरंतं, समयं गोयम ! मा पमायए ।। १०/९ ।।**

साधारण वनस्पति भी वनस्पतिकाय का ही भेद है । इसमें जीव अनन्त काल बिता देता है । अनन्त काल शब्द छोटा पडता है । इससे बडा शब्द है— अनन्त उत्सर्पिणी—अवसर्पिणी का काल वहाँ जीव बिताता है । शरीर छोटा और जीवन भी छोटासा, इस तरह भी जीव अनन्त जन्म वहाँ बिताता हुआ कितना लम्बा—चौडा भव भ्रमण करता है ? अतः श्लोक में दुरंत शब्द का प्रयोग किया है । अत्यन्त कठिन है ।

## एकेन्द्रियों का भवभ्रमण—

पुढवीकाय मइ गओ, उक्कोसं जीव उ संवसे।
कालं संखाईअं, समयं गोयम ! मा पमायए॥ १०/५ ॥
आउकाय मइ गओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे।
कालं संखाईअं, समयं गोयम ! मा पमायए॥ १०/६ ॥
तेउक्काय मइ गओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे।
कालं संखाईअं, समं गोयम ! मा पमायए॥ १०/७ ॥
वाउक्काय मइ गओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे।
कालं संखाईअं, समयं गोयम ! मा पमायए॥ १०/८ ॥

उत्तराध्ययन आगमशास्त्र के १० वे अध्ययन में प्रभु फरमा रहे हैं कि— एकेन्द्रिय के जन्म में गया हुआ जीव जब पृथ्वीकाय में पत्थर—मिट्टि—धातु—रत्नादि पर्याय धारण करता हुआ भव भ्रमण करता है तब उसमें संखाईअं = संख्यातीत = अर्थात् संख्या के भी अतीत—उस पार मतलब है अनन्त काल से। इतना अनन्त उत्सर्पिणी—अवसर्पिणी का काल जीव पृथ्वीकाय में, अप्काय—पानी में तेउकाय अर्थात् अग्नि के जन्मों में तथा वाउकाय—हवा के जीव रूप में जन्म बिताते हुए भव भ्रमण करने में काल बिता देता है। इस तरह अनन्त उत्सर्पिणी—अवसर्पिणी का काल जीव एकेन्द्रिय के भव करने में बिता देता है। और आगे विकास नहीं हो पाता है। अकाम निर्जरा करते करते जीव बडी मुश्किल से आगे बढ पाता है। ऐसी स्थिति में यदि अनन्त काल बिताना पडे तो आगे का विकास कैसे संभव होगा?

एक तरफ तो जीव ने निगोद की अवस्था में साधारण वनस्पतिकाय की कक्षा में भी अनन्त उत्सर्पिणी—अवसर्पिणी का काल बिता दिया और बडी मुश्किल से संसार के व्यवहार में आया। आगे के पृथ्वी—पानी के एक इन्द्रियवाले भवों में आया। इसमें पृथ्वी—पानी—अग्नि—वायु, में भी अनन्त उत्सर्पिणी—अवसर्पिणी का काल बिता दिया। इसके बाद २, ३, और ४ इन्द्रियोंवाले विकलेन्द्रिय के भवों में जीव ने संख्यात हजारों वर्षों का काल बिता दिया। कैसे विकास होगा? आगे उत्थान—प्रगति कैसे होगी?

## चढाव—उतार का विचित्र विकास—

जीव जब तक संसार में रहेगा तब तक कर्मों को करते हुए ही रहेगा। कर्मों के साथ ही रहेगा। कर्मों को करते हुए शुभाशुभ विपाकों को भुगतते हुए भव—भ्रमण करता है

जीव । इसमें भवों में विकास जैसा लगा कि आगे बढ रहा है जीव, लेकिन फिर नीचे उतरा हुआ पीछे कदम रखता हुआ भी लगा । अशुभ पापकर्म नीचे गिराते हैं । शुभ पुण्य कर्म ऊपर चढाते हैं । आगे बढाते हैं । दोनों ही प्रकार के कर्म हैं । इनके कारण चढाव–उतार होता ही रहता है । कभी तो जीव आगे बढा और सीधा चउरिन्द्रिय में पहुँचा और वापिस जीव गिरा कि दोइन्द्रिय में आ गया । फिर कभी ऊपर चढा और तेइन्द्रिय बना, फिर गिरने

पर पृथ्वी–पानी में आया । फिर आगे बढा । कभी तेइन्द्रिय में चिंटी मकोडा बना और कुछ काल–कुछ भव बिताए और पापकर्मवश पुनः जीव दोइन्द्रिय में आ गया । आखिर स्वकृत कर्मानुसार जीव वापिस आगे बढा और पंचेंद्रिय में भी पहुँचा । वहाँ तिर्यंच गति का जलचर बना, कुछ भव वहाँ पंचेन्द्रिय में किये । ऐसा लगा कि काफी ऊपर चढ गया है । कुछ विकास हुआ है । लेकिन अपने पापों को करके जीव पुनः नरक गति में गया । नारकी बना । असंख्य वर्षों तक अपने पापों की सजा भुगतता रहा । फिर वापिस तिर्यंच की गति में जाकर पशु–पक्षी बना । पेट के खातिर जीते हुए अपने खाने के लिए भी भारी पाप कर्म करने पडे । जैसे सिंह को भूख लगने पर, पेट भरने हेतु भी किसी प्राणी को मारकर ही खाना पडेगा क्योंकि वह मांसाहारी है । झाडीयों के बीच रहने के बावजूद भी वह घास का एक तिनका भी नहीं खाता है । अतः मांस तो किसी को मारकर ही खाएगा । फिर हिंसा के पापकर्म के कारण जीव नरक में जाता है । फिर वहाँ से तिर्यंच की पशु–पक्षी की गति में आता है । पाप–कर्म की प्रक्रिया चालू ही रहती है । क्योंकि ऐसी पशु–पक्षी की तिर्यंच गति में धर्माराधना की समझ कहाँ है ? ज्ञान कहाँ है ? फिर पतन नहीं होगा तो क्या होगा ?

तिर्यंच गति के पशु–पक्षी के जन्म में कुछ परोपकार–पुण्योपार्जन करके ऊँची गति में देवगति में पहुँचा, देवता भी बना । बडा लम्बा चौडा आयुष्य प्राप्त किया । बहुत ही अच्छे सुख–मौज में भोगादि भुगतते हुए उसने वहाँ भी जन्म बिताया । वहाँ तीव्र मोहदशा

में मृत्यु पाकर वहाँ से गिरा और गिरकर वापिस तिर्यंच गति में आया और पतन भी इतना ज्यादा हुआ कि कई बार देवता देवगति से गिरकर एकेन्द्रिय की पृथ्वीकाय की जाती में जाता है । और वहाँ हीरा—मोती—रत्नादि के रूप में जन्म लेता है ।पार्थिव पदार्थ बनता है । ओहो ! कितने ऊपर से कितना नीचे पतन । अब यदि इस तरह जीव अपनी भव परंपरा करता रहेगा तो कब उसका उत्थान—विकास होगा ? कैसे आगे बढेगा ? कितने काल में—कितने वर्षों में कितने भवों में आगे बढेगा ?

८४ लाख जीव योनियों में जन्म धारण करते—करते जीव मनुष्य गति में भी आ जाता है । मनुष्य का जन्म धारण करके भी जीव सेकडों पापों को करने में लग जाता है ।

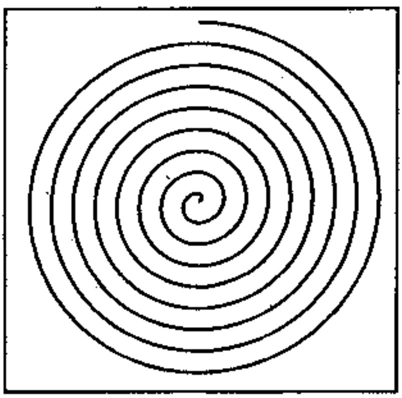

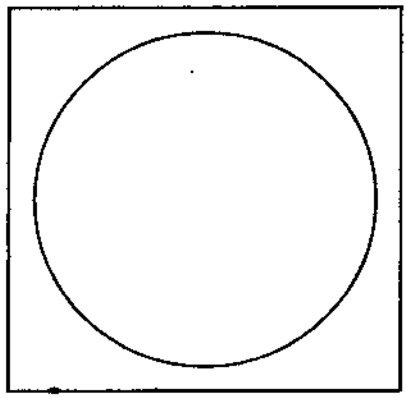

परिणाम स्वरूप कई बार नरक गति में जाता है तो कई बार तिर्यंच गति में जाकर . . . . पशु—पक्षी भी बनता है । यह भी वहाँ से पतन ही है । यह विकास नहीं विनाश है । क्योंकि मनुष्य गति का जन्म धर्माराधना—पुण्योपार्जन करने के लिए था । कर्मक्षय करने के लिए था । किये हुए पापकर्मों को धोने का था . . . उसके बदले जीव ने पाप की प्रवृत्ति चालू रखी । परिणाम स्वरूप जीव का पतन हुआ और मनुष्य जन्म से गिरकर पुनः तिर्यंच पशु—पक्षी की गति में भी गया और कई बार नरक गति में भी गया । वहाँ से वापिस बाहर निकला, फिर ८४ के चक्र में परिभ्रमण करता ही रहा ।

आप देखिये, इन दोनों चित्रों में— एक नंबर के चित्र में *Spiral* है । इसमें दोनों किनारे कहीं मिलते ही नहीं है । गोल—गोल जीव घूमता ही जाता है । इस वर्तुलाकृति की तरह घूमते—घूमते जीव ने अनन्तानन्त जन्म बिता भी दिये तो भी कहीं अन्त नहीं आया ।

और जन्म—मरण का चक्र चलता ही रहा । दूसरी चित्राकृति में सीधा वर्तुल है । चक्राकार गोल है । इसमें दोनों किनारे सीधे मिल जाते हैं । इस तरह यदि कोई जीव अपने संसार चक्र में परिभ्रमण करते हुए १—२ जन्म करके संसार चक्र का अन्त ले आए । तथा भव संसार से छुटकारा पाकर मोक्ष में चला जाय तब तो सर्वश्रेष्ठ प्रक्रिया है । परन्तु ऐसा भाग्यशाली जीव अनन्त की संख्या में एक दो भी मिलना मुश्किल है ।

अतः समस्त संसार चक्र चक्राकार या वर्तुलाकार न चलते हुए... *Spiral* ही चलता है । यह जीवों के घूमने — भटकने की स्थिति है । द्योतक है । आपको याद होगा कि... बच्चे के रूप में हम जब छोटे से थे.... तब... क्या करते थे ? जिस दिन पाटी—पेन, या कागद—पेन्सिल हाथ में लेकर पहले—पहले क्या किया था ? क्या लिखा था ? वापिस स्मृति को थोडी और ताजी करिये । आपको याद आने पर ख्याल आएगा कि... *Spiral* के जैसी गोल—गोल आकृति ही की होगी । सीधा सरल.... वर्तुल बना लेना तो बहुत ही मुश्किल था । सच पूछा जाय तो यह कुछ भी नहीं सिर्फ जीव की अनेक जन्मों से चली आती हुई संसार यात्रा का प्रदर्शन है । जीव ने अपनी स्वयं की भव भ्रमण की स्थिति दर्शायी है । इसमें वास्तविकता का ख्याल कराया है । इस तरह जीव संसार में सीधा विकास नहीं साध पाता है । और चढाव—उतार उत्थान—पतन करता हुआ चलता ही रहता है ।

जैसे कोई एक व्यक्ति यहाँ से उत्तर दिशा में दिल्ली की तरफ जाता हो । और वह १ कदम आगे रखे.. और २—३ कदम पीछे रखे... फिर १ कदम आगे रखे, फिर २—३ कदम पीछे रखे... फिर १ कदम आगे रखे, फिर २—४ कदम पीछे हटे, फिर कभी १ कदम आगे रखे और फिर एक कदम आगे रखे और फिर एक कदम आगे रखे और ३—४ कदम पीछे रखे... इस तरह यदि वह चलता जाय तो क्या वह दिल्ली पहुँच सकेगा ? जी नहीं । कभी भी संभव नहीं है । क्योंकि अन्त में सब कदम जोडने पर.... ज्यादा संख्या पीछे चलने की होगी । इसकी तुलना में आगे चलने की कदमों की संख्या बहुत कम रहेगी । परिणाम स्वरूप अन्त में वह जीव अपना पतन करता हुआ नीचे गिरता रहेगा । इसे विकास नहीं विनाश कहेंगे । और आपको आश्चर्य तो इस बात का होगा कि अनन्त काल से यही क्रम इसी तरह से चल रहा है । हमारा सभी जीवों का इस तरह ऐसा क्रम चल रहा है । सोचिए, कहाँ विकास हुआ ? हम आगे कहाँ बढे हैं ? और पीछे उतरे हैं । यह तो विनाश की दिशा है ।

## ४ गति के चक्र में परिभ्रमण—

संसार और कुछ भी नहीं है . . . न तो किसी वस्तु विशेष का नाम है और न हीं किसी चीज को हम संसार कह सकते हैं। संसार नाम की कोई स्वतंत्र चीज—वस्तु नहीं है। संसार तो एकमात्र ८४ लाख जीव योनियों में जन्म—मरण धारण करते हुए परिभ्रमण करने को कहते हैं। जहाँ जीव सतत पुण्य—पाप की प्रवृत्ति करके कर्मोपार्जन करता रहे और कालान्तर में उनके विपाक (फल) रूप में सुख—दुःख को भुगतता रहे इसी को संसार कहते हैं।

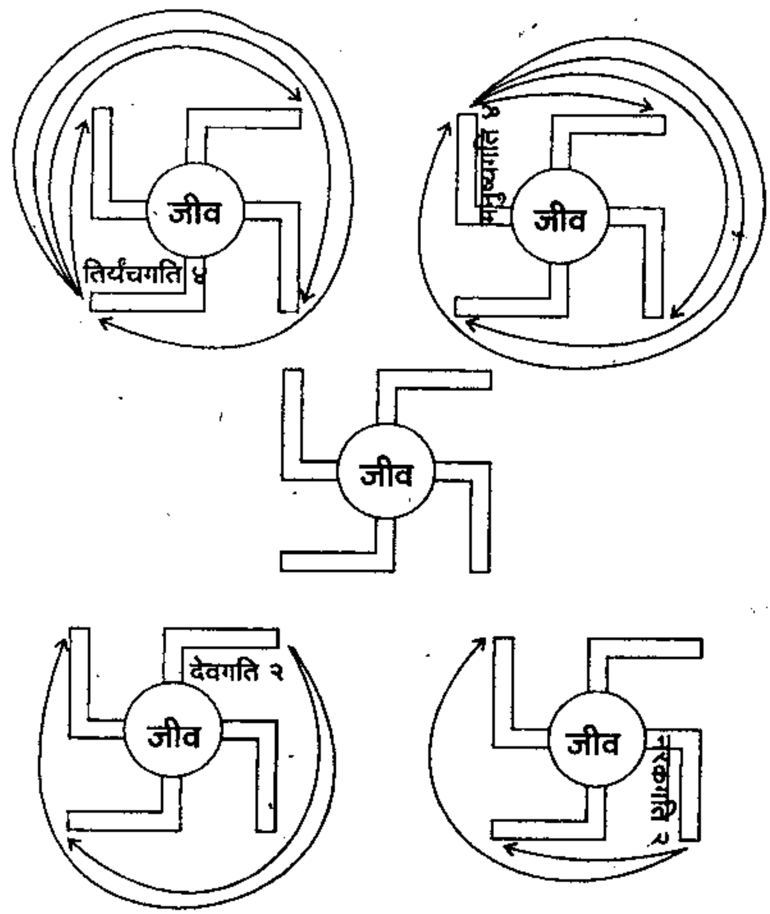

ऊपर के इस चित्र में देखिए--- यह स्वस्तिक का चित्र है। स्वस्तिक ४ गति का सूचक है। १ तिर्यंच गति, २ मनुष्य गति, ३ नरकगति, और ४ देव गति। बस ये चार गतियाँ संसार में हैं। पाँचवी गति कोई है ही नहीं। इन चारों गति में जीवों का वास है। सर्वत्र जीव रहते हैं। यही संसार है। संसार की इन चारों गतियों में जीव कर्मवश सतत परिभ्रमण करता ही रहता है। एक गति से जीव दूसरी गति में जाना, वापिस जीव दूसरी गति से तीसरी में जाय या फिर वापिस पहलेवाली गति में आता है या फिर कर्मवश चौथी गति में जाता है। इस तरह चारों गति संसार में सतत गमनागमन होता ही रहता है।

जीव कहीं भी कभी भी एक ही गति में रुककर बैठा नहीं रहता है। एक गति से दूसरी गति में भी जाना होता है या फिर एक गति में ही बार बार जन्म होते रहते हैं तो जन्म तो बदलते ही रहते हैं। जन्म से लेकर मृत्यु तक का एक जीव होता है। उस जीवन काल का निर्धारित आयुष्य होता है। तदनुसार आयुष्य पूर्ण करके जीव उसी गति में भी रह सकता है। या फिर अन्य गति में भी जा सकता है। इस तरह जीवों का चारों गति में गमनागमन होता है। पहले स्वस्तिक में ४ गतियाँ दिखाई गई हैं। तीसरे स्वस्तिक में तिर्यंच गति के पशु—पक्षी आदि गाय, भैंस, बैल, बकरी, हाथी, घोडा, साँप, ऊँट, मछली, मगरमच्छ, बन्दर आदि पशु तथा कौआ, तोता, मैना, चिडिया, हंस आदि पक्षी सभी जीव स्वकृत शुभाशुभ कर्मानुसार चारों गति में जाते हैं। पशु—पक्षी मरकर मनुष्य भी बनते हैं और देवगति में जाकर देव बनते हैं। तथा किये हुए पाप कर्मों के अनुसार सिंहादि को नरक गति में भी जाना पडता है। इसी तरह कई पशु—पक्षी के जीव मरकर वापिस तिर्यंच की ही जाति में जन्म लेते हैं। गति--परिवर्तन नहीं होता है, वही रहता है। लेकिन जन्म बदलते हैं। हाथी मरकर घोडा बने, घोडा मरकर गधा बने, गधा मरकर कुत्ता बने इत्यादि अनेक प्रकार के पशु—पक्षी के जन्म धारण करते रहता है। इस तरह तिर्यंच गति के जीव चारों गति में परिभ्रमण करते हैं। मृत्यु के अनन्तर चारों गति में जाते हैं।

**१ से ५ जाति के जीव तिर्यंच गति में—**

तिर्यंच गति बहुत लम्बी—चौडी काफी विशाल है। गति की दृष्टि से देव मनुष्य और नारकी जीवों के अतिरिक्त सभी जीवों का समावेश तिर्यंच गति में होता है। एकेन्द्रिय के अतिरिक्त सभी जीवों का समावेश तिर्यंच गति में होता है। एकेन्द्रिय के पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति के ५ स्थावर जीव, कृमि—कीट आदि दो इन्द्रियवाले जीव, चिंटी मकोडे आदि तेइन्द्रिय जीव, मक्खी—मच्छरादि चउरिन्द्रिय जीव, तथा हाथी, घोडे, कौए,

कबूतर आदि पशु—पक्षी वाले समस्त जीवों की गिनती गति की दृष्टि से तिर्यंच गति में होती है। इन्द्रियों की अपेक्षा से जाति निर्धारित होती है। लेकिन गति नाम कर्म अलग है। जो जीवों की गति निर्धारित करता है।

दूसरे स्वस्तिक में मनुष्य गति का गमनागमन दिखाया गया है। मनुष्य की गति सर्वोच्च प्रकार की सर्वश्रेष्ठ गति है। धर्माराधना की दृष्टि से ऊँची गति है। लेकिन मनुष्यों की करनी भी तो तथाप्रकार की ऊँची होनी चाहिए। यदि धर्म करनी पुण्य—परोपकार की ऊँची करनी हो तो मनुष्य मरकर मनुष्य भी बनता है। सर्वश्रेष्ठ प्रकार की धर्माराधना के बल पर जीव देवगति में भी जाता है। और अगर अधम प्रकार के पाप कर्म करता है तो तिर्यंच की पशु—पक्षी में भी जाकर जन्म लेता है। और अत्यन्त क्रूरता आदि के कारण हिंसा—हत्या—महापाप आदि करता है तो मरकर जीव नरक गति में भी जाता है। इस तरह मनुष्य स्वकृत कर्मानुसार चारों गति में से वापिस मनुष्य की गति में आता भी है। यह मनुष्य गति के जीवों का गमनागमन है।

चौथे स्वस्तिक में देवगति के देवताओं का गमनागमन दिखाया गया है। देवगति कितनी भी ऊँची हो, कितनी भी अच्छी हो, आखिर है तो संसार में। देव गति में भी जन्म—मरण तो सतत होते ही रहते हैं। और रोज जन्म होता ही रहता है इससे यह सिद्ध होता है कि कई जीव बाहर से आते होंगे। तभी तो स्वर्ग की देवगति में जन्म होता होगा? बिना जीव के आए जन्म कभी भी नहीं होता है। देवगति में सिर्फ २ ही गति में से जीव आते हैं। एक मनुष्य गति में से और दूसरी तिर्यंच की गति में से जीव आते हैं। इस तरह देव गति में भी रोज भर्ती होती ही जाती है। देवगति के देवता वहाँ मरकर वापिस देव नहीं बनते हैं। यह शाश्वत नियम है। कोई भी देवता मृत्यु के पश्चात वापिस देवता नहीं बनता है। और न ही देव मरकर नरक में जाता है। क्योंकि नरक गति में जाने योग्य उनके पाप नहीं होते हैं। वे देवता ज्यादा से ज्यादा तिर्यंच की पशु—पक्षी की गति में जाते हैं। और भी ज्यादा पतन होने पर देवता तिर्यंच गति में—एकेन्द्रिय जाति में पृथ्वीकाय में हीरे, रत्नादि में उत्पन्न होते हैं। यह उनका उत्कृष्टतम पतन है। देवताओं की चारों निकायों में से नीचे नीचे के देवताओं की यह स्थिति है। लेकिन ऊपर—ऊपर के ऊँची कक्षा के देवता ऊँची मनुष्य की गति में आते हैं। यहाँ तक की ग्रैवेयक के देवता मनुष्य गति में आकर अल्प भवों में मोक्ष जा सकते हैं। अनुत्तर देवलोक में विजयादि के देवता २ भव करके मोक्ष में जाने वाले होते हैं। और अंतिम सर्वार्थसिद्ध विमान के देवताओं का जीव एकावतारी होता है। वहाँ से च्यवन पाकर महाविदेह में जन्म लेकर सीधे ही मोक्ष में जाते हैं।

**नारकी जीवों का गमनागमन—**

नरक गति में रहनेवाले नारकी जीवों के भी अपने विशिष्ट नियम हैं । जीवों की परिणति—वृत्ति—स्वभाव आदि के आधार पर वैसा होता है । अतः यह शाश्वत नियम है कि नारकी जीव भी ४ में से सिर्फ २ गति में ही जाता—आता है । अर्थात् नरक में आना भी सिर्फ २ गति में से ही होता है और नारकियों का जाना भी सिर्फ २ गतियों में ही होता है । और वे हैं—मनुष्य गति तथा दूसरी तिर्यंच गति । जबकि देवता देवगति से मरकर कोई नरक में जा ही नहीं सकता है और नरक का नारकी जीव मृत्यु पाकर पुनः नारकी नहीं बनता है । नरक गति में एक साथ २—४ भव होते ही नहीं है । सिर्फ एक ही जन्म होता है । बस, एक जन्म करके जीव को नरक गति में से बाहर निकलना ही पडता है और मनुष्य या तिर्यंच की गति में जा सकता है । हाँ, वहाँ भी सिर्फ १ भव करके वापिस नरक गति में आ सकता है । भले ही बार बार नरकगति में आए और जन्म धारण करे लेकिन एक साथ ३—४ जन्म नरक में नहीं कर सकता है ।

नरकगति के नारकी जीवों की लेश्याएँ परिणाम धारा बहुत ही हल्की रहती है । कषायों की तीव्रता भी काफी ज्यादा रहती है । वहाँ दुःख अत्यन्त ज्यादा रहता है । इसके कारण उनकी वैसी परिणति रहती है । आखिर क्षेत्र की वैसी स्थिति है । ज्यादातर ८०% तिर्यंच गति के जीव नरक में आते हैं । इसी तरह ज्यादातर मनुष्यगति के जीव भी नरक गति में आते हैं । उदाहरणार्थ— पंचेन्द्रिय जीवों का वध—हिंसा करना, उन्हें मारकर खाना आदि पंचेन्द्रिय घातक तथा गर्भपात करना—कराना आदि पापों में भी पंचेन्द्रिय मनुष्यों का वध है । पाप है, महापाप है, महा भयंकर पाप है । ऐसे पापों की सजा भुगतने के लिए नरकगति के अतिरिक्त अन्य किसी भी गति में जा ही नहीं सकता है । क्योंकि अन्य किसी गति में इतने ज्यादा भारी पाप भुगतने की कोई सुविधा नहीं है । भारी पाप कर्मों की सजा भी बडी भयंकर होती है । और वह भी बडे लम्बे काल तक भुगतनी पडती है । इसलिए नरक गति ही उन भारी पापों की सजा के अनुरूप है । क्यों कि नरक गति में १ से लेकर ३३ सागरोपम तक की सुदीर्घ आयुष्य स्थिति है । और प्रत्येक क्षण क्षण में भयंकर दुःख उसे भुगतना होता है । ऐसी नरक गति में नारकियों की संख्या असंख्य की है ।

**४ गति में ८४ लक्ष योनि में जन्म—**

देव, मनुष्य, नरक और तिर्यंच की इन चारों गति में कुल ८४ लाख योनियों की संख्या हैं । उसका वर्गीकरण इस प्रकार है—

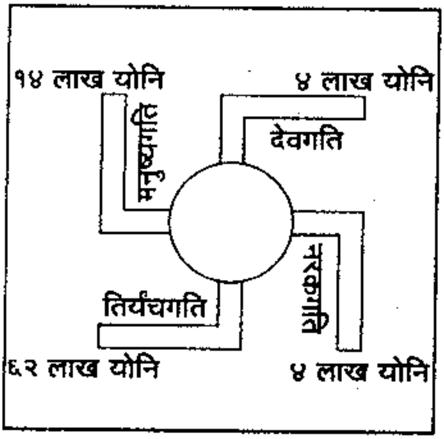


'योनि' शब्द का अर्थ है यहाँ उत्पत्ति स्थान। जीव जब जन्म लेता है तब... किसी न किसी योनि में ही जन्म लेता है। तथाप्रकार की योनि के आधार पर उस जीव की पहचान होती है कि यह जीव किस प्रकार का है? कहाँ का है? कौन है? कैसा है। अतः समस्त संसार में जीवों के भेद जन्म--उत्पत्ति (योनि) के आधार पर निर्धारित किये गए हैं। ऐसी कुल ८४ लाख प्रकार की योनियाँ होती हैं। यह ८४ लाख संख्या के रूप में नहीं है। यह तो मात्र भेद--प्रकार है। जैसे मनुष्य की १४ लाख योनियाँ बताई है तो क्या सिर्फ १४ लाख ही स्त्रियाँ है? जी नहीं। करोडों की संख्या स्त्रियों की संसार में आज भी है। तब तो करोडों योनियों की संख्या होगी। तो क्या यह १४ लाख गलत बताई है? जी नहीं। यह १४ लाख की संख्या स्त्रियों की संख्या के आधार पर गिनति नहीं की है। यह १४ लाख तो प्रकार--भेद के रूप में है। शीत--उष्ण--शीतोष्ण--समशीतोष्ण संवृत्त--विवर्त आदि भेदों के आधार पर तथा वर्ण--गंध--रस--स्पर्शादि के साथ गुणाकार करने पर यह १४ लाख की संख्या आती है। इसी तरह समस्त जीवों का विभाजन करके उनकी उत्पत्ति योनियों की संख्या कुल ८४ लाख की बताई गई है।

| **जीवों का वर्गीकरण** | **योनि संख्या** |
|---|---|
| १. पृथ्वीकाय के जीवों की उत्पत्ति योनि संख्या-- | ७ लाख |
| २. अप्काय के जीवों की उत्पत्ति योनि संख्या-- | ७ लाख |
| ३. तेउकाय के जीवों की उत्पत्ति योनि संख्या-- | ७ लाख |
| ४. वायुकाय के जीवों की उत्पत्ति योनि संख्या-- | ७ लाख |
| ५. प्रत्येक वनस्पतिकाय उत्पत्ति योनि संख्या-- | १० लाख |
| ६. साधारण वनस्पतिकाय उत्पत्ति योनि संख्या-- | १४ लाख |
| ७. बेइन्द्रिय के जीवों की उत्पत्ति योनि संख्या-- | २ लाख |
| ८. तेइन्द्रिय के जीवों की उत्पत्ति योनि संख्या-- | २ लाख |
| ९. चउरिन्द्रिय के जीवों की उत्पत्ति योनि संख्या-- | २ लाख |
| १०. देवता के जीवों की उत्पत्ति योनि संख्या-- | ४ लाख |

११. नारकी के जीवों की उत्पत्ति योनि संख्या— ४ लाख
१२. तिर्यंच पंचेन्द्रिय के जीवों की उत्पत्ति योनि संख्या— ४ लाख
१३. मनुष्य के जीवों की उत्पत्ति योनि संख्या— १४ लाख

इन १३ प्रकार के वर्गीकरण में जीवों की कुल योनि संख्या ८४ लाख है। इस संसार के समस्त जीवों को जन्म लेने के लिए इन ८४ लाख योनियों में उत्पत्ति स्थानों में आना पडता है। वहीं जन्म लेना पडता है। उसी पहचान से जीव पहचाना जाता है। यह जीवों का संसार है। अनादि—अनन्त काल से चल रहा है। और अनन्त बार जीवों ने जन्म—मरण धारण किये हैं। अनन्त बार जन्म धारण करके भी आखिर तो इन वर्गीकृत १३ प्रकारों में ही जीवों को जन्म धारण करते रहना पडता है। जब १३ ही भेदों में जन्म धारण करके रहना है तो बार—बार जन्म धारण करते—करते कितनी बार जन्म धारण किया होगा? अनन्त बार। अनन्तबार में एक—एक काय में कितनी बार जन्म धारण किया होगा? फिर भी उत्तर यही आएगा—अनन्तबार और कब तक जन्म धारण करते रहना पडेगा? इसके उत्तर में शास्त्रकार महर्षि कहते हैं कि— जहाँ तक यह जीव मोक्ष में नहीं जाएगा तब तक उसे जन्म धारण करने ही पडेंगे। क्योंकि जन्म धारण किये बिना वह संसार में रह ही नहीं सकता है।

**संसार के जन्मों में स्वकाय स्थिति—**

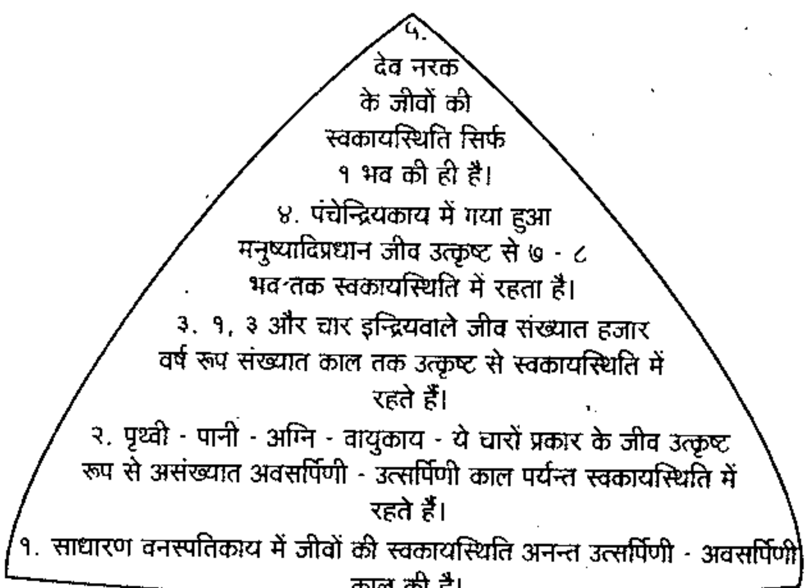

उत्तराध्ययन सूत्र के १० वे अध्ययन में परमात्मा श्री वीर प्रभु ने ५ वे से १४ वे श्लोक में १० श्लोकों में उपरोक्त ५ प्रकारों में समस्त जीवों का वर्गीकरण करके उत्कृष्ट स्वकायस्थिति का काल बताया है । अर्थात् अपनी इन्द्रियों की ही जातीवाले जन्मों में जीव बार—बार जन्म धारण करता ही रहे । उसी जाती उसी इन्द्रियवाली जाती को छोडकर बाहर जाय और उसमें ही जन्म धारण करता जाय उसे स्वकाय स्थिति कहते हैं । भले ही जन्म का रूप—रंग—आकार—प्रकार बदलता रहे । जैसे चिंटी में से मकोडा बने, फिर अनाज का कीडा, फिर जूं, फिर लीक, फिर खटमल, फिर रेशम का कीडा आदि बनता ही जाय । इनमें देखिए जन्म बदलते ही जाते हैं । लेकिन इन्द्रिय की जाति नहीं बदलती है । तेइन्द्रियपना सबमें एक समान ही रहता है । इसे स्वकाय कहते हैं । इसमें जीव जितना लम्बा काल बिताता है उसे स्वकाय स्थिति काल कहते हैं । काफी लम्बा समय जीव इसमें बिता देता है । इससे जीव का आगे का विकास रुक जाता है । विकास यात्रा जो सतत आगे ही बढती रहनी चाहिए उसमें रुकावट—बाधा आ जाती है । लेकिन क्या किया जाय ? जीवों के कर्म भी तो वैसे हैं ? वैसे बांध भी तो रहे हैं । अतः उस हिसाब से परिभ्रमण भी होता ही रहता है ।

**क्रमशः आगे बढता हुआ जीव—**

भौगोलिक संसार १४ राजलोक का है । जिसे अखिल ब्रह्माण्ड *cosmos* कहते हैं । और ८४ लाख जीव योनियों में पाँचों जातियों में चारों गति में परिभ्रमण करते रहना यह जीव का संसार है । अनादि से चल रहे इस भव—भ्रमण में अनन्त भव करता करता जीव अपना विकास करता हुआ आगे बढता है । यह विकास शारीरिक है । आगे आगे के शरीर धारण करते जाना है । जीव की यह विकास यात्रा निगोद से चल रही है । निगोद के गोले में जीव का अस्तित्व यह जीव की प्राथमिक स्थिति है । सबसे पहले जीव निगोद के गोले में था । निगोद की गणना वनस्पतिकाय में की जाती है । जिसमें सूक्ष्म साधारण वनस्पतिकाय के भेद में कहे जाते हैं । अतः हम ऐसे कह सकते हैं कि जीव सर्वप्रथम वनस्पतिकाय में था । वहाँ से क्रमशः उसकी विकास यात्रा आगे बढी है । सूक्ष्म साधारण वनस्पति काय में से आगे बढता हुआ जीव सर्वप्रथम बादर साधारण वनस्पतिकाय जो आलु—प्याज रूप है उसमें आता है । सूक्ष्म साधारण वनस्पतिकाय जो निगोद रूप अवस्था थी वह सूक्ष्मतम होने से दृष्टिगोचर नहीं थी । देखनी संभव भी नहीं थी । अतः न दिखाई देनेवाले की अपेक्षा दिखाई देनेवाले जीवों की दृष्टि से शुरुआत माननी हो तो

# जीवों का क्रमिक विकास

आगे - आगे के शरीर धारण करता हुआ जीव
क्रम से आगे बढता जा रहा है।

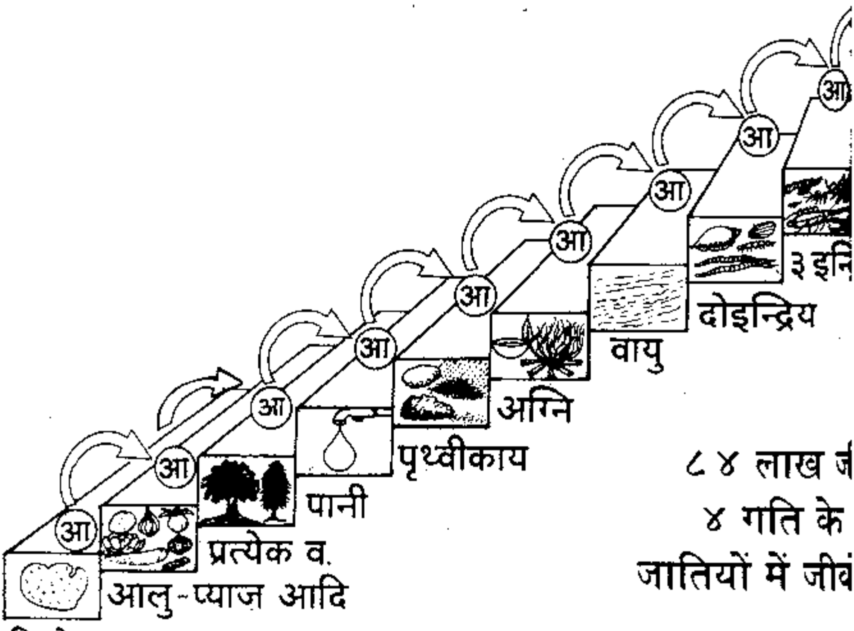


८४ लाख ज
४ गति के
जातियों में जीवं

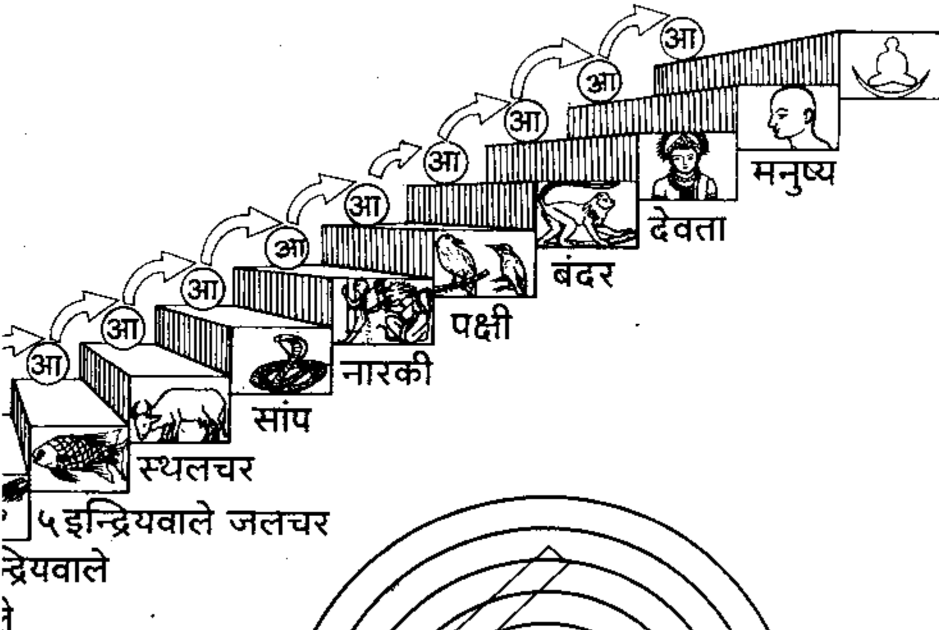


ानियों में
में पाँचों
अनन्त जन्म

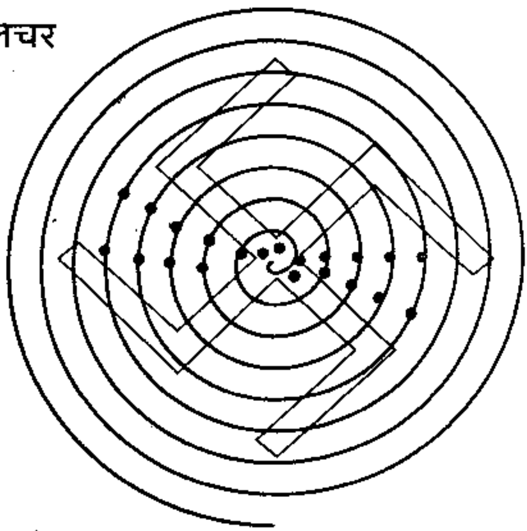

आलु—प्याज—लसून—गाजर—मूलादि जो अनन्तकाय हैं, अनन्त जीवों का पिण्ड स्वरूप हैं वहाँ से संसार में जीवों की यात्रा की शुरुआत मान सकते हैं। ये भी वनस्पतिकाय ही हैं। बादर—स्थूल साधारण प्रकार के हैं। इसलिए यहाँ से प्रारंभ करके जीव संसार चक्र में आगे बढता है। आगे—आगे के शरीर धारण करता हुआ आगे बढता है।

आलु—प्याज—लहसून—गाजर—मूला इत्यादि जो अनन्तकाय हैं इस बादर—स्थूल और सूक्ष्म साधारण वनस्पति दोनों में जीवों की अनन्त संख्या की सादृश्यता है। सिर्फ अदृश्य और दृश्य का अन्तर जरूर है। सर्वप्रथम जीव सूक्ष्म से स्थूल की कक्षा में आगे कदम रखता है। अतः महावीर प्रभु ने इन जीवों की हिंसा न करने के लिए आज्ञा दी है। इन आलु—प्याजादि का भक्षण करते समय हमें लगना चाहिए कि यह और किसी की नहीं लेकिन यह तो हमारी ही अवस्था थी। यह हमारी ही भूतकालीन पर्याय है। अतः मैं मेरी ही हिंसा कर रहा हूँ ऐसा लगना चाहिए। तथा जो जीव संसार की विकास यात्रा में आगे बढना प्रारंभ करता है वहीं उस जीव को मैं वापिस रोक दूँ। विकास यात्रा में अवरोध खडा करके बाधा पहँचाऊँ यह कहाँ तक उचित है? अतः उन जीवों को बिना परेशान किये सतत आगे बढने देना चाहिए।

आलु—प्याज की अनन्तकाय की अवस्था में से अर्थात् स्थूल साधारण वनस्पतिकाय में से एक कदम आगे बढकर प्रत्येक वनस्पतिकाय में जीव आता है। और पेड—पौधे के रूप में जन्म लेता है। अबकी बार बहुत बडी स्वतंत्रता प्राप्त हुई। जीव काफी ज्यादा सुखी हुआ। क्योंकि एक ही शरीर में जो अनन्त जीव मिल कर रहते थे उसकी अपेक्षा प्रत्येक वनस्पतिकाय में एक शरीर में एक ही जीव इस तरह अकेले रहने के लिए मिला। अतः उस जीव की सुख—सुविधा काफी बढी, जीव बहुत खुश हुआ। प्रत्येक वनस्पतिकाय में अपने शरीर में अकेले रहने की स्वतंत्रता काफी ज्यादा मिलती है।

प्रत्येक वनस्पतिकाय में पेड—पौधे के जन्म बिताकर जीव आगे बढा और पानी में गया। अप्काय में जन्म लेकर पानीरूप बना। नदी—समुद्र—झरने—कुँए आदि में रहा। यद्यपि अंगुल के असंख्यातवें भाग जितना छोटा सा शरीर धारण करके फिर अपनी काया में अकेला स्वतंत्र जरूर रहा लेकिन अनेकों के साथ मिलकर दृश्य बनकर रहा। वहाँ से आगे बढता हुआ जीव पृथ्वीकाय में आया। यद्यपि है तो एकेन्द्रिय में ही लेकिन... आकार—प्रकार से पर्याय अलग प्रकार की रही। हीरा—मोती—रत्नादि, पाषण की जातियाँ,

सोना—चांदी आदि धातु की जातियों में तथा मिट्टी आदि की स्थिति में जीव आया। पार्थिव देहधारी एकेन्द्रिय पृथ्वीकाय बना। इसमें भी अंगुल के असंख्यात वें भाग की अवगाहनावाला छोटा सा शरीर धारण किया। हजारों वर्षों का आयुष्यकाल लेकर जीव रहा। फिर आगे बढ कर अग्निकाय में आया। अग्नि की ज्वाला—कण आदि रूप में बना। और एकेन्द्रिय में—वायुकाय में आकर हवा बना। हवा के रूप में भी जीवन बिताया। इस तरह इतने सभी भव एकेन्द्रिय की जाती में तिर्यंच गति में बिताए...। आगे बढता बढता जीव अब दोइन्द्रिय की जाति में कदम रखता है। वहाँ कृमि—शंख—जलो—अलसिया आदि की पर्याय के रूप में जन्म लिये। अब शरीर जरूर बडा था। स्वतंत्र रूप से अकेले रहना था। खाना—पीना आदि की प्रवृति थी।

वहाँ से आगे तेइन्द्रिय की जाती में आया। एक के बाद दूसरी आगे की इन्द्रिय भी प्राप्त होना एक विशेष पुण्य प्रकृति का उदय है। और जीव के आगे बढने की निशानी है। ३ इन्द्रियवाले चिंटी—मकोडा—अनाज का कीडा, खटमल—जूं आदि के रूप में जन्म मिला। बडा शरीर बना। २ के बदले १ और ज्यादा ऐसी ३ इन्द्रियाँ प्राप्त हुई। नासिका की विशेष प्राप्ति से सुगंध—दुर्गंधादि प्रकार की गंध को ग्रहण करता रहा।

तेइन्द्रिय से भी आगे जीव चउरिन्द्रिय में गया। वहाँ और बडा शरीर था। मक्खी—मच्छर भौंरा—तीड आदि का शरीर धारण किया। एक और चौथी इन्द्रिय मिली—आँख। इस आँख से आज पहली बार दुनिया देखने लगा। पंखों के आधार पर आकाश में उडने भी लगा। खुशी काफी ज्यादा थी। लेकिन क्या हो, आखिर थी तो तिर्यंच गति ही। यहाँ तक विकलेन्द्रिय के भव थे।

इसमें भी आगे बढा और अन्तिम इन्द्रिय पाँचवी श्रवणेन्द्रिय प्राप्त की। इन्द्रियों की प्राप्ति की दिशा में यह पाँचवी इन्द्रिय बडी ही महत्व की थी। श्रवण करना—सुनने के लिए मिलना यह भी ज्ञानसहायक इन्द्रिय है। पंचेन्द्रियपना प्राप्त हुआ। बस, जीव के विकास की दिशा में इन्द्रियों की प्राप्ति की दृष्टि से यही अन्तिम विकास है। जगत् में पाँचवी के बाद छट्ठी इन्द्रिय नहीं है। इन्द्रियों की प्राप्ति की दिशा में जीव को अन्तिम पाँचवी श्रवणेन्द्रिय तक ही आकर रुक जाना है।

अब इन्द्रिय जरूर बदली और बढी, लेकिन गति नहीं बदली.... अतः वह जीव रहा तो तिर्यंच गति में ही। इस बार जलचर में जाकर मछली मगरमच्छ आदि बना। १—२ इंच से लेकर १००—२०० फीट लम्बी मछली के शरीर भी धारण किये। पंचेन्द्रिय

परिपूर्ण करके जीव ने एक कदम और आगे बढाया और मन भी बना लिया जिससे वह जीव संज्ञी–पंचेन्द्रिय जीव बना। समनस्क अवस्था धारण की। यह विकास काफी उपयोगी सिद्ध हुआ। अब वह जीव एक विचारक बना। विचारशक्ती बढी। सोचने लगा। हेय–ज्ञेय का ख्याल आने लगा। मन इंद्रिय नहीं है, अतीन्द्रिय है। फिर भी आत्मा तक ज्ञान पहुँचाने में पाँचों इन्द्रियों से भी ज्यादा मन का काम था। काफी ज्ञान बढाने में मन सहायक बना। पाँचों इन्द्रियों से सिर्फ २३ विषय ही ग्रहेण हो सकते थे जबकि मन के जरिए... सोचने विचारने की क्षितिज बढी।

जलचर से स्थलचर में आगे बढा। स्थूल अर्थात् पृथ्वी... भूमिपर चलने वाले प्राणी। स्थलचर के अंतर्गत चतुष्पद–४ पैर वाले जानवर भुजपरिसर्प–भुजाओं को भी पैर बनाकर उसके आधार पर चलना। ऐसे जीवों में बन्दर–चूहा–छिपकली आदि अनेकों की गणना होती है। और आगे उरपरिसर्प–साँप बना। उर = उदर = पेट के बलपर दौडने–भागनेवाला साँप बना।

यहाँ तक विकास यात्रा एक मात्र एक ही तिर्यंच गति में हुई। अबकी बार गति जरूर बदली। साँप मरकर नरक गति में गया। नारकी बना। लेकिन पंचेन्द्रियपना वही रहा। नरकगति में नारकी बनकर जीव ने भारी दुःखों की सजा भुगती। आखिर वहाँ का जन्म भी पूरा तो करना ही पडता है। यद्यपि यह विकास नहीं है, लेकिन विनाश है, पतन है। गति की दृष्टि से पतन जरूर है, लेकिन जाति की दृष्टि से पतन नहीं है। पंचेन्द्रिय पर्याय में भी जीव काफी लम्बे काल तक घूमता रहा। नरक गति से बाहर निकलकर... जीव पुनः तिर्यंच गति में आया। पक्षी की योनि में जन्म लेकर पक्षी बना। पक्षियों में भी शाकाहारी श्रेष्ठ कक्षा के हैं। मांसाहारी अधम कक्षा के हैं। शाकाहारी कई पापों से बच जाता है। शाकाहारी ऊपर उठता है। विकास साधता है। मांसाहारी का फिर पतन होता है। नीचे गिरता है। जीव... अब आगे बढता–बढता बन्दर की पर्याय में आया। बन्दर के भव में भी है तो पूरा पंचेन्द्रिय ही। संज्ञि–समनस्क है। काफी विकसित अवस्था है लेकिन है तिर्यंच की गति। इसलिए अभी भी विकास काफी आवशिष्ट है।

**देव की ऊँची गति में प्रयाण–**

तिर्यंच की गति में से जीव बन्दर–गाय–भैंसादि कई पशु–पक्षी के भव करके मृत्यु के बाद अपना विकास साधते हुए ऊँची देवगति में भी जाते हैं। उदाहरण के लिए चंडकौशिक साँप भी देवगति में गया। ८ वें सहस्रार देवलोक में देव बनकर उत्पन्न हुआ।

कल्पसूत्र में बताया है कि जिनदास शेठ के पास धर्म पाए हुए दो बछडों की भी देवगति हुई । स्वर्ग में गए । विकास की दिशा में प्रगति काफी अच्छी हुई । लेकिन अन्त नहीं आया ।

विकास का अन्तिम सोपान तो मनुष्यगति की प्राप्ति ही है । वह भी धर्म की दृष्टि से... सर्वश्रेष्ठ मनुष्य की ही गति है । स्वर्ग—देवलोक से च्युत होकर जीव... मनुष्य की गति में आया । संपूर्ण पंचेन्द्रिय... संज्ञि समनस्क मनुष्य की गति में आया । संपूर्ण पंचेन्द्रिय... संज्ञि समनस्क मनुष्य का शरीर विकास की चरम सीमा है । अन्तिम है । बस मनुष्य के बाद इससे ऊँचा अच्छा और कोई विकास नहीं है । शरीर, इन्द्रियाँ, मन आदि सभी दृष्टि से विकास काफी अच्छा हुआ । अन्तिम कक्षा का विकास हुआ है । शरीर की रचना में इस प्रकार के शरीर की रचना श्रेष्ठ कक्षा की चरम कक्षा की है । और आपको आश्चर्य इस बात का लगेगा कि इस प्रकार की ऐसी मनुष्य देह की रचना अनादि—अनन्त काल से शाश्वत है । अरबों—खरबों वर्षों पहले भी मनुष्य देह की रचना ठीक ऐसी ही होती थी और आज भी ऐसी ही होती है । पहले किसी भी अंग की न्यूनता कभी नहीं थी और आज किसी अंग की अधिकता नहीं बनी है । अतः इस प्रकार के मानव देह की आकृति—रचना शाश्वत—नित्य प्रकार की है ।

इसी तरह देवगति के देवताओं के वैक्रिय शरीर की रचना की व्यवस्था भी शाश्वत है । पाँचों इन्द्रियोंवाले संज्ञि समनस्क शरीर की रचना शाश्वत है । इसी तरह नरक गति में नारकी जीवों की शरीर रचना व्यवस्था शाश्वत नित्य है । अनन्त काल में भी कोई परिवर्तन का प्रश्न ही नहीं हुआ है । इस तरह जगत् में जिस जिस योनि में जिस जिस प्रकार की शरीर रचना की व्यवस्था है वह शाश्वत व्यवस्था है । एक चिंटी—मकोडे के शरीर की रचना भी देखिए... वह भी शाश्वत है । अनादि काल पहले भी चिंटी जैसी बनती थी ठीक वैसी ही आज भी बनती है । कोई फर्क नहीं है । इस प्रकार की शाश्वतता त्रैकालिक है । तीनों काल में एक जैसी ही सदा रहनेवाली है ।

**मनुष्य की गति अन्तिम गति—**

८४ लाख जीव योनियों में परिभ्रमण करता हुआ जीव अन्त में मनुष्य की गति में आता है । बस, यह अन्तिम गति है । अन्तिम भव है । सर्वोत्कृष्ट कक्षा का सर्वश्रेष्ठ प्रकार का जन्म और गति मनुष्य की है । निगोद का जन्म—भव सर्वप्रथम भव है तो मनुष्य का जन्म सर्व अन्तिम है । चरम भव है । जैसे काश्मीर से निकलकर दक्षिण में कन्याकुमारी तक आए वहाँ भारत की भूमि का अन्त है । बस आगे समुद्र है । अतः अन्तिम किनारा

आ गया । वैसे ही निगोद से लेकर चलते—चलते भव—भ्रमण करते—करते जीव मनुष्य की अन्तिम गति में आ जाए तो समझिए अनन्त भव करके अन्तिम भव में आ चुका है । किसी भी अन्य प्रकार की गति एवं जन्म से जिस मोक्ष की प्राप्ति संभव नहीं थी उस मोक्ष की प्राप्ति मनुष्य जन्म से संभव है । इसीलिए मोक्ष का सीधा अर्थ है संसार की जन्म—मरण की अनादि अनन्त की भव—परंपरा का अन्त आना । तिर्यंच, देव और नरक की गति से मोक्ष की प्राप्ति सुलभ नहीं है क्योंकि उस प्राप्ति के अनुरूप ये गतियाँ नहीं है । अतः एक मात्र आधार मनुष्य की गति पर ही है । इसीलिए मनुष्य का जन्म संसार में अन्तिम जन्म हो सकता है, यदि बनाया जाय तो । यदि कोई भी जीव मनुष्य की श्रेष्ठ गति, सर्वोच्च प्रकार का जन्म पाकर भी न करने के पापों को करता ही जाय, भारी कर्म उपार्जन करता है तो फिर ८४ का चक्कर चलता ही रहेगा । कहीं भी जीव बच नहीं सकता है । मनुष्य का जन्म चरम कक्षा का अन्तिम था । लेकिन उपयोग करना नहीं आया और दुरुपयोग करके हाथ से गंवा दिया । फिर पतन शुरु हुआ ।

**पतन का प्रारंभ—**

एक तो बडी मुश्किल से जीव ऊपर चढा था । चढता—चढता अपना विकास करता करता जीव विकास की अन्तिम कक्षा तक—मनुष्य जन्म तक आया था । लेकिन क्या करना ? उसकी पाप कर्म करने की वृत्ति जोर करती रही... परिणाम स्वरूप भयंकर प्रकार के पाप कर्म करके जीव मनुष्य की गति से गिरकर फिर अन्य जन्मों में अन्य गति में जाकर जैसे सीढी पर चढते हुए यदि हम गिर जाय ते पता नहीं कहाँ तक गिरेंगे ? किस तरह गिरेंगे ? कहाँ तक गिरते ही जाएंगे ? कोई ठिकाना नहीं है । हो सकता है जिस क्रम से चढे हैं उसी क्रम से भी गिर सकते हैं । और ऐसा भी पतन हो सकता है । सीधे २—३, और ४ इन्द्रियवाले जन्मों में भी जाकर गिर सकते हैं । अरे ! इतना ही नहीं मनुष्य से गिर कर सीधे एकेन्द्रिय की जाति में भी जीव चला जाता है । जैसे देवगति से देवता के जीव भी मरकर स्वकृत कर्मानुसार ... सीधे एकेन्द्रिय के भव में आकर जन्म लेते हैं वैसे ही मनुष्य की ऊँचाई से गिरकर सीधे एकेन्द्रिय में भी आ सकते हैं । एकेन्द्रिय की जाति में भी ६ भेद हैं । उनमें भी गिरता—गिरता जीव वायु—हवा की जाति में जाता है । वायुकाय से अग्नि काय में जाकर भी जन्म लेता है । फिर वहाँ से पृथ्वीकाय में जाकर पत्थर—मिट्टी—धातु के रूप में भी वापिस जन्म लेना पडेगा । और पृथ्वीकाय के बाद और नीचे पानी—अप्काय में जाकर गिरता है । फिर वहाँ से वनस्पति काय में जाकर गिरता है ।

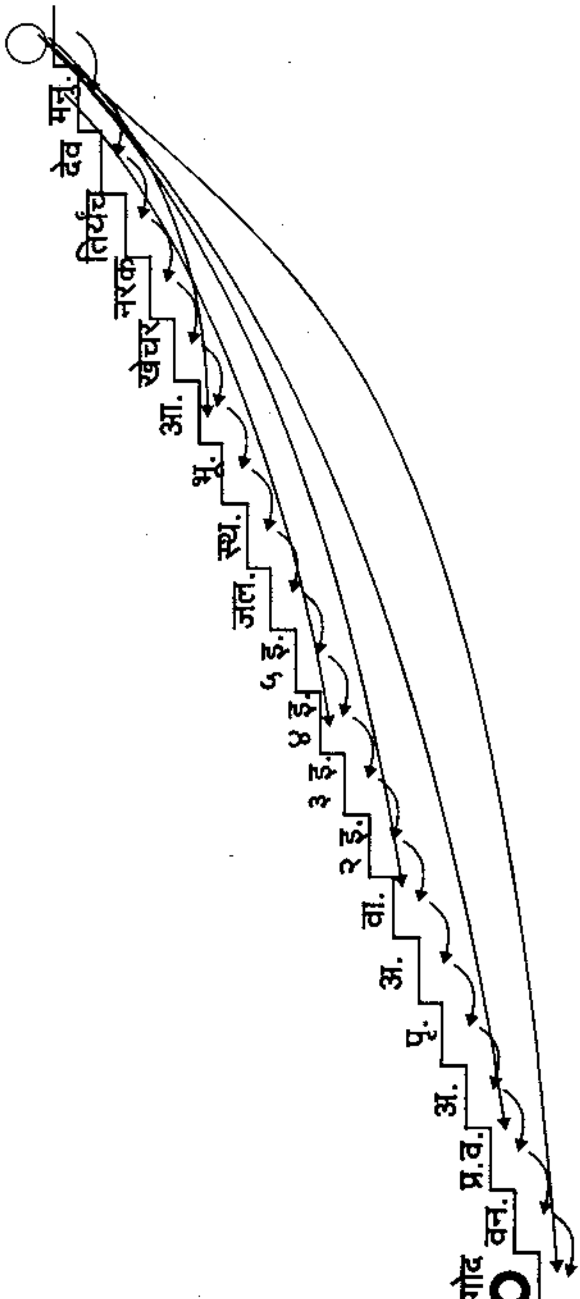
मनु.
देव
तिर्यंच
नरक
खेचर
आ.
भू.
स्थ.
जल.
५ इ.
४ इ.
३ इ.
२ इ.
वा.
अ.
पृ.
अ.
प्र.व.
वन.
निगोद

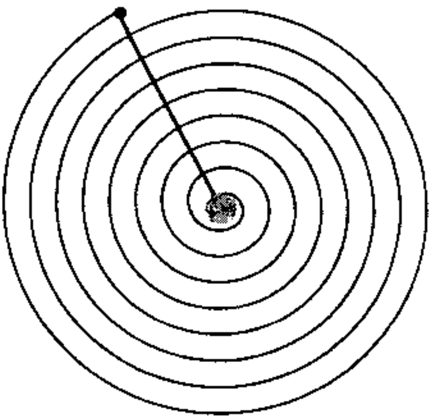

वहाँ प्रथम प्रत्येक वनस्पति काय में पेड़—पौधा फल—फूल बनता है । वहाँ से फिर नीचे... स्थूल (बादर) साधारण वनस्पति काय में जाकर आलु—प्याज—लसून—आदु—गाजर—मूला के रूप में जन्म लेता है । और इतना ही नहीं यहाँ से एक कदम और नीचे पतन हो तो—सीधे निगोद के गोले में भी जाकर गिरता है । वापिस सूक्ष्म साधारण वनस्पतिकाय के रूप में निगोद बनकर रहता है । जहाँ से निकला था... जीव ने जहाँ से अपनी विकास यात्रा का प्रारंभ किया था उसी निगोद के जन्म में वापिस जाकर गिरा... फिर उसी निगोद के गोले में अनन्त जन्म के चक्र में फँस जाएगा । औरों की बात तो क्या करें १४ पूर्वधारी ज्ञानी गीतार्थ महापुरुष भी प्रमादवश गिरकर पुनः निगोद तक जा सकते हैं । यह पतन कितना भयंकर अधम कक्षा का हुआ ?

**उत्थान—पतन में काल—**

आत्मा को विकास करते करते उत्थान की प्रक्रिया में ऊपर चढते चढते कितना काल लगा है ? कितने भव बिताने पडे हैं ? अनन्त भव बिताए, अनन्त पुद्गल परावर्त का लम्बा काल लगा है । १४ पूर्वधारी की कक्षा तक पहुँचना कोई सामान्य खेल नहीं है । इस ऊँचाई तक पहुँचने के लिए जीव ने कितने भव बिताए ? कितना काल बिताया और कितना परिश्रम उठाया होगा ? बहुत मुश्किल से इस ऊँचाई तक पहुँचा होगा जीव । शास्त्रकार महर्षियों ने मनुष्य जन्म की दुर्लभता के दश दृष्टान्त बताए हैं ।

**मनुष्य जन्म की दुर्लभता—**

**चत्तारि परमंगाणि, दुल्लहाणीह जंतुणो ।**
**माणुसत्तं सुई सद्धा, संजमम्मि अ वीरिअंमि ॥**

उत्तराध्ययन आगमशास्त्र में श्री वीर प्रभु ने बताया कि इस संसार चक्र में जीवों को ४ वस्तुएं परम दुर्लभ हैं— १) मनुष्य का जन्म, २) धर्म का श्रवण, ३) धर्म की श्रद्धा, और ४) श्रद्धानुसार आचरण में उत्साह । इन चारों की परम दुर्लभता बताई है । इन ४ में आगे

की ३ चीजों का आधार एक मात्र मनुष्य जन्म की प्राप्ति पर है। यदि मनुष्य का जन्म मिलेगा तो आगे के तीनों अंश भी मिलेंगे। लेकिन मनुष्य का जन्म ही मिलना बहुत मुश्किल है... इसकी दुर्लभता कितनी भयंकर कक्षा की है यह तो जब दृष्टान्त देखेंगे तब पता चलेगा। शास्त्रकार महर्षि फरमाते हैं कि—

एक सौ वर्ष की वृद्ध बूढी माँ जिसकी आँखों की रोशनी भी घट चुकी हो और वह अनाज बीणने बैठे। अनाज में भी राई और रागी आदि मिश्र हों। जिसमें बिल्कुल देखने में समानता हो। ऐसी स्थिति में लाखों मण राई—रागी—बाजरी आदि समान अनाज इकट्ठे हो, और फिर उस वृद्धा को साफ करके सभी वापिस अलग—अलग करने का कहा हो तो कितना संभव—असंभव लगता है। वैसे ही मनुष्य जन्म की प्राप्ति भी इतनी ही संभव—असंभव लगती है।

दूसरे दृष्टान्त में इन अनाजों को मिश्रित करके आटा बना दिया गया हो और फिर ऊँचे पर्वत की ऊँचाई पर से हवा में उसे उडा दिया जाय और फिर ऐसी वृद्धावस्था में वृद्ध स्त्री को आटे के कण—कण में से ढूँढ ढूँढ कर.. वापिस अलग—अलग इकट्ठे किये जाएं। जिससे वे सब उतने ही प्रमाण में वापिस इकट्ठे हो जाएं। यह कहाँ तक संभव है ? कितना संभव लगता है ? उतना संभव मनुष्य जन्म पाने में लगता है।

इसी तरह एक अन्ध मनुष्य चक्रवर्ती के घर पर स्वादिष्ट भोजन करके फिर चक्रवर्ती ने ६ खण्ड पृथ्वी के समस्त राज्य के सभी गाँवो—घरों में क्रमशः उस भिखारी के लिए भोजन की व्यवस्था कर दी और वह रोज प्रत्येक घर—घर जाकर भोजन कर रहा हो। लेकिन उसे चक्रवर्ती के घर का भोजन ही ज्यादा प्रिय लगता है। बस वह रोज उसी का स्मरण करता है। लेकिन चक्रवर्ती के छः खण्ड पृथ्वी के समस्त गांवों के सभी घरों का क्रम पूरा हो जाय। बाद यदि आयुष्य बचेगा तो उस भिखारी को पुनः चक्रवर्ती के घर भोजन मिलना जितना संभव लगता है उतना ही संभव ८४ लाख जीव योनियों में मनुष्य का जन्म मिलना संभव लगता है।

या फिर अन्ध भिखारी पुरुष को चक्रवर्ती के किल्ले के खुल्ले द्वार में प्रवेश मिले और वहाँ प्रिय भोजन मिल जाय और उसके बाद वह बाहर निकलकर अन्यत्र घूमता रहे। किल्ले की दिवाल का हाथ से स्पर्श करते.... करते यदि वह अन्ध भिखारी दूसरी बार पुनः चक्रवर्ती के घर को पाने के लिए घूमता रहे... लेकिन दरवाजा और दिवाल आदि में बनावट इतनी समानता हो कि दोनों में भेद पहचानना ही असंभवसा हो और ऐसे में वह अन्ध भिखारी पूरी प्रदक्षिणा करके घूमता हुआ वापिस दरवाजे को पाए.. उसे महल

मिल जाय और उस अन्धे भिखारी को दिखाई ही न देता हो, फिर भी दरवाजे और दिवाल में भेद समझ न पाए। . . . इसमें जितनी असंभवता लगती है उससे ज्यादा असंभवता मनुष्य जन्म को पाने में लगती है।

**कम्म संगेहिं संमूढा, दुक्खिआ बहुवेअणा।**
**अमाणुसासु जोणीसु, विणिहम्मंति पाणिणो ॥ त. ३–६ ॥**

कर्म के कारण अविवेकी—मूढ, दुःखों से दुःखी, अत्यन्त शारीरिक वेदना को भुगतनेवाला नरक—तिर्यंच गति तथा हल्के कुलवाली देवगति में जीव काफी उत्पन्न होते हैं। कई जीव जाते हैं जन्म लेते हैं लेकिन उन जन्मों से ऊपर नहीं उठ पाते हैं। तो फिर ऊँचे श्रेष्ठ मनुष्य जन्म में पहुँचने की संभावना ही कहाँ है? ऐसे दुर्लभ मनुष्य के जन्म में जीव को आना ही पडता है। भले ही असंभवसा क्यों न हो? लेकिन पाए बिना नहीं कर सकते हैं। वैसा ऊँचा मनुष्य का जन्म जीव पाए . . . फिर . . . ही आगे की प्रक्रिया संभव हो सकती है। शास्त्रकार महर्षियों ने ऐसे दस दृष्टान्तों से इस मनुष्यजन्म की दुर्लभता बताई है। वह समझने के बाद हमें मनुष्य जन्म की कीमत समझ में आएगी। हमें आज मनुष्य का जन्म मिल गया है इसलिए कुछ लगता नहीं है। सब कुछ आसान लगता है लेकिन वैसा नहीं है। मिलने के पीछे कितने जन्मों की साधना होगी, कितने जन्मों का योगदान दिया होगा, तब जाकर . . . हमने पाया होगा। इसका विचार कौन करता है?

**एक्काई राठोड के जीव का पतन—**

हमारे पवित्रतम जो ऐसे ४५ आगम शास्त्र हैं उनमें ११ अंग सूत्रों में ११ वाँ अंगसूत्र जो विपाकसूत्र नामक आगम है उसके दुःख विपाक विभाग के प्रथम अध्ययन में एक्काई राठोड के जीव का चरित्र प्रभु महावीर ने फरमाया है। २५० वर्षों का दीर्घ आयुष्य प्राप्त करके एक्काई राठोड का जीव . . ५०० गांवों का सूबा—सूबेदार—छोटा राजा बना है। प्रजा से कर वसूल करने में प्रजा को काफी परेशान करता है। हर बात से दुःखी—दुःखी करता है। प्रजा बिचारी त्राहि माम् पुकार उठी। मारना—पीटना . . . डाँटना—फटकारना आदि प्रत्येक तरीके से वह पैसा लूटता था। ऐसी स्थिति में राजा ने २५० वर्ष के आयुष्य काल में लाखों पापकर्म किये। परिणाम स्वरूप भारी पाप के कारण वह जीव . . मृत्यु के पश्चात् पहली रत्नप्रभा नरक में गया। वहाँ उत्कृष्ट एक सागरोपम की स्थिति तक भयंकर दुःख और वेदना ही भुगतनी है। एक सागरोपम अर्थात् असंख्य वर्षों का काल होता है। नरक से निकलकर एक्काई राठोड का वह जीव मृगापुत्र के रूप में पैदा हुआ। जिसके जन्म से ही आँख, नाक, कान, दोनों हाथ, दोनों पैर भी नहीं हैं।

गूंगा—बहरा—जन्मांध—हाथ—पैर—रहित मांसपिण्ड के जैसा पडा है। और शरीर में अनेक रोगों से घिरा हुआ है। पूर्व के पाप कर्मों को आज दिन तक भोग रहा है। अन्धेरी कोटरी जैसे भोंयरे में पड़ा है। दूध भी पेट में नहीं टिक पाता है। और वमन हो जाती है। उसी वमन को पुनः चाटता है। इस तरह नरक जैसी तीव्र वेदना यहाँ भुगतते भुगतते २६ वर्ष का आयुष्य समाप्त करके मरकर मृगापुत्र का जीव सिंह बना...। पापी पेट के भरने के लिए जीव के सिंह के भव में कितने पंचेन्द्रिय जीवों की हत्या करके मारना पडता है, खाना पडता है। ऐसे पाप करता हुआ हजारों पंचेन्द्रिय जीवों की घोर हिंसा करता हुआ वह सिंह वापिस फिर वहाँ से... रत्नप्रभा नामक पहली नरक में गया। फिर नरक से निकलकर साँप बना। साँप बनकर वापिस पंचेन्द्रिय हत्या का पाप करता रहा। पाप के कारण फिर वह साँप दूसरी नरक शर्कराप्रभा में गया। वहाँ ३ सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति में रहा। भयंकर वेदना भुगतता है।

वहाँ से निकलकर... हिंसक जाती का पशु बना... भारी हिंसा के पाप करके... तीसरी नरक वालुकाप्रभा में गया। सात सागरोपम का आयुष्य लिया। वहाँ से निकलकर पुनः तिर्यंच गति में—सिंह बना। फिर वही पाप—हिंसा भयंकर करके वापिस चौथी नरक पंकप्रभा में जीव गया। वहाँ से पाँचवी नरक में गया। फिर निकलकर मनुष्यगति में हल्के पाप करनेवाली स्त्री बना। पुनः पापों की परंपरा चालू रही। वहाँ से मरकर.. छट्ठी नरक में गया। वहाँ से निकलकर पुरुष रूप जन्म लिया। हल्की कक्षा का जन्म और हल्की कक्षा के अधम पाप सेंकडों किये। तथाप्रकार के प्राणीवध—हिंसादि के पाप करके... सातवीं महातमःप्रभा नरक में गया।

समस्त अधोलोक में सात ही नरक हैं। आगे आठवीं नरक नहीं हैं। और अभी भी उस जीव के अनेक पाप कर्म अवशिष्ट हैं। सातवीं नरक से निकलकर जीव पुनः पंचेन्द्रिय तिर्यंच की गति में पशु—पक्षी के भवों में भटकता रहा। जलचर में मछली—मगरमच्छ—कछुए आदि के अनेक जन्म करता हुआ भटकता रहा। लाखों जन्मों तक भटकने के पश्चात् भी पाप कर्मों का प्रमाण काफी ज्यादा था। परिणाम स्वरूप स्थलचर—खेचर बना। फिर और नीचे गिरकर चउरिन्द्रिय में मक्खी—मच्छर—भौंरा बना। वहाँ से तेइन्द्रिय में चिंटी—मकोडा—खटमल बना। फिर वहाँ से दोइन्द्रिय में कृमि—कीट—अलसिये आदि बना। वहाँ से वनस्पतिकाय में जाकर बबुल—कांटे के वृक्ष के रूप में बना। फिर वायुकाय—अग्निकाय—फिर पानी के जीवों में जन्म लिया और अन्त में गिरते गिरते पृथ्वीकाय में जन्म लेकर पत्थर भी बना। असंख्य जन्म बिताए। इस तरह जीव का पतन होता है।

अच्छा तो यह हुआ कि वह जीव निगोद में नहीं चला गया । यदि चला गया होता तो अनन्त जन्मों का अनन्त काल का दुःख शुरू हो जाता । निगोद से बच गया । इतने भयंकर पतन के बाद वापिस ऊपर भी उठा । किये हुए भयंकर पापों की सजा कितने जन्मों तक भुगतनी पडी । एक पाप के संस्कार जीव पर कितने भवों तक रहते हैं ? और बाद में वे पुराने पाप के संस्कार फिर नए पापों को करने के लिए जीव को प्रेरित करते हैं । और जीव नए पाप करता ही जाता है । इस तरह पापों की परंपरा चलती है । जिस तरह पापों की परंपरा चलती है इसी तरह नरक और तिर्यंच की दुर्गति में दुःख—सजा भुगतने की भी परंपरा चलती है । अन्त ही नहीं आता है । यह कितना भयंकर पतन है ? जीव किस तरह गिरता है और मनुष्य के जन्म तक पहुँचकर वहाँ से कैसे गिरता है ? इसका स्वरूप एक्काई राठोड का जीवन चरित्र देखने से ख्याल आ जाता है ।

फिर उसकी आत्मा को ऊपर उठने का अवकाश मिलता है । और एकेन्द्रिय की कक्षा से वह जीव वापिस पंचेन्द्रिय पर्याय तक आता है । इस बार शुद्ध शाकाहारी.. पशु बनता है । गाय—बैल बनता है । पवित्र जन्म लेता है । वहाँ से श्रेष्ठिपुत्र बनता है । यौवन में आता है । साधु महात्मा का सत्संग मिलता है । सम्यक्त्व के बीज का वपन होता है । आगे चारित्र ग्रहण करता है । परिणाम स्वरूप स्वर्ग में जाता है । देव बनता है । फिर मनुष्य गति में आता है । फिर चारित्र ग्रहण करता है । इस तरह अन्त में वह जीव मोक्ष में जाता है । चढाव उतार की इस प्रक्रिया में जीव का उत्थान और पतन स्वकृत कर्मवश किस तरह होता है ? इसका स्वरूप स्पष्ट ख्याल आता है । बस, इसी का नाम संसार है । जीव चढाव उतार करते हुए संसार चक्र में परिभ्रमण करता जाता है । अनन्त भव और अनन्त काल बीतता जाता है ।

## उत्थान और पतन—

जैसे समुद्र में सतत लहरें चलती ही रहती हैं । पानी स्थिर नहीं रहता है । ज्वार—भाटा में पानी का सतत गमनागमन देखा जाता है । चढकर पानी किनारे तक पहुँचता है । फिर वापिस जाता है । इन ज्वार—भाटा की लहरें चलती हैं ।

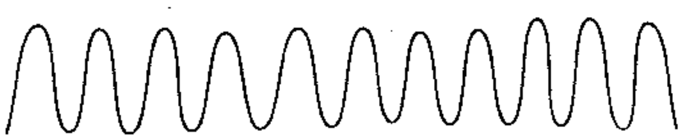

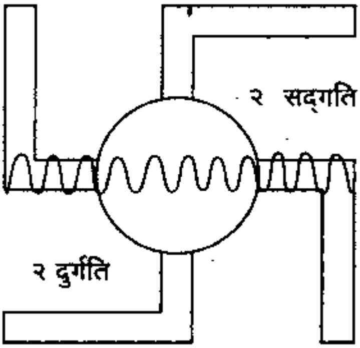


इन लहरों में चढाव–उतार दोनों हैं । इसी तरह जीव का इस संसार में जो परिभ्रमण होता रहता है उसमें चढाव–उतार काफी ज्यादा आते रहते हैं । यह चढाव–सद्गति में आता है, और उतार दुर्गति में होता है । स्वस्तिक की चार पंखुडियाँ चार गति की सूचक हैं । स्वस्तिक को बीच में से यदि आधे दो भाग करें । तो ऊपर की दो गतियाँ मनुष्य और देव की । दोनों गति सद्गति के रूप में गिनी जाती हैं । और नीचे की नरक और तिर्यंच की । दो गति दुर्गति के रूप में गिनी जाती हैं । जीव का ऊपर से नीचे जब पतन होता है तब मनुष्य देवगति से नीचे गिरकर दुर्गति में आता है । और तिर्यंच पशुपक्षी के या नरक के भव करता है । यह ८०% से ९०% प्रतिशत होता है । लेकिन नीचे की दुर्गति से ऊपर चढकर वापिस तिर्यंच नरक में से मनुष्य–देव में जाना बहुत मुश्किल है । यह १०% से २०% भी मुश्किल से होता है । क्वचित्–कदाचित् जैसी प्रक्रिया है । इस तरह यह चारगति का संसार चक्र है । ८४ लाख जीव योनियों में जन्म मरण करते हुए अनन्त काल तक परिभ्रमण करते रहने का संसार है । इस संसार चक्र में अनन्त भव करते हुए अनन्त जन्म–मरण धारण करते हुए अनन्त काल बिताते हुए घांची के बैल की तरह जीव चार गति में गोल–गोल चक्राकार स्थिति में घूमता रहता है । शास्त्रकार महर्षि फरमाते हैं कि—

**न सा जाई न सा जोणी–न तत् कुलं न तत् ठाणं ।**
**जत्थ जीवो अणंतसो न जम्मा न मूआ ।।**

जगत् में ऐसी कोई जाति नहीं है, ऐसी कोई योनि नहीं है, ऐसा कोई कुल नहीं है, ऐसा कोई स्थान नहीं है, जहाँ जीव अनन्त बार न जन्मा हो और न मरा हो । इस तरह जीव के अनन्त जन्म मरण बीत चुके हैं । अनन्त का अन्त कैसे आए ?

**अनन्त की समझ—**

न अन्त = अनन्त जिसका अन्त आना संभव नहीं है उसे अनन्त कहते हैं । जैसे समुद्र की बूंदों की संख्या में गिनति करनी हो तो क्या अन्त संभव है ? जी नहीं । अनेक दृष्टान्त हैं जिससे अनन्त की कल्पना का ख्याल आ सके । कुछ दृष्टान्त रूपक होते हैं ।

रूपक दृष्टान्त उपमा के आधार पर दिये जाते हैं जिससे व्यक्ती की बुद्धि उस कल्पना की उडान में अनन्त की अनन्तता को समझने में सफल हो सके। निगोद से निकला हुआ हमारा जीव अनन्त जन्म–मरण करता हुआ यहाँ तक आया। अब इसके बारे में... एक रूपक उपमा के दृष्टान्त से हम जानने का प्रयत्न करें कि अनन्त अर्थात् कितने भव हुए हैं ?

कल्पना करिए कि... केवलज्ञानी सर्वज्ञ प्रभु के १ हजार मुँह हो और प्रत्येक मुँह से १ सेकंड में एक बार में एक भव का मात्र नामनिर्देश ही करें। तो १ सेकंड में एक साथ १००० मुँह से कितने भव कहेंगे ? १०००। १ मिनिट में ६० सेकंड होती हैं तो १ मिनिट में कितने भव कहेंगे ? ६०००० इस तरह १ घंटे में कितने कहेंगे ? १ घंटे में ६० मिनिट होती हैं। इस तरह ६० x ६० = ३६०० और x १००० = ३६०००००० भव कहेंगे। इस तरह १ दिन के २४ घंटे में कितने भव केवलज्ञानी कहेंगे। ३६०००००० x २४ घंटे = ८६४०००००० इतने भव सर्वज्ञ प्रभु ने कहे। भगवान जरूर केवलज्ञानी है। लेकिन बोलने के लिए तो उन्हें भी क्रम चाहिए। शब्दों के क्रम से ही बोलेंगे। हाँ, केवली भगवान् केवलज्ञान से सब कुछ एक साथ जानते हैं, देखते हैं, सब बात ठीक। लेकिन बोलेंगे तो क्रमशः ही। क्रम से शब्दोच्चार करके बोलते हुए समय लगेगा।

इस तरह केवलज्ञानी का १००० वर्ष का अयुष्य हो और वे निरंतर–अखंड रूप से बोलते ही जाय तो ऐसे १००० वर्ष में उन्होंने कितने भव कहे ? और जैसे ही उनका आयुष्य पूर्ण हो जाय उनके बाद दूसरे केवलज्ञानी भी १००० वर्ष के आयुष्यवाले पहले केवली ने जहाँ तक कहे हैं उनके आगे निरंतर अखण्ड रूप से १००० वर्ष तक कहते ही रहे, फिर दूसरे केवली के आयुष्य की समाप्ति के बाद तुरन्त तीसरे केवली आगे निरंतर कहते ही रहे। फिर चौथे केवली, फिर पाँचवे केवली, फिर छट्ठे ... ३० वे, ५० वे, फिर ८० वे, फिर १०० वें, फिर ५०० वे, फिर १००० वें केवलज्ञानी आगे.... आगे... निरंतर भव कहते ही रहें तो हजार–हजार वर्ष के आयुष्यवाले हजार–हजार मुखवाले ... निरंतर–अखण्ड रूप से कहते हुए कितने भव कहेंगे ? अर्थात् १०००००० वर्षों में प्रति सेकंड के हजार भव के हिसाब से कुल कितने भव कहेंगे ?

हजार–हजार वर्ष के आयुष्यवाले ऐसे हजार केवलज्ञानी के निरंतर कह चुकने के बाद जिस जीव के भव कह रहे हैं वह जीव पूछे कि... हे भगवन् ! मेरे कितने भव कहे हैं और अभी कितने कहने शेष हैं मुझे जानने की ऐसी जिज्ञासा हुई है, अतः दोनों तरफ की संख्या जानना चाहता हूँ। कृपया उत्तर फरमाइये। सर्वज्ञ प्रभु जो केवलज्ञानी हैं वे

उत्तर में उस सामान्य जीव को समझाते हुए कहते हैं कि... हे जीव ! एक रूपक उपमा के उदाहरण से ही तुझे समझा सकता हूँ... मानों एक अगाध महासागर हो और उसके किनारे कोई छोटी सी चिडिया या मछली पानी पीने लगे तो हे वत्स ! उसने एक बार में ही कितना पानी पिया ? उत्तर.. मात्र थोडासा ! और कितना पानी पीना शेष है ? बस, ठीक इसी तरह जितना पानी पिया है उतने ही तेरे भव कहे हैं और जितना पानी अभी भी पीना शेष है उतने भव कहने शेष हैं। जब संख्या के अंक में उत्तर संभव नहीं है तो फिर क्या करें ? ऐसी उपमा के द्वारा उत्तर दिया। इससे आज हमारे जैसे सामान्य जीव को कल्पना तो आए कि... हमने निगोद से निकलकर आज दिन तक कितने भव किये हैं ? अनन्त भव किये हैं और यदि मोक्ष की दिशा में प्रयाण नहीं किया तो, और मोक्ष के बीज आज भी इस भव में नहीं बोए तो... भविष्य में अभी भी अनन्त भवों की संभावना है। जैसे समस्त समुद्र के जल की... सूंई के अग्रभाग पर आए इतनी बूंदे करने बैठें तो कितनी बूंदे होंगी ? उत्तर एक ही शब्द में आएगा— "अनन्त"। इतनी अनन्त की अगाधता है। सोचिए, अनन्त भवों का यह संसार हमने कैसे चलाया होगा ?

**अनन्त भव और काल—**

अनन्त भवों की संख्या बडी लगती है कि अनन्त काल की संख्या बडी लगती है ? अनन्त भवों की संख्या, अनन्त काल की संख्या के वर्षों दिनों के सामने छोटी सी लगेगी। क्योंकि एक भव तो कई वर्षों का भी हो सकता है। और कई दिनों का भी हो सकता है।

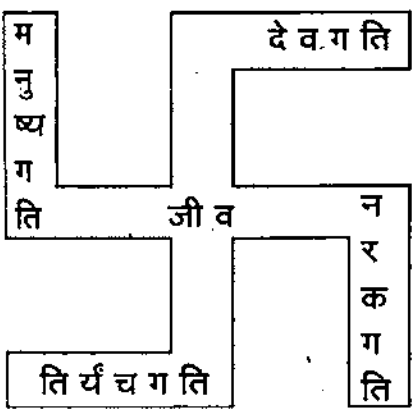


इसलिए स्वाभाविक है कि भव संख्या छोटी होगी और काल संख्या बडी होगी। इस तरह चारों गतियों में पाँचों जातियों में जन्म—मरण धारण करते—करते जीव अनन्त भव करता है। और काल भी अनन्त बिताता है। बस, इसी प्रक्रिया का नाम है संसार चक्र। जब तक जीव मोक्ष में न जाय तब तक जीव संसार चक्र की इन चारों गति में परिभ्रमण करता ही रहता है। इसका कभी भी अन्त आता ही नहीं

है । हाँ, एक जीव के संसार का अन्त आना संभव है, यदि वह जीव मोक्ष की दिशा में प्रयाण कर ले और मोक्ष के अनुरूप सम्यक्त्व का बीज बोकर आगे बढें .... और क्रमशः प्रगति करता करता आगे बढकर मोक्ष में चला जाय तो उस जीव का अपना संसार पूरा हो जाएगा । अपनी भव परंपरा--संसार का अन्त आ सकेगा । लेकिन समग्र सृष्टि जो अनन्त जीवों की है उसका अन्त कभी भी सम्भव नहीं है । समग्र संसार का अन्त कभी भी न आने के कारण संसार अनन्तकाल तक ऐसा ही चलता रहता है । कालिक परिवर्तन उस उस काल में होता रहता है । लेकिन उससे सर्वथा अन्त नहीं आता है । इसलिए यह संसार अनन्त है । तथा अनादि काल से चला आ रहा है । और भविष्य में भी अनन्त काल तक चलता ही रहेगा । अतः इसे शाश्वत कहते हैं ।

**डार्विन के विकासवाद की समीक्षा—**

पाश्चात्य विद्वान डार्विन ने *Evolution theory* की विचारधारा जगत् के समक्ष रखी है लेकिन वह सर्वथा गलत सिद्ध हो रही है । यह *Cell* के आधार पर विकास की प्रक्रिया है । जबकि भगवान महावीर प्रभु ने आध्यात्मिक विकास की प्रक्रिया *The Spiritual Evolution theory* जगत् के जीवों को समझाई है ।

डार्विन के विचारों से आज के मनुष्य का आधार बन्दर पर है । मनुष्य पहले बन्दर था और धीरे धीरे विकास होते हुए .... आज का मनुष्य का रूप बना है । इससे यह निश्चित होता है कि एक दिन धरती पर मानव था ही नहीं । परन्तु बन्दर जरूर थे । अब सोचिए कि यदि सिर्फ बन्दर ही थे ... तो ऐसी कैसी विकास की प्रक्रिया हुई ? उसमें क्या हुआ कि बन्दर से मनुष्य बन गया ? अच्छा यह भी सोचें कि कुछ ऐसी प्रक्रिया हुई जिसके आधार पर बन्दर मनुष्य बन गया ... लेकिन सभी बन्दरों का विकास क्यों नहीं हुआ ? क्यों अन्य बन्दर मनुष्य नहीं बने ? शायद डार्विन कहेगा कि ... वैसा एक ही प्रकार का वातावरण सबको समान रूप से नहीं मिला । यह भी भला कोई मानने की बात है ? और नहीं मिला तो क्यों नहीं मिला ? कुछ ही बन्दरों को वैसा वातावरण मिला और कुछ को नहीं मिला यह कहाँ तक उचित है ?

अच्छा ! उसके बाद आज तक हजारों लाखों वर्षों का काल बीत गया तो भी क्या उन बन्दरों को अभी तक उस प्रकार का विकास के योग्य कोई वातावरण मिला ही नहीं ? क्यों नहीं मिला ? क्या कारण बना ? क्या वातावरण भी ऐसा है कि कभी कभी ही उत्पन्न होता है ? या बनता है ? और एक बार बनकर फिर बाद में नहीं बनता है ? क्या ऐसा भी वातावरण का कोई नियम है ?

अच्छा ! दुनिया के किस कोने में वैसा वातावरण था और किस कोने में वैसा विकास योग्य वातावरण नहीं था ? अच्छा, भूतकाल के हिसाब के कब वैसा वातावरण था और कब नहीं था ? इसका उत्तर क्या मिलेगा ? ये सब निरर्थक बातें हैं । अच्छा, बन्दर की जाति से मानव बनने में कितना काल बीता ? कितने वर्ष लगे ? डार्विन कहेगा हजारों–लाखों वर्ष लगे । तो डार्विन उतने काल से पीछे के हजारों–लाखों वर्षों का काल कहाँ देखने गया था ? मान लो । सोच विचार कर अनुमान से बात बैठाई । अच्छा ठीक है । जब कल्पना की उडाने भर के विचार बैठा लिये तो फिर अभी बन्दरों के बारे में वैसे विचार क्यों नहीं बैठाए ? और यदि कुछ ही बन्दरों का विकास हुआ और कुछ ही बन्दरों को वैसा वातावरण मिला... शेष लाखों बन्दरों को वैसा वातावरण नहीं मिला और वह भी हजारों लाखों वर्षों के इतिहास में भी संभव नहीं बन पाया ?

आज भी दुनिया के किस कोने में, किस देशमें बन्दर नहीं हैं ? प्रायः सभी देशों में हैं । सभी देशों के जंगलों में शहरों में भी बन्दर हैं । आज भी देश–क्षेत्र की अपेक्षा से बन्दर की सेंकडों जातियाँ हैं । बन्दर की जाति का सर्वथा अभाव नहीं हो चुका है । अभी भी बन्दर का अस्तित्व बरोबर बना हुआ है । आज है इससे यह अनुमान जरूर होता है कि.. वर्षों चला आ रहा है । भूतकाल से लगातार चला आ रहा है । यहाँ प्रश्न यह उठता है कि जब बन्दरों का अस्तित्व त्रैकालिक है । तीनों काल में है । अतः हम कह सकते हैं कि... भूतकाल के हजारों वर्षों में था, आज है, और भविष्य में भी बन्दरों का अस्तित्व रहेगा । तो फिर... सिर्फ उस काल के बन्दरों का ही विकास हुआ और वे ही... मानव बन गए और शेष क्यों नहीं मानव बने ? इसका क्या उत्तर रहेगा ?

अच्छा यदि विकास की प्रक्रिया सतत–निरंतर चलती ही रहती है तो फिर... आज जो बन्दर हैं उनका विकास क्यों नहीं हुआ ? या क्यों नहीं हो रहा है ? शायद आप कहेंगे कि... हो रहा है । धीरे–धीरे होता है । इस विकास की प्रक्रिया में काफी ज्यादा समय लगता है । हजारों–लाखों वर्ष लग जाते हैं । ठीक है । यदि बाप–दादा–परदादा आदि की पीढि से देखते ही आए हो और वे अपने पुत्र–पौत्र–प्रपौत्र आदि को कहते ही जाय सूचित करते जाय तो क्या उससे ३००, ५०० वर्षों में भी बन्दरों के रत्तीभर विकास की प्रक्रिया देखी जा सकती है । यदि होती तो सामने दिखाई देती । किसी भी बन्दर में परिवर्तन आता । विकास होता । उसकी खाने पीने की, रहन–सहन की प्रक्रिया में सुधार आता । बोलने की भाषा में सुधार आता । लेकिन आज दिन तक तो जितने भी बंदर हैं वे मनुष्य की तरह एक अक्षर भी बोल नहीं सकते हैं । आज के जितने बन्दर हैं उसकी भी परंपरा

चल ही रही है। एक के बाद दूसरा दूसरे से तीसरा इस तरह उत्पन्न होते–होते परंपरा चलती ही जा रही है। इस चलती हुई परंपरा में एक भी बन्दर . . . बन्दर की जाति से सर्वथा अलग पडता हुआ या मानव सभ्यता के समीप आता हुआ अभी तक तो दिखाई नहीं दिया। यदि भिन्न–भिन्न देश के भिन्न–भिन्न वातावरण के हजारों बन्दरों का परीक्षण किया जाय तो भी किसी भी बन्दर में मानवी संस्कार या सभ्यता नहीं पाई जाती है।

पिता–प्रपिता–पितामह–दादा आदि ४–६ पीढियों से सतत बन्दरों पर निगरानी रखते हुए... शोध के रूप में बन्दर के विषय पर ही केन्द्रित होकर शोधार्थी अपने पुत्र–पौत्र को यह विषय आगे–बढाने के लिए सतत देते आएं और पुत्र–पौत्र उसके आगे की शोध जारी रखे, और इस तरह ४००–५०० वर्षों तक की निरंतर शोध के पश्चात् यदि देखा जाय तो भी परिणाम शून्य रहेगा। आज हजारों लाखों वर्षों से जो बन्दर की जाति की परंपरा अखण्ड रूप से चली आ रही है उसके बाद भी एक भी मानवी गुण बन्दर में आया नहीं है, तो फिर विकास कैसे बताए? जैसे मनुष्य सोच सकता है, विचार कर सकता है, बोल सकता है, लिख सकता है इत्यादि सैकडों क्रियात्मक विशेषता हैं, वह क्या बन्दर में अंशमात्र भी आई हैं? सब क्रियाएं नहीं ही सही क्या १–२ क्रियाएं भी आई है? जी नहीं।

**क्या गुण संक्रमण संभव है?—**

क्या बन्दर के गुण मानव में संक्रमित हुए हैं? क्या मानव के गुण बन्दर में संक्रमित हुए हैं? यदि बन्दर से विकास होकर मानवी स्वरूप बना है, तो बन्दर में पडी हुई विशेषता किसी भी १–२ गुणों का संक्रमण मनुष्य में दिखाई देना चाहिए था। जैसे—

१) बन्दर एक बिल्डिंग पर से दूसरी बिल्डिंग पर ऊपर ही ऊपर से छलांग लगाकर चला जाता है। चाहे वह अन्तर ३० से ४० फीट भी हो तो भी संभव बनता है। और मनुष्य क्या इतनी बडी छलांग लगा सकता है? कभी नहीं? २) बन्दर जिस तरह पेड पर, पेड के तने और शाखा पर शीघ्रता से चढ जाता है, क्या मनुष्य वैसे ही चढ पाता है? और तेजी से पेडों पर खेल सकता है? जो बन्दर के बच्चे भी करते हैं? ३) जन्मते ही बन्दरी का बच्चा माँ के पेट से चिपक जाता है या फिर पीठ पर बाल पकड कर बैठ जाता है और ऐसे में माँ ३०–३० फीट की छालांग लगाती है, फिर भी बच्चा गिरता नहीं है। क्या मनुष्य का बच्चा आज जन्म लेकर... तुरंत ही अपनी माँ को पकडकर–चिपककर रह सकता है? क्या माँ वैसे छलांग लगा सकती है? ... कभी नहीं। ४) जैसे बन्दर और

उसके बच्चे एक सीधे पाइप पर—खम्भे पर, या नारियल के पेड पर तेजी से चढ सकता है, उसके चढने के ढंग को देखकर मानव आश्चर्यचकित रह जाता हैं। क्या इसी तरह मानव भी चढ सकता है ? ५) क्या बन्दर जिस तरह एक दूसरे के शरीर में जूं बिणते हैं और खा जाते हैं वैसे ही क्या मनुष्य कर सकता है ? संभव है ?

बन्दर में चंचलता च्पलता और चालाकी आदि जितने प्रमाण में है उन गुणों का क्या हुआ ? क्या विकास यात्रा में उन गुणों का भी विकास हुआ या नहीं ? जब डार्विन के आधार पर बन्दर से विकास होने के पश्चात् मानवी स्वरूप सामने आया है या ऐसे कहिए कि वर्तमान मानव बन्दर की विकसित आवृत्ति है, ऐसा जो डार्विन का कहना है वह कहाँ तक सही उतरता है ? जी हाँ... सुवर्ण की परीक्षा की तरह यदि डार्विन के विकासवाद की परीक्षा यदि बुद्धिमान मानवी करता है तो निश्चित हीं उसे डार्विन की झूठी—बोगस बातें सामने स्पष्ट होती जाएंगी। सीधी बात है कि यदि बन्दर से विकसित होकर मानव बना है। उसके विकास के साथ गुणों का और ज्यादा विकास हो कर वे ही गुण और ज्यादा अच्छे स्वरूप में मानवी में दृष्टिगोचर होने चाहिए थे। लेकिन एक भी गुण दिखाई ही नहीं देता है।

इसी तरह मानवी में जो लिखने, पढने, गाने आदि की कला है और जो काफी विकसित स्वरूप में वर्तमान में पाई जाती है क्या उसका अंश मात्र स्वरूप भी बन्दर आदि में पडा है ? आज के बन्दरों में या हजारों वर्षों के पहले के बन्दरों में भी इन में से किसी भी कला का अंश भी वहाँ पडा था या नहीं ? यदि बन्दर में था ही नहीं तो बन्दर के विकसित रूप—मानव में वे कलाएं कहाँ से आ गई ? अतः यह बात कसोटी पर खरी नहीं उतरती है।

### अन्य पशुओं का विकास क्यों नहीं ?—

डार्विन के विकासवाद की विचार धारा के आधार पर बन्दर से विकास होते होते जैसे मानवी रूप मान लिया गया है। लेकिन जिस समय इस धरती पर बन्दर थे तो क्या उसी समय पृथ्वीतल पर अन्य भी प्राणी—पशु—पक्षी आदि थे कि नहीं ? आज सर्वथा निषेध करके ना कैसे कह सकते हैं.. कि नहीं थे। क्योंकि पृथ्वी पर गाय, भैंस, घोडा, हाथी, ऊँट, बैल, बकरी, गधा, खच्चर, शेर, चित्ता, सिंह तथा मोर, हंस, कबूतर, कौए आदि पशु—पक्षी उस समय थे कि नहीं थे ? यदि उनकी जातियाँ बन्दरों के समय नहीं थी ऐसा मानें तो बडी भारी आपत्ति आएगी ? तो फिर ये सभी पशु—पक्षियाँ कहाँ से आई ? शायद

डार्विन बिचारा कहेगा कि... नहीं नहीं, ये सब और ऐसी किसी भी प्रकार की अन्य प्राणियों की जातियाँ नहीं थी। फिर प्रश्न खडा होता है कि यदि इनका अस्तित्व ही नहीं था तो फिर कहाँ से आया ? किसने निर्माण की ? कब की ? कैसे की ? कहाँ की ? किस तरह की ? किसमें से की ? इत्यादि सेकडों प्रश्नों की हारमाला खडी हो जाएगी।

यदि आप कहते हैं कि... बाद में विकसित हुई है तो यह बताइए कि किसमें से विकसित हुई ? उनके विकास का आधार किस पर था। जैसे मनुष्य के विकास का आधार बन्दर पर माना है वैसे ही हाथी–घोडे–ऊँट–बैल–गाय आदि के विकास का आधार किस पर आधारित बताया जाता है ? यहाँ सबके लिए भिन्न–भिन्न आधार मानना कि सबका आधार एक पर ही मानना ? क्या करना ? क्या किसी एक पर ही आधार मानकर उसके विकास की विकसित अवस्था आज के रूप में आज के हाथी–घोडे आदि को मानना ? यदि डार्विन ऐसा उत्तर देता है तो फिर बडी भारी आपत्ति तो यह आएगी कि... लाखों–करोडों वर्षों पहले भी ये हाथी–घोडे–ऊँट–बैलादि सभी प्राणी जब थे और आज हैं उनमें क्या अन्तर है ? क्या फरक है ? क्या विशेषता है ? ऐसी कौनसी विशेषताएं हैं जो उन हाथी–घोडे आदि प्राणियों में आज हैं और लाखों वर्षों के पहले नहीं थी ? या उल्टा मानें कि लाखों वर्षों के पहले थी और आज नहीं है ? क्या आप बता सकते हैं ? कभी भी नहीं। संभव ही नहीं है। उदाहरण के लिए... हाथी–घोडे–बैल–बकरी–गाय–भैंस आदि जो लाखों करोडों वर्षों पहले भी शुद्ध शाकाहारी ही थे और आज दिन तक भी शुद्ध शाकाहारी ही रहे हैं। घास ही खाते रहे हैं। उसमें जब कोई फर्क नहीं पडा है तो विकास किस बात का ? क्या शरीर की ऊँचाई आदि के प्रमाण में कम ज्यादा हुआ है ? उसे विकास कहना ? जी नहीं। यह भी संभव नहीं है। सबकी अपनी अपनी शरीर की निर्धारित ऊँचाई है। जो है, जितनी है, उतनी ही है। आखिर किस बात में फर्क पडा ? किस विषय में विकास सिद्ध करेंगे ? क्या सिंह–शेर–चित्ता–बाघ–आदि जो मांसाहारी थे और आज शाकाहारी बने हैं ? यदि मांसाहारी शकाहारी बने तो विकास कहना या फिर शाकाहारी मांसाहारी बने तो विकास कहना ? दोनों तरह आप क्या जवाब देंगे ? या फिर सदा काल गाय भैंसादि का शाकाहारी ही रहना... इसको विकास कहेंगे ?

अच्छा.. डार्विन के हिसाब से मात्र बन्दरों का ही विकास हुआ... और अन्य प्राणियों की जातियों का विकास क्यों नहीं हुआ ? क्या हुआ ? विकास योग्य वातावरण उन प्राणियों को नहीं मिला क्या ? क्यों नहीं मिला ? आखिर कौनसे कारण बीच में बाधक बने ? अरे ! विकास योग्य वातावरण का वास्तविक स्वरूप क्या है ? कैसे वातावरण को

विकासयोग्य वातावरण कहते हैं ? इसका निर्णय होना भी जरूरी है । फिर ऐसे वातावरण का सर्जन—निर्माण किया जाता है । या प्रकृति के घर में अपने—आप होता ही रहता है ? तो फिर जिस वातावरण में बन्दर का विकास हुआ, क्या उस समय हाथी—घोडा—ऊँट आदि सभी प्राणी—पशु—पक्षी सब नहीं थे क्या ? कहाँ गए थें ? क्या उनका अस्तित्व ही नहीं था ? या क्या ये जातियाँ पनपी ही नहीं थी ?

यदि पशु—पक्षियों की अन्य जातियों का अस्तित्व ही न मानें तो किसमें से जन्मी ? किसने बनाई ? कैसे निर्माण हो सकी ? सेंकडों प्रश्न खडे होंगे ? यदि लाखों—करोडों वर्षों पहले हाथी—घोडे आदि प्राणियों का अस्तित्व था ऐसा मानें तो क्या उस समय की गाय—भैंसे दूध नहीं देती थी ? ऐसा कह ही नहीं सकते हैं । लाखों वर्षों पहले भी दूध देती थी और आज भी देती ही है । क्या फर्क पडा ? किसे विकास कहें ? विकासवाद की निरर्थक बकवास किसी भी स्थिति में कसोटी पर खरी नहीं उतरती है ।

**क्या विकास निरंतर है ?—**

जैसे हवा निरंतर बहती ही रहती है वैसा विकास भी है ? बिना रुके सतत विकास होता ही रहता है ? बन्दर से.. आते... आते... विकसित मानव बन गए... लेकिन... अब भी विकास होता ही रहेगा या बस समाप्ति ? या होता ही रहेगा ? इन दोनों पक्षों में से क्या मानें ? यदि पहले पक्ष में विकास का अन्त मान लेते हैं तो भी उचित नहीं है । क्योंकि विकास योग्य वातावरण जो प्रकृति जन्य है, और उसकी उपलब्धि तो निरंतर है, तब तो फिर उपलब्धि के आधार पर विकास भी सतत निरंतर होता ही रहेगा । बन्दर से मनुष्य बन गया और फिर आगे विकास की निरंतरता में और आगे की स्थिति में कैसा विकसित स्वरूप होगा ? क्या आज के मानव की अपेक्षा भविष्य में हजारों वर्षों के बाद के विकसित मानवी स्वरूप की स्थिति कैसी होगी ?

निरंतर विकास के आधार पर... भविष्य में फिर मनुष्य का यह रूप भी नहीं रहेगा । क्योंकि जैसे बन्दर से मनुष्य का रूप बन जाने के पश्चात् बन्दर का रूप नहीं रहा, ठीक उसी तरह मनुष्य का भविष्य में विकास हो जाने के पश्चात् मनुष्य का यह रूप—स्वरूप नहीं रहेगा ? नहीं बचेगा ? कुछ और ही अलग—किसम का रूप होगा ? लेकिन ये सब कल्पना की उडाने हैं । यदि विकास की निरंतर—अखण्ड रूप से चलती हुई यात्रा को माने तो... तो... भविष्य में लाखों करोडों वर्षों के बाद... कोई भी बन्दर—गाय—भैंस—ऊँट—हाथी—बैल आदि कोई भी पशु—पक्षी इस धरती पर बचेंगे ही नहीं । अरे ! ये पशु पक्षी

तो नहीं बचेंगे क्योंकि सबका ही विकास हो जाएगा ? और विकसित रूप ही रहेगा। इतना ही नहीं मनुष्य का भी निरंतर विकास की प्रक्रिया में रूप बदलकर विकसित रूप ही रहेगा । इस तरह सारी पृथ्वी की शकल ही बदल जाएगी । वर्तमान कुछ भी स्वरूप नहीं बचेगा । सब विकसित नया ही स्वरूप हो जाएगा ।

लेकिन यह सब काल्पनिक उडान मात्र है । विचार् तरंगों की शब्दजाल मात्र है । अगर भविष्य में वर्तमान प्राणी सृष्टि कुछ भी ऐसी नहीं रहेगी जैसी आज है, सबका विकसित श्रेष्ठ स्वरूप ही रहेगा ऐसा यदि मानें तो ... आज दिन तक जो लाखों करोडों वर्ष बीते हैं उनमें ऐसा क्यों नहीं हुआ ? जब आगे भविष्य में हो सकता है तो बीते भूतकाल में क्यों नहीं हुआ ? संसार तो अनादि–अनन्त है । लाखों करोडों वर्षों से चलता ही आ रहा है । इतनें काल में जब कुछ भी विकास नहीं हुआ तो भविष्य काल में हो जाएगा ऐसा किस आधार पर माने ? भूतकाल के लाखों–करोडों वर्षों के बाद आज भी बन्दर वैसे के वैसे ही हैं । न तो सभी बन्दर बदले हैं और न ही सभी बन्दरों का नाश हुआ है । न तो सर्वथा बन्दर जाति का लोप हो चुका है और न ही बन्दरों का मनुष्य के रूप में सम्पूर्ण विकास हो चुका है । अतः भविष्य में भी कैसे मानें ? अतः यह निरर्थक बकवास सिद्ध होता है । ऐसा न तो विकास होता है और न ही ऐसे को विकास कहते हैं । ये विचार सामान्य जनता को गुमराह करने जैसे हैं । डार्विन ने भी जब ये विचार रखे थे तब डार्विन को भी जेल की सजा भुगतनी पडी थी । न तो ख्रिस्तियों ने डार्विन के विकासवाद की प्रक्रिया स्वीकार की थी और न ही ... अन्य किसी धर्म ने या दर्शन ने स्वीकार की थी । इतना ही सभ्य समाज डार्विन के इन विचारों से भडक उठेगा कि ... डार्विन ने हमारे पूर्वजों को हजारों पीढियों पहले के माता–पिता को ... बन्दर कहा, जिससे आज हम बन्दर की औलाद सिद्ध हुए । क्या बन्दर की औलाद में मनुष्य हो सकता है ? क्या संभव है ? नहीं ... कभी भी नहीं । वर्तमान विज्ञान भी ऐसा नहीं मानता है । एक नर प्राणी के वीर्य को अन्य जाति की मादा प्राणी में रखने से .. किसी अन्य ही प्रकार के विचित्र जीव की उत्पत्ति होगी ? जी नहीं । क्या बन्दर का वीर्य स्त्रीयोनि में आरोपित किया जाय तो खच्चर की तरह बन्दर पुरुष उत्पन्न होगा ? नहीं । यह सब निरर्थक कल्पना जाल है । अतः डार्विन ने हमारे पूर्वजों को बन्दर कहकर ... एक मोटी गाली दे दी है । और हमको बन्दर की औलाद सिद्ध कर दिया है यह सबसे बडी मूर्खता है ।

लेकिन अफसोस और आश्चर्य इस बात का है कि ... वर्तमान समाज ऐसी झूठी गलत विद्या को भी लाखों करोडों रुपयों का व्यय करके भी पढता है । युवा पीढि पढती

है। स्कूलों कालेजों में इसकी पढाई जोरों से चल रही है। आश्चर्य तो यह है कि... अपने आपको बुद्धिशाली माननेवाली युवापीढि के युवक गण भी वहाँ बिना कुछ प्रश्न पूछे, बिना किसी तर्क किये .. बाबा वाक्यं की तरह पढकर आ जाते हैं। न तो सच्चे—झूठे का विचार है और न ही विद्या के साथ या अपने साथ कोई न्याय है ? फिर भी लाखों रुपए मिथ्या—गलत—विपरीत ज्ञान के पीछे खर्चे जा रहे हैं। और सम्यग्—सच्चे—सही—ज्ञान के पीछे सर्वथा उपेक्षा का सेवन किया जा रहा है। यह सम्यग् ज्ञान के साथ कितना घोर अन्याय है ? और इस अन्याय का फल समाज—लोक आज भी भुगतता ही है। अतः डर्विन के विकासवाद की विचारधारा को किसी भी स्तर पर स्वीकारा नहीं जा सकता। सर्वथा अग्राह्य—अनुचित है।

**जन्मान्तर सादृश्यवाद—**

जगत् में ऐसी भी विचारधारा का एक मत .... पक्ष है जो ऐसा मानता है कि— आज इस जन्म में जो जीव जैसा है, जिस देह में है वह सदा ही उसी योनि में जन्म ग्रहण करता रहता है और सदा वैसा ही रहता है। गति—जाति का परिवर्तन नहीं होता है। उदाहरणार्थ विचार करने पर ख्याल आएगा कि— आज जो मनुष्य है वह भूतकाल में अनादि से मनुष्य ही था और भविष्य में भी आगे पुनः पुनः मनुष्य ही बनता रहेगा। जन्मान्तर अर्थात् जन्म बदलता नहीं है। गति बदलती नहीं है। जाति बदलती नहीं है। यहाँ पंचेन्द्रिय—चउरिन्द्रिय आदि जातियाँ पाँच हैं। जो जीव जिस जाती में है वह उसी जाति—गति में सदा ही रहता है। देव सदा देव ही रहता है। नारकी सदा नारकी ही रहता है। मनुष्य सदा काल मनुष्य ही रहता है। घोडा, गधा, हाथी, ऊँट बैल, पक्षी आदि सभी प्राणी जो जैसे हैं, वे मरेंगे तो भी मृत्यु के पश्चात् वापिस आज के जैसे ही बनेंगे। परिवर्तन नहीं होगा। अर्थात् ऊँट मरकर हाथी नहीं बनेगा, हाथी मरकर ऊँट नहीं बनेगा। घोडा मरकर मनुष्य नहीं बनेगा। उसी तरह मनुष्य मरकर घोडा नहीं बनेगा। इसे कहते हैं "एक गति—एक जातिवाद"। गति—और जाति वे जरूर मानते हैं। मृत्यु जरूर होगी लेकिन गति—जाति—जन्म बदलता नहीं है। वैसी ही समानता सदाकाल रहती है। इस मत को "जन्मान्तर सादृश्य" नाम से भी कहते हैं। जन्म = वर्तमान भव, अन्तर अर्थात् दूसरा जन्म, और सादृश्य अर्थात् ठीक वैसा ही। ऐसी विचारधारा भगवान महावीरस्वामी के पंचम गणधर श्री सुधर्मा स्वामी ... दीक्षा ग्रहण करने के पहले अपने गृहस्थाश्रम में थे तब उनकी थी। वेदों का अभ्यास करते समय उनकी मान्यता ऐसी बन चुकी थी। इससे

"**तज्जीव–तत्शरीरवाद**" की विचार धारावाले वे उस मत वाले थे । लेकिन बाद में भगवान महावीर स्वामी के पास आए । और इस मत पर चर्चा–विचारणा काफी की । आखिर करुणा के सागर परमात्मा श्री वीर प्रभु ने सुधर्मा को समझाया और कर्म के बंध कर्मविपाक के आधार पर किस तरह गतिजाति में परिवर्तन होता है यह समझाया । वेद पदों के रहस्य समझाएँ जिससे सुधर्मा की मति बदली । सम्यग् दृष्टि बनी । सुधर्मा ने सत्य को स्वीकार किया और भ. महावीर के पास दीक्षा ग्रहण करके जीवन प्रभु के चरणों में समर्पित किया ।

**कृत कर्मानुसार जन्मान्तर वैसदृश्य–**

यदि कर्म की सत्ता न मानें तब तो कुछ भी मानने का सवाल ही खडा नहीं होता है । परन्तु कर्म के बिना संसार चलता ही नहीं है अतः कर्म की सत्ता मानें बिना एक क्षण भी चल नहीं सकता है । बिना कर्म बांधे एक भी जीव मरता नहीं है । जन्म लेता नहीं है । अतः कर्म करके कर्म बांध के ही जीव जाता है । जन्म–मरण करता है । अब कर्म करने में सभी जीव एक समान–एक जैसा ही कर्म करेंगे यह कैसे संभव हो सकता है ? मनुष्यों को मरकर यदि वापिस मनुष्य ही बनना हो तो ... सभी मनुष्यों को एक जैसा ही कर्म करना पडेगा । और सभी मनुष्य एक जैसा ही कर्म करे यह संभव भी नहीं है । संसार में देखते ही हैं कि... कोई व्यभिचारी होता है तो कोई शुद्ध ब्रह्मचारी भी है ही । कोई दुराचारी–भ्रष्ट है तो कोई सदाचारी–सभ्य भी है । कुछ झूठ बोलनेवाले हैं तो कुछ सत्यवादी भी हैं तो सही । कुछ अविनयी उद्धत हैं तो कुछ विनयी–विवेकी हैं ही । इस सैंकडो पुण्य–पाप, गुण–दोषों में भिन्नता वाले अनेक मनुष्य जगत् में है ही तो क्या सभी का समान कर्मबंध होगा ? कभी नहीं । संभव भी नहीं है । यह गलत–मिथ्या विचारधारा है । यदि ऐसा मानेंगे तो सज्जन सभ्य व्यक्ती कहेगा कि हमें भी अच्छी सभ्यता का अच्छा आचरण करने की क्या जरूरत ? जैसा असभ्य दुष्ट–भ्रष्ट व्यक्ति को जन्म मिलने वाला है वैसा ही इसको भी जन्म मिलनेवाला है तो फिर क्या फायदा ? इस तरह संसार में एक गलत विचारणा से आचार व्यवस्था सर्वथा विकृत–विपरीत हो जाती है । परंपरा कितनी खतरनाक विपरीत चलेगी । संसार में अच्छा फिर कुछ भी नहीं रहेगा । अतः एक गति–एक जाति मानने की आवश्यकता ही नहीं है ।

जन्मान्तर वैसदृश्य गति–जाति की भिन्नता और स्वकृत कर्मानुसार गति–जाति के सम्यग् सिद्धान्त को ही स्वीकारना चाहिए । यही सत्य–चरम सत्य है । सत्य को स्वीकारना ही सम्यग् ज्ञान है । यही कल्याणकारक है । उपरोक्त "एक गति–एक जाति" की

विचारधारा कर्म सिद्धान्त को आधारभूत न मानने का कारण है । भ. श्री वीर प्रभु कहते हैं कि— वैसे कर्म करें तो जीव जरूर पुनः मनुष्य बन सकता है । कभी कभी । परन्तु हमेशा वैसा ही बनता रहेगा । यह सिद्धान्त गलत है ।

**कर्मानुसार–उत्थान–पतन—**

किये हुए कर्मानुसार जीव बन्दर भी बनता है । बन्दर के जन्म में से आकर मनुष्य भी बन सकता है और मनुष्य के जन्म से मरकर वापिस बन्दर भी बन सकता है । अरे ! मनुष्य तो क्या देवलोक के देवता भी मरकर तिर्यंच की गति में आकर बन्दर का जन्म ले सकते हैं । एक स्वर्ग का देवता तीर्थयात्रा करने जाते समय.. गुफा में ज्ञानी गीतार्थ मुनि महात्मा को अपनी आगामी गति—भव के बारे में पूछता है । तब ज्ञानी मुनि महात्मा अपने ज्ञान योग से देखकर कहते हैं कि हे देव ! तुम मृत्यु के पश्चात् यहाँ से च्युत होकर... भरतक्षेत्र की विन्ध्यगिरि पर्वतमाला में बन्दर बनोगे । उस देव को अपने अवधिज्ञान से बात बिल्कुल सही लगी । इतने ऊपर की ऊँची देवगति से देव भव से इतना नीचे बन्दर की गति में गिरना यह पतन देव को बहुत दुःखदायी लगा । आखिर वह देव देवगति से च्युत होकर तिर्यंच गति में गया । वहाँ बन्दर बना । अपना जीवन नवकार महामंत्र की अद्भुत साधना में बिताकर पुनः बाजी सुधार ली और शुभ पुण्योपार्जन करके वापिस देवगति में जाकर देवता बना । इस तरह कृत कर्मानुसार जीव का चारों गति में गमनागमन होता ही रहता है ।

**अनादि सिद्ध जीवस्वरूप—**

सर्वज्ञ केवलज्ञानी परमात्मा महावीर प्रभु फरमाते हैं कि... आदि के अभाव में जीव की अनादि कालीन सत्ता स्वीकारी जाती है । तथा जब से जीव इस संसार में है तब से किसी न किसी शरीर को धारण किये हुए ही है । बिना शरीर के तो जीव संसार में रहा ही नहीं है । अब जब शरीर धारण करके ही रहा है । कृत कर्मानुसार शरीर बनाता ही रहा है । और आयुष्य की समाप्ति के पश्चात् पुनः शरीर परिवर्तन करता ही रहा है । शरीर का परिवर्तन मृत्यु के पश्चात् दूसरी गति जाति में जाने के पश्चात् ही संभव होता है । वनस्पतियों में तथा पशु–पक्षियों की एवं कृमि–कीट–पतंग–चिंटी–मकोडे आदि की जातियों में सर्वत्र जीव सृष्टि में जहाँ जहाँ भी जीव जिस–जिस जाति को—देह को धारण करके रहा है वह जाति अनादि सिद्ध है । अनन्तकाल से सिद्ध है । एक चीकू के बीज से वापिस चीकू ही बनेगा । एक आम की गुटली के बीज से वापिस आम ही बनेगा । एक बन्दर के बीज

से (वीर्य से) वापिस बन्दर ही बनेगा। आम से संतरा नहीं बनेगा। और संतरे से आम नहीं बनेगा। इसी तरह पशु से मनुष्य नहीं बनेगा और मनुष्य से पशु नहीं बनेगा। एक ही भव में शरीर परिवर्तन नहीं होता है। मृत्यु के पश्चात् ही जीवात्मा दूसरी गति में जाकर दूसरा शरीर बदल सकती है। अतः बन्दर से विकसित होकर मानव बना है ऐसी डार्विन की विचारधारा सर्वथा असत्यमूलक है।

अनन्त भवों की परंपरा में जो जो जन्म हो रहे हैं उनमें से किस जीव के शरीर को किसने बनाया है? क्या विज्ञान के द्वारा बनाना संभव है? जी नहीं। विज्ञान एक भी फल—तरकारी का बीज निर्माण नहीं कर सका है। उस बीज में जो जीव है वह स्वकर्मानुसार वैसा शरीर धारण करेगा। एक नीबू के बीज की परंपरा कितने काल से हैं? असंख्य काल से हैं। वे जीव उस नीबू के वृक्ष में आते हैं, उत्पन्न होते हैं, वे अपनी वंशपरंपरा चलाने हेतु फल में बीजोत्पत्ति करते हैं और बीजों की परंपरा चलती रहती है। बीज से पुनः वृक्ष—फल, तथा वृक्ष से पुनः बीज इस तरह यह क्रम चलता ही रहता है। चलते चलते अनन्त काल बीत गया। आज भी नीबू आदि लाखों वनस्पतियों का अस्तित्व है और भविष्य में भी अनन्तकाल तक रहेगा। अतः प्रत्येक जीवों की प्रत्येक देह पर्यायें परंपरा से त्रैकालिक शाश्वत हैं। तीनों काल में सदा ही प्रत्येक जीवों का अस्तित्व था और रहेगा। अतः बन्दरों का मनुष्यों का सबका अस्तित्व सदा ही रहेगा। ऐसा नहीं होगा कि बन्दर से मनुष्य बन जाएंगे और बन्दर जाति सर्वथा लुप्त हो जाएगी। ऐसा नहीं होगा। संसार के रंग मंच पर सभी जीवों की सभी गति—जातियाँ अनादि—अनन्त रहती है। हाँ, क्रूर मानवी भयंकर व्यापक विनाश करके किसी जाति को नामशेष कर दे यह संभव हो सकता है।

अतः जीवों का गमनागमन, जन्मान्तर, भवान्तर गति—जाति का यथार्थ सत्य स्वरूप सर्वज्ञों के सिद्धान्त से समझकर चरम सम्यग् ज्ञान प्राप्त करके स्व—पर कल्याण साधना चाहिए...

॥ इति शम् ॥

# अध्याय ६

# गुणात्मक विकास

परमपुरुष... परमपूजनीय.. परमेष्ठी... परमपिता... परमात्मा श्री महावीरस्वामी के चरणारविन्द में अनन्त वन्दना पूर्वक...

## विकास किसका ? —

विकास के विषय में मीमांसा करते हैं। विकास की बात जब भी आती है तब एक प्रश्न उपस्थित होता है कि आखिर विकास किसका ? संसार में द्रव्यभूत पदार्थ जिसका अस्तित्व है वे तो सिर्फ दो ही हैं। एक जीव और दूसरा अजीव। बस, इन दो पदार्थों के सिवाय संसार में तीसरे किसी भी अन्य अतिरिक्त पदार्थ का अस्तित्व ही नहीं है। जिनका भी अस्तित्व है वे सभी पदार्थ इन दो विभाग में समाविष्ट हो गए हैं। अजीव कहें या निर्जीव कहें आखिर बात एक ही है। यहाँ दोनों शब्दों में "अ" और "निर्" उपसर्ग निषेध अर्थ में प्रयुक्त है। किसका निषेध ? जीव का। आगे शब्द जीव है। और जीव शब्द के साथ ही "अ" और "निर्" उपसर्ग जुडे हुए हैं अतः जीव का ही निषेध सूचित है।

इस संसार में जिसका अस्तित्व है उसीका निषेध—अभाव भी कहा जा सकता है। यदि किसी का अस्तित्व ही न हो तो निषेध भी कैसे संभव होगा ? सर्वथा असंभव है। जगत में जिनका अस्तित्व ही नहीं है उसका निषेध—या अभाव कैसे हो सकता है ? उदा.— शशशृंग, वन्ध्यापुत्र, खपुष्प जैसी कोई वस्तु ही नहीं हैं। ऐसा कोई स्वतंत्र पदार्थ ही नहीं है, उसका अस्तित्व ही नहीं है तो अभाव कैसे होगा ? नियम ऐसा है कि... जिसका अस्तित्व होता है उसीका निषेध या अभाव होता है। वन्ध्या को पुत्र होता ही नहीं है। पुत्र के अभाव के कारण ही वन्ध्या कहलाती है तो फिर वन्ध्यापुत्र कैसे कहें ? और यहाँ २ व्यक्ति हैं— एक वन्ध्या और दूसरा पुत्र। इसलिए एक पदार्थ नहीं है। इसी तरह शशशृंग में भी खरगोश के सिर पर सिंग नहीं हैं। हाँ, जगत् में खरगोश भी हैं। और सिंग भी हैं। गाय भैंस आदि के सिंग होते ही हैं। लेकिन खरगोश के सिंग नहीं होते हैं। इसी तरह खपुष्प ख = अर्थात् आकाश। आकाश में कोई पुष्प—फूल नहीं होता है। अतः इनका अस्तित्व ही न होने से अभाव—निषेध भी कभी भी सिद्ध नहीं होता है।

अतः जिसका अस्तित्व होता है उसीका निषेध अभाव होता है। अतः अभाव भी भाव को सिद्ध करता है। अजीव—निर्जीव शब्द भी जीव के अभाव के द्योतक हैं अजीव में जीव का निषेध है। निर्जीव में भी जीव का ही निषेध है। अतः यह निषेध—अभाव भी प्रथम जीव का अस्तित्व सिद्ध करता है फिर निषेध। इसलिए इस एक शब्द से दो का अस्तित्व सिद्ध होता है। एक तो जीव का प्रथम। और दूसरा जो जीव नहीं है ऐसा पदार्थ अजीव। जिसमें जीवगत गुण नहीं है ऐसा "अजीव"— निर्जीव पदार्थ।

क्या आप संसार में कोई ऐसा नाम बता सकते हैं जिसकी वाचक कोई वस्तु ही न हो या क्या आप कोई ऐसी वस्तु बता सकते हो जिसका वाचक कोई नाम ही न हो? सोचिए... बुद्धि के बल पर विचार करिए। आपको ऐसी कोई वस्तु ही नहीं मिलेगी जिसका सर्वथा नाम ही न हो और आपको कोई ऐसा नाम ही नहीं मिलेगा जिसकी वाचक—द्योतक वस्तु ही न हो। अतः यह नियम बनता है कि... नाम है तो वस्तु अवश्य है और वस्तु है तो उसका वाचक नाम भी अवश्य ही है। उदाहरण के लिए आत्मा जीव—चेतनादि ये नाम हैं। तो किसके नाम है? इन नामों वाली यदि कोई वस्तु ही नहीं होती तो.... ये नाम किसके हैं? क्या हम किसी भी वस्तु के ये नाम रख सकते हैं? इन नामों से क्या आप किसी अन्य वस्तु का व्यवहार कर सकते हैं? जीव—आत्मा के सिवाय भिन्न कोई ऐसी वस्तु ही नहीं है जिनका "आत्मा" या "चेतन" नामों से व्यवहार कर सकते हो।

जी नहीं। संभव ही नहीं है। शायद आप कहेंगे कि हम किसी भी वस्तु का आत्मा या चेतन या जीव नाम रख देंगे। किसी मकान, किसी खिलौने, किसी वाहनादि का नाम आप रख सकेंगे। बात ठीक है। लेकिन... क्या उनमें उस नाम के अनुरूप गुण हैं? क्या वह मकान, खिलौना आदि वस्तु आत्मा के गुणों से व्याप्त होगी? एक भी गुण उनमें नहीं हो फिर भी क्या वे नाम रख सकते हैं? जी नहीं। कभी भी नहीं। लेकिन व्यवहार से लोक रख भी देते हैं तो वे नाम सार्थक नहीं निरर्थक हैं। सार्थक नाम तो गुणनिष्पन्न नाम ही होते हैं। नाम द्रव्य के होते हैं। और द्रव्य गुणों से परिपूर्ण होता है। गुणों का खजाना जिसमें भरा हुआ रहता है उसे ही द्रव्य कहते हैं। व्याख्या ही ऐसी की है— **"गुण–पर्यायवद् द्रव्यम्"** गुण और पर्यायवाला जो होता है वही द्रव्य होता है। उसे ही द्रव्य कहते हैं। जगत् में ऐसा एक भी द्रव्य नहीं है जिसमें गुण न हो और ऐसा कोई गुण नहीं है जो द्रव्य के बिना स्वतंत्र रहता हो। संभव ही नहीं है। गुण जब भी रहेंगे तब द्रव्य के साथ ही रहेंगे। और द्रव्य जब भी रहेंगे तब गुण युक्त ही रहेंगे। बिना द्रव्य के गुणों

का अस्तित्व नहीं रहेगा और बिना गुणों के द्रव्य का अस्तित्व नहीं रहेगा । अतः ये दोनों अभेद भाव से जुडे हुए साथ ही एकीभाव से रहते हैं । अतः जहाँ जहाँ द्रव्य हैं वहाँ वहाँ गुण अवश्य ही होते हैं और जहाँ जहाँ गुण होते हैं वहाँ द्रव्य अवश्य ही होता है । इस प्रकार की व्याप्ति है । व्याप्ति का अर्थ है अविनाभाव संबंध । अर्थात् एक के बिना दूसरे का न रहना । अर्थात् साहचर्य नियम व्याप्ति है । साथ ही रहने को व्याप्ति कहते हैं । जैसे सूर्य और सूर्य की किरणें सदा साथ ही रहती हैं । कभी भी भेद नहीं होता है । सूर्य के बिना किरणें नहीं रहती हैं और किरणों के बिना सूर्य नहीं रहता है । सूर्य द्रव्य है तो प्रकाश—किरणें उसका गुण है । द्रव्य गुण का अभेद संबंध है । ऐसा कभी भी नहीं हुआ है कि सूर्य का उदय हुआ लेकिन प्रकाश किरणें नहीं फैली हो । या कभी मात्र प्रकाश किरणें फैली हो और सूर्य न हो । ऐसा भी कभी नहीं हुआ है ।

इसी तरह आत्मा और ज्ञान—दर्शन—चारित्रादि गुणों का सूर्य एवं प्रकाश की तरह अभेदभाव से व्याप्ति संबंध है । आत्मा कभी भी ज्ञान के बिना नहीं रही और ज्ञान कभी भी आत्मा के बिना नहीं रहा । अतः दोनों में अविनाभाव व्याप्ति संबंध है । आत्मा द्रव्य है और ज्ञान—दर्शनादि उसके गुण हैं । आत्मा अरूपी—अमूर्त—अदृष्य तत्व है । ज्ञानदर्शनादि उसके गुण हैं । और देखना—जानना आदि उन गुणों की क्रिया है । तथा प्रकार की क्रिया से गुणवान द्रव्य का प्रत्यक्षीकरण होता है । गुण द्रव्याश्रयी ही होते हैं । द्रव्य के साथ गुण का अभेद संबंध होता है । अतः द्रव्य के बिना गुण रह ही नहीं सकता है । द्रव्य से स्वतंत्र—भिन्न नहीं रह सकता है ।

गुण द्रव्य के साथ ही रहते होने के कारण द्रव्य—गुण का परस्पर द्योतक हो जाता है । द्रव्य की पहचान गुण से और गुण की पहचान द्रव्य से होती है । गुणों का व्यवहार होता है । गुणों की जन्य क्रियाओं से भी व्यवहार होता है और इससे द्रव्य पहचाना जाता है । गुण क्रियाओं का व्यवहार प्रत्यक्ष होता है । गुण—क्रिया के प्रत्यक्षीकरण से गुणी द्रव्य का प्रत्यक्ष रूप से ज्ञान होता है । सूर्यप्रकाश की तरह यहाँ आत्मा और ज्ञानादि हैं । ज्ञानादि के व्यवहार से आत्मा द्रव्य को आसानी से पहचाना जाता है । अतः ज्ञानादि गुण तथा तद्जन्य क्रिया जो व्यवहार में हमारे लिए ग्राह्य है उससे पहचानना चाहिए आत्मा को ।

इस तरह आत्मा नामक कोई द्रव्यविशेष का अस्तित्व हो तो ही उसका अभाव सिद्ध हो सकता है । अन्यथा नहीं । जिसकी त्रैकालिक सत्ता—अस्तित्व ही न हो उसका अभाव—निषेध भी सिद्ध नहीं किया जा सकता । और जो निषेध या अभाव सिद्ध किया जाता है वह अपेक्षा से किया जाता है, न कि त्रैकालिक अस्तित्व सत्ता का अभाव सिद्ध

किया है । नहीं, कभी नहीं । अभाव अपेक्षा भेद से सांयोगिक हो सकता है । उदाहरणार्थ किसी ने नीचे से ही पूछा कि— अरुण है ? ऊपर घर में से पत्नी ने जवाब दिया— नहीं है । अतः इस जवाब को पत्नी ने घर की अपेक्षा से दिया है । पति के सर्वथा अभाव—निषेध को सूचित नहीं किया है । पति का अस्तित्व तो है ही... मात्र घर में पति का संयोग नहीं है । संयोग का अभाव ही वियोगदर्शक है । पति वर्तमान्काल में घर में नहीं है । दिल्ली गए हुए हैं । यहाँ कालिक अपेक्षा इस संक्षिप्त जवाब के साथ में जुडी हुई है । जो दिल्ली गया हुआ है तो ३—४ दिन में आ जाएगा । जिससे पुनः घर का संयोग हो जाएगा । जिस काल में जो निषेध किया गया था वह उसी वर्तमानकाल की अपेक्षा से था । काल बदल जाने पर निषेधात्मक जवाब भी बदल जाएगा ।

इसी तरह एक रोगी के अस्पताल में मृत्युशय्या पर पडे रहने पर "अभी जीव है" ऐसा व्यवहार होता है । यहाँ अभी शब्द कालिक अपेक्षा का द्योतक है । और जीव का अस्तित्व उस वर्तमान काल में है । लेकिन थोडी देर बाद जीव के चले जाने पर... काल बदल गया । काल के बदल जाने पर अपेक्षा बदल गई । अब जवाब मिला कि "अब जीव नहीं है" । इन शब्दों में अब शब्द कालवाची है । और नहीं शब्द अभावसूचक है । और जीव शब्द द्रव्य का द्योतक है । अभाव जरूर है परन्तु यहाँ सांयोगिक अभाव है । जिस जीव द्रव्य का शरीर के साथ संयोग था वह अब नहीं है । स्थानान्तर हो चुका है । इसी के कारण... जीव इस शरीर को छोडकर अन्यत्र चला गया है । अतः संयोग का भी अस्तित्व है लेकिन एक शरीर का संयोग काल के कारण छूट गया और दूसरे शरीर से संयोग जुड गया है ।

जब संयोग जुडा है तो निश्चित ही संयोगकारक—संयोग करनेवाला कोई तो था तभी तो संयोग हुआ । अन्यथा संभव ही नहीं था । अस्तित्व दोनों तरफ है ही । पहले प्रथम शरीर में संयोग था अब दूसरे शरीर में संयोग हुआ है । संयोग है अतः संयोगी द्रव्य का अस्तित्व है ही । त्रैकालिक सत्ता होने के कारण अस्तित्व सदा ही रहता है । मात्र संयोग के काल एवं क्षेत्र में परिवर्तन होता रहता है । और इसी संयोग—वियोग को जन्म—मरण कहते हैं । जीवात्मा का शरीर के साथ संयोग होने को जन्म और इसी शरीर से वियोग होने को मरण कहते हैं । अतः जन्म—मरण के धारण करने की क्रिया से भी आत्मा द्रव्य का अस्तित्व प्रकट होता है । क्योंकि समस्त संसार में जन्म—मरण जीवात्मा ही धारण करती है । जीवात्मा के सिवाय—के अतिरिक्त अन्य कोई जन्म—मरण धारण करनेवाला ही नहीं है । अजीव जड—पुद्गल पदार्थ का जन्म—मरण धारण करने का कार्य

नहीं है । जगत में दो ही तो द्रव्य हैं— एक जीव और दूसरा अजीव । अजीव जन्म—मरण धारण नहीं करता है । एक मात्र जीवात्मा का ही यह कार्य है । अतः जन्म—मरण की क्रिया भी जीव तत्त्व के त्रैकालिक अस्तित्व को सिद्ध करती है ।

जन्म—मरण भी अनादि सिद्ध है । अनन्तकालीन है । इसकी आदि कब से सिद्ध करें ? कैसे काल गणना करें ? काल कब से है ? तब से जन्म—मरण है । यहाँ तब शब्द भी काल की सीमा बांधनेवाला है । लेकिन काल की सीमा का बंधन हो ही नहीं सकता है । अतः जन्म—मरण की कालसीमा बांधी ही नहीं जा सकती है । अतः इस अनन्त ब्रह्माण्ड में कभी एक दिन का, अरे ! एक क्षण मात्र का भी काल ऐसा नहीं था कि जिस समय जगत् में किसी का जन्म—मरण नहीं हुआ हो । निगोद में एक बार आँख खोलकर बन्द करने जितने समय में, या एक श्वास लेने—छोडने के समय मात्र काल में १७१⁄२ जन्म—मरण हो जाते हैं । यह जन्म—मरण अनन्त काल से चल रहे हैं, और काल की गिनती का अन्त ही न होने से — अनन्त होने से उसकी आदि संभव ही नहीं है । अतः जन्म—मरण भी अनादि—अनन्त सिद्ध है ।

जन्म—मरण क्या है ? जीव का उत्पत्ति योनि में जाकर शरीर बनाकर धारण करने की प्रक्रिया को जन्म कहते हैं । और इसी शरीर को छोडकर जीवात्मा का चले जाने की प्रक्रिया को मरण कहते हैं । अनादि—अनन्त काल से चल रहे जन्म—मरण की प्रक्रिया के आधार पर—जीवात्मा का अस्तित्व भी अनादि—अनन्त कालीन सिद्ध होता है । जब से जीव है तब से जन्म—मरण संसार में है ही । और जब तक जन्म—मरण चलते ही रहेंगे तब तक संसार में जीव का अस्तित्व भी सदा ही रहेगा । जन्म—मरण जीव की कर्मजन्य संसारी अवस्था की पर्यायें हैं । संसार चक्र की चारों गति में ८४ लाख योनियों में समस्त ब्रह्माण्ड की दृष्टि से विचार करने पर पता चलेगा कि . . . प्रतिक्षण ब्रह्माण्ड में कितने जन्म—मरण होते होंगे ? सर्वज्ञों के शब्द में इसका उत्तर "अनन्त" की संख्या में आएगा । साधारण वनस्पतिकाय की दृष्टि से विचार करने पर सूक्ष्म—बादर के प्रभेदों में स्थूल आलु—प्याज—लसून—गाजर—मूला—सूरण—अंकुरित में—लीलकाई में आदि सर्वत्र प्रतिक्षण अनन्त जीव जन्मते हैं और मरते हैं । अतः अनन्त काल से अनन्त जीवों का जन्म—मरण सतत निरंतर प्रतिक्षण चलता ही आ रहा है । यह अविरत अखण्ड रूप से चलती प्रक्रिया है । चलती ही जाती है । बस, इसी का नाम संसार है ।

जन्म—मरण दुःखदायि है । अतः दुःख किसको होता है ? जीव को । क्योंकि सुःख दुःख की संवेदना का अनुभव करना यह जीव का काम है । जीव के बिना सुख दुःख का

अनुभव अन्य कोई नहीं कर सकता है। अतः यह जीवगत धर्म है। गुण है। अतः जन्म--मरण की प्रक्रिया से जीव के त्रैकालिक अस्तित्व की सिद्धि होती है। तथा जन्म—मरण के दुःख की अनुभूति करनेवाले के रूप में भी जीवात्मा की ही त्रैकालिक सत्ता सिद्ध होती है। अनन्त जन्म--मरण की संख्या से एक जीव के अनन्त जन्म--मरण सिद्ध होते हैं। इस अनन्तता से जीव की अनन्तकालीन सत्ता ही सिद्ध होती है। और भूतकाल जब अनन्त सिद्ध हुआ तब आदि कैसे सिद्ध होगा ? नहीं। अतः अनादि सिद्ध होता है। अतः जीव का अस्तित्व जन्म—मरणादि अनादि—अनन्त कालीन सिद्ध होता है। इसी तरह अनन्त जन्म--मरण आदि की अपेक्षा से जीवों का अनन्त संख्या में होना—अस्तित्व सिद्ध होता है। इस तरह जीव से जन्म—मरण, और जन्म—मरण के आधार पर जीव का त्रैकालिक अस्तित्व सिद्ध होता है। इसी तरह जीव से दुःख की और दुःख से जीव की सिद्धि होती है। जन्म—मरण सुख—दुःखादि जीवाश्रित हैं।

ऐसे जीवात्मा द्रव्य का अस्तित्व है तो इसीका वाचक नाम जीवात्मा है। और जगत् के व्यवहार में प्रचलित जीव—चेतन—आत्मादि वाचक नाम है तो जीवद्रव्य का अस्तित्व भी है ही। भाषा शास्त्र के इतिहास की दृष्टि से भी देखा जाय तो प्राचीन से प्राचीन कालीन शास्त्र भी जीव--चेतन—आत्मा—जन्म--मरण—सुख—दुःखादि शब्द भी अर्वाचीन काल से व्यवहार में प्रचलित हैं। शास्त्रों में अंकित हैं। शास्त्रों में, तथा शास्त्रों के आधार पर सदा ही इनका व्यवहार होता ही रहा है। अतः ऐतिहासिक प्राचीनता का प्रमाण भी जीवात्मा को ऐतिहासिक सिद्ध करता है। अर्थात् बीते हुए भूतकाल में जीवात्मा के अस्तित्व को सिद्ध करता है। जब वाचक शब्द इतिहास के गर्त में सदा से ही है तो उसका वाचक द्रव्य जीव था तो ही वाच्य—वाचक संबंध से दोनों का ही अस्तित्व था। जीव—चेतन—आत्मा ये शब्द उस द्रव्य के वाचक हैं। और ज्ञानादि गुणवान् सुख—दुःखादि अनुभावक गुणवान द्रव्य तथा जन्म—मरणादि क्रियावान् वैसा जीव द्रव्य उस वाचक का वाच्य है। इस तरह वाच्य—वाचकभाव संबंध भी अनन्त कालीन है। इस तरह ये शब्द भी द्रव्य के त्रैकालिक अस्तित्व को सिद्ध करते हैं और यह द्रव्य भी उसके वाचक जीवादि शब्दों का अस्तित्व भी तीनों काल में यही था। अनन्तकाल पहले भी ऐसे ज्ञानादि गुणवान द्रव्य को आत्मा ही कहते थे, चेतन ही कहते थे, और आज भी चेतन—आत्मा—जीवादि ही कहते हैं। अतः यह प्राचीनता भी अनन्तकालीन है। क्योंकि अनन्तकाल पहले भी जब जीव का अस्तित्व सिद्ध होता है, तो उस जीव की भाषा की भी अनन्तता सिद्ध होती है। भाषा व्यवहार का माध्यम है। जो वाच्य द्रव्य पदार्थ और उसके ज्ञानादि गुणों क्रिया आदि का व्यवहार करती

है । अतः भाषा की दृष्टि से आत्मा—चेतन—जीव द्रव्य में और इन शब्दों में वाच्य—वाचक संबंध भी प्राग् ऐतिहासिक सिद्ध होता है । इसी शब्द का यही वाच्य और इसी वाच्य द्रव्य के ये ही वाचक शब्द हैं । भेद भी नहीं । अरबों—खरबों वर्षों पहले भी जब प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ भगवान ने देशना दी तब भी आत्मा—चेतनादि इन्हीं शब्दों का प्रयोग किया था और इन शब्दों से वाच्य इसी ज्ञानादि—सुख—दुःखादि अनुभावक गुणवान द्रव्य की विवक्षा की थी । अन्य नहीं । वही भाषाकीय व्यवहार सभी तीर्थंकर करते आएं, और आते आते सभी जीव सर्वत्र सभी शास्त्रादि भी इन्हीं आत्मादि द्रव्यों का ऐसे ही गुणसंपन्न आत्म-द्रव्य के लिए प्रयोग—उपयोग करते आ रहे हैं । अतः भाषा से मात्र प्राग् ऐतिहासिकता ही नहीं अपितु... परंपरा से अखंडितता भी सिद्ध होती है । नैरंतर्य—सातत्यता भी सिद्ध होती है । ऐसे आत्मद्रव्य पर ही सारा आधार है । यही चेतनात्मा सबके केन्द्र में है ।

### विकास किसका ?—

"विकास" शब्द क्रमशः आगे बढते रहने का वाचक है । आगे बढना अर्थात वर्तमान अवस्था से काफी प्रगति करते हुए भावि की आगे की अवस्थाएं साधना क्रमशः आगे बढना उत्तरोत्तर आगे की कक्षा प्राप्त करना । विकास साधने, तथा न साधनेवाले ऐसे विभाग से ४ प्रकार के जीव होते हैं । १) विकास के सोपान चढते हुए आगे बढनेवाले जीव, २) विनाश के गर्त में गिरते हुए नीचे उतरने वाले । ३) तीसरे विकास के सोपान पर बैठे जरूर है लेकिन आगे नहीं बढ रहे हैं । तथा अन्तिम ४) चौथे विकास की सीमा पर बैठे जरूर हैं लेकिन आगे प्रगति न भी हो फिर भी नीचे नहीं गिरते हैं । विनाश का एक भी सोपान उतर नहीं रहे हैं । अपने आप को सावधान रखकर बैठे हैं ।

इस तरह चार प्रकार के जीवों में प्रथम क्रम का जीव ही सर्वश्रेष्ठ प्रकार का है । सर्वोच्च है । यह जीव पुरुषार्थवादी है । आँधी तूफानों से न डरता हुआ । ... उपसर्गों परिषहों से कभी भी न डरता हुआ, आपत्ति विपत्तियों से न घबराता हुआ... क्रमशः आगे बढता ही जाना.... और विकास की चरम सीमा को प्राप्त कर पूर्ण बनना वहाँ तक निरंतर विकास करते ही रहना । ऐसे दृष्टान्त भ. महावीर स्वामी, भ. पार्श्वनाथ अदि के जीवन के मिलेंगे... । मरणान्त उपसर्गों को भी न गिनते हुए भी आगे बढने का क्रम सतत जारी रखा । दूसरे प्रकार के जीव पहले प्रकार के जीव से सर्वथा विपरीत प्रकार का है । यह विकासद्वेषी और विनाशप्रेमी है । बस, वैसे भारी अशुभ पाप कर्म का उदय है कि उसे विनाश ही पसंद आता है । पाप पसंद आता है । अतः वह पापरुचि जीव है । पाप करता

हुआ पाप में मजा—पाप में सुख मानता हुआ... क्रमशः विनाश के अन्तिम सोपान तक पहुँच जाता है। जैसे इक्काई राठोड का जीव भयंकर पापों को करता हुआ... सातवीं नरक तक... फिर एकेन्द्रिय तक भी नीचे गिरता जाता है। ये जीव ऐसे ही होते हैं।

तीसरे प्रकार के जीव विकास के सोपान पर आकर खडे हैं... लेकिन विकास की प्रक्रिया की पद्धति को देखकर... वह डर जाता है। उत्साह का अभाव रहता है। सर्वथा क्षपक श्रेणि पर चढने की हिम्मत नहीं है। पुरुषार्थ की प्रबलता का अभाव है। बस जिस पहले सोपान पर चढा वहीं रुककर बैठ गया.. वहीं बैठा जरूर है लेकिन आगे नहीं बढ रहा है। इसमें सम्यग् ज्ञान की कमी पडती है। वीर्योल्लास की कमी उसे सताती है।

चौथे प्रकार का जीव बडा ही विचित्र है। वह भी न तो आगे बढता है और न ही विनाश की तरफ नीचे गिरता है। आगे बढने का लक्ष्य ही नहीं है। भावना भी नहीं है और ज्ञान भी नहीं है। रुचि भी नहीं है लेकिन बार बार पतन के गर्त में नीचे गिरकर... भारी दुःख भोगकर बहुत दुःखी हो चुका है अतः दुःख से डरकर पाप की प्रवृत्ति करने में आगे नहीं बढता है लेकिन मन में से जड मूल में से पापेच्छा नहीं जाती है। विचारों में पाप पडा है। पूर्व में अनेक बार किये हुए पापकर्मों के संस्कार बहुत भारी पडे हैं। एक महिला २—३ बार प्रसूति की पीडा का अनुभव कर चुकने के बाद अब मन में सोचती है कि पति सहवास से मैं बचकर दूर रहूँगी। लेकिन मन में तो वासना सताती है। कामेच्छा प्रबल होने के कारण वह अपने मन को नहीं संभाल पाती है। फिर भी डरती डरती अपने आप को बचाने की कोशिश करती है। वैसे ही पाप के पूर्व संस्कारों के उदय की प्रबलता के कारण बडा भारी द्वन्द्व खडा होता है। लेकिन बहुत दुःखों को भोगकर व्याकुल हो चुका है अतः उस सजा से डरता है। इसलिए अब वापिस ज्यादा पाप करके पतन के गर्त में गिरना पसंद नहीं करता है फिर भी वही बैठा रहता है।

संसार में कई जीव ऐसे होते हैं जो पाप की प्रवृत्ति में भी मजा मानते हैं। पाप करने से सुखी होते हैं, सुख मिलता है, बहुत ही अच्छा मजा आता है ऐसा वे मानते हैं। जब ज्ञान अल्प होता है, क्षणिक होता हैं, पूर्वापर का भावि के परिणामों का विचार करने की शक्ती नहीं होती है तब ज्ञान मात्र... वर्तमानकालीन ही शेष बचता है। बस फिर उसी क्षणिक वर्तमान कालीन ज्ञान से इच्छा पूरी करने हेतु जीव वैसा पाप कर देता है। परिणाम का विचार ही नहीं करता है। यही दुःखद अवस्था है।

**विकास में बाधक पापरुचि—**

पाप की रुचि—पाप की इच्छा—पाप की प्रवृत्ति—पाप की परिणति—पाप की मनोवृत्ति विकास में बाधक बनती है । अनन्तकाल के भूतकाल में भी यदि आप विहंगावलोकन करें तो भी... आपको स्पष्ट दिखाई देगा कि पाप करके, या पाप की प्रवृत्ति बढाकर... पाप की इच्छाएं बढा चढाकर फिर पूरी करने के चक्कर में इस समग्र संसार में आज दिन तक कोई भी सुखी नहीं हुआ है । हाँ, पाप में क्षण भर के लिए सुख दिखाई देता है परन्तु वह भास मात्र है । अतः सुख नहीं सुखाभास है । आभास कभी भी वास्तविक—सच्चा नहीं होता है । मिथ्या होता है । जैसे... रेती पर पडी हुई सूर्य की किरणें दूर से देखनेवाले को पानी का आभास करती है । परन्तु वास्तविक पानी होता नहीं है । लेकिन प्यासे व्यक्ति के मन में क्षणभर के पानी पीने की इच्छा जगाकर आश्वासन जरूर दिलाता है । लेकिन वास्तव में पानी पीने को तो मिल ही नहीं पा रहा है । बस, देखने में भ्रान्ति खडी करके क्षण भर के लिए उस आभास ने सुख दिखा दिया । यह सुखाभास मनुष्य को प्रलोभन दिखाकर ललचाता है । मनुष्य का कमजोर मन खींचा जाता है । आखिर वह अपने आपको संभाल नहीं पाता है और उस इच्छा की प्रबलता के कारण आखिर उसका भोग बन ही जाता है ।

ठीक वैसे ही मानव का कमजोर मन विषय वासना के कामेच्छा के पाप प्रति आकर्षित होता है । यह भी आभास मात्र ही है । वास्तविक सुख कहाँ है ? सुख की लालसा से जीव उसके पीछे भी पागल बन जाता है लेकिन एक क्षणिक सुख के लिए मनुष्य बहुत लम्बा दुःख खडा कर लेता है । फिर भी मानवी की इच्छा की तृप्ति नहीं होती है । परिणाम स्वरूप वह मनुष्य बार—बार पाप करने के लिए लालायित होता रहता है । बस, यही विषचक्र चलता रहता है । फिर इच्छाएँ जगती है, फिर तदनुरूप प्रवृत्ति करता है फिर अतृप्त—तृष्णा बनी रहती है... फिर वह तलप मन को विवश कर देती है... परिणाम स्वरूप प्रबल इच्छा फिर उसी दिशा में घसीटती है । प्रबल पाप की इच्छा से, असंतुष्ट मन से फिर उसी पाप को करते रहना, तीव्रता से करने—भोग भोगने की अदम्य तृष्णा फिर मन को विवश करती है । बस, यही विषचक्र चलता रहता है । जीव को यह पता नहीं कि... भोग भोगे जा रहे हैं कि मैं स्वयं भोगा जा रहा हूँ । पता ही नहीं चलता है ।

पाप करने का ऐसा भी एक भारी नशा होता है । जैसे नशा मनुष्य को गुलाम बना देता है । परवश कर देता है । पाप की पराधीनता पुनः पुनः पाप की प्रवृत्ति कराती है । इस

तरह पाप की प्रवृत्ति रुकती नहीं है। परिणामस्वरूप जब बांधे हुए पापों का विपाक—फल काल जब उदय में आता है तब बडा भयंकर दुःख देता है। ऐसी दुःखद परिस्थिति होती है कि उस दुःख में से बचना उसके लिए असंभव सा होता है। नरक की सजा बडी दुःखदायी होती है। नरक का काल भी बहुत लम्बा चौडा होता है। करोडों अरबों वर्षों का आयुष्य काल (सागरोपम = असंख्य वर्षों का) होता है। और उतने लम्बे काल तक अपने किये हुए पाप कर्मों की सजा उस जीव को भुगतनी पडती है। जो बडी भयंकर दुःखदायी होती है।

उदाहरण के लिए यहाँ समझिए... जो व्यक्ती यहाँ अदम्य कामेच्छा को पूर्ण करने के लिए विकृत वासना के अधीन होकर.. किसी पर बलात्कार कर बैठता है। क्षणभर के क्षणिक सुखाभास की तृप्ति के लिए जबरदस्ती करता है। और दूसरी तरफ भयग्रस्तता की मानसिकता, दूषित अपराधिक भाव उसे चोर जैसा बना देता है। पकडे जाने पर जब १०—२० साल की जेल भुगतता है, वहाँ चार दिवालों में लोहे की जंजीरों में जकडा हुआ जब वर्षों तक सजा भुगतता है तब उसकी हालत कितनी खराब होती है? उस दुःखद सजा की परिस्थिति में आर्तध्यान—रौद्रध्यान—चिन्ता, मरने—मारने की वृत्ति रहती है। मान लो १०—२० वर्ष का सजा का काल समाप्त होने के बाद वह अपराधी बाहर निकलता है। जेल से छूटकर आने के बाद फिर पाप करने के लिए मन उछलता है। इस तरह बार—बार पाप करना... बार—बार किये हुए पापों की सजा भुगतना। फिर दुःखी होना। फिर पाप करना, फिर दुःखी होना। यह क्रम अनन्त काल तक चलता ही रहता है। उस अनन्त काल तक जीव भी उस संसार के चार गति के ८४ लक्ष के चक्र में जन्म—मरण धारण करते करते घूमता ही रहता है। भवभ्रमण के चक्र का अन्त ही नहीं आता है।

इस तरह पाप करने की इच्छा ही विकास की अवरोधक है। बाधक है। पापेच्छा व्यक्ति का पतन करती है। नीचे गिराती है। जिस में सुख नहीं है सुखाभास है उसकी वास्तविकता न समझकर... उसकी भ्रान्ति—भ्रमणा में फसकर पाप करते ही रहने की वृत्ति से जीव का विकास कभी हो नहीं पाता है। जब विकास ही नहीं होता है तो विनाश तो होगा ही। उत्थान नहीं होगा तो पतन होगा। दोनों में से एक तो होगा ही। विकास की दिशा ऊपर की तरफ है उन्नत मस्तक होकर ऊपर चढते हुए आगे बढते ही रहने की प्रक्रिया का नाम विकास है। ठीक इससे विपरीत विनाश की प्रक्रिया है। अवनत दृष्टि बनाकर अधो दिशा में प्रयाण करते रहना विनाश है। पाप की वृत्ति बना कर पतन की दिशा में जाते हुए.... अवनति साधना विनाश है।

## विकास या विनाश–आखिर किसका ?

संसार में द्रव्यभूत पदार्थ सिर्फ २ ही हैं। एक चेतन–जीवात्मा और दूसरा–अजीव जड पदार्थ। बस इन दो के सिवाय जगत में तीसरा कोई द्रव्य ही नहीं है। नौं तत्त्वों में जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष इन नौं की गणना होती है। इनको तत्त्व कहा है। नहीं कि द्रव्य। जीव–अजीव ये प्रथम दो द्रव्य हैं। और शेष सभी इन दोनों के संयोग–वियोग की अवस्था मात्र है। लेकिन द्रव्य रूप से आश्रवादि का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है।

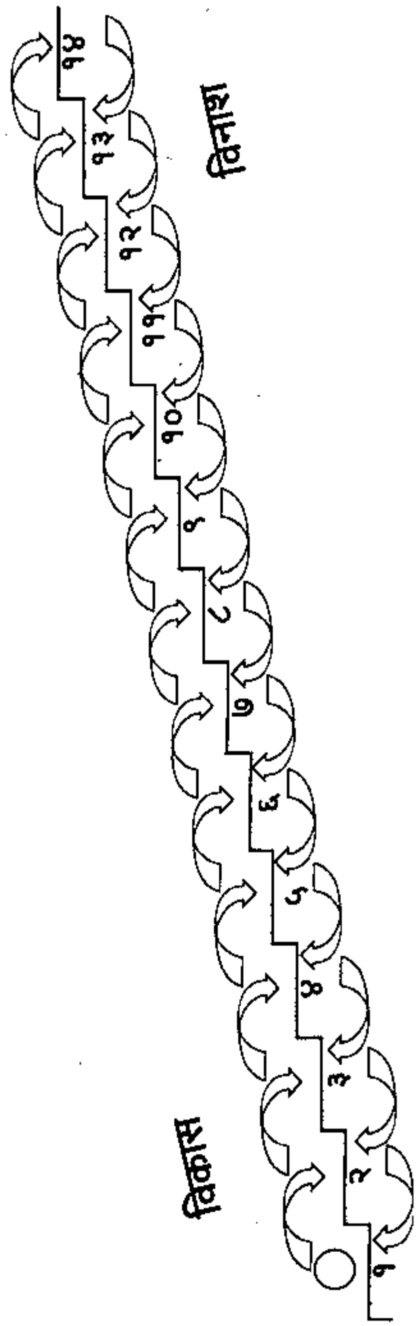


अजीव द्रव्य में १) धर्मास्तिकाय, २) अधर्मास्तिकाय, ३) आकाशास्तिकाय, ४) पुद्गलास्तिकाय और ५) काल है। चार अस्तिकाय हैं और काल स्वतंत्र है। (इन सबका वर्णन आगे प्रथम अध्याय में विशेष रूप से किया है। वहाँ से वापिस पढकर स्मृति ताजी कर लेनी चाहिए।) क्या इन धर्मास्तिकाय आदि पदार्थों में कभी किसी भी प्रकार की विकास की प्रक्रिया हुई है ? किसी भी काल में विकास हुआ है ? किस प्रकार का कैसा विकास ? उत्तरोत्तर आगे की अवस्था हासिल करने रूप विकास कभी अजीव पदार्थ साध सका है ? धर्मास्तिकाय जो गति सहायक द्रव्य है। असंख्य प्रदेशी अखंड १४ राजलोक–व्यापी द्रव्य है। इसमें कभी भी

किसी भी प्रकार का विकास संभव है ? क्या किसी काल विशेष में इस द्रव्य की गति सहायता बढी है ? या घटी है ? कभी भी इस द्रव्य में प्रदेशों की संख्या बढी है ? या घटी है ? अनन्तकाल में भी क्या इस धर्मास्तिकाय की किसी भी अवस्था में किसी भी प्रकार का परिवर्तन आया है ? जी नहीं । क्या धर्मास्तिकाय द्रव्य की अरूपीपने की अवस्था बदलकर रूपीपना आया है ? हम किस प्रकार का विकास—विनाश उसमें साधें ?

जिसका विकास होता है उसी का विनाश भी होता है । अतः ये दोनों परस्पर विरोधि धर्म भी एक ही सिक्के की दो बाजू की तरह एक साथ जुडे हुए हैं । साथ ही रहे हुए हैं। इसलिए धर्मास्तिकायादि अजीव द्रव्यों में तीनों काल में कभी भी विकास हुआ ही नहीं है तो फिर विनाश होने का प्रश्न ही कहाँ खडा होता है ? धर्मास्तिकाय द्रव्य में से कभी भी गति सहायकता का गुण नष्ट नहीं हुआ है और न ही कभी कम हुआ है । न ही कभी किसी भी गति कारक द्रव्य के प्रति भेद भाव व्यक्त किया है । जीव को गति के बारे में सहायता करूँगा और पुद्गल—परमाणु को कभी भी गति के विषय में सहायता नहीं करूँगा । ऐसा भी कोई भेदभाव नहीं रखा । धर्मास्तिकाय द्रव्य में कर्तृत्व शक्ती नहीं है । कर्ताभाव नहीं है । अतः वह स्वयं कुछ भी नहीं करता है । गतिसहायकता का अपना स्वभाव विशेष है । द्रव्य होने के नाते गुण का अस्तित्व है। धर्मास्तिकाय अनादि—अनुत्पन्न, अविनाशी—अनन्त द्रव्य है । अब उत्पत्ति—विनाश ही नहीं है । अतः यह त्रैकालिक सत्तावाला द्रव्य है । और तीनों काल में एक जैसा ही, एक स्थायी स्वरूपवाला द्रव्य है । अतः किसी भी प्रकार का परिवर्तन संभव ही नहीं है ।

इसी तरह अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय द्रव्यों की भी मीमांसा करनी चाहिए । बिल्कुल धर्मास्तिकाय के जैसे ही ये दोनों द्रव्य हैं । फरक मात्र इतना ही है कि . . . इनके गुण भिन्न प्रकार के हैं । अधर्मास्तिकाय स्थितिस्थापकता सहायक द्रव्य है । आकाश अवकाश प्रदानता सहायक द्रव्य है । शेष सब स्वरूप अस्तित्वादि धर्मास्तिकाय के जैसा ही है । अतः अनन्तकाल में भी न तो इनके द्रव्यस्वरूप में परिवर्तन संभव है और न ही इनके गुण स्वरूप में, और न ही पर्यायस्वरूप में परिवर्तन होता है । अतः तीनों काल में सदा ही एक जैसे समान रूप से रहनेवाले ये तीनों द्रव्य है । अतः विकास—विनाश किसी की संभावना अंशमात्र भी नहीं है ।

**पुद्गल–परमाणु में विकास–विनाश–**

समस्त ब्रह्माण्ड में पुद्गलास्तिकाय भी एक द्रव्य है। (इसका भी वर्णन पहले काफी किया है) यह जड द्रव्य है। अवस्था विशेष से स्कंध, देश, प्रदेश और परमाणु स्वरूप से चार अवस्था में गिना जाता है। परमाणु स्वरूप से नित्य है। सदाकालीन अस्तित्वधारक परमाणु अपनी सत्ता की दृष्टि से नित्य है। त्रैकालिक सत्ता है। यद्यपि परमाणुओं का संघात–विघात होता ही रहता है, फिर भी अस्तित्व का सर्वथा नाश नहीं होता है। अभाव स्वरूप परिस्थिति कभी भी नहीं आती है। परमाणुओं के संघात–विघात के कारण पर्याय बदलती रहती है। बदलेगी कब ? जब पूर्व पर्याय नष्ट होगी और नई पर्याय उत्पन्न होगी तभी पर्याय बदलेगी। उत्पत्ति–नाश पर्यायों का होता है। इसे ही उत्पाद–व्यय कहते हैं। परमाणु में वर्ण गंध, रस, स्पर्शादि गुण होते हैं। इनमें भी परिवर्तन होता है। गंध-रस-स्पर्शादि गुण होते हैं। इनमें भी परिवर्तन होता है। रस स्पर्शादि बदलते रहते हैं। आम प्रारंभ में कच्चा हरा खट्टा रहता है। धीरे–धीरे हरापन कम होकर बदलता है और पीलापन आता है, फिर केशरी–लालपना आता है। इसी तरह खट्टेपन से मीठेपन में भी परिवर्तन होता है। यहाँ परमाणुओं का परिवर्तन होता है। लेकिन परमाणुओं का सर्वथा नाश नहीं होता है। हीरा भी जलने के बाद कार्बन की राख में परिवर्तित हो जाता है। राख के बाद का नाश क्या ? फिर परमाणुओं का रूपान्तर होता रहता है। यही स्थिति अनन्त काल से आज दिन तक चली आ रही है। अनन्तानन्त परमाणु हैं। किसी एक का भी सर्वथा अभाव–नाश नहीं होता है। मात्र परिवर्तन होता है।

क्या इस प्रकार के परिवर्तन को विकास कहें ? उन्नति कहें ? जी नहीं। संभव नहीं है। विकास उसे कहते हैं जिसमें आगे बढते–बढते आगे की अवस्था धारण करते जाना विकास है। पुनः पूर्वावस्था धारण करना विनाश है। परमाणु में वैसा नहीं होता है। आगे–आगे की कौनसी अवस्था सतत धारण करते रहना ? परमाणु संघात से स्कंध की अवस्था धारण कर सकता है। बस, इसके बाद उसके लिए आगे बढने का कोई विकल्प ही नहीं है। लेकिन स्कंध का पुनः विघात होते ही देश में . . . फिर प्रदेश–परमाणुओं के रूप में बिखराव हो जाता है। फिर वापिस संघात से परमाणुओं में संचय होकर एक स्कंध बनता है। फिर विघात होकर परमाणु की अवस्था में रूपान्तरण हो जाता है। इस तरह पुद्गल मात्र रूपान्तर पर्यायान्तरण होता ही रहता है। और परमाणु रूप में नित्यता बनी ही रहती है। बस यही परिवर्तन की प्रक्रिया है। अनन्तकाल से चली आ रही है। और भविष्य

में भी अनन्तकाल तक चलती ही रहेगी । इसी से संसार की स्थिति अनादि अनन्त कही जाती है । अतः पुद्गल—परमाणु में विकास की कोई प्रक्रिया नहीं है ।

### क्या काल में विकास संभव है ?—

यद्यपि काल कोई स्वतंत्र अस्तिकायरूप द्रव्य ही नहीं है । यह व्यवस्थाकारक द्रव्य है । नए से पुराना, और पुराने से नया आदि की अवस्था का परिवर्तन यह काल सापेक्षिक द्रव्य है । काल में सेकंड, मिनिट, घंटे, दिन, रात, सप्ताह, पक्ष, महीने, वर्ष, युग, शताब्दी, सहस्राब्दी, पूर्वांग, पूर्व, पल्योपम, सागरोपम, उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी, कालचक्र आदि काल की विभिन्न अनेक पर्याएं हैं । इससे काल की ये तो गिनती के आधार की संज्ञाएं दी गई हैं । प्रति समय पर आधारित यह काल व्यवस्था है । समूहात्मक अवस्था की गिनति को तथाप्रकार की संज्ञा दी गई है । इससे काल का आगे विकास कैसे समझा जाय ? सतत अखण्ड रूप से निरंतर चलते रहनेवाले काल में अनन्त काल बीतता ही जाता है । घडी का कांटा उसकी अन्दर के चक्रों को दी गई चावी के आधार पर सतत गति करता ही रहता है । डायल के ऊपर दिये गए अंकों से कितने बजे की संख्या का ज्ञान होता है । यदि डायल ही न होता तो मात्र कांटे की घूमने की स्थिति रहती । पता नहीं भी चलता लेकिन फिर भी काल का निरंतर सतत चलते रहना ख्याल में जरूर आता है । इसी घडी की तरह १२ आराओं का कालचक्र भी बदलता ही रहता है। आरे बदलते ही रहते हैं। परिवर्तनशीलता काल में सदा ही रहती है। यह स्थिर तत्त्व नहीं है। सतत गतिशील—परिवर्तनशील है । अतः एक क्षण भी काल रुकता ही नहीं हैं । पहले के बाद दूसरा—तीसरे के बाद चौथा... इस तरह आरे बदलते ही जाएंगे । और पुनः वे ही आगे वापिस आएंगे । क्योंकि ६ ही आरे हैं । अच्छे भी हैं और उनमें खराब भी हैं, परन्तु क्रम से वापिस आएंगे ही आएंगे । अतः काल में भी आगे विकास करने की योग्यता नहीं है ।

### भूत भौतिक में विकास—

पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु आदि की निर्जीवावस्था में क्या विकास संभव है ? पृथ्वी का क्या विकास होगा ? जी नहीं । जडावस्था में पडी है । वनस्पति का तना—जो काष्ठ के रूप में है वह भी अब निर्जीवावस्था में पडा है । हजारों साल तक पडा रह सकता है । लेकिन उसमें विकास क्या होगा ? इसी तरह पाषाण भी हजारों लाखों वर्षों तक पडा रहे तो भी उसमें विकास क्या हो सकता है ? कुछ भी नहीं । अब काष्ठ, पत्थरादि जड अवस्था

में है। अतः विकास संभव ही नहीं है। पृथ्वी, द्वीप, समुद्र, मेरुपर्वत, विमान-पृथ्वियाँ, तनवात, घनोदधि, घनवात, नरकपृथ्वियाँ आदि शाश्वत स्वरूप में हैं। उन में कोई क्या परिवर्तन कर सकता है ? कुछ भी नहीं। अतः विकास की कोई संभावना इस भूत—भौतिक पदार्थों में संभव ही नहीं है।

**विकास–एक मात्र जीव–चेतन में ही होता है—**

विकास का सीधा अर्थ होता है आगे आगे के सोपान चढते हुए... आगे बढते रहना। आगे के निर्धारित साध्य को प्राप्त करके उससे भी आगे के साध्य को सिद्धगत करना। जिस प्रकार का साध्य का स्वरूप है वैसा बनना ... वैसा होना। अपनी अशुद्धियों—दोषों को दूर करके शुद्धीकरण करते करते शुद्ध करना... वैसी शुद्ध—सिद्ध अवस्था प्राप्त करना और वैसा बनना ही विकास की प्रक्रिया है। यह प्रक्रिया एक मात्र जीव—चेतन आत्मा में ही हो सकती है। दोष—दुर्गुणों को हटाना—नष्ट करना, वहाँ गुणों—सद्गुणों की स्थापना करना, वैसे गुण के अनुरूप गुणी बनना, यही विकास श्रेष्ठ कक्षा का है। ऐसे विकास की प्रक्रिया एक मात्र जीव—चेतन द्रव्य में ही संभव है। अतः समस्त संसार में ऐसा विकास जीव में होता है। वही साधता है।

चेतन—जीवात्मा ज्ञानमय द्रव्य है। उसमें चेतना शक्ती है। त्रस, जो ज्ञानवान द्रव्य है उसी में विकास की प्रक्रिया संभव है। विकास अच्छा ही होता है। विनाश उससे ठीक विपरीत होता है। विनाश की अपेक्षा पतन शब्द सही अर्थ में है। जैसे सीढी के सोपानों पर चढना—उतरना होता है। इस चढाव को विकास और उतार को पतन कहते हैं। यह प्रक्रिया एक मात्र जीव में ही होती है। जीव—चेतन व्यतिरिक्त अन्य किसी भी द्रव्य में यह प्रक्रिया नहीं होती है।

जीवगत विकास अनेक तरीकों से होता है। क्योंकि जीव की अनेक अवस्थाएं उस उस क्षेत्र—काल में होती है। कभी कोई जीव परिवार की पारिवारिक अवस्था में बंधा हुआ

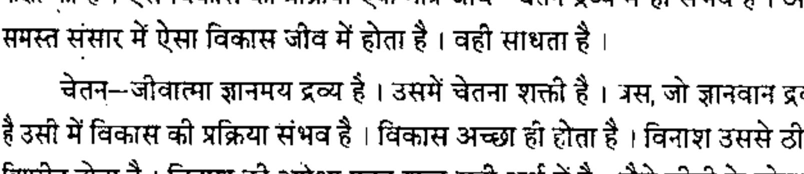

रहता है। कभी राजकीय अवस्था में रहता है। जीव के अनेक कार्यक्षेत्र रहते हैं। अपने–अपने कार्यक्षेत्र में जिस–जिस का जो विकास होता है उसे उस कार्यक्षेत्र में विकास कहते हैं। कोई जीव सत्ताओं को हासिल करने के क्षेत्र में विकास करता हुआ आगे बढता है, और कभी अर्थ के क्षेत्र में आर्थिक विकास करता हुआ, आगे बढता हुआ, श्रीमन्त–धनवान–करोडपति–अरबपति बनता है। उद्योगपति बनता है।

किसी का लक्ष्य मात्र राजकीय सत्ता को हासिल करने का रहता है। वह उसी दिशा में प्रयत्नशील रहता है। सरपंच की सत्ता से आगे बढता–बढता राज्यमंत्री बनता है। फिर केन्द्र में मंत्री बनना, फिर आगे प्रधान मंत्री बनना, फिर राष्ट्रपति बनना... फिर विश्वभर के राष्ट्रपति–विश्वपति बनना। फिर और आगे वासुदेव–प्रतिवासुदेव–फिर... चक्रवर्ती बनना और अन्त में इन्द्र भी बनने की ख्वाईश रहती है। ये उत्तरोत्तर आगे–आगे की बढते–चढते क्रम की सत्ता की अवस्थाएं हैं। सत्ता के क्षेत्र में भी कोई आगे बढता हुआ विकास साधता हुआ कहाँ से कहाँ पहुँच जाता है। देवपाल कुमार एक ग्वाला मात्र था। जो जंगल में जाकर गाय चराने आदि का काम करता था। योगानुयोग जिन भक्ती–पूजापाठ आराधनादि करते हुए वह पुण्योपार्जन करने लगा। आखिर उसके प्रबल पुण्योदय ने एक दिन उसे राजा बना दिया। यह संभव है। विकास की दिशा में ऐसे विकास होते रहते हैं। यह संसार ही पुण्य–पाप का खेल है। अतः विनाश भी होते रहते हैं।

इसी तरह नोकरी के क्षेत्र में भी संसार के व्यवहार में विकास होता रहता है। नोकरी में उत्तरोत्तर स्तर आगे बढता जाता है। वेतन की राशी बढती जाती है। कंपनियों में मालिक नोकर का कार्य विशेष देखकर उसे आगे के विभाग में ऊपर आगे बढती देता है। उसकी सत्ता के क्षेत्र का अधिकार क्षेत्र का विस्तार बढता है। यह उसे और अच्छा लगता है। वह उसे अपना विकास समझता है। वेतनादि में भी वृद्धि होती है। हाँ, संसार के व्यवहार में यह भी एक विकास ही गिना जाता है।

सेना में, पोलिस विभाग में भी आगे आगे के पद आदि पर बढोतरी होती रहती है। यह भी विकास के रूप में–गिना जाता है। लेकिन संसार के व्यवहार की व्यवस्था के रूप में होता है। अतः सांसारिक–व्यावहारिक विकास की गिनति में आएगा। ज्ञानक्षेत्रीय विकास के क्षेत्र में भी शिक्षकों–अध्यापकों–प्राध्यापकों आदि का क्रम आता है। जो शिक्षक जिस कक्षा तक सिखा सकता है, उसे भी अपना विकास करने का अवसर मिलता

है। अध्यापक से प्राध्यापक की कक्षा प्राप्त होती है। आगे प्राध्यापक से प्रोफेसर भी बनते हैं। और आगे प्रिंसिपाल भी बनते हैं। कुलगुरु भी बनते हैं। शिक्षा मंत्री भी बनते हैं। इस तरह शिक्षा के क्षेत्र में मानव संस्थापित अनेक प्रकार की व्यवस्था है। पदादि हैं। इस क्षेत्र में भी कोई काफी अच्छी तरह आगे बढते हुए विकास के कई सोपान आगे चढता है। यह व्यावहारिक शिक्षा के क्षेत्र का विकास है।

आर्थिक क्षेत्र के विकास के बारे में विचार कर चुके हैं। इसी तरह जीव अपने परिवार में पारिवारिक क्षेत्र में भी विकास करता है। परिवार का मुखिया बनता है। परिवार का संचालक बनता है। व्यवस्थापक बनता है। ठीक है, उतने से सीमित दायरे में भी व्यक्ती ने अपनी प्रतिष्ठा बना ली। शरीर का भी एक क्षेत्र है। शारीरिक विकास भी लोग अनेक तरीकों से साधते हैं। कोई व्यायाम से, कोई आहार से, कोई आसनों से, कोई औषधियों से इस तरह अनेक तरीके हैं। और ऐसा ही लक्ष्य लेकर चलनेवाले इस दिशा में शारीरिक विकास भी साधते हुए आगे बढते हैं। सेण्डो दारासिंग आदि बने ही हैं, लेकिन एक बात का विशेष ध्यान रखिए कि . . . शरीर में चेतनात्मा है, तभी विकास साध्य है। यदि इस शरीर में चेतनात्मा हो ही नहीं . . . और मात्र मृत शरीर हो तो कोई विकास की क्रिया कर ही नहीं सकता है। अतः मृत शरीर में विकास की कोई प्रक्रिया नहीं होती है। वह जड पुद्गल का पिण्ड मात्र है।

ऐसे संसार के व्यवहार में . . . अनेक क्षेत्रों में, अनेक कार्यों में अनेक विषयों में अनेक प्रकार के विकास होते हैं। अतः ये सब विकास व्यावहारिक विकास हैं। संसार के व्यवहार की व्यवस्था है। संसार में ऐसी व्यवस्था की आवश्यकता है। संसार की व्यवस्था तभी चल सकती है। अतः इस व्यवस्था में लोगों को व्यवस्थित किया जाता है जिसमें सुचारु रूप से संसार चल सके। इसके लिए पद, सत्ता, वेतन, कार्य आदि की व्यवस्था निर्धारित की जाती है। तभी यह व्यवस्था चलती है। इसे भी विकास के अन्तर्गत नाम दिया जा सकता है। क्योंकि संसार के व्यवहार क्षेत्र में आगे बढने रूप विकास साध्य है।

**कर्माधारित विकास—**

दो प्रकार के कर्म हैं— १) शुभ—पुण्य कर्म, २) अशुभ—पाप कर्म। शुभ—पुण्य कर्म— पुण्योदय भी आत्मा के विकास में काफी अच्छा सहायक बनता है। द्रव्य पुण्योपार्जन करने में दया—दान—परोपकार—परहितादि की शुभ प्रवृत्ति सहायक बनती

है । विकास की दिशा में आत्मा को अग्रसर करने के लिए पूर्वोपार्जित पुण्यकर्म आत्मा को प्रेरणा देता है, मार्गदर्शन करता है । वैसे संयोग खडे करता है । वैसे बडे लोगों का योग प्राप्त कराता है । मिलाता है । सत्संग—संत महात्माओं का योग प्राप्त कराता है। एक्काई राठोड के भव में सेकडों भयंकर पाप करने के पश्चात असंख्य जन्मों तक नरकादि गति में दुःख भुगतने के बाद विकास की दिशा में आगे बढता है । उसको संत—समागम होता है और वह आत्मा धर्म समझती है, धर्म प्राप्त करती है, मोक्ष का मार्ग समझती है, और धीरे—धीरे वह आत्मा आगे बढती है । अन्त में चारित्र ग्रहण करके एक दिन वह आत्मा भी मोक्ष प्राप्त करती है ।

शुभ पुण्योदय का यही कार्य है कि आत्मा को शुभ योग—संयोग के निमित्त प्राप्त कराना । ऐसे शुभ योगों से जीव को आगे बढने का सुन्दर अवसर प्राप्त होता है । कई बार भारी पाप कर्मों के उदय के कारण ... जीव को सुंदर योग उपलब्ध होने के बावजूद भी वह उसे ले नहीं पाता है । उनसे दूर रहता है । ऐसे कई परिवार देखे गए हैं जो साधु—सन्तों के उपाश्रय के पास रहने के बावजूद भी उनका सत्संग नहीं कर पाते हैं। लाभ नहीं उठा पाते हैं । अरे ! इतना ही नहीं, उल्टे दुर्बुद्धि के कारण ऐसे महात्माओं की वे निन्दा करते हैं, उन्हें परेशान करते हैं, उनको दुःखी करते हैं और उनको उल्टी बातें सुनाकर अपमान करते हैं । यह उन जीवों के अशुभ पाप कर्म के उदय की स्थिति है । अतः ऐसे जीव मुनि की विराधना करके पुनः पाप कर्म करके दुर्गति में अनेक भव करने के—परिभ्रमण के चक्कर में चले जाते हैं ।

यदि आपने तथाप्रकार का दान पुण्य उपार्जन किया है । संतो—महंतों को नमस्कार किया है । क्योंकि नौं प्रकार के पुण्य उपार्जन करने के उपाय में नौंवा प्रकार नमस्कार पुण्य का भी रखा है । जीव नमस्कार करके भी अनेक गुना पुण्य उपार्जन कर सकता है । परन्तु करना तो अपने हाथ में है । वैसी सद्बुद्धि भी तो होनी चाहिए । सद्भाव भी होने चाहिए । तभी साधु सन्त उपलब्ध होने पर वह जीव लाभ उठा सकेगा । विदेशों की धरती पर जहाँ साधु—सन्त उपलब्ध ही नहीं हैं वहाँ से भी कई लोक ऊँची भावना से यहाँ आते हैं और साधु सन्तों के दर्शन—वंदन करके अपने आप को पावन करते हैं। यह उनके पूर्व—पुण्योदय का सूचक निमित्त है । जबकि यहाँ पास में रहनेवाले कई लोग ऐसे भी हैं जिनको साधु—सन्तो के सत्संग का योग प्राप्त होने पर भी वे उसका लाभ नहीं उठा पाते हैं और उल्टा उनके निमित्त कई कर्म उपार्जन करके अपना अधःपतन करते हैं । अतः

शुभ–पुण्य योग विकास साधने की दिशा में प्रगति करनेवाले साधक के लिए अत्यन्त सहायक साधन जरूर है ।

द्रव्य पुण्य मात्र बाह्य साधन–सामग्रियाँ उपलब्ध कराने में सहायक बन जाता है । कई बार साधन–सामग्रियों के अभाव में भी अपना विकास नहीं साध सकते हैं । उदा. पूजा के वस्त्र तथा उपकरणादि के अभाव में भी कई जीव पूजा पाठ नहीं कर पाते हैं । ऐसे जीवों के लिए पुण्ययोग से सब साधन सामग्री की उपलब्धि होने पर विकास संभव होता है ।

**पुण्योपार्जनकारक नौं प्रकार—**

नौं तत्त्वों का विवेचन करते समय नवतत्त्व प्रकरणकार तथा तत्त्वार्थसूत्रकार ने नया पुण्य उपार्जन करने के मुख्य नौं प्रकार दर्शाए हैं— १) योग्य सुपात्र को अन्न देना, २) योग्य सुपात्र को पानी देना, ३) आगंतुक अतिथि आदि को आसन–स्थान, जगह देना, ४) सोने आदि के लिए शयनार्थ पलंगादि देना, ५) वस्त्रादि देना, ६) आगंतुकादि के प्रति मन से शुभ–हितकारक विचार करना, ७) बोलने के समय उचित–योग्य शुभ भाषा का प्रयोग करना, ८) काया से सेवादि निमित्त प्रशस्त कार्य करना, तथा अन्तिम नौंवे प्रकार में नमस्कारादि की क्रिया करना, अन्य को मान–सन्मान प्रदान करना । ये पुण्योपार्जन करने योग्य मुख्य नौं प्रकार हैं ।

पुण्योपार्जन करनेवाले जीव पर आधार है । उसके सामने के पात्र पर भी आधारित है जिसको वह . . . रहा है । तथा अपने भाव पर भी पूरा आधार है । दया, दान, परोपकार, करुणा के कई प्रकार हैं जो पुण्योपार्जन कराते हैं परन्तु करना आना चाहिए । वह भी सही तरीके से । आखिर जीव इसी जन्म में तथाप्रकार के रास्ते से शुभ पुण्य उपार्जन करे . . . और फिर विकास साधते हुए आगे बढे . . . . यह शुभ मार्ग है । आखिर आज का दिया हुआ कालान्तर में–जन्मान्तर में कभी प्राप्त भी होता है । जिसने कुछ भी नहीं दिया है उसको कैसे मिलेगा ? देने से मिलता है, देनेवाले को मिलता है । यह पुण्य के क्षेत्र में जगत का नियम है । अतः दानादि उपयोगी है । पशु गति के तिर्यंच प्राणी भी जगत् को काफी देते हैं । एक गाय भैंसादि जिन्दगी भर अपना दूध आदि देकर भी प्रबल पुण्योपार्जन कर लेते हैं । यद्यपि अकाम निर्जरा करके भी पुण्य बल से स्वर्गादि गति प्राप्त कर लेते हैं । वृक्ष भी जिन्दगी भर अपने फल जगत् को देकर . . . जगत् पर महान उपकार करते हैं । उन्हें भी देने का दान–पुण्य का लाभ उतने प्रमाण में ही सही प्राप्त होता है । वे भी भव–भ्रमण में विकास साधते हुए आगे बढते हैं ।

इन नौ प्रकार के पुण्योपार्जन में २ विभाग किये जा सकते हैं— १) एक तो... पहले पाँच का द्रव्य विभाग, २) और दूसरे शेष ४ का भाव विभाग। प्रथम पाँच में तो कुछ देना है। बाह्य साधन—सामग्री—वस्तु आदि देना है। वहाँ द्रव्य की (वस्तु की) प्राधान्यता है। अतः द्रव्य पुण्य के प्रकार में समावेश हो सकता है। दूसरे ४ में वस्तु नहीं है। भाव की प्राधान्यता ज्यादा है। मन से किसी के प्रति शुभ भाव अच्छे विचार, वचन योग से शुभ प्रेमपूर्ण—आदरार्थी सभ्य भाषा, और काया से शुभ—प्रशस्त प्रवृत्ति। सेवादि—परोपकार की प्रशस्त प्रवृत्ति और देव—गुरु—धर्म के प्रति विनम्रता पूर्वक की नमस्कारादि की प्रवृत्ति भी पुण्य उपार्जन कराती है। इनमें वस्तु या द्रव्य की प्राधान्यता नहीं है। अतः एक नया पैसा भी न होने पर भी व्यक्ति शेष ४ प्रकार के भावों निमित्तों से शुभ पुण्योपार्जन कर सकता है। नमस्कार की क्रिया का द्योतक मुख्य गुण विनय—धर्म है। विनय—विवेक की जोडी है। देव—गुरु—धर्म के प्रति विनयपूर्वक विनम्रता की प्रवृत्ति पुण्यकारक है।

उपरोक्त पुण्यों के उपार्जक साधनों द्वारा पुण्योपार्जन कर चुकने के पश्चात उपार्जित शुभ पुण्य कर्म के उदय काल में... उस जीव को वैसा वापिस प्राप्त भी होता है। तथाप्रकार की प्राप्ति से उस जीव को जन्मान्तर में—भवान्तर में... विकास योग्य—उत्थान के अनुरूप देव—गुरु—धर्म के अनुकूल साधन सामग्रियों की प्राप्ति होती है और जीव को आगे बढने में काफी ज्यादा सहायता मिलती है।

### कर्म के क्षय एवं क्षयोपशम से विकास—

जिस तरह कर्म के नए पुण्य उपार्जन के उदय काल में वैसे सुंदर निमित्त प्राप्त होते हैं और जीव का विकास होता है वैसे ही पुण्य से भी श्रेष्ठ कक्षा का उपाय है कर्म के क्षय का या क्षयोपशम का। कर्म जो आत्मा पर अनादि—अनन्त काल से चिपके हुए हैं, उस कर्म ने आत्मा के मूल गुणों का घात कर दिया है। आवरण बनकर कर्म ने आत्मा के गुणों को दबा दिया है। अतः अब आत्मा का सारा गुणवैभव कर्मों ने दबा दिया है। और ऊपर कर्म ही राज कर रहे हैं। जैसे एक शत्रु राजा—सेना सह आक्रमण करके युद्धादि में सामनेवाले राजा को परास्त कर उसे दबोच डालता है, अपना गुलाम बनाकर रख लेता है और उसी के सामने उसकी इच्छा के विपरीत आचरण—व्यवहार—कार्य आदि करना... जिससे उस राजा की आत्मा को बडा भारी दुःख होता है। ऐसी गुलामी की परवशता—पराधीनता की परिस्थिति में फसा हुआ क्या कर सकता है? ठीक उसी तरह

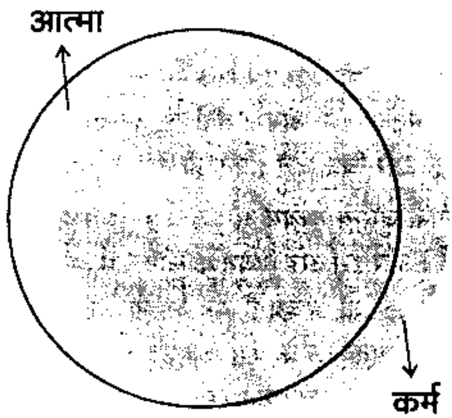


आत्मा का अन्तर शत्रु जो कर्म हैं वे आत्मा पर स्तर बनकर जम जाते हैं । जैसे सूर्य पर बादल छा जाने से सूर्य का प्रकाश मन्द पड जाता है और अन्धेरे जैसी परिस्थिति छा जाती है । वैसे ही आत्मा पर कर्मों की पपडी जम जाने से आत्मा के गुणों का विकास ही नहीं हो पाता है ।

लेकिन एक बात और सच है कि... आखिर ये कर्म किसने बांधे ? आत्मा ने ही तथाप्रकार की पाप की प्रवृत्ति करके वैसे कर्म बांधे हैं, और वे ही उदय में आए हैं । फर्क इतना ही है कि— जब वह बाह्य प्रवृत्ति के रूप में थी तब वह पाप कहलाती थी और जब आत्मा पर पपडी की तरह जम गई तब उसने कर्म संज्ञा पाई । जिस तरह शक्कर जब दूध से बाहर थी तब तक वह कण—कण के रूप में स्वतन्त्र अस्तित्व रखती थी । और जब दूध में घुल गई... मिल गई... तब शक्कर ने कण रूप में अपने रहे हुए स्वतंत्र अस्तित्व को छोड दिया और अपने मीठापन का गुण दूध को देकर पूरा दूध मीठा बना दिया । अगर शक्कर के बजाय नमक होता तो पूरे दूध को खारा कर देता और यदि कोई कडवी—कटु चीज होती तो पूरे दूध को कटु—कडवा बना देती ।

ठीक इसी तरह कर्म आत्मा को वैसा बना देता है । हमने ही शुभ—अशुभ पुण्य—पाप की प्रवृत्ति करके जो कर्म उपार्जन किये हैं वे कर्म आत्मा पर अपना आधिपत्य जमा देते हैं, और आत्मा को अपने अधीन करके वैसे पापादि करने के लिए बाध्य करते हैं । चेतनात्मा उस कर्माधीन अवस्था में अधीर बनकर कर्म कराए वैसे गुलाम की तरह करती है । "कर्म नचावे तिमही नाचत" । किये हुए कर्म चाहे शुभ हो या अशुभ हो अपना प्रभाव तो दिखाएंगे ही । ऐसे पूर्व के प्रबल पुण्य का उदय हो तो... जीव पूर्व के पुण्य का साथ लेकर नया पुण्य उपार्जन करके पुण्यानुबंधी पुण्य उपार्जन कर सकते हैं । अन्यथा... पूर्व के पाप का तीव्र उदय होने पर वैसे अशुभ (पाप) कर्म का उपार्जन कराएंगे । पूर्वकाल का या पूर्व भव का शुभ या अशुभ कर्म आज इस जन्म में साथ दे या न भी दें । यदि उदय का काल उस कर्म का इसी भव में हो तो इसी भव में वह कर्म अपना स्वरूप दिखाएगा । और यदि इस

भव में उस कर्म का उदय न हो तो आगामी जन्मों में... भवों में वह कर्म कारणरूप बनकर नए कर्मों को बहकाएगा। उपार्जन करेगा।

ऐसे कर्मों का क्षयोपशम--या क्षय करना ही चाहिए। क्षय नहीं करेंगे तो ये कर्म आत्मा का पीछा नहीं छोडेंगे। और जैसे भूतकाल में अनन्त वर्षों का काल बिता दिया वैसे ही भविष्य में भी अनन्तवर्षों का काल और बिता देंगे। पता ही नहीं चलेगा।

यद्यपि कर्मों की सबकी अपनी अपनी जघन्य मध्यम और उत्कृष्ट बंधस्थिति होती है। अतः कर्म होते तो नियत कालीन ही हैं। और इस तरह नियत कालीन कर्म अपने काल की समाप्ति होने पर आत्मा पर से हट जाएं... तो अच्छा है, यह आत्मा अल्प काल में मुक्त हो जाय, सिद्ध बन जाय। लेकिन... ये भूतकाल के कर्म जब उदय में आते हैं तब और नए पाप की प्रवृत्ति करके... नए कर्म उपार्जन करवाते रहते हैं। परिणाम स्वरूप आत्मा को कभी भी कर्म रहित बनने का अवसर ही नहीं मिलता है। जंजीर की तरह ये कर्म एक दूसरे के साथ जुडे हुए हैं। जैसे जंजीर में प्रत्येक कडा स्वतंत्र जरूर है, फिर भी एक दूसरे के साथ जुडे हुए संलग्न हैं। ठीक वैसे ही प्रत्येक कर्म स्वतंत्र जरूर है फिर भी सभी कर्म एक--दूसरे के साथ जुडे हुए--मिले हुए हैं। अतः कर्मों के उदय में आकर क्षीण हो जाने पर, या क्षय हो जाने पर भी आत्मा सर्वथा कर्ममुक्त या कर्मरहित कहाँ हो जाती है? एक दिन विशेष का कर्म उदय में आकर चला गया लेकिन दूसरे कर्मों का क्या होगा? कर्म की परंपरा चलती है।

जिस तरह प्रति क्षण--क्षण हमनें वैसे पाप की प्रवृत्ति की है। कभी झूठ, कभी चोरी, कभी गाली, कभी क्रोध, कभी मार--पीट आदि कई प्रकार के पापों को करने की प्रवृत्ति हमने कदम--कदम पर की है, उससे समय--समय पर हमने कर्म बांधे भी हैं। जैसे कर्म बांधे हैं वैसे उन कर्मों का उदय भी तो होता ही रहता है। सामान्य रूप से कर्म उदय में आकर अपना सुख या दुःख दिखाकर--भोगकर क्षीण हो जाता है। स्मृतिवाक्य की ध्वनि भी इसी प्रकार ही है-- **"प्रारब्धकर्माणां भोगादेव क्षयः"**। अर्थात् पहले किये हुए कर्मों का भोगने से ही क्षय होता है। कर्म को क्षय करने की प्रवृत्ति हमें सतत करते ही रहना चाहिए।

**गुणों पर कर्म का आवरण--**

कई भारी कर्मों के लगने से आत्मा पर एक प्रकार का कर्म का आवरण छा जाता है। जैसे आँखों से हम देखते हैं, परन्तु उस पर कपडा रख दें तो आँखों में देखने की शक्ती

होते हुए भी हम देख नहीं पाते हैं। सूर्य अपने तेज से प्रकाशित होने पर भी बादलों का आवरण उस पर आ जाने से प्रकाश आवृत्त हो जाता है। और उसका विरोधी धर्म बाहर छा जाता है— अन्धेरा। वैसे ही द्रव्य रूप से अस्तित्व धारक आत्मा ज्ञानादि गुणों से परिपूर्ण है। परन्तु जब हम कर्म करते रहते हैं तब हमारी आत्मा तथाप्रकार की पाप–पुण्य की प्रवृत्ति से कर्म लिप्त हो जाती है। दिवाल पर रंग लगने से जैसे दिवाल का वास्तविक स्वरूप छिप जाता है ठीक वैसे ही आत्मा का वास्तविक स्वरूप भी उस कर्म के आवरण से छिप जाता है। जैसे कोई लेप लगाकर–विलेपन करके अपनी चमडी की कुरूपता को छिपाकर और नया ही सुंदर रूप निखार देता है। वैसे ही आत्मा का रूप रंग भी बदल जाता है। द्रव्य स्वरूप में तो आत्मा मात्र असंख्य प्रदेशी द्रव्य मात्र है। परन्तु अन्दर तो सभी गुण भरे पडे हैं। किस अंश में गुण नहीं है? सर्वांश में हैं।

जैसे कपडे का १०० मीटर लंबा एक ताका (थान) कितना भी लंबा होता है आखिर तो धागों–तन्तुओं का बना हुआ समूहात्मक पिण्ड है। वही द्रव्य स्वरूप है। परन्तु संपूर्ण ताके में किस तन्तु–धागे में सफेदी का गुण नहीं है? क्या एक भी तन्तु ऐसा है जो सफेद नहीं है? जी नहीं। प्रत्येक तन्तु अपने आप में पूर्ण सफेद गुण व्याप्त है। व्यक्तिगत जिस गुण से व्याप्त है वही समष्टिगत–समूहात्मक रूप में भी उसी गुणों से व्याप्त ही दिखाई देगा। ठीक इसी तरह आत्मा चेतन–द्रव्य के भी असंख्य प्रदेश कपडे के तन्तु की तरह है। वे सभी अखण्ड रूप से मिले हुए हैं। यही उनकी विशेषता है।

यदि एक–एक प्रदेश अलग होते–होते बिखरते ही गए होते, तो तो आत्मा का सर्वथा लोप कभी का हो गया होता। फिर नित्यता–शाश्वतता किस अर्थ में रहती? आत्मा के प्रदेश तो मात्र असंख्य ही हैं। और भूतकाल अनन्त गुना बीत चुका है। यदि एक–एक जन्म में एक–एक प्रदेश भी कर्मवश बिखर चुका होता तो . . . कब का यह चेतन द्रव्य समाप्त हो चुका होता। तो फिर शेष क्या रहता? लेकिन वैसा हुआ नहीं। क्योंकि आत्मा के प्रदेशों की रचना वैसी नहीं है। अखण्ड स्वरूपता आत्मप्रदेशों की शाश्वत है। सदा नित्य है। अतः एक प्रदेश भी बिखरता ही नहीं है। अलग हो ही नहीं सकता है। भले ही जीव अनन्त बार नरक गति में जाय . . . और परमाधामी अनन्त बार भले ही छेदन–भेदन करे। काटे अंगो–पांग काट कर फेंक भी दे तो भी आत्म प्रदेशों की अखंडितता की विशेषता के कारण जुडे हुए ही रहते हैं। टूटकर, खंडित होकर अलग नहीं हो जाते हैं। इसीलिए इस संसार चक्र के अनन्त काल के अनन्त जन्मों में भी आत्मा

का अन्त नहीं आता है। संकोच—विकासशील स्वभावविशेष के कारण आत्मप्रदेश संकुचित—विकसित जरूर होते रहते हैं। परन्तु खण्डित होकर अलग नहीं होते हैं।

इन आत्मप्रदेशात्मक द्रव्य रूप आत्मा के प्रत्येक प्रदेश गुणाच्छादित ही हैं। ज्ञान—दर्शनादि गुणों से भरपूर हैं। ऐसे आत्म प्रदेशों के गुणों पर जब कर्मावरण छा जाते हैं तो उसके गुण दब जाते हैं। ढक जाते हैं। कर्मावृत्त आत्मा की स्थिती बादल से ढके हुए सूर्य के जैसी हो जाती है। गुण ढकने के बाद तो कर्म के आवरण का स्वरूप ही सामने आएगा। सूर्य के ढक जाने से जैसे बादलों की छाया ही सामने आएगी। वैसी ही स्थिति होगी आत्मा की। अब व्यवहार गुणों का नहीं कर्म के दोषों का होगा। कर्म की छाया के व्यवहार से आत्मा कर्म के नाम पर पहचानी जाएगी। जैसे यहाँ कोई अच्छा—बड़ा आदमी भी यदि चोरी करके चोर के नाम से ही पहचाना जाय, उसकी छाप लोक व्यवहार में चोर की हो जाती है। बस, लोग उसे उसी नाम से पहचानने लग जाते हैं। व्यवहार में बोलने लग जाते हैं। वैसे ही कर्म नामक चोर के आत्मा पर लग जाने से आत्मा अब अपनी वास्तविक पहचान से नहीं पहचानी जाती है परन्तु कर्म की छाया से ग्रस्त स्थितिवाली पहचानी जाती है। बस, कर्म की छाप ही आज हमारी बडी गाढ हो चुकी है। इसीलिए आज कोई चोर, कोई क्रोधी, मानी, मायावी, ठग, लोभी, रागी, द्वेषी इत्यादि सेकडों तरहों से पहचाने जाते हैं। अशुभ कर्मों की छाप में, संगत से तो पतन ही है। विनाश ही है। विकास कैसे होगा ?

ऐसा अपना स्वरूप और ऐसी अवदशा अपनी पहचान लेने के पश्चात, अब इसी बंधन से मुक्त होने का आत्मा का लक्ष्य बनना चाहिए। जैसे एक कैदी का सतत जेल से छूटने का लक्ष्य होता है। एक पिंजरे में बन्द पशु—प्राणी का सतत छुटकारा पाने का ही सदा लक्ष्य होता है, और इसीलिए पिंजरे में भी सतत चक्कर लगाकर छुटकारा पाने के लिए पुरुषार्थ करता ही रहता है। वैसे ही इस चेतनात्मा को भी प्रतिक्षण इस कर्म रूपी पिंजरे में से मुक्त होने के लिए प्रबल पुरुषार्थ करते ही रहना चाहिए। प्रतिक्षण यही लक्ष्य होना चाहिए।

जब कर्मरूपी बादल जितने अंश में आत्मा के ऊपर से हटेंगे ... उतने अंश में आत्मा के अपने गुण प्रकट होंगे। अनन्त बीते हुए काल में जिसका आस्वाद भी जीव को कभी नहीं हुआ ऐसे आत्मा के अपने वास्तविक गुणों का आस्वाद अब पहली बार होगा।

तब उसे सच्चा आनन्द आएगा। जैसे एक गरीब भिखारी जिसने चक्रवर्ती के भोजन का स्वाद कभी चखा भी नहीं, उसे मृत्यु के पहले षड्रस संपूर्ण ३२ भोजन ३३ पक्वान्न का रसास्वाद वास्तविक रूप से करने को मिले और उसमें उसे जो मजा आए... आनन्द आए उससे अनेकगुना आनन्द चेतनात्मा को अपने स्वगुणों के आस्वाद में आता है। और एक बार चक्रवर्ती के भोजन का रसास्वाद चाखने वाला बार—बार उसके भोजन की प्राप्ति की आकांक्षा—अभिलाषा सतत करता ही रहता है। ठीक वैसे ही एक बार आत्मा के वास्तविक गुणों का ज्ञानादि का आस्वाद करने वाला उन गुणों का उपभोग पुनः पुनः करने की तत्परता रखता है। उसे तलप लगती है व्यसनी के जैसी। वह तडपता है उस गुण के रसास्वाद के लिए।

बस, इतनी तलप शुरु हो जाए तो समझिए कि वह जीव विकास के सोपानों पर चढना शुरु कर चुका है। आत्मा पर लगे हुए कर्मों का क्षय करते हुए और आत्म गुणों का विकास करते हुए आत्मा आगे बढती जाय तब सच्ची विकासयात्रा प्रारम्भ हुई समझिए। यही विकास यात्रा सबको करनी है। यही हमारा अन्तिम लक्ष्य होना चाहिए। जैसे जैसे इस विकास के सोपान हम चढते जाएंगे वैसे वैसे आत्मा के कर्मों का क्षय और आत्मगुणों का आविर्भाव होता जाएगा। गुणों का प्रकटीकरण होता जाएगा। इससे आत्मा की शुद्धि होगी और अन्त में सिद्धि होगी।

प्रश्न यहाँ पर सिर्फ इतना ही है कि जैसे जैसे गुणों का प्रादुर्भाव होता जाएगा वैसे वैसे कर्मों का क्षय होगा कि जैसे जैसे कर्मों का क्षय होगा वैसे वैसे गुणों का विकास होगा? यहाँ प्रश्न के उत्तर में इतना ही कहना है कि— क्रिया, कार्य, परिणाम एक साथ ही है। अतः बीच का कालक्षेप ख्याल में ही नहीं आता है। जैसे ही कर्म का क्षय हुआ कि वैसे ही आत्मगुण प्रकट हुआ। लेकिन गुण तो कर्म के आवरण से दबे ढके हुए हैं। अतः कैसे गुण प्रकट करें? कहते हैं कि.. जो गुण आत्मा में पडे हैं उन गुणों को ही धर्म बनाकर, गुणों की आंशिक उपासना को ही धर्म बनाकर उसकी आचारात्मक—क्रियात्मक उपासना करनी चाहिए जिससे उन कर्मावरणों का क्षयोपशम—क्षय होगा... जिससे गुणों का प्रादुर्भाव होगा, इसी तरह सब गुणों के प्रादुर्भाव के लिए जीव पुरुषार्थ करता हुआ आगे बढता ही जाय। यही विकास यात्रा है। यही इस पुस्तक का प्राणरूप विषय है। इसे ही समझना है।

**गुणोपासना ही धर्म है—**

उपरोक्त स्वरूप को समझने से स्पष्ट ख्याल आता है कि... गुणों की उपासना करना ही श्रेष्ठ सर्वोत्तम धर्म है। व्यवहारात्मक—क्रियात्मक—आचारात्मक धर्मो का प्राथमिक आचरण करते हुए भी चरम लक्ष्य गुणों की प्राप्ति पर रखना चाहिए। मानसिक निश्चय होना ही चाहिए कि मुझे मेरे गुणों को प्राप्त करना ही चाहिए। स्व अर्थात्—आत्मा और आत्मा के ज्ञान—दर्शनादि उन गुणों को प्राप्त करने के लिए जो पुरुषार्थ करना उसी का नाम धर्म है। या फिर आत्मा के तथाप्रकार के गुणों को ढकनेवाले आच्छादक कर्मों का क्षय करने के लिए जो पुरुषार्थ करना उसी का नाम धर्म है। या दोनों को मिलाकर भी धर्म की व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है कि— आत्मा पर लगी हुई कर्मों की अशुद्धि का निवारण करना और आत्मा की शुद्धि को प्रकट करना ही वास्तविक धर्म है। इसके लिए जो भी उपाय किया जाय, जिस तरह का प्रयत्न—पुरुषार्थ किया जाय वह धर्माचरण है। धर्म की प्रकिया है। धर्म की इस व्याख्या को समझकर आगे बढिए... जीवन में कभी नुकसान नहीं होगा।

कर्म का क्षयोपशम और गुणों का प्रगटीकरण दोनों सहभू—साथ ही होने वाली क्रिया है। इसलिए गुण प्रकट करते हुए गुणों की उपासना की क्रिया करते रहने से कर्मावरण का क्षय—क्षयोपशम होगा और कर्मावरण का क्षय—क्षयोपशम करते रहने से गुणों का प्रादुर्भाव होता ही रहेगा। जैसे सूर्य का उदय होते ही प्रकाश होता है और प्रकाश होने लगा कि सूर्य का उदय होता ही है, वैसी दोनों साथ ही होने वाली क्रिया है। वैसा ही यहाँ भी समझना चाहिए। यह आध्यात्मिक धर्म है। आत्मिक धर्म है। आज इस प्रकार के धर्म का स्वरूप तथा आचरण प्रतिशत प्रमाण में काफी कम होता जा रहा है और दूसरी धामधूम धमाधम काफी प्रमाण में बढती जा रही है। जिसमें वास्तविकता का दर्शन बहुत कम होता है। अतः गुणों की गरिमा गुणों की महिमा अवश्य समझनी ही चाहिए।

**गुण गरिमा—गुण महिमा—**

इसी कारण गुणों की गरिमा है। गुणों की महिमा काफी ज्यादा है। गुण द्रव्य के बिना नहीं रहते हैं और द्रव्य गुण के बिना नहीं रहता है। अतः द्रव्य—गुण का गुण—गुणी का अभेद संबंध है। एक ही सिक्के की दो बाजू के जैसी स्थिति है। सिक्का अपने आप

में एक ही है । सिर्फ दोनों बाजू की छाप भिन्न–भिन्न है । दोनों की भिन्नता होते हुए भी सिक्के के रूप में एकरूपता है । ठीक वैसे ही ज्ञान–दर्शनादि गुणों की और आत्मद्रव्य की एकरूपता है । तत्त्वार्थकार गुण का लक्षण बांधते हुए व्याख्या करते हैं कि **"द्रव्याश्रयी निर्गुणाः गुणाः"** अर्थात् द्रव्य के आश्रित रहनेवाले और स्वयं निर्गुण ऐसे गुण होते हैं । निर्गुणाः का तात्पर्य यह है कि— जो ज्ञान–दर्शन आदि गुण हैं उनपर फिर और अन्य गुण आकर नहीं रहते हैं । अतः ये निर्गुण कहलाते हैं । ये स्वयं गुण है जो द्रव्य के आधार पर रहते हैं । अतः आश्रित हैं । द्रव्य के बिना गुण कभी रह ही नहीं सकते हैं । जगत में सबको रहना भी है तो आधार तो चाहिए ही । आधार के बिना कोई रह ही नहीं सकता है । इसी तरह गुण जो द्रव्य स्वरूप नहीं है उन्हें रहने के लिए आधार–आश्रय–द्रव्य का ही चाहिए । जैसे आकाश द्रव्य सबका आधार भूत– आश्रय है, बिना आकाश के जगत् का एक परमाणु भी नही रह सकता है, वैसे ही गुणों के लिए आधारभूत आश्रयस्थान एक मात्र द्रव्य ही है । ज्ञानादि गुणों के लिए आधारभूत आश्रयस्थान एक मात्र आत्मा–चेतन द्रव्य ही हैं । वर्ण–गंध–रस–स्पर्शादि गुणों के लिए आधारभूत–आश्रयस्थान एकमात्र पुद्गल द्रव्य ही है । अतः गुण द्रव्य के बिना और द्रव्य गुण के बिना कदापि नहीं रह सकते हैं । गुण गुणी का अभेद संबंध त्रैकालिक नित्य है ।

जैसे वर्ण–गंध–रस–स्पर्शादि गुण पुद्गल द्रव्य को तीनों काल में भी कभी छोडते ही नहीं है, छोड ही नही सकते हैं, सदा ही उसके साथ रहते हैं, वैसे ही ज्ञान–दर्शनादि सभी गुणों का आत्मा के साथ निश्चित नित्य संबंध है । यह भी त्रैकालिक शाश्वत नित्य संबंध है । एक भी आत्मा कभी भी–एक क्षण भर भी ज्ञान–दर्शनादिरहित रही नहीं है और कभी भी नहीं रहेगी । हाँ, फरक इतना ही है कि .. किसी आत्मा में महासागर की एक बूंद जितने प्रमाण में ज्ञान प्रकट है और किसी जीव विशेष सर्वज्ञ प्रभु में ज्ञान अनन्त है। अगाध समुद्र के जितना ज्ञान भरा पडा है। वे सर्वज्ञ–केवली हैं। निगोद–सिद्ध–सर्वज्ञ सब का ज्ञान सत्ता में, सत्ता के प्रमाण से तो एक समान है, एक जैसा ही है। मात्र सर्वज्ञ का ज्ञान निरावरण है जबकि निगोद के जीव का ज्ञान सावरण–ज्ञानावरणीय कर्म से आच्छादित–ढका हुआ है । तिरोभूत है । लेकिन ज्ञान गुण के अस्तित्व की दृष्टि दोनों में ज्ञान का अस्तित्व जरूर है । अतः आत्मा कभी ज्ञानरहित हुई नहीं, और रही नहीं, न कभी रहेगी । यह त्रैकालिक नित्य–सत्य स्वरूप है ।

## गुणों का अस्तित्व—

ऐसा उपरोक्त दृढ निर्धार हो जाना चाहिए। बस ऐसे दृढ निर्धार के बाद अब तो ज्ञान बढाने का ही काम करना है। गुणों का अस्तित्व है ही . . . मात्र कर्मावृत्त स्थिति में है। अस्तित्व का अर्थ है कि . . . तीनों काल में उसकी सत्ता है सही। यह निःसंदेह है। कभी भी अस्तित्व न हो ऐसा अभाव का दिन ही नहीं है। अतः अस्तित्व सत्ता हमें आशावादी बनाती है। अभाव निराश करता है। इसलिए सर्वज्ञ प्रभु महावीर ने ज्ञानादि गुणों की आत्मा में त्रैकालिक सत्ता मानकर चेतन द्रव्य को गुणमय ही बताया है। गुणरहित एक क्षण भी नहीं।

## अन्य दर्शनों में आत्मा—

अफसोस और आश्चर्य तो इस बात का है कि नैयायिक दर्शन ने उत्पन्नावस्था में द्रव्य को निर्गुण कहा है। वहाँ परमाणुवाद है। अतः आत्मा भी परमाणु संचय से उत्पन्न होती है। परमाणु सभी जड हैं। वे निष्क्रिय हैं। ईश्वर की इच्छा से परमाणु एकत्रित होते हैं। वे इकट्ठे होते हैं। द्व्यणुक—त्र्यणुक—चतुर्णुक बनते हैं और अन्त में संख्यात—असंख्यात परमाणु प्रचय का पिण्ड होता है। तब वह आत्मा द्रव्य कहलाता है। जड परमाणुओं के पिण्ड रूप द्रव्य आत्मा में अब द्वितीय क्षण में ज्ञानादि गुण आएंगे। तब तक वह ज्ञानरहित जड परमाणुओं के पिण्ड रूप है। अब वह ज्ञान कहाँ से आएगा? कैसे आएगा? इसका कोई उत्तर नहीं है। और ऐसे ज्ञान आ जाता तो कुछ रेती के कण इकट्ठे करके उसमें ज्ञान का संक्रमण करके देखिए आता है क्या? कभी भी नहीं। लेकिन नैयायिक दर्शनवादी इस एकान्तिक मान्यता को मानकर ही चलते हैं। जब कोई अज्ञान को ज्ञान, और भ्रान्ति—भ्रमणा को यथार्थ—वास्तविक मानकर चले तो उसके लिए क्या उपाय है?

सर्वज्ञ—वीतरागी महावीर परमात्मा कहते हैं कि यह सर्वथा गलत विचार है नैयायिकों का। जड परमाणु से चेतन द्रव्य बनता ही नहीं है। चेतनात्मा सदाकाल त्रैकालिक सत्य एवं सिद्ध है। आत्मा स्वतंत्र ही द्रव्य है। यह अनुत्पन्न अविनाशी द्रव्य है। फिर उत्पन्न होने का प्रश्न ही नहीं खडा होता है तो नाशादि की तो बात ही कहाँ रही? और जब उत्पन्न ही नहीं होता है तो फिर जड परमाणुओं से उत्पन्न होने की बात ही कहाँ रही? जड जो ज्ञानादि रहित है उनमें ज्ञानादि गुण कैसे आ जाएंगे? क्यों आएंगे? किसी के निवेश करने पर भी ईंट—चूने—पाषाणादि में कभी नहीं आए? ईंट परमाणुओं का ही

चेतन पिण्डरूप है फिर क्यों नहीं ज्ञान आया ? फिर वहाँ नैयायिक कहेंगे कि ईश्वर की इच्छा। बस ईश्वर की इच्छा के बहाने के नीचे अपने अज्ञान को, विकृत—विपरीत—मिथ्याज्ञान को भी उन्होंने सच्चे ज्ञान की मुहर लगा दी और ज्ञान के बाजार में इसे भी बेचना शुरू कर दिया । आखिर बाजार तो अज्ञानियों का मेला होता है । वहाँ कई लोग ऐसे अज्ञान के माल को भी खरीदनेवाले मिल ही जाएंगे । वाह ! अज्ञान के भी अनुयायी बन गए . . . अब फिर क्या चाहिए ? गधे के भी पंख आ जाय तो वह भी आकाशी सैर करने लग जाय वैसी स्थिति है ।

नास्तिक—चार्वाकों ने भी पंचभूत के संमिश्रण में मदशक्ती की तरह उत्पन्न होती हुई आत्मशक्ती विशेष माना । इसलिए इतने अंश में नैयायिकों ने भी जड परमाणु में ज्ञानशक्ती की तरह आत्मा को स्वीकारा । तो नैयायिक और चार्वाक इस अंश में एक जैसे कैसे नहीं होंगे ? बौद्ध दर्शनवादी तो इस मैदान में से बाहर ही भाग गए । उन्होंने आत्मा को मानने की झंझट ही मोल नहीं ली । इसलिए आत्मा के अभाव को लेकर नैरात्म्यवाद की बातें करने लगे । अफसोस और आश्चर्य तो इस बात का है कि . . . आत्मादि द्रव्यों संबंधी सत्य ज्ञान—चरमकक्षा का सम्यग् ज्ञान उन्हें स्वीकारने में क्या तकलीफ आती है ? क्यों तकलीफ आती है ? जबकि सर्वज्ञ महावीर का चरम सत्य आज भी उपलब्ध है । सत्य को न स्वीकारनेवालों को अज्ञानवादी कहा जाता है । अतः सही सच्चे मार्ग पर आना ही चाहिए और प्रत्येक पदार्थ अपने स्वरूप में जो जैसा है उसे ठीक वैसा ही यथार्थ—वास्तविक स्वरूप में जानना—मानना चाहिए ।

## जड–चेतन के गुणों का वर्गीकरण—

गुण—गुणी का नित्य अभेद संबंध समझने से पदार्थ की वास्तविकता का सत्य स्वरूप ख्याल में आ जाता है । आत्मा के गुणों और जड के गुणों का स्पष्ट ज्ञान प्राप्त करना ही चाहिए । दोनों की स्वतन्त्र—भिन्नता का ख्याल हो जाने से भ्रान्ति—भ्रमणा और शंका को स्थान ही नहीं रहेगा । निर्भ्रान्त ज्ञान ही तारक बनता है । साधक बनता है । गुणभेदक होता है । गुण ही दो या दस पदार्थों के बीच भेद करता है । यहाँ जड और चेतन के बीच भी यदि भेद देखना हो तो गुणों के कारण ही संभव हो सकेगा । उदाहरणार्थ आत्मा और धर्मास्तिकाय आदि द्रव्यों में गुण की विवक्षा न करें तो द्रव्य स्वरूप से काफी सादृश्यता दिखाई देती है । जैसे असंख्य—अखण्ड प्रदेशों के समूह का पिण्ड है । धर्मास्तिकाय—अधर्मास्तिकाय एक मात्र गुण के सिवाय शेष सभी बातों में समान रूप ही

है । यदि गुण का विचार न करें तो भेद कैसे करेंगे ? अतः दोनों के असंख्य प्रदेश होते हुए भी गति—एवं स्थिति सहायकता के गुण के आधार पर ही दोनों भिन्न भिन्न स्वतंत्र द्रव्य सिद्ध होते हैं । इसी तरह धर्मास्तिकाय— अधर्मास्तिकाय दोनों की तुलना द्रव्य की दृष्टि से आत्मा के साथ की जाय तो असंख्य प्रदेश, अखंड प्रदेश, अनादि—अनन्त नित्यता, प्रदेश समूहात्मकता, अरूपीपना, अमूर्तपना आदि अनेक रूप में सात्म्यता, सादृश्यता होते हुए भी ज्ञानादि गुणों की विशेषता से चेतनात्मा इनसे भिन्न सिद्ध होता है और गति स्थिति की सहायता के गुण से धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय चेतनात्मा से भिन्न सिद्ध होते हैं। अतः द्रव्य स्वरूप से सादृश्यता होते हुए भी गुणों के कारण भिन्नता स्वतन्त्रता सिद्ध होती है । अतः गुण भेदक है ।

जड पुद्गल के गुण वर्णादि जड में ही रहते हैं । अतः वर्ण—गंध—रस—स्पर्शादि गुण पुद्गल की पहचान करानेवाले स्वतंत्र गुण हैं । इसी ज्ञान—दर्शनादि गुण चेतनात्मा द्रव्य की पहचान करानेवाले विशेष गुण है । गुण ही न हो तो जगत में किसी का किसी से भेद ही सिद्ध नहीं हो सकता है । परन्तु गुण ही न हो तो द्रव्य का ही अस्तित्व नहीं रहेगा । क्योंकि जगत् में एक भी द्रव्य बिना गुण का नहीं है । होता भी नहीं है । संभव भी नहीं है ।

**गुणात्मक व्यवहार बनाने से फायदा—**

हमारे समाज में वर्तमान काल में जो व्यवहार चल रहा है वह प्रायः द्रव्याधारित हो चुका है । पैसों के आधार पर सामाजिक व्यवहार बन चुका है । बना दिया गया है । परन्तु गुणाधारित न रहने से कई विषमताएं बुराइयाँ घुस गई हैं । मात्र पैसा ही मनुष्य की पहचान जो आज बन गई है, वह बहुत ही नुकसानकारक है । बुराइयाँ लानेवाली है । अतः हमें चाहिए कि... गुणाधारित सर्वसामान्य व्यवहार समाज में मानव जाति में बनाएं तो काफी उत्तम कक्षा की व्यवस्था समाज में हो सकती है ।

इसके लिए हमें "जीवन सूत्र" बनाना होगा कि... "हम कोन है ?" यह न सोचकर "हम कैसे हैं ?" यह सोचें । इसी बात का आग्रह सभी करें । हम क्या हैं ? हम कौन हैं ? मैं क्या हूँ ? ऐसा सोचने पर अहंकार का दूषण बढता है । मेरे पास क्या क्या है, कितनी संपत्ति आदि है यह दिखावा करने से समाज में स्पर्धा बढती है । सामने ईर्ष्या—द्वेष की वृद्धि होती है । अतः मैं कैसा हूँ ?" प्रत्येक व्यक्ति ऐसी विचारधारा बनाकर चले तो ही समाज में काफी अच्छी सुधारणा आ सकती है । मैं कैसा हूँ ? इसमें गुण—दोष का स्वरूप सामने आता है । दोष अच्छे नहीं हैं । दोषों की प्रसिद्धि होने पर मेरी इज्जत जाएगी । अतः

हम दोषों को न फैलने दें और गुणों की ही गरिमा बढाएं—गुणों की सुवास फैलाएं तो काफी अच्छा होता है ।

किसी की मृत्यु के पश्चात गुणानुवाद की सभा मरनेवाले के पीछे आयोजित की जाती है । दोषानुवाद की सभा का आयोजन कोई भी सज्जन व्यक्ति कभी भी नहीं करता है । यह मानवी स्वभाव की विकृतियों से रास्तों पर या बाहर हो ही जाती है । गुणानुवाद नहीं होता है । अतः सभा का विशेष रूप से आयोजन किया जाता है । उसमें गुणों का वर्णन किया जाता है । गुणवर्णन में भी वास्तविकता का ध्यान रखना चाहिए । आज तो उसमें भी कृत्रिमता घुस गई है । इसलिए आज गुणों के वर्णन ने भी वास्तविकता से हटकर खुशामद का रूप ले लिया है । खुशामद में तो गुण हो या न भी हो तो भाट चारणी पद्धति से गुणों का नाम निर्देश करके आरोपित कर दिया जाता है । इस भाट चारणी पद्धति अपनाने में भाडे पर किराएदार खुशामद करनेवाले खडे कर दिये हैं । पैसे देकर लोग प्रशंसा करवा लेते हैं । यह कहाँ तक उचित है ? इसी तरह बुराइयाँ—कृत्रिमता बढती जाती है जो समाज में व्यापक बनती जाती है । यह संक्रामक रोग की तरह फैल जाती है । बुराई व्यापक बनने पर सारा स्तर गिर जाता है । अतः गुणात्मक व्यवहार बढाना चाहिए । समाज में गुणों की प्रतिष्ठा होगी । गुणों की महिमा बढेगी । गुणों की आवश्यकता महसूस होगी ।

**"नवकार" में गुणात्मक पद—**

जैन शासन का महान मन्त्र है— "नमस्कार महामंत्र" । इस महामन्त्र में किसी भी भगवान या गुरु आदि का नाम ही नहीं है । अतः व्यक्तिगत महत्व नहीं है । व्यक्ति विशेष को प्राधान्यता नहीं है । भ. महावीर का ही नाम लिखकर मन्त्र बनाते— "नमो महावीराणं" तो भी मन्त्र बन सकता था, लेकिन ऐसा करनेपर एक मात्र भ. महावीर को ही नमस्कार होता । अन्य तीर्थंकर आदिनाथ शान्तिनाथ को नमस्कार नहीं होता । फिर उनके लिए अलग नवकार मंत्र बनाना पडता । नमो आदीश्वराणं अलग करना पडता । इस तरह हम कितने नवकार महामंत्र बनाते ? फिर भूतकालीन चौबीशी—भविष्य की चौबीशी आदि सब भगवानों के नाम के कितने अलग अलग मंत्र बनाते ?

अतः सबसे श्रेष्ठ इस महामंत्र नवकार को गुणवाचक बनाया । अरिहंत । अरि = आत्मशत्रु—कर्म । हंत का अर्थ है—नाश करना । अरिहंत—अर्थात् जिन्होंने भी अपने अन्तरशत्रु—क्रोध, मान, माया, लोभ, कामादि आत्मशत्रुओं का सर्वथा—संपूर्ण रूप से नाश किया है वैसे अरिहंत परमात्मा को नमस्कार हो । इस स्वरूप में किसी का नाम न होते

हुए भी ऐसा समान गुण रखा गया है जो सभी तीर्थंकर परमात्मा में समान रूप से अवश्य मिलता हो। बिना इस गुण के कोई भगवान बन ही नहीं सकता है। भगवान—ईश्वर बनने के लिए सर्वप्रथम अरिहंतपने के गुण की प्राथमिक आवश्यकता है। इसके बिना जगत् में कोई भी भगवान बन ही नहीं सकता है।

अतः "नमो अरिहंताणं" गुणात्मक पद से सभी तीर्थंकरों को—तीनों काल के तीर्थंकर भगवंतों को नमस्कार किया गया है। अतः यह नमस्कार महामन्त्र त्रैकालिक—तीनों काल में व्यापक बन गया है। क्योंकि जब जब भी कोई भी भगवान बनेगा तब अरिहंत अवश्य ही बनेगा। जो जो अरिहंत बनेंगे वे ही भगवान कहलाएंगे। अरिहंतपने के अभाव में यदि कोई भी भगवान बनेगा तो वह सच्चा यथार्थ वास्तविक सही अर्थ में परमात्मा नहीं बनेगा। वह कृत्रिम भगवान बनने की कोशिश करेगा। इससे संसार में सेंकडों दूषण और फैलेंगे। इसका प्रत्यक्ष अनुभव आज मानव जाति कर ही रही है। आज कल जो भगवान हुए हैं, और हो रहे हैं, उनमें अरिहंतता का अंश मात्र भी गुण नहीं है और वे भगवान बन रहे हैं। बस, चमत्कारों के नाम पर भोली—भाली मुग्ध प्रजा को लुभाकर, फसाकर, अपने अनुयायी बनाकर उन्हें भी गलत रास्ता दिखाना और सच्चे मार्ग से भ्रष्ट करने का काम आज कल के कई भगवान कर रहे हैं यह बडी ही शरम की बात है। मनुष्यों की अज्ञानता का फायदा उठाकर दुरुपयोग करके उनका भी नाश करना और अपना खुद का भी नाश करना होता है। अतः वर्तमान मानव समाज को नमस्कार महामंत्र की गुणात्मक—गुणाधारितता को समझकर गुणों से परिपूर्ण परमात्मा को समझना चाहिए। यथार्थ स्वरूप समझकर सम्यग् श्रद्धा बढानी चाहिए। ऐसे ही परमात्मा अरिहंत के शुद्ध अनुयायी बनना चाहिए और उन्हीं के मार्ग पर चलकर आत्मकल्याण साधना चाहिए।

"नमो सिद्धाणं" पद भी सर्वगुणपरिपूर्णता का द्योतक पद है। जगत के सर्व गुण पूर्ण कक्षा के अन्दर सिद्धों में समाविष्ट हैं। सिद्ध किसी व्यक्ति—विशेष का नाम नहीं है। यह तो आत्मा की सर्वथा कर्मों की निरावरणता की सूचक अवस्था विशेष का वाची पद है। इसलिए "नमो सिद्धाणं" मन्त्रोच्चार करते ही आज दिन तक संसार से जितने भी मुक्त हुए हैं उन सभी अनन्त मुक्तात्माओं को एक साथ नमस्कार होता है। सर्वथा सर्वकर्ममुक्त, संसार के बंधन से मुक्त, संसार के जन्म—मरण के चक्र से मुक्त, पुनः संसार में न आनेवाले ऐसे अनन्तकाल में हुए अनन्त सिद्ध भगवंतों को नमस्कार किया गया है।

जैसी गुणात्मक पदों की व्यवस्था अरिहंत और सिद्ध के बारे में नवकार महामंत्र में है, गुरु के वाची अन्य तीनों पदों में भी ठीक वैसी ही गुणात्मक पदों की व्यवस्था है। अतः

किसी भी गुरु का नाम भी नवकार महामंत्र में नहीं है। आचार्य—उपाध्याय एवं साधु इन तीनों गुरु के पदों का आधार उनके गुणों पर है। आचार्य पद ३६ गुणों के धारक आचार्यों का वाचक है। उपाध्याय पद २५ गुणों के धारक उपाध्यायजी महाराजों का वाचक है। साधु पद २७ गुणों के धारक समस्त साधुओं के लिए वाचक है। यहाँ गुणों को आधारस्तंभ बना दिया है। इसलिए किसी भी व्यक्ति विशेष का प्रश्न—महत्त्व नहीं रहता है। व्यक्ति तीनों काल में सदा नहीं रह सकती है। परन्तु गुणों का अस्तित्व तीनों काल में सदा ही एक जैसा रहता है।

गुण शाश्वत हैं। सदा नित्य रहनेवाले हैं। जो जो शाश्वत—नित्य होता है उसका तीनों काल में अस्तित्व रहता ही है। अतः त्रैकालिक सत्ता को शाश्वत—नित्य कहा गया है। गुणों की त्रैकालिक सत्ता के आधार पर उन उन गुणों के धारक गुणी महापुरुषों के स्वरूप भी एक जैसे समान रहेंगे। एक सादृश्यता का आधार गुणों पर रहेगा। फिर सभी एक जैसे लगेंगे। अतः व्यक्ति में भेद न आकर समानता—अभेदता बढेगी। इसलिए गुणों का उपकार क्षेत्र बहुत बडा है। तथा प्रकार के एक जैसे गुणों की एक जैसी कक्षा सर्व में रहने के कारण वे गुणधारक व्यक्ति भी एक जैसे ही दिखाई देंगे। लगेंगे। फिर उनको मानने आदि की प्रक्रिया में व्यवहार में, उपासना में, आराधना में कहीं भी भेदभाव नहीं आएगा। इसी गुणों का उपकार है कि इस चोबीसों तीर्थंकर भगवंतों को एक समान भाव से बिना किसी भेदभाव से समान रूप से पूजते हैं, आराधते हैं, मानते हैं।

इसी तरह गुरुओं को भी गुणों के आधार पर मानें—आराधें तो राग द्वेष सर्वथा लुप्त ही हो जाय। लेकिन समाज में आज गुरुओं के नाम पर राग—द्वेष जो चल रहे हैं वह मेरे—तेरे मानने के कारण है। नाम के कारण है। सांप्रदायिक ममत्व के कारण है। व्यक्तिगत ममत्त्व—ममकार भाव के कारण है। वैसा व्यवहार लोगों ने बना दिया है। इसलिए राग—द्वेष बढ रहा है। यह वीतराग धर्म पर कलंक लगानेवाला है। अतः सर्वथा हेय है। त्याज्य है।

जैन शासन में व्यवस्था इतनी सुन्दर है कि प्रतिवर्ष अलग—अलग साधु साध्वीजी महाराज चातुर्मास पधारे, नाम—व्यक्ति से वे कोई भी हो, कैसे भी हो, लेकिन आचार विचार की समानता, गुणों की समानता, आदि के कारण वे समान रूप से उपादेय होते हैं। आराध्य होते हैं। गुणात्मक स्वरूप ही श्रेष्ठ होता है। प्रतिवर्ष अलग—अलग साधु—साध्वीजी महाराज आएं, चार महिने रहें, चातुर्मास करें और चले जाए। फिर अन्यत्र पधारें, दूसरे—गाँव शहरों में चातुर्मास करें। वहाँ से भी फिर आगे बढें, इस तरह भारत भर में

प्रतिवर्ष विचरते ही रहें। इसमें नए आएंगे तो किसी का भी परिचय न होते हुए भी, व्यक्तिगत पहचान न होते हुए भी गुणात्मक धर्मव्यवहार होते हुए भी श्रावकों और साधुओं किसी को भी कोई तकलीफ नहीं आती है। सुंदर रूप से व्यवस्था चलती है। कोई भी साधु–साध्वी हों वे गुणों के आधार पर पूजे जाते हैं। माने जाते हैं। कितनी अद्भुत–कितनी सुंदर यह व्यवस्था है। राग–द्वेष के भेदभाव मिटाकर वीतराग भाव बढाने की दिशा में आत्मा को अग्रसर करती है।

**पंचपरमेष्ठी की गुणाश्रित आराधना—**

जैन शासन में पंचपरमेष्ठि का वाचक जो नवकार महामन्त्र है, उसकी आराधना—जापादि हेतु जो माला है। उसे भी नवकार गिनने के व्यवहार से नवकारवाली

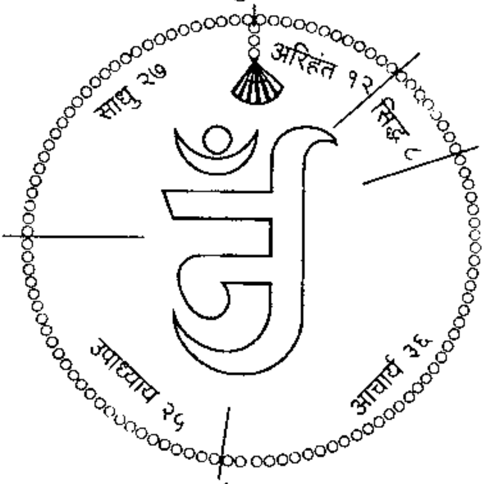


नाम दिया है। नवकार गिनने की प्राधान्यता से व्यवहार में लोकभाषा में माला के लिए पर्यायवायी अपर नाम के रूप में नवकारवाली प्रसिद्ध हो चुका है। हाँ, कोई गलत भी नहीं है। उचित ही है। इस नवकार महामंत्र में २ परमात्मा—भगवान के नाम हैं— १) अरिहंत भगवान, २) दूसरे सिद्ध भगवान। आराध्य देव के रूप में दोनों परमात्माओं की आराधना उपासना गुणों के आधार पर होती है। इसी तरह गुरुओं की आराधना आचार्य—उपाध्याय साधु पद से उनके गुणों के आधार पर होती है। अतः पाँचों परमेष्ठी के गुणों की गणना इस प्रकार की है—

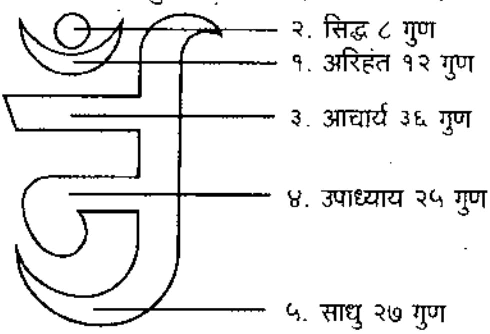

पच परमेष्ठी भगवंतों के १०८ गुण होने के कारण जाप हेतु माला के मणके भी १०८ ही रखे जाते हैं। यह निर्धारित स्वरूप है। अतः १०८ मणके की माला गिनते समय प्रत्येक मणके पर उन उन परमेष्ठी के गुणों का स्मरण करते हुए नमस्कार करते जाना है। इससे भाव ऐसे बनने चाहिए कि ये गुण अपने स्वरूप से शाश्वत–नित्य हैं... अतः मेरे में भी कब ऐसे गुण आए? मेरे में भी ऐसे गुणों का विकास हो। मैं भी इन गुणों का धारक बनूँ। गुणात्मक स्वरूप मेरा भी प्रकट हो। अतः गुणों को लाने के लिए गुणधारियों का आलंबन लेकर स्मरण–जापादि करना है। गुण–गुणी का अभेद संबंध होने से गुणों की उपासना गुणी महापुरुषों को सामने रखकर ही करनी है। गुण शाश्वत हैं। अतः गुणी महापुरुष भी शाश्वत हैं। लेकिन एक नामधारी व्यक्ती अपने आयुष्यकाल की सीमित अवधि के कारण शाश्वत–नित्य नहीं बन सकता है। अतः एक गुणी के समानान्तर दूसरे गुणी, उनके जैसे तीसरे, उनके जैसे चौथे इस तरह एक के पीछे एक की परंपरा चलती है। अतः व्यक्ति से भी पद बडा है। पदस्वरूप में सभी का समावेश हो जाता है। अतः नवकार में गुणों के आधार पर गुणियों की पदरूप स्थापना है। व्यवस्था है।

यदि व्यक्ति विशेष का ही नाम लिखा जाय तो सर्वज्ञ–वीतराग में तो आपत्ति नहीं आएगी लेकिन छद्मस्थ किसी व्यक्ति विशेष में–सर्व गुण हो या न भी हो, कुछ कम गुण भी हो तो क्या करें? अतः पदवाची व्यवस्था रहने पर सभी गुणों की परिपूर्णता सबके हिसाब से बैठ जाती है। इन १०८ गुणों का स्मरण करते हुए, गुणों के आधार पर उनके धारक गुणी भगवंतों को गुण प्राप्ति हेतु यदि नमस्कार किया जाय तो ऐसा भाव नमस्कार हमारी आत्मा को भावित कर सकता है। करना यही चाहिए। इसी तरह करना चाहिए। यही शुद्ध पद्धति है। परन्तु अज्ञानवश एक भी गुण को न जाननेवाले और कभी भी गुण का विचार मात्र भी न करने वाले माला जाप करते रहेंगे और फिर शिकायत करते रहेंगे कि हमारा मन बिल्कुल ही माला में नहीं लगता है, उल्टे ज्यादा खराब विचार आते हैं। अब आप ही सोचिए खराब विचार नहीं आएंगे तो क्या होगा? अगर इससे बचना है तो आज ही गुणों को समझना शुरु करिए, गुणात्मक स्वरूप स्पष्ट करिए... जानिए... मानिए ... फिर वैसी माला गुण-स्मरणपूर्वक की शान्ति से गिनने लगिए... भाव बनाइए... फिर देखिए आपकी शिकायत् कितनी जल्दी अदृश्य होती है। लेकिन... हाँ,... करने से ही होगा। बिना किये कोई जादू–चमत्कार नहीं होगा। प्रयत्न साध्य साधना सफल होती है। सिद्धि दिलाती है।

**गुणात्मक संबंध से सादृश्यता—**

पंच परमेष्ठी भगवंत जो गुणों से परिपूर्ण—संपूर्ण है, गुणों का खजाना है, उनमें जो गुण हैं, जैसे गुण हैं, जितने गुण हैं वे सभी गुण त्रैकालिक शाश्वत होने से हमारी आत्मा में भी सत्तारूप से पडे हुए ही हैं। गुणों का सत्तास्वरूप अस्तित्व हमारे में सदा काल से है ही। मात्र कर्म के आवरण से दबे हुए हैं। कर्मों का प्रमाण गुणों से बहुत ज्यादा मात्रा में होने के कारण . . . गुण दब जाते हैं। लेकिन सत्ता से तो सभी गुणों का अस्तित्व हमारी सभी की आत्मा में है ही। मात्र प्रकट करना है। इस दृष्टि से हमारी संसारी पामरात्मा को परमात्मा के सत्तारूप अस्तित्व के कारण सादृश्यता है। जो जो स्वरूप सिद्धों का अरिहंतों का है, जिन जिन गुणों का प्रादुर्भाव उनमें हुआ है वे सभी गुण हमारे में पडे हुए हैं। तिरोहित हैं। आच्छन्न हैं।

द्रव्य रूप से हमारी आत्मा परमात्मा जैसी ही है। और गुणों की दृष्टि से भी सत्तारूप से ठीक वैसी ही है। फरक इतना ही है कि उनकी आत्मा में सभी गुण प्रकट हो चुके हैं। जबकि हमारी आत्मा में वे गुण अभी तक प्रकट नहीं हुए हैं। इसलिए वे सर्वगुणी हमारे आराध्य—उपास्य देव हैं। हम उनके आराधक हैं। वे साध्य हैं और हम साधक हैं।

हमारा और परमेष्ठियों का क्या संबंध है? मात्र गुणात्मक संबंध है। गुणों को ग्रहण करने का संबंध है। वे गुण के खजाने के स्वरूप हैं इसलिए उनमें से हमको गुण ग्रहण करने हैं। उनका गुण देने का और हमारा लेने का संबंध है। हम ग्राहक हैं—लेनेवाले। इसलिए परमात्मा के साथ वैसा संबंध बांधकर बैठे हैं। भक्त भगवान के साथ गुणग्राहकता का संबंध बांधकर बैठा है। तभी वह सच्चा भक्त कहलाएगा। हम परमात्मा की आराधना क्यों करते हैं? क्योंकि गुण सभी उनमें पडे हैं। हमको लेने हो तो कहाँ से लें? इसलिए गुणों को प्राप्त करने के लिए—के बहाने हम गुणी परमेष्ठियों की आराधना—उपासना करते हैं। अतः यहाँ पर परमेष्ठी भी साधन बन जाते हैं और गुणप्राप्ति साध्य बन जाती है। इसलिए गुणोपासना मुख्य साधना है। भक्ती के भाव में भक्त भगवान को प्रार्थना करता हुआ कहता है कि—

**"गुण अनन्ता सदा तुज खजाने भर्या।**
**एक गुण देत मुज शुं विमासो॥"**

हे भगवान्! आपके गुणरूपी खजाने में अनन्त गुण भरे पडे हैं उसमें से मुझे एक गुण देने में आप क्यों संकोच अनुभव रहे हैं? आप क्यों हिचकिचा रहे हो? यह भक्ती की भावना है। भक्ती वह है जिसमें भक्त के दिल में भगवान के प्रति प्रेम उत्तरोत्तर बढता

ही जाय । मात्र प्रेम ही नहीं बढता है . . . भक्त और भगवान के बीच भेद कम होते होते अभेद आने लगता है । भक्त भगवान जैसा बनने लगता है ।

**गुण दर्शन ही सच्चे दर्शन हैं—**

जैसे दर्पण में मुख देखते हैं, आखिर क्यों देखते हैं ? उसमें अपने मुख पर कोई अव्यवस्थितपना हो तो उसे दूर कर सुव्यवस्थित कर सकें । अपनी क्षति—भूल दूर करके सुन्दरता बढा सकें । यही हेतु यदि प्रभु दर्शन की प्रक्रिया में उपयोग में लाएं, दर्शन शुद्ध हो जाएं । प्रभु की प्रतिमा को सामने दर्पण मान लें और हम देखनेवाले दृष्य हैं । प्रभु और प्रतिमा में अभेदभाव है । दर्पण में मुख देखा जाय और प्रतिमारूपी दर्पण में स्वआत्मदर्शन करें । अपनी आत्मा के गुण दोष देखना है । अपनी आत्मा में गुण तो नाममात्र या अंशमात्र भी है या नहीं ? यह भी शंकास्पद है । लेकिन हाँ, दोष तो सेंकडों भरे हुए हैं । परमात्मा गुणों के भण्डार हैं । अनन्त गुण हैं । जब मैं प्रभु के गुण देखूँ तब तुलना में वे और वैसे गुण जब मेरे में नहीं हैं, उनका अभाव है, तब दोष जरूर हैं । इसलिए दर्शन की इस प्रक्रिया में प्रभु के गुणों को देखना है और अपने दोषों को देखना है । यह शुद्ध दर्शन की प्रक्रिया है । देवचन्द्रजी महाराज कहते हैं कि—

**स्वामी गुण ओलखी, स्वामी ने जे भजे ।**
**दरिशन शुद्धता तेह पामे ।।**

यह दर्शन हुआ । अब आगे की प्रकिया प्रारंभ करनी है । अपने एक—एक दोष कम करते हुए . . . एक एक गुण अपने में बढाना है, विकसित करना है । सब गुण परमात्मा में भरे पडे हैं अतः परमात्मा गुणों के आश्रयस्थानरूप आधारभूत होने से आलंबन है । गुण गुणी के बिना कहाँ मिलेंगे ? कहीं नहीं । अतः परमात्मा की ही शरण लेनी पडेगी । और वहाँ गुणदर्शन—स्वदोषदर्शन का कार्य करना ही पडेगा ।

हमने आज दिन तक सबसे बडी गलती ऐसी की है कि . . दूसरों के दोष देखने की और अपने गुण देखने की आदत पडी हुई है । मोहनीय कर्म के तीव्र उदय के कारण ऐसी आदत रूढ हो जाती है । यही अच्छा लगता है । लेकिन यह सर्वथा गलत है । कर्म बंधकारक है । इसी कारण सही अर्थ में सच्चे दर्शन हो ही नहीं पा रहे हैं । अब यदि सच्चे दर्शन करना ही हो तो इस आदत को उल्टा करना पडेगा । अर्थात् अपने दोष देखने और परमात्मा के गुण देखने पडेंगे । बार बार प्रतिदिन इस तरह करते रहने से . . . आदत पडेगी . . . और इसी आदत के अनुरूप व्यवहार करने पर . . . संसार के क्षेत्र में अन्यत्र भी सभी

जीवों के साथ के व्यवहार में भी उनके गुण देखने की और अपने दोष देखने की आदत पड जाय तो बहुत लाभ होगा । सचमुच, देखा जाय तो सच्चे आराधक का—साधक का यही लक्षण है ।

## गुण या दोष देखने से आते हैं—

बच्चा जो दूसरों का देखेगा वह सीखेगा । वैसा करेगा । कर्म के उदय वश हमारी आदत दूसरों के दोष देखने की है । अतः हमेशा इसी आदत के अधीन होकर हम दोष देखते ही रहते हैं । इससे हमारी दृष्टि दोषदृष्टि ही बन गई है । मनोविज्ञान का नियम ऐसा है कि आप जो जितना ज्यादा देखोगे उतने ज्यादा वैसे संस्कार आपमें आएंगे । इससे हमारा जीवन वैसा दोषपूर्ण बन जाएगा । दोष विकास के अवरोधक हैं—बाधक हैं । आत्मा का विकास मात्र गुणों से ही है । उसमें दोष बीच में बाधक बनकर आगे प्रगति करने ही नहीं देंगे ।

आज *T. V.* देखने का अतिरेक हो चुका है । ऐसा मन मोहनेवाला है कि . . छोटे से बडे सबका मन वहाँ चिपका रहता है । अश्लील, बीभत्स, उत्तेजक दृश्य देखकर आज लाखों—करोडों लोगों ने अपना मन बिगाडा है । अपना जीवन बिगाडा है । अपना ही क्या औरों का भी जीवन बर्बाद किया है । आप बार—बार देखेंगे तो एक बार तो वैसा करने का मन होगा ही । कभी न कभी तो मन वैसा करने के लिए तडपेगा । और उस तड़पन के आधार पर आखिर कमजोर मनवाला वैसा पाप कर ही बैठेगा । इसलिए देखना और देखने से सीखना, और सीखकर करना यह संसार की प्रक्रिया चल ही रही है । इसमें तो जिन्दगी बीत रही है । लाखों—करोडों की बीत रही है ।

यदि गुण देखने के थोडे भी संस्कार बनाए होते तो निश्चित गुण आते जीवन में और गुणों को देखकर सीखकर दूसरों को भी वैसे गुणवान बनाने का प्रयत्न कर सकते थे । अतः आज के इस काल में . . . आवश्यकता है अच्छा ऊँचा गुणियल समाज बनाने की । चुन—चुन कर अच्छे ऊँचे गुणवालों को लेकर, इकट्ठे करके सुंदर गुणियल समाज निर्माण करें । संसार के लिए यह गुणियल समाज एक आदर्श बनें । इसका आदर्श लेकर दूसरे भी गुणियल बनेंगे तो उन्हें भी फायदा होगा । अतः गुण देखने हैं तो पहले खराब देखने की आदत बन्द करनी ही पडेगी । ज्यादा से ज्यादा गुणों को देखने की प्रवृत्ति बढानी ही पडेगी । इस गुण दर्शन की प्रवृत्ति करने में संसार में सर्वोपरी गुणवान यदि कोई हो तो वे एक मात्र परमात्मा ही हैं । देव के बाद गुरु का क्रम आता है । देवाधिदेव परमात्मा

सर्वगुणसंपन्न है तो गुरू भी परमात्मा के ही मार्ग पर चलनेवाले उन्हीं गुणों को अपना लक्ष्य–साध्य बनाकर चलनेवाले हैं। अतः गुण गुरु में भी दिखेंगे। हमें लेना आना चाहिए। लेकिन लेने के लिए देखना आना चाहिए। देखनेवाला ही ले सकेगा।

**गुणानुरागी बनें–**

दूसरों के गुणों को देखकर उनके गुण अपने में लाने के लिए गुणों के अनुरागी बनना चाहिए। गुणानुरागी बनने के लिए बार–बार गुणदर्शन करना चाहिए। दूसरों के गुणों को देखकर राजी होना चाहिए। ओहो ... अच्छा हुआ कि इस भाग्यशाली ने इन गुणों को टिकाया है। गुण को बचाकर गुण का अस्तित्व रखा तो है। हाँ, गुण को देखता हो तो निश्चित किसी न किसी गुणी को ही देखना पडेगा। और हमें यही तकलीफ है। गुण चाहते है, गुण देखना भी चाहते हैं लेकिन गुणी को देखना नहीं चाहते हैं। गुणी को देखने पर राग–द्वेष–ईर्ष्या–द्वेष–मत्सर वृत्ति सामने आ जाती है। इससे आवृत्त हो जाने से हमारी दृष्टि वैसी बन जाती है। इसलिए फिर गुण दिखते ही नहीं है। गुण होते हुए भी दोष दिखाई देते हैं, ईर्ष्या–द्वेष की वृत्ति के कारण। संसार में ४ प्रकार के लोग हैं— १) गुणी में गुण होते हुए भी दोष देखनेवाले। २) गुणी में गुणों को ही देखनेवाले। ३) दोषी–अगुणी में गुण न होते हुए भी गुण देखनेवाले ४) दोषी–अगुणी में दोष देखनेवाले।

इन चार प्रकार के जीवों में पहले नंबर का जीव– जो गुणवान गुणी महापुरुष में गुणों का ढेर पडा हुआ होते हुए भी ... देखनेवाला अपनी ईर्ष्या–द्वेष दृष्टि के कारण गुण देखने के लिए तैयार ही नहीं है। ऐसे जीव ... सर्वथा अहितकारक हैं। ज्यादा कर्म बांधनेवाले हैं। संसार में परिभ्रमण करनेवाले हैं।

दूसरे नंबर का जीव सर्वश्रेष्ठ साधक है। वह गुणी–गुणवान महापुरुष में गुणों को देखकर आगे बढता है। ऐसे बहुत विरल होते हैं, लेकिन सर्वथा अभाव नहीं है। तीसरे क्रम पर रहनेवाले जीव ... और नीचे रसातल में गए हुए हैं। वे गुणवान–गुणी को देखने के लिए तैयार ही नहीं है। उल्लू की तरह अन्धे हैं। वे सोने की चमक पीतल में देखना चाहते हैं। हीरे की चमक कांच के टुकडों में देखना चाहते हैं। इसी तरह दोषी–दुर्गुणी–अगुणी दुष्ट के अन्दर गुणों को संभव करने की कोशिश करते हैं। इसलिए ऐसे लोगों को कभी भी गुण देखने भी नहीं मिलते हैं और उनमें गुण आते भी नहीं हैं।

चौथे नंबर के जीव फिर भी सत्य मार्ग पर हैं। दोषी—दुर्गुणी—अगुणी में दोष ही देखते हैं। जिसमें जहाँ जो है वही वहाँ देखना। अतः सत्यदृष्टि जरूर है परन्तु अपराण्ह में तेज चमकते हुए सूर्य को देखते ही जैसे दृष्टि हटा लेनी चाहिए, नहीं तो आँख को नुकसान होता है। इसी तरह दोषी दुर्गुणी के अधम कक्षा के दोष को देखते ही क्षणभर में वहाँ से मन हटा लेना चाहिए। देखना ही नहीं चाहिए। जिससे हमारे में दोष आए ही नहीं।

इस तरह दोष से सर्वथा बचने की वृत्ति और गुणों को स्वीकारने की वृत्ति साधक का लक्षण है। गुणों को बारबार देखनेवाला ही गुणानुरागी बनता है। गुणानुरागी बनना अर्थात् लोहचुंबक के जैसा बनना है। जैसे एक चुंबक लोहकणों को आकर्षित करता है, अपने पास खींचता है, वैसे ही गुणानुरागी दूसरों में देखे हुए गुणों को अपने में खींचता है। इस तरह गुणों का वह पक्षपाती बनता है। गुणों को देखकर वैसा गुणी बनने की भावना रखता है। जीवन के बाग में गुणरूपी विविध पुष्पों को लगाकर जीवन को गुणों से सुवासित करना चाहता है। ऐसा गुणानुरागी जीव ही मोक्षमार्ग पर अग्रसर होता हुआ आध्यात्मिक उन्नति—प्रगति साधता है।

गुण के विषय में काफी प्राचीनकाल से पूर्व महर्षि महापुरुषों ने अद्भुत भाव से भरे हुए अर्थ गंभीर ऐसा "गुणानुराग" कुलक बनाया है। वह साधकों के स्वाध्याय के लाभ हेतु यहाँ पर अर्थसहित अवतरण करता हूँ—

## गुणानुराग कुलक

**सयलकल्लाणनिलयं नमिऊण तित्थनाहपयकमलं।**
**परगुण गहण सरुवं, भणामि सोहग्गसिरिजणयं** ॥ १ ॥

समस्त कल्याण के आधारभूत आश्रय स्थान स्वरूप जिनके चरण कमल है ऐसे देवाधिदेव परमात्मा को प्रणाम करके संपत्ति एवं सौभाग्यदायक परगुणानुराग के स्वरूप का वर्णन करता हूँ।

**उत्तम गुणाणुराओ, णिवसइ, हिययंमि जस्स पुरिसस्स।**
**आतित्थयरयाओ न दुल्लहा तस्स ऋद्धिओ** ॥ २ ॥

जिन पुरुषों के अंतस्थल—हृदय में उत्तमोत्तम महापुरुषों के प्रति अनुराग—गुणानुराग विद्यमान है उनके लिए तीर्थंकर पद—भगवान बनने तक की

सिद्धियाँ—ऋद्धियाँ भी दुर्लभ नहीं हैं। अर्थात् गुणानुरागी भावि में राजा—महाराजा—वासुदेव—बलदेव—चक्रवर्ती और तीर्थंकर भी बन सकता है।

**ते धन्ना ते पुन्ना, तेसु पणामो हविज्ज महनिच्चं।**
**जेसिं गुणाणुराओ, अकित्तिमो होई अणवरयं ॥ ३ ॥**

वे धन्य हैं, वे धन्यवाद के पात्र हैं, वे अभिनंदनीय एवं श्लाघनीय हैं, वे ही पुण्यशाली हैं। उन्हें सदा ही अनुराग बसता हो। अर्थात् गुणानुरागी को सदा नमस्कार किया गया है।

**किं—बहुणा भणिएणं, किं वा तविएण किं वा दाणेणं।**
**इक्कं गुणानुरायं, सिक्खह सुक्खाण कुल भवणं ॥ ४ ॥**

अरे ! बहुत ज्यादा पढने से भी क्या लाभ ? अरे ! बहुत तपश्चर्या करने से भी क्या फायदा ? अरे ! बहुत ज्यादा दान देने से भी क्या होगा ? यदि आपने एक गुणानुराग को नहीं बढाया तो ये सब निष्फल जाएगा। गुणानुराग सुखों—फलों के घर समान है। खान है। अतः गुणों के प्रति अनुराग बढाओ। (यहाँ ज्ञान—दान—तप निष्फल नहीं बताए हैं, परन्तु गुण की महिमा गाई है।)

**जइ वि चरसि तव विउलं, पठसि सुयं करिसि विविहकट्ठाइं।**
**मं धरसि गुणाणुरायं, परेसु ता निष्फलं सयलं ॥ ५ ॥**

यदि आप उग्र तपश्चर्या करते हो, शास्त्रों का अध्ययन भी करते हो और अनेक गुना भारी कष्ट भी सहन करते हो, सब बात ठीक है लेकिन आपमें गुणानुराग ही नहीं आया तो सब व्यर्थ—निरर्थक है। तप—शास्त्राध्ययन गलत नहीं है। बिल्कुल सही ही है। परन्तु पर गुण देखने में प्रसन्नता—अनुराग से उनकी सार्थकता सिद्ध की है।

**सोऊण गुणक्करिसं, अन्नस्स करेसि मच्छरं जइवि।**
**ता नूणं संसारे, पराहवं संहसि सव्वत्थं ॥ ६ ॥**

दूसरों के गुणों के उत्कर्ष को देखकर—सुनकर भी यदि आप ईर्ष्या—असूया करते हो, मत्सरवृत्ति से आपका मन द्वेष धारण करता हो तो निश्चित समझिए कि इस द्वेषबुद्धि से भारी कर्मोपार्जन कर आप चारों गति के १४ लक्ष जीवयोनि के संसार चक्र में परिभ्रमण करते ही रहना पडेगा। सर्वत्र पराभव सहन करना पडेगा।

**गुणवंताण नराणं, ईसा भरतिमिरपूरिओ भणसि।**
**जइ कहवि दोसलेसं, ता भमसि भवे अपारम्मि ॥ ७ ॥**

अतिशय ईर्ष्या—द्वेष की वृत्ति रूप अंधकार से अंधा होकर गुणवन्त महापुरुषों के गुणों के गुणगान करने के बदले यदि दोष देखता रहे, गुणी के भी मात्र दुर्गण ही गाते रहे तो, अवश्य इस भयंकर संसार में भटकते ही रह जाओगे। ईर्ष्या द्वेष गुण देखने ही नहीं देते हैं।

**जं अब्भसेई जीवो गुणं च दोसं च इत्थ जम्मम्मि।**
**तं परलोए पावई, अब्भासेणं पुणो तेणं** ॥ ८ ॥

जीव इस जन्म में गुण या दोष जिसको भी देखने—बोलने का अभ्यास करता है, आदत डालता है तो उसके आधारपर परलोक में पर भव में पुनः उसी संस्कार को ही पाएगा। इस भव में जो और जैसी आदतें डालते हो अगले भव में वे और वैसी आदतें कर्मवश साथ आती हैं। अतः यहाँ चेतें।

**जो जंपइ परदोसे गुणसयभरिओ वि मच्छरभरेणं।**
**सो विउसाणमसारो, पलालपुंजव्व पडिभाइ** ॥ ९ ॥

जो पुरुष स्वयं यदि सेंकडों गुणों से भरा हुआ गुणवन्त हो फिर भी यदि वह ईर्ष्या—द्वेष—असूया—मत्सरवृत्ति के स्वभाव से पराए दोष ही देखता है, दोषानुरागी ही होते हैं वह विद्वान—गुणवान पुरुष भी घास के पूंज की तरह निरर्थक होता है। सत्त्वहीन होता है। अतः गुणवान बनने के पहले गुणानुरागी बनना जरूरी है।

**जो परदोषे गिण्हइ, संतासंतेवि दुहु भावेणं।**
**सो अप्पाणं बंधइ, पावेण निरत्थएणावि** ॥ १० ॥

जो मनुष्य अपने दुष्ट स्वभाव—दुष्टता के भाव से परपुरुष में दोष न होते हुए भी देखता — गाता है, या होते हुए भी देखता—गाता है तो निश्चित समझिए कि... वह निरर्थक पाप कर्म बांधता है। दूसरों के दोष—दुर्गुण देखकर व्यर्थ में अशुभ पापकर्म क्यों उपार्जन करना? कभी भी नहीं करना चाहिए।

**तं नियमा मुत्तव्वं, जत्तो उपज्जए कसायग्गी।**
**तं वत्थुं धारिज्जा जेणोवसमो कसायामं** ॥ ११ ॥

जिन—जिन कारणों से आपकी अपनी कषाय रूपी अग्नि प्रदीप्त होती हो उन उन निमित्त कारणों को छोड देना चाहिए। और जिन निमित्तों से कषाय की अग्नि शान्त होती हो उसे अपनाना चाहिए। पर दोष देखने से कषायाग्नि बढती है, अतः त्याज्य है। तथा गुणानुराग से क्रोधावेश घटता है, अतः उपादेय है।

**जइ इच्छह गुरुयत्तं, तिहुयण मज्झंमि अप्पणो नियमा।**
**ता सव्वपयत्तेणं, परदोसविवज्जणं कुणइ ॥ १२ ॥**

हे मानव ! यदि सचमूच तू तीनों लोक में अपनी यश—कीर्ति—प्रतिष्ठा—मान—सन्मान चाहता है तो पराए दोष—दुर्गुण देखना—बोलना सर्वथा छोड दे । अर्थात् दूसरों की सदा निंदा करने वाले की यश—कीर्ति—प्रतिष्ठा कभी भी नहीं बढती है । अतः पर की निंदा सर्वथा त्याज्य है ।

**चउहा पसंसणिज्जा, पुरिसा सव्वुत्तमुत्तमा लोए।**
**उत्तम उत्तम उत्तम, मज्झिम भावाय सव्वेसिं ॥ १३ ॥**

संसार में ६ प्रकार के जीवों में से ४ प्रकार के— १) सर्वोत्तम, २) उत्तमोत्तम, ३) उत्तम, और ४) मध्यम — पुरुष सदा ही प्रशंसनीय हैं । प्रशंसा करने योग्य हैं । प्रशंसायोग्य पुरुष की प्रशंसा अवश्य ही करनी चाहिए ।

**जे अहम अहम अहमा, गुरुकम्मा धम्मवज्जिया पुरिसा।**
**ते विय न निंदणिज्जा, किंतु दंया तेसु कायव्वा ॥ १४ ॥**

पाँचवे प्रकार के लोग अधम कक्षा के तथा छट्ठे प्रकार के अधमाधम कक्षा के हल्के लोग भी इस संसार में बहुत हैं, जो भारीकर्मी एवं धर्मरहित हैं ऐसे लोगों की भी निंदा नहीं करनी चाहिए। ऐसे लोगों के दोष—दुर्गुण नहीं देखना—बोलना चाहिए। परन्तु माध्यस्थभाव से उनकी भावदया चिन्तवनी चाहिए।

**पच्चंगुब्भडजुव्वणवंतीणं सरहिसारददेहाणं।**
**जुवईणं मज्झगओ, सव्वुत्तम रूववंतीणं ॥ १५ ॥**
**आजम्म बंभयारी, मणवयकाएहिं जो धरइ सीलं।**
**सव्वुत्तमुत्तमो पुण, सो पुरिसो सव्वनमणिज्जो (युग्मं) ॥ १६ ॥**

जगत में सर्वोत्तम पुरुष कैसे होते हैं ? उनकी बात करते हुए कहते हैं कि... उद्भट यौवनवाली स्त्री, सभी अंगों में यौवन कूट कूट कर बढा है ऐसी रूप—सौन्दर्य—लावण्यवती यौवना को देखकर भी, अरे उनके बीचमें रहकर भी जो पुरुष बाल्यावस्था से ही शुद्ध ब्रह्मचारी रह सके, मन—वचन—काया से नैष्ठिक ब्रह्मचारी रह सके, अपना—पराया शील सर्वथा खंडित न करे, ऐसे पुरुष सर्वोत्तम—सर्वश्रेष्ठ हैं, और सभी के लिए नमस्करणीय, वंदनीय होते हैं। जैसे स्थूलिभद्रस्वामी, विजयशेठ और विजया शेठानी ।

**एवंविह जुवइगओ, जो रागी हुज्ज कहवि इग समयं।**
**बीयसमयंमि निंदइ, तं पावं सव्वभावेणं** ॥ १७ ॥
**जम्मंमि तम्मि न पुणो, हविज्ज रागो मणंमि जस्स कया।**
**सो होइ उत्तमुत्तम, रूवो पुरिसो महासत्तो** ॥ १८ ॥

दूसरे प्रकार के उत्तमोत्तम पुरुष का लक्षण दिखाते हुए कहते हैं कि ऐसी रूपवती, यौवनवती तरुणिओं के बीच रहनेवाला कोई मनुष्य क्षणभर के लिए मन से गिर जाय, मानसिक पतन हो जाय, मन खराब विचारों से दूषित हो जाय, परन्तु दूसरी ही क्षण अपने आप को संभाल ले, सावधान कर ले और अकार्य में न गिरे, और अपने मानसिक पतन की मन ही मन निंदा गर्हा करते हुए दुबारा जिन्दगीभर वैसे विचार तक न आने दे वैसे पुरुष उत्तमोत्तम—महासत्त्वशाली होते हैं।

**पिच्छई–जुवईरुवं, मणसा चिंदेई अहवा खणमेगं।**
**जो न चरइ अकज्जं, पत्थिज्जंतो वि इत्थीहिं** ॥ १९ ॥
**साहू वा सद्ढो वा सदारसंतोससायरो हुज्जा।**
**सो उत्तमो मणुस्सो, नायव्वो थोवसंसारो** ॥ २० ॥

तीसरे प्रकार के उत्तम पुरुष का लक्षण बताते हुए कहते हैं कि . . . जो पुरुष रूपसुन्दरियों के रूप का क्षण भर पान करके मन में ही राजी रागी होता रहे परन्तु स्त्रियों के द्वारा भोग की याचना करते रहने पर भी कुकर्म का आचरण सर्वथा नहीं करता है ऐसे उत्तम पुरुष साधुतुल्य गिने जाते हैं। साधु अपने महाव्रत में और श्रावक अपने स्वदारासंतोषव्रत में स्थिर रहे, ऐसे उत्तम पुरुष और इनके जैसे समकक्ष उत्तम पुरुष अल्प संसारी होते हैं। अल्पकाल में ही संसार के बंधन से मुक्त होनेवाले होते हैं।

**पुरिसत्थेसु पवट्टइ, जो पुरिसो धम्मअत्थपमुहेसु।**
**अनुन्न मवाबाहं, मज्जिमरुवो हवइ एसो** ॥ २१ ॥

चौथे मध्यम पुरुष का लक्षण कहते हैं कि— जो पुरुष धर्म—अर्थ—काम इन तीनों पुरुषार्थों की परस्पर बाधा न पहुँचे इस तरह आचरण करता ही रहे ऐसे सुयोग्य पुरुषार्थी को मध्यम पुरुष कहा है।

**एएसिं पुरिसाणं, जइ गुणगहणं करेसि बहुमाणा।**
**तो आसन्नसिवसुहो, होसि तुमं नत्थि संदेहो** ॥ २२ ॥

ऊपर कहे हुए इन चारों प्रकार के पुरुषों के गुणों को हे मानव ! तू यदि सन्मानपूर्वक ग्रहण करता रहेगा, उन गुणों की अनुमोदना करता रहेगा तो नजदीक भविष्य में अवश्य ही मुक्ती का सुख प्राप्त करेगा... इसमें अंश मात्र भी संशय नहीं है ।

**पासत्थाइसु अहुणा, संजमसिढिलेसु मुक्कजोगेसु ।**
**नो गरिहा कायव्वा, नेव पसंसा सहामज्झे** ॥ २३ ॥

आज के कलियुग में कालप्रभाववंश शिथिल हुए साधु—संयमी जो योग—क्रियादि में पतित साधुवेषधारियों की सभा में या उनके बीच न तो निंदा करे और न ही प्रशंसा करे । अर्थात् मौन ही सर्वश्रेष्ठ है ।

**काउण तेसु करुणं, जइ मन्नइ तो पयासए मग्गं ।**
**अह रूसइ तो नियमा, न तेसिं दोसं पयासेइ** ॥ २४ ॥

ऐसी परिस्थिति में उनपर भावदया लानी चाहिए और यदि आप मना—समझा सको और वे मान सके, समझ सके, तो बिल्कुल सच्चा रास्ता बताना चाहिए । परन्तु ऐसा करने पर यदि वे कोपायमान होते हो तो हमें उनके दोष दुनिया में नहीं गाने चाहिए । गंभीरता रखकर माध्यस्थ भावना से भावि—भाव कर्माधीनता पर छोड देना चाहिए ।

**संपइ दूसमसमए, दीसइ थोवो वि जस्स धम्मगुणो ।**
**बहुमाणो कायव्वो, तस्स सया धम्मबुद्धिए** ॥ २५ ॥

आज के इस प्रकार के भयंकर कलियुग के विषम—दुषम काल में सद्भाग्य से यदि किसी में थोडासा अंशमात्र थोडा सा भी गुण दिखाई दे, तो उसके प्रति धर्मबुद्धि से हमेशा ही सद्भाव—सन्मान दिखाना चाहिए । उसकी अनुमोदना अवश्य ही करनी चाहिए ।

**जउ परगच्छि सगच्छे, जे संविग्गा बहुस्सुया मुणिणो ।**
**तेसिं गुणाणुरायं, मा मुंचसु मच्छरप्पहओ** ॥ २६ ॥

जो वैराग्यवान, विद्वान, ज्ञानवान, उत्तम चारित्रधारी, त्यागी, तपस्वी, उत्तम गुणवान व्यक्ती चाहे स्व गच्छ में हो या अन्य—भिन्न गच्छ या संप्रदाय में भी हो तो भी उनके प्रति ईर्ष्या—द्वेष—असूया या मत्सर की वृत्ति रखकर गुणानुराग कभी भी नहीं छोडना चाहिए । मुक्तकंठ से गुणगान करना चाहिए ।

**गुणरयण मंडियाणं, बहुमाणं जो करेइ सुद्धमणो ।**
**सुलहा अन्नभवंमि य, तस्स गुणा हुंति नियमेणं** ॥ २७ ॥

गुणरूपी रत्नों—आभूषणों से सुशोभित सजे हुए महागुणी पुरुषों का जो व्यक्ती शुद्ध मन से, शुद्ध भाव से, सन्मान करता है, अनुमोदना—प्रशंसा करता है, उसे आगामी दूसरे भवों में भी वे और वैसे गुण निश्चित ही सुलभता से मिलते हैं ।

**एयं गुणाणुरायं, सम्मं जो धरइ धरणि मज्झंमि ।**
**सिरिसोमसुंदरपयं, सो पावइ सव्वनमणिज्जं** ॥ २८ ॥

इस गुणानुराग कुलक के रचयिता श्री सोमसुन्दरसूरि म. कहते हैं कि इस धरणीतल पर जो भी पुरुष उपरोक्त गुणानुराग को सही समझकर वैसे गुणों के प्रति अनुराग का भाव धारण करता हो सचमुच दूसरों के गुणों के प्रति ईर्ष्या द्वेष रहित मन से अनुमोदना करता हो, वैसे गुण अपने आप में विकसाता हो, ऐसा पुरुष विशेष सुंदर चमकते हुए सुशोभित पूर्णिमा के चंद्र समान ("सोम सुन्दर" कर्ता के नाम का रहस्यार्थ) जगत में सभी के लिए नमस्करणीय, वंदनीय पद को प्राप्त करता है। अर्थात् सभी जीवों के लिए नमस्कारयोग्य—तीर्थंकर—सिद्ध पद को प्राप्त करता है ।

इस तरह गुणानुराग कुलक के इन २८ श्लोकों में महापुरुष ने गुणों का वर्णन किया है, गुणवान महापुरुषों का वर्णन किया है, गुणवन्तों का लक्षण बताया है, गुणों के प्रति कैसा अनुराग बताया है, तथा गुणों की अनुमोदना आदि का कितना महान फल बताया है, तथा ईर्ष्या—असूया का कितना गंभीर दुष्परिणाम बताया है, इत्यादि सारा गुणों का, गुण संबंधी स्वरूप समझकर साधक को वैसा बनना चाहिए । बनने के लिए सदा प्रयत्नशील रहकर प्रबल पुरुषार्थ करना चाहिए ।

**गुणग्राही दृष्टि—**

गुण जिनमें हैं ऐसे गुणवान संसार में हैं या गुणों के देखनेवाले गुणदृष्टिधारी लोग संसार में ज्यादा हैं ? इस प्रश्न के उत्तर में विचार करने पर ऐसा लगता है कि संसार में गुणवान अनेक हैं । लेकिन दूसरों के गुणों को गुणग्राहक दृष्टि से देखनेवालों की संख्या बहुत कम है । ईर्ष्या—द्वेष—असूया एवं मत्सरवृत्ति के कारण गुण होते हुए भी दिखाई नहीं देते हैं उल्टे दोष दिखाई देते हैं । काले चश्मे—गोगल्स के कारण सफेद चीज भी काली—श्याम दिखाई देती है । कमला (पीलीया) के रोगी के जैसी स्थिति ईर्ष्यालु—द्वेषी की है । अतः गुण होते हुए भी ईर्ष्या—द्वेष देखने ही नहीं देते हैं । अतः ऐसे काले चश्मे उतारने ही पडेंगे । तभी गुणग्राहक दृष्टि बन सकेगी ।

गुणवान–गुणियल बनना आसान है कि गुणानुरागी–गुणग्राहक दृष्टिधारी बनना आसान है ? इस प्रश्न के उत्तर में भी कहते हैं कि– गुणवान बनना बडा सरल है–आसान है । परन्तु गुणानुरागी बनना बहुत कठिन है । क्योंकि ईर्ष्या–द्वेष का स्वभाव रहते हुए भी कोई व्यक्ती किसी न किसी प्रकार के गुणों को विकसित करके गुणवान बन सकता है, परन्तु ईर्ष्या–द्वेष की वृत्ति सर्वथा समाप्त करके गुणानुरागी बनना बहुत ही कठिन लगता है । जब तक ईर्ष्या–द्वेष–मत्सरवृत्ति खतम नहीं होती है तब तक पूर्णरूप से गुणानुरागी कोई बन ही नहीं सकता है। और गुणानुरागी बने बिना दूसरों के गुण के प्रति आदर–सद्भाव कैसे बढेगा ?

हमें एक ऐसा *Magnifying Glass* लेना चाहिए जो किसी चीज को दुगुना चौगुना दसगुना बडा बताता है । ऐसे ग्लास का उपयोग दूसरों के छोटे से छोटे गुण को देखने में करना चाहिए । जिससे दूसरों के छोटे गुण भी बडे दिखेंगे । ताकि हमें आचरने का एवं अनुमोदना करने का ज्यादा भाव हो । ठीक इसी तरह उसी ग्लास का उपयोग अपने स्वयं के दोषों–दुर्गणों को देखने के लिए करना चाहिए . . . । जिससे छोटे भी दोष–दुर्गण बडे दिखाई दें । और आँखों के सामने आए । यदि अपने दुर्गुण बडे–मोटे स्वरूप में दिखाई देंगे तो उन्हें हराने, खलास करने का मन होगा । प्रबल पुरुषार्थ करके भी दोषों को निकाल सकेंगे । छोटे–छोटे गुण–दोषों को तो लोग गिनते ही नहीं हैं । लेकिन उन्हें यह मालूम नहीं है कि कांच की एक छोटी सी कण या कांटे का छोटा सा टुकडा, यदि पैर में फस जाय तो बडे से बडे व्यक्ति को भी परेशान कर देता है । अरे ! राई–जीरा का छोटा सा कण दांत में फंस जाय और न निकल सके तो व्यक्ती को व्यथित कर देता है । इससे भी हजार गुना ज्यादा नुकसान एक छोटा सा पडा हुआ दोष करता है । अतः स्वदोषदर्शन एवं परगुणदर्शन की साधना बहुत ही कठिन होते हुए भी करनी ही चाहिए । प्रबल पुरुषार्थ से साधनी ही चाहिए ।

**उच्च–नीच गोत्रकर्म का आधार–**

आठ कर्मों में एक गोत्र कर्म है । इसका कार्य है जीवों को ऊँचा–नीचा कुल देना । हल्के–नीचे कुल में ले जाकर,जन्म देना । या ऊँची कक्षा के ऊँचे कुल में जन्म देना । इस तरह गोत्र कर्म उच्च और नीच के दो विभाग में बंटा हुआ है । संसार में ऊँचा खानदान, ऊँचा वंश, ऊँचा कुल–गोत्र भी है । उसी तरह संसार के हल्के निम्न कक्षा के धेड, भंगी,

मेतर, चमार, चाण्डाल, कसाई आदि के नीचे कुल—नीचे वंश, हल्की खानदानी, अधम गोत्र भी है । जीव यहाँ पर जैसे कर्म उपार्जन करता है तदनुसार उच्च गोत्र में भी जाता है और नीच गोत्र में भी जाता है । जैसे कर्म वैसा कुल । उच्च गोत्र को अच्छा कहकर कर्मग्रन्थकार महर्षि ने उसकी गणना शुभ पुण्य प्रकृति में की है। जबकि ठीक इसके विपरीत अशुभ—पाप प्रकृति में नीच गोत्र की गणना की है ।

इन दोनों प्रकार के गोत्रों का बंध कैसी पाप प्रवृत्ति के आधार पर होता है उसका विचार करते हुए तत्त्वार्थ सूत्रकार सूत्र में फरमाते हैं कि— **"परात्मनिंदाप्रशंसासदसद् गुणाच्छादनोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य"** ६—२४ । परनिंदा करने से और स्वप्रशंसा करने से, तथा दूसरों के सद्गुणों की निंदा करने से, और अपने अवगुणों को ढांकने की प्रवृत्ति करने से जीव नीच गोत्र कर्म उपार्जन करते हैं । संसार में ४ प्रकार के जीव हैं—

१) अपने गुण देखते हैं और पराए दोष देखते हैं ।
२) अपने दोष देखते हैं और पराए गुण देखते हैं ।
३) अपने और पराए दोनों के दोष देखनेवाले ।
४) अपने और पराए दोनों के गुण देखनेवाले ।

इन ४ प्रकार के जीवों में अलग—अलग प्रकार की वृत्ति होती है । अब आप ये ढूँढिए कि इन ४ में कौन श्रेष्ठ, अच्छा—खराब है ? १) एक नंबर के जीव जो अपने गुण देखते हैं और दूसरों के सिर्फ दोष ही देखते रहें तो नीच गोत्र कर्म बांधते हैं । ये अधम कक्षा के जीव हैं । २) दूसरे नंबर के जीव जो अपने दोषों को देखते—कहते हैं और पर के गुणों को देखना—कहना—गुणस्तुति करनेवाले सर्वश्रेष्ठ प्रकार के ऊँचे भाग्यशाली हैं । ऐसे लोग उच्च गोत्र कर्म उपार्जन करते हैं । ३) तीसरे प्रकार के लोगों की दोनों पक्ष में एक मात्र दोषों को ही देखने की है । जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि वाले वे जीव हैं । उनकी नजर में दुनिया में कोई गुणवान ही नहीं है । सभी दोषों—दुर्गुणों से ही भरे हुए हैं ऐसा वे मानते हैं । ये अधम कक्षा के जीव हैं । हल्की मनोवृत्ति के हैं । सिर्फ थोडा अच्छा यह है कि दूसरों के साथ साथ अपने में भी दोष ही भरे हुए हैं ऐसा कहते हैं । ४) चौथे प्रकार के जीव ऐसे होते हैं कि . . . स्व और पर दोनों पक्षों में गुण—ही गुण देखते हैं । पर में गुण देखना तो बहुत अच्छा है परन्तु अपने पक्ष में भी गुण ही गुण देखता है । यदि गुण अपने में भरे पडे हों और वह देखता है तो तो कुछ अच्छा भी है लेकिन अपने में गुण न होते हुए भी यदि वह गुण कहता है । निरर्थक प्रशंसा करता है तो बहुत ज्यादा खराब है ।

**गुण दर्शन में सावधानी—**

अपने स्वयं के गुणों को देखने से अहंकार की मात्रा बढने की संभावना रहती है और जब दूसरों के गुण देखें तो ईर्ष्या—द्वेष—मत्सरभाव बढता है । दोनों तरफ से हमारी स्थिति खराब होती है । ऐसी परिस्थिति में क्या करना ? इसके लिए बडी सावधानी रखनी चाहिए । अपने आप में यदि कोई गुण पडे हैं और आप देखते हैं तो जरूर देखिए कोई मना नहीं है । सिर्फ इतना ही ध्यान रखें कि... आपको अभिमान न आ जाय । अहंकार में आप चढ जाएंगे तो न मालूम कहाँ से कहाँ तक पहुँच जाएंगे । पतन अहंकार में बहुत ही जल्दी होता है ।

बाहुबलीजी जैसे अभिमान में चले गए । १ वर्ष तक कायोत्सर्ग—ध्यान साधना में रहनेवाले महापुरुष अहंकार में इतने चढ गए कि केवलज्ञान की प्राप्ति भी रुक गई । आखिर बहनों की शिक्षा से जैसे ही उनको अहंकार भाव का ख्याल आया... कि तुरंत उतरे... और नम्रता गुण पर आरूढ हुए कि केवलज्ञान प्राप्त हो गया ।

संजीवनी लेने गए हुए पवनपुत्र हनुमानजी जब पूरा पहाड ही उठाकर लेकर आ रहे थे । तब उन्हें भी अपनी शक्ती का अभिमान हुआ... और अभिमानी कितने जल्दी गिरते हैं का अच्छा उदाहरण हनुमानजी का है — कि उन्हें तीर लगता है और नीचे पतन होता है । ऐसे परम रामभक्त की यह स्थिति हुई तो सामान्य मानव अभिमान से कैसे बचेगा ? यह प्रश्न विचारणीय है ।

परमात्मा महावीर प्रभु की आत्मा अपने तीसरे मरीचि के भव में थी तब... जब त्रिदंडी बनकर बैठे हैं ऐसे समय भगवान आदिनाथ प्रभु से भावि भविष्यवाणी सुनकर भरत चक्रवर्ती मरीचि के पास आए । वंदनादि करके उन्होंने... भविष्यवाणी सुनाते हुए कहा कि.... हे मरीचि । आप वासुदेव बनोगे, चक्रवर्ती बनोगे, और अन्त में जाकर इसी चौबीसी के अन्तिम चौबीसवें तीर्थंकर बनोगे । अपनी प्रशंसा—गुणस्तुति श्रवण कर मरीचि फूले नहीं समाए । संसार से विरक्त हुए महापुरुष में भी वह समता—नम्रता—निरहंकारिता नहीं आई और आखिर भारी अभिमान के वश हो गए । ऐसा और इतना भयंकर कक्षा का कुल मद किया कि जिससे पतन भी बडा भारी हुआ । वे गिरे... तीसरे भव के बाद लगातार एकान्तर ६ भव याचक कुल में लेने पडे... । कई बडे बडे आयुष्यवाले लम्बे भव करने पडे... इतना ही नहीं २४ जन्मों के बाद अन्तिम २७ वें भव में भी उस कर्म का विपाक उन्हें भुगतना ही पडा । नीच गोत्र में जाना पडा । देखिए भगवान महावीर की

आत्मा की भी ऐसी स्थिति हो गयी तो हमारे जैसे सामान्य मानवी की क्या शक्ती ? कि हम ऐसी गुणस्तुति गुणप्रशंसा के अवसर पर अपने आप को बचा सकेंगे। अतः स्वगुणस्तुति–प्रशंसा स्वयं करने में, तथा दूसरे भी करें तब बहुत ही ज्यादा सावधानी बरतनी चाहिए।

आज भी संसार में ९०% फीसदी लोग अपनी गुणस्तुति–प्रशंसा चाहते हैं। और पराए की निंदा करना चाहते हैं। यह कहाँ तक उचित है ? इसीलिए आज के संसार में आप देखेंगे कि... अधिकांश लोग नीच गोत्र में पैदा होते हैं। हल्के घराने में जन्म लेते हैं। अरे बंधुओं ! आप अपनी प्रशंसा भले ही चाहते हो, कोई आपत्ती नहीं है इसमें... लेकिन परगुण को क्यों नहीं सहन कर पाते हो ? जब सहन नहीं होता है तब उसकी प्रतिक्रिया के रूप में ईर्ष्या–द्वेष होता है। अतः निंदा ईर्ष्या, द्वेष और मत्सरवृत्ति में से जन्मती है। इससे बचना ही चाहिए। जिसे अपना संसार एवं भावि भव भ्रमण नहीं बढाना हो उसे इनसे अवश्य बचना ही चाहिए। बहुत सावधानी रखकर... आगे बढना चाहिए। 'प्रशमरति' में फरमा रहे हैं कि—

**आत्मोत्कर्षाच्च बध्यते कर्म निचैर्गोत्रम्।**
**प्रतिभवमनेक भव कोटिदुर्मोचम्॥**

आत्मप्रशंसा के कारण जीव ऐसा नीचगोत्र कर्म बांधते हैं कि— जो करोडों भवों में भी छूटना बडा मुश्किल होता है।

**गुणैर्यदि न पूर्णोऽसि, कृतमात्मप्रशंसया।**
**गुणैरेवासि पूर्णश्चेत्, कृतमात्मप्रशंसया॥**

ज्ञानसार में कहते हैं कि— यदि तुम सर्व गुणों से परिपूर्ण नहीं हो तो निरर्थक आत्मप्रशंसा क्यों करनी ? और यदि तुम सर्वगुणों से परिपूर्ण हो तो फिर आत्मप्रशंसा की कोई आवश्यकता ही नहीं है। स्वप्रशंसा में परतिरस्कार की वृत्ति अंतर्निहित है और परनिंदा की वृत्ति में स्वप्रशंसा का मोह भी छिपा हुआ रहता है, जो बडा खतरनाक है। फिर आप कर्म के शिकार हो जाओगे। इसलिए स्पष्ट कहते हैं कि—

**आलंबिता हिताय स्युः परैः स्वगुणरश्मयः।**
**अहो स्वयं गृहीतास्तु, पातयन्ति भवोदधौ॥**

सही बात है कि— दूसरों ने यदि आपकी गुणरूपी रस्सी पकडी है ? पकडने दो। अच्छा है। जैसे सूर्य की किरणें पकडकर गौतम स्वामीजी ऊपर चढ गए वैसे ही आपकी

गुणरूपी रश्मियों को रस्सी की तरह पकडकर दूसरे चढ सकते हैं परन्तु आप स्वयं अपने ही गुणों की रश्मिरूप रस्सी को पकड कर नहीं चढ सकते । दूसरों को आलंबन प्राप्त हो तैरने का, दूसरे भी आपका आलंबन पाकर अपना उद्धार कर सके इसके लिए भी आप गुण बढाइए । गुणानुराग, गुणानुवाद, गुणदर्शन ये अच्छे लाभप्रद सोपान है जिसका आलंबन लेकर संसार में अनेक आत्माएं तैर सकती हैं । तैरने के उपाय इस संसार में, अरे आजके भयंकर कलियुग में भी सर्वथा लुप्त नहीं हो गए हैं । अभी भी उपलब्ध हैं । सिर्फ आपको उन आलंबनों का आश्रय लेना आना चाहिए ।

**प्रमोदभावना—**

**"गुणाः पूजास्थानं गुणिषु, न च लिंगं, न च वयः ।"**

संसार में एक बात सही है कि... व्यक्ति के गुण ही पूज्य—पूजनीय होते हैं, और गुणों के कारण ही व्यक्ती पूजनीय बनती है । न तो अन्य हेतुओं से और न ही उम्र से व्यक्ती पूजा जाता है । मैत्री, प्रमोद, कारुण्य, माध्यस्थ इन चार भावनाओं में प्रमोद भावना दूसरों के गुणों को देखकर आनन्दित होने के लिए है । प्रमोद—आनन्द को कहते हैं । अनादि कालीन जीवों का स्वभाव ही ऐसा है कि उन्हें अपने ही गुणों की स्तुति—प्रशंसादि में आनन्द आता है । बस, इस अनादि कालीन स्वभाव को बदलकर अब परगुणों को देखते हुए दुगुना चौगुना आनन्द आना चाहिए । यह है प्रमोद भावना । इससे कई लाभ हैं ।

**प्रमोदमासाद्य गुणैः परेषां, येषां मतिर्मज्जति साम्यसिन्धौ ।**
**देदीप्यते तेषु मनः प्रसादो, गुणास्तथैते विशदीभवन्ति ॥**

अध्यात्मकल्पद्रुम में विनयविजयजी महाराज कहते हैं कि... दूसरों के गुणों को देखकर प्रमोद—आनन्द पाकर जिनकी बुद्धि समता सागर में मग्न बनती है उनमें मन की प्रसन्नता बहुत ही ज्यादा शोभती है । उस साधक में वे गुण बहुत अच्छी तरह एवं बहुत ही जल्दी विकसित होते हैं । वृद्धि पाते हैं । निर्मल बनते हैं । अतः प्रमोद भावना अत्यन्त उपकारी भावना है । ऐसी भावना करनेवाला साधक सदा ही महापुरुषों को ढूंढता रहता है । उनका सत्संग संत—समागम करने के लिए लालायित रहता है ।

**यावत् परगुणदोषपरिकीर्तने व्यापृतं मनो भवति ।**
**तावद्वरं विशुद्धे ध्याने व्यग्रं मनः कर्तुम् ॥**

प्रशमरति में साफ कहा है कि— जब तक यह मन पराए गुण—दोष गाने में व्यग्र रहता है तब तक इस मन को विशुद्ध ध्यान में जोडना चाहिए । नहीं तो यह मन... दोषों को गाकर भारी कर्म उपार्जन करता जाएगा ।

**गुणों का आश्रयस्थान— आत्मा—**
**दोषों का आश्रयस्थान— कर्म—**

याद रखिए, समस्त गुणों का आधारभूत आश्रयस्थान एकमात्र चेतनात्मा ही है। आत्मा को छोडकर गुण अन्यत्र कहीं रहते ही नहीं हैं। और आत्मा संसारी अवस्था में कर्माधीन स्थिति में इस शरीर में रहती है। अतः व्यवहार से देहधारी व्यक्तिविशेष ही गुणवान गुणी कहलाता है। अतः गुणों को देखने—लेने के लिए गुणी व्यक्ती के पास ही जाना पडता है। जैसे सुगंध लेने के लिए फूलों के पास ही जाना पडता है। सुगंध भी लेनी है और फूलों से द्वेष भी करना है, दुर्भाव भी करना है यह दोनों तो कैसे संभव हो सकता है ? ठीक वैसे ही गुण गुणी व्यक्ती में ही रहते हैं। गुण लेने भी हैं और गुणवान व्यक्ती से द्वेष—दुर्भाव करना है ये दोनों एक साथ तो कैसे संभव हो सकता है ? यदि संसार में गुणी—गुणवान व्यक्ती ही नहीं होते तो गुणों का भी अस्तित्व नहीं होता। अतः दोनों अभेद भाव से रहते हैं।

आध्यात्मिक गुणों का आश्रयस्थान चेतनात्मा ही है। अनन्त गुणों का भण्डार है। खजाना है। और इन पर जब कर्म का आवरण बडा भारी आ जाता है तब गुण ढक जाते हैं और कर्मजन्य दोष ज्यादा प्रगट हो जाते हैं। यहाँ दोनों का भेद देखेंगे—

**आत्मा के गुण—** **कर्मजन्य दोष— मोहनीय कर्म जन्य**

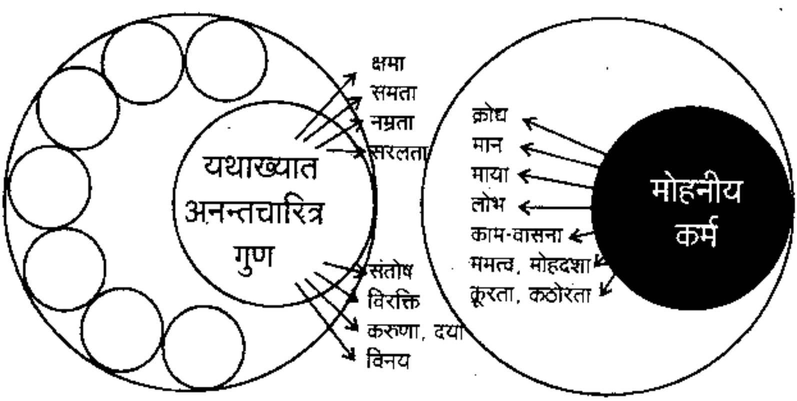

चेतनात्मा कर्म रहित शुद्धावस्था में तब उसमें अनन्त गुण रहते हैं । तीनों काल के इस संसार में ऐसा एक भी गुण नहीं है जो शुद्धात्मा — मुक्तात्मा — सिद्धात्मा में न हो । क्षमा, समता, नम्रता—विनयगुण, सरलता, संतोष, विरक्तता, करुणा, दया विवेकगुण निष्काम, काम वासना रहित शुद्ध ब्रह्मचर्य आदि अनेक आत्मा में हैं । आत्मा के मुख्य स्वरूप दर्शक ज्ञान — दर्शन — चारित्रादि जो ८ गुण हैं, उनमें यथाख्यात स्वरूप या अनन्त चारित्र इस एक ही गुण के अन्तर्गत ये सब क्षमा — समतादि गुण आते हैं । एक गुण में ही सबका समावेश होता है । ज्ञान — दर्शनादि तो अतिरिक्त हैं । जितने प्रमाण में कर्मों का क्षय — क्षयोपशम हुआ होगा उतने प्रमाण में गुण प्रकट होते हैं । गुणों के आधार पर उन गुणों को धारण करनेवाला वैसा गुणी — गुणवान बनेगा । तथा गुणवान में सारी क्रिया तथा व्यवहार उन गुणों के आधार पर होगा । इसलिए आचार—विचार गुणवान के अच्छे होंगे । वह क्षमा रखेगा । समता रखेगा । किसी के क्रोध के आगे क्रोध न करते हुए क्षमा—समता से काम लेगा । नम्रता—विनय गुण के आधारपर वह नम्र—विनयी बनेगा । उसकी बोलचाल भाषा मीठी, मधुर विवेकी, सरल—आदरार्थी होगी । सारा व्यवहार बडा ही नम्र रहेगा ।

आत्मा के यथाख्यात स्वरूप अनन्त चारित्र गुण पर सेकडों पाप प्रवृत्तियों के कारण लगे हुए भारी कर्मों का आवरण आ जाता है । जैसे शुद्ध सफेद कपडे पर दाग लग जाता है वैसे ही आत्मा पर कर्म का स्तर बन जाता है । जैसे बादलों से सूर्य ढकने के कारण प्रकाश नहीं फैलता है, और अंधेरा जैसा वातावरण बनता है ठीक वैसे ही पौद्गलिक कर्मों के कारण बने हुए स्तर के आवरण से आत्मा के गुण ढक जाते हैं और दोष प्रगट होते हैं । अब कर्माधीन जीव सर्वत्र जहाँ भी जाएगा वहाँ दोषों से व्यवहार करेगा । आत्मा का एक गुण यथाख्यात स्वरूप (अनन्त चारित्र) कर्मों के आवरण से जब ढक जाता है तब उस पर आच्छादित कर्म मोहनीय कर्म के नाम से पहचाना जाता है । उस मोहनीय कर्म के प्रबल—तीव्र उदय में आत्मा के गुण क्षमा—समतादि दब—ढक जाते हैं । और जीव क्रोधी, मानी, मायावी, लोभी, रागी, द्वेषी, कामी, क्रूर, कठोर, निर्दयी, मूढ, निष्ठूर, कषायी, निंदक, ईर्ष्यालु, मत्सरी, हिंसक, ठग, असहिष्णु आदि अनेक दुर्गुणवाला—दोषयुक्त जीव बनता है । अब वैसा कर्माधीन बनने के कारण व्यवहार — प्रवृत्ति आदि सब उन दोषों के आधार पर ही चलेगा । अब वह दोषों के विकास के आधार पर क्रोध करेगा, अभिमान—अहंकार करेगा,

किसी के साथ छल—कपट—माया न करते हुए वह सरलता का व्यवहार करेगा । निर्लोभ भाव से वह संतोष व्यक्त करेगा । कषाय वृत्ति नहीं रखेगा । अतः किसी के साथ कलह नहीं करेगा । परनिंदा की कभी भी इच्छा ही नहीं करेगा । अतः ईर्ष्या—द्वेष नहीं बढने देगा । जिससे गुणों को देखने कहने के प्रति अनुराग बढाएगा । द्वेष बढने ही नहीं देगा । अतः वैर—वैमनस्य खडे ही नहीं करेगा । सबके साथ मैत्री भाव रखेगा । सहिष्णु बनेगा ।

माया—कपट करेगा । लोभ दशा बडी भारी बढेगी । काम वासना का कीडा बनकर . . . दुराचारी—व्यभिचारी बनकर वैसी प्रवृत्ति करेगा । निंदक बनकर अनेकों की निंदा करेगा । द्वेषी बनकर किसी के प्रति वैर—वैमनस्य दुश्मनी बढाएगा । ईर्ष्यालु—मत्सरी बनकर किसी के उत्कर्ष को सहन ही नहीं कर पाएगा । इस प्रकार सेंकडों दोषों के आधार पर वह दोषी—दुष्ट बन जाएगा ।

इस तरह गुणात्मक जगत् कैसा होता है और दोषात्मक जगत् कैसा होता है दोनों का स्वरूप अच्छी तरह गुण—दोष समझने पर ख्याल आ जाएगा । गुणवान पुरुषों का आचरण—क्रिया—व्यवहारादि सब कैसे होते हैं यह उपरोक्त वर्णन पढने से ख्याल आता है । और दोषी—दुर्गुणी जीवों का व्यवहार संसार कैसा होता है ? उनका आचार—विचार व्यवहार कैसा होता है ? इससे भरा हुआ उनका जीवन कैसा होता होगा ? उनकी वृत्ति—मनोवृत्ति कैसी होती होगी सबका ख्याल स्पष्ट आएगा ।

### गुण कहाँ से आते हैं ?—

जैसे कुंएं में से पानी आता है ठीक वैसे गुण कहाँ से आते हैं ? इसके उत्तर में कहते हैं कि गुण आत्मा में से ही आते हैं । सुवर्ण—हीरा—रत्नादि जैसे खान में से निकलते हैं वैसे गुणों की खान आत्मा है । अतः दया—करुणा—क्षमा—समतादि सभी आत्मा की खान में से ही निकलते हैं । यदि आत्म तत्त्व न मानें और एक मात्र शरीर को ही मानें तो सभी क्षमा—समतादि गुणों के उद्गम का मूल स्रोत भी शरीर को ही मानना पडेगा । मृत शरीर की अवस्था में शरीर पडा ही है । क्या वहाँ क्षमा, समता, दया, करुणा कभी देखी है ? उसका व्यवहार भी कभी हुआ है ? कभी नहीं । संभव भी नहीं । अतः निश्चित ही क्षमा, समता, दया, करुणादि गुणों का आश्रय स्थान—उद्गम का मूल स्रोत एक मात्र चेतनात्मा ही है । वहीं से प्रकट होकर बाहर के व्यवहार में आते हैं ।

शायद आप प्रश्न करेंगे कि सभी शरीर में आत्मा है तो फिर सभी में समानरूप से क्षमा, समता, करुणादि गुण एक समान क्यों नहीं प्रकट रहते हैं ? इसका उत्तर स्पष्ट ही है कि... प्रत्येक आत्मा के द्वारा उपार्जित कर्मों का आवरण भिन्न है । उन कर्मों के आवरण का आत्मा पर स्तर बन गया है । वह कम ज्यादा है । वहाँ से जितना क्षयोपशम जिस जीव का है उतना ही गुण प्रकट होता है । शेष सब कर्मावरण से आवृत्त रहता है । जैसे राहुग्रस्त चन्द्र का जितना अंश प्रकट होता है । उतना ही दृष्टिगोचर होता है । शेष आवृत्त रहता है । ठीक वैसे ही आत्मा गुणादि कर्मों से आच्छादित रहते हैं । इसलिए गुण बाहर से नहीं आते हैं । वे अन्दर—अन्तरात्मा के मूल उद्गम—स्रोत से ही प्रकट होते हैं ।

**निर्जरा धर्म से गुणों का प्रादुर्भाव—**

धर्म के क्षेत्र में ३—४ प्रकार हैं, जिन रास्तों से धर्म होता है ।

१) पुण्यात्मक धर्म जिसे शुभाश्रव कहते हैं । इसमें नए—नए पुण्यात्मक कार्य किये जाते हैं । परोपकार आदि के शुभ कार्य करके जीव नया पुण्य उपार्जन करता रहता है । जिसके कालान्तर—भवान्तर में उदय होने से सुख, संपत्ति आदि सब कुछ प्राप्त होता रहता है । लेकिन इस पुण्य के उदय से आत्मा में क्षमा—समतादि आ ही जाएंगे ऐसा नहीं है । पुण्य का काम है सुख—संपत्ति साधन—सामग्री जो सानुकूल हो उसकी प्राप्ति कराता है । देता है । लेकिन अन्दर के क्रोधादि के जो कर्म पडे हुए हैं उनको पुण्य हाथ भी नहीं लगाता है । पुण्य का कार्यक्षेत्र अलग है ।

२) दूसरा प्रकार संवर धर्म का है । **"आश्रवनिरोधो संवरः"**। आश्रव द्वार से—आश्रव के रास्ते जो जो कर्म आत्मा में आते हैं उनको आते हुए रोकना यह संवरात्मक धर्म है । जैसे हम सामायिक—पौषध का विरतिप्रधान धर्म करते हैं उस समय हम पच्चक्खाण लेकर बैठते हैं । अतः कोई कर्म आत्मा में आने से रुक जाता है । संवर नए लगनेवाले कर्मों को रोकता है ।

३) तीसरा है निर्जरा प्रधान धर्म । **"निर्जरणं निर्जरा।"** जैसे बुढापे में शरीर की चमडी जर्जरित होकर गिरने लगती है वैसे ही जो पुराने कर्म कई वर्षों—जन्मों से, लम्बे काल से आत्मा पर लगे हुए उन कर्मों को जर्जरित करके—क्षीण करके आत्मा से अलग करना दूर करना इस प्रक्रिया का नाम है— "निर्जरा" । भगवान ने निर्जरा को श्रेष्ठ धर्म बताया है । आत्मा पर लगे हुए पुराने कर्मों की निर्जरा होती है—अर्थात् वे क्षय होते हैं । खलास हो जाते हैं । बस इसीका नाम निर्जरा है । उपवास—आयंबिलादि तपधर्म को

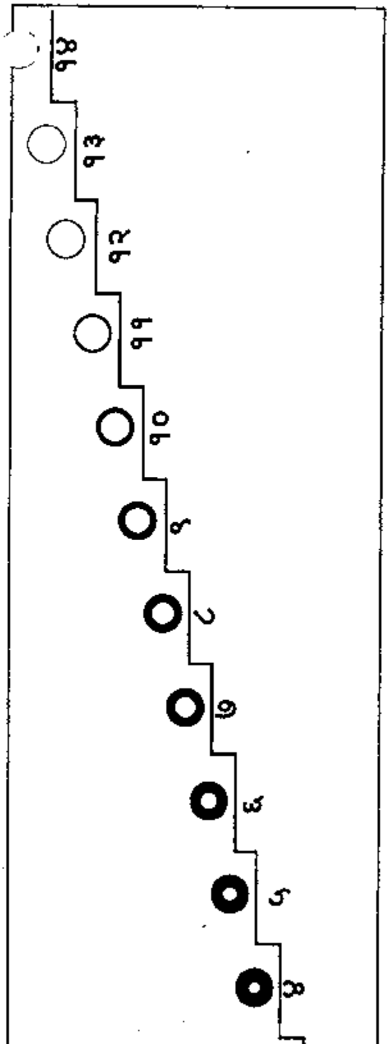


परमात्मा ने निर्जरा कारक बताया है। इसी तरह आभ्यन्तर तप में—प्रायश्चित्त, विनय, सेवा, भक्ती, स्वाध्याय, ध्यान, कायोत्सर्गादि भी आत्मा के कर्मों की निर्जरा कराते हैं। अतः यह निर्जरा धर्म आत्मा पर से कर्मों के आवरण को दूर करते हैं। हटाते हैं।

४) मोक्षलक्षी धर्म— मोक्ष के अनुरूप जो धर्म किया जाता है उसे मोक्षलक्षी धर्म कहा जाता है। हाँ, यह भी निर्जराकारक ही है। इसमें और निर्जरा में विशेष कोई अन्तर नहीं है। निर्जरा के क्षेत्र में कर्म उदय में आकर क्षय हो जाते हैं लेकिन पुनः नए बंध से अभी वह बच नहीं रहे हैं। फिर नए कर्मों का बंध होता है, फिर कालान्तर में निर्जरा करता है। लेकिन मोक्ष लक्षी आत्मा का लक्ष सबसे श्रेष्ठ कक्षा का होता है। वह पुनः बंध न हो इसके लिए सजग—सावधान रहता है। जिससे निर्जरा करते—करते मोक्ष मार्ग पर आगे बढ सके। जिससे क्रमशः मोक्ष के नजदीक पहुँचा जा सके।

**गुणों के १४ स्थान—**

जैसे जैसे आत्मा अपने कर्मों को क्षय करता जाता है निर्जरा करने से आत्मा के गुणों को प्रकट करते—करते आगे बढता जाता है। आगे बढने की प्रक्रिया में उसके कर्मों की मलिनता जैसे जैसे कम होती जाती है वैसे वैसे स्वगुणों को बढाती बढाती आत्मा मोक्षमार्ग पर अग्रसर होती रहती है। जैसे हम

रसोईघर के मलीन कपडे को रोज धोते ही जाएं तो क्रमशः थोडा–थोडा मैल उतरता जाएगा और शुद्ध होता ही जाएगा । ठीक वैसे ही आत्मा भी अपने कर्मों की मलिनता के कर्मों को दूर करती जाय वैसे वैसे गुणों को बढाती हुई आत्मा आगे बढती जाती है । जितने प्रमाण में जीव कर्मों के आवरण को हटाता जाएगा उतने ही प्रमाण में आत्मा के गुणों को विकसित करता जाएगा । गुणों को बढाता जाएगा । और जैसे जैसे गुण बढते ही जाएंगे वैसे वैसे आत्मा आगे–आगे बढती ही जाती है । मोक्ष मार्ग पर अग्रसर होती ही जाती है । यही उसकी प्रगति है । आध्यात्मिक विकास है । हम मोक्ष की तरफ जितने आगे बढते जाएं, जितने मोक्ष के नजदीक पहुँचते जाएं, जितने ऊपर चढते जाएं उतना ही हमारा विकास होता जाता है ।

**उत्क्रान्तिवाद एवं आध्यात्मिक विकासवाद–**

डार्विन ने जो उत्क्रान्तिवाद बताया है वह भूतभौतिक है । विज्ञान भौतिक–जड पदार्थों पर आधारित है । जबकि धर्म आत्मा पर आधारित है । इसलिए विज्ञान के क्षेत्र में भौतिक विकास को स्थान दिया गया है । जबकि धर्म के क्षेत्र में जो विकास है आध्यात्मिक विकास कहा जाता है । डार्विन जैसे व्यक्ती ने बिना समझे ही उत्क्रान्तिवाद की बातें कह दी और मनुष्य को बंदरो से विकसित अवस्थावाला बता दिया । यहाँ किन सेलों–तन्तुओं का विकास हुआ ? कैसे हुआ ? कुछ भी स्पष्ट नहीं है । चेतना शक्ती आत्मा को सर्वथा न माननेवाले न जाननेवाले डार्विन को क्या पता चले कि विकास क्या होता है ? और कैसे होता है ? क्या डार्विन का सिद्धान्त जगत् को लागू हुआ कि नहीं ? संसार के सर्व पदार्थों पर सिद्धान्त सर्वथा सही रूप में बैठता ही नहीं है ।

सिद्धान्त उसे कहते हैं जो त्रैकालिक सत्य हो । तीनों काल में सत्यता वास्तविकता सिद्ध हो उसे सिद्धान्त कहते हैं । अतः जो कभी भी बदलता नहीं है उसे सिद्धान्त कहते हैं । सिद्धान्त सर्वथा अपरिवर्तनशील होता है । जो बदलता है उसे सिद्धान्त नहीं कहा जाता है और जो सिद्धान्त होता है वह कभी भी बदलता नहीं है । विज्ञान के घर में सिद्धान्त आज कुछ है और कल बदलकर कुछ और ही हो जाते हैं । इस तरह कई सिद्धान्त बदलते ही रहते हैं । जबकि धर्म के क्षेत्र में सिद्धान्त का आधार सर्वज्ञ केवलज्ञानी पर आधारित है । इसलिए सिद्धान्त त्रैकालिक–शाश्वत होते हैं । कभी भी बदलते नहीं हैं । धर्म के सिद्धान्त अपरिवर्तनशील हैं और विज्ञान के सिद्धान्त सर्वथा परिवर्तनशील सिद्ध हो चुके हैं । ऐसी परिवर्तनशीलता–बदलते स्वरूप में ज्ञान की स्थिर विचारधारा कभी भी नहीं

आ सकती है। सर्वज्ञ शासन में ज्ञान के क्षेत्र की प्रत्येक बात चरम सत्य के आकाश को छूती है और ध्रुव की तरह स्थिर रहती है।

डार्विन के विचारों पर विदेशों की धरती पर वही एकवाक्यता नहीं है। डार्विन के विचारों का खण्डन काफी ज्यादा हुआ है। डार्विन के विचारों को सर्वथा गलत ठहराया गया है। उसके विचारों से संसार की व्यवस्था में कहीं किसी भी प्रकार की सुसंगतता नहीं बैठती है। मात्र बन्दर का ही विकास हुआ और बन्दर में से मनुष्य हो गया... तथा जगत के अन्य अनेक प्राणी हैं, उनका विकास हुआ कि नहीं हुआ? यदि इनमें भी विकास हुआ है तो उसके विकसित स्वरूप में आगे क्या और कैसा स्वरूप सामने आया? कोई उत्तर नहीं है। क्या जिस दिन धरती पर बन्दर थे उस दिन इन्सान नहीं था? क्या डार्विन हाँ कह सकता है? यदि हाँ कहे तो उस दिन का वह मनुष्य किसका विकसित रूप था? और आज भी दोनों ही हैं। यदि विकासवाद का सिद्धान्त सच्चा होता तो सभी को समानरूप से लागू होना चाहिए था। एक को लागू हो और किसी को लागू न हो वह सिद्धान्त नहीं कहलाता है। या जिस क्षेत्र का, जिस विषय में सिद्धान्त बना है उसमें तो पूरा घटना चाहिए। यदि नहीं घटता है तो उसे सिद्धान्त कहना उचित ही नहीं है।

**कर्माधारित विकास–विनाश–**

आत्मा है तो कर्म है और कर्म है तो संसार में आत्मा है। क्योंकि कर्म किसको लगते हैं? आत्मा को ही लगते हैं। आत्मा के सिवाय अतिरिक्त अन्य किसी भी पदार्थ पर कर्म लगते ही नहीं हैं। क्योंकि पाप–पुण्य की शुभ–अशुभ प्रवृत्ति करनेवाला एकमात्र द्रव्य चेतनात्मा ही हैं। अतः जो हेतुपूर्वक क्रिया की जाय इसे ही कर्म कहते हैं। कर्म का करनेवाला एकमात्र आत्मा ही है। आत्मा चेतन है। कर्म जड पौद्गलिक है। अतः किसी अन्य जड पुद्गल पदार्थ पर तो कर्म लग ही नहीं सकते हैं। जब जब कर्मों का प्रमाण आत्मा पर काफी ज्यादा बढ जाता है तब तब विनाश ही होता है। आत्मा का ही पतन होता है। और जब जब कर्मों का प्रमाण निर्जरा से घटते–घटते जितना ज्यादा घटता जाता है उतने ही ज्यादा प्रमाण में आत्मा के गुणों का विकास होता है। अतः इसे आध्यात्मिक विकास–उत्क्रान्ति–उन्नति कहते हैं। चेतनात्मा आगे–आगे बढती हुई ऊपर–ऊपर उठती हुई विकास साधती साधती आगे की अवस्था–पद–गुणादि प्राप्त करती ही जाती है। सर्वज्ञ भगवंतों ने ऐसे १४ गुणस्थान निर्धारित किये हैं।

१४ गुणस्थान स्वरूप—

सर्वज्ञ शासनरूप जैन धर्म में सर्वज्ञ भगवन्तों ने गुणों के स्थानस्वरूप १४ सोपान बताए हैं। जिन पर उतरोत्तर विकास साधती हुई आत्मा आगे आगे ऊपर–ऊपर बढती ही जाय ऐसी १४ सोपानों की सीढी दर्शायी गई है। इसका नाम १४ गुणस्थान दर्शाया गया है। सर्वज्ञ भगवन्तों ने आत्मा की कर्मक्षय से जन्य ऐसी विकसित अवस्था को १४ गुणस्थानों पर अग्रसर की है। ऐसे १४ गुणस्थानों के नाम दूसरे कर्मग्रन्थ में इस प्रकार दर्शाए हैं—

**मिच्छे सासण मीसे, अविरय देसे पमत्त अपमत्ते।**
**निअट्टि–अनिअट्टि–सुहुमुवसम, खीण–सजोगि–अजोगि गुणा॥**

| | |
|---|---|
| १) मिथ्यात्व गुणस्थान | ८) निवृत्ति अपूर्वकरण गुणस्थान |
| २) सास्वादन गुणस्थान | ९) अनिवृत्ति—बादर संपराय गुणस्थान |
| ३) मिश्र गुणस्थान | १०) सूक्ष्म संपराय गुणस्थान |
| ४) अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान | ११) उपशान्तमोह गुणस्थान |
| ५) देशविरति गुणस्थान | १२) क्षीणमोह गुणस्थान |
| ६) प्रमत्त संयत गुणस्थान | १३) सयोगी केवली गुणस्थान |
| ७) अप्रमत्त गुणस्थान | १४) अयोगी केवली गुणस्थान |

इस प्रकार के १४ गुणस्थानों का निर्देश सर्वज्ञ भगवंतों ने किया है। इन नामों में . .. आत्मा पर लगे कर्मों के आवरण पर आधारित नामकरण है। और आत्मगुण प्रकटीकरण की अवस्था के सूचक नाम भी विशेष रूप में हैं। इन पर क्रमशः चढनेवाला मोक्षार्थी–मुमुक्षु–विशेष जीव क्रमशः कर्मक्षय करते करते विकास की यात्रा करते हुए आगे बढता है।

यही हमारे जीवन का लक्ष्य बनना चाहिए।

प्रस्तुत पुस्तक का मुख्य केन्द्रीभूत विषय यही है— १४ गुणस्थान स्वरूप। जो आत्माएं विकास साधते हुए आगे बढती ही जाती है। आज दिन तक के अनन्त संसार में जितनी अनन्त आत्माएं मोक्ष में गई हैं वे सब इसी विकास की सीढीस्वरूप १४ गुणस्थानों के ही सोपानों पर चढकर ही मोक्ष में गई हैं। चाहे भगवान महावीर स्वामी हो या चाहे आदिनाथ भगवान हो या कोई भी तीर्थंकर भगवान हो . . . या कोई भी गणधर भगवान हो, या कोई भी एवं कितने भी आचार्य उपाध्याय तथा साधु—भगवंत हों, या कितनी भी साध्वियाँ क्यों न हो वे सभी अनन्त ही अनन्त काल से जितने भी मोक्ष में गए हैं वे सब

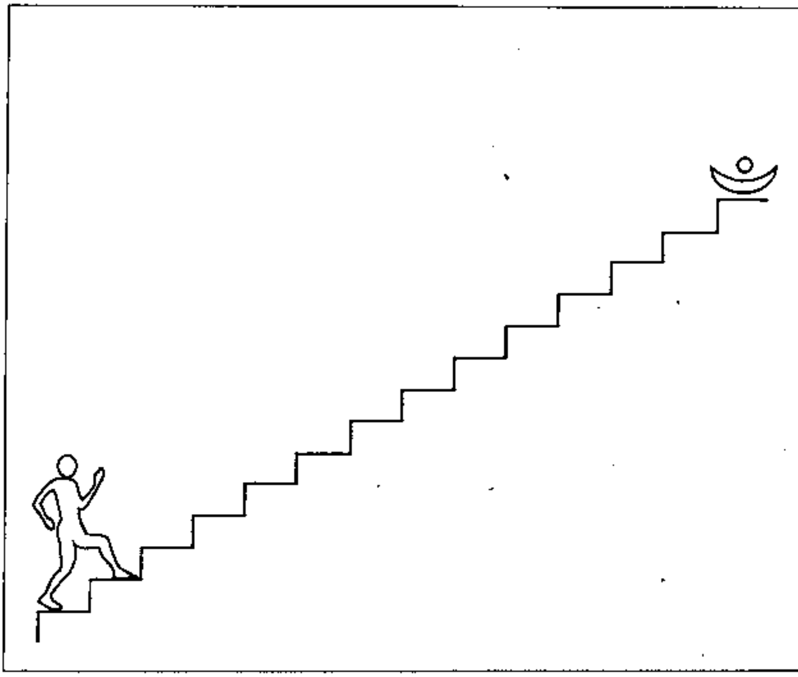

इसी १४ गुणस्थानों की सीढी के सोपानों पर क्रमशः चढते चढते ही मोक्ष में गए हैं । यही आत्मा की विकास यात्रा है । जाना हो तो इसी आध्यात्मिक विकास यात्रा स्वरूप १४ गुणस्थानों का स्वरूप पढना—समझना होगा और इसी पर चलना भी होगा । अतः प्रस्तुत पुस्तक १४ गुणस्थान के विषय को लेकर ही लिखी जा रही है ।

॥ सर्वेषां कल्याणं भवतु ॥

## अध्याय ७

# "मिथ्यात्व" — प्रथम गुणस्थान

परम आदरणीय... परम दर्शनीय... परम वंदनीय... परम पूजनीय... परमपिता परमात्मा... देवाधिदेव शासनाधिपति श्री वर्धमानस्वामी के चरणारविन्द में अनन्तानन्त वन्दना करते हुए....

### गुण दोषों की मिश्रीभाव स्थिति—

आत्मा इस संसार में एक द्रव्य है जो कि संसारी अवस्था में गुणयुक्त भी है और दोषयुक्त भी है । संसारी जीव कर्माधीन है । कर्मग्रस्त है । कर्म के कारण ही संसार है और संसार के कारण कर्म है । चेतनात्मा स्व—द्रव्य की अपेक्षा निश्चित ही गुणवान् है । गुणरहित द्रव्य का अस्तित्व ही नहीं है तो फिर एक भी जीव चाहे वह कहीं भी हो कैसा भी हो निश्चित रूप से उसकी गुणात्मक स्थिति है ही । द्रव्य कभी भी गुण के बिना रहता ही नहीं है और गुण कभी भी द्रव्य के बिना रहते ही नहीं हैं । इस नियम के आधार पर यदि कोई जीव है तो निश्चित ही वह गुणवान है ही । गुण सत्ता में ही पडे हुए हैं । अतः अस्तित्व की... सत्ता की दृष्टि से जीव जीवगत गुणवान है ही । परन्तु संसारी अवस्था में कर्मों से गुण ढके हुए दबे हुए रहते हैं ।

हम जब भी कर्म करते हैं तब दूसरों को नुकसान नहीं होता है, बांधनेवाले को भी भविष्य में दुःख या सुखादि जब मिलेगा तब की बात तब है लेकिन वर्तमान में वह जीव ... सबसे पहले भारी कर्म उपार्जन करके अपने गुणों को तो ढक ही देता है । कर्म अपने गुणों को आच्छादित कर देता है । गुण ढक जाने के बाद दोषों का स्वरूप प्रकट होता है । उसके बाद जीव वैसी दोषयुक्त ही प्रवृत्ति करेंगे । उसकी क्रिया प्रवृत्ति अब सब कर्मजनित होगी । गुणजनित नहीं हो सकेगी । क्योंकि गुण कर्मों से दबे हुए हैं । ऊपर तो कर्म ही है । और कर्म सब अशुभ हैं । कोई कर्म ऐसे नहीं हैं कि जो आत्मा के गुणों को सीधा प्रकट करता हो । कर्म आत्मा का अरि = शत्रु है । इसलिए वह गुणनाशक—गुणघातक है । तभी तो शत्रुभाव रखता है । कर्मों के कारण फिर वैसी विपरीत प्रवृत्ति ही होती रहेगी ।

फिर आत्मा वैसे कर्म उपार्जन करती है फिर कर्म के बंधन में लिपटती है। फिर कर्म के उदय से वैसी प्रवृत्ति और फिर वैसे कर्मों का बंध। इस तरह संसार में यह विषचक्र चलता ही रहता है।

इस तरह आत्मा गुण युक्त होते हुए भी कर्म दोषयुक्त है। और कर्म दोषयुक्त होते हुए भी गुणवान है। जिस तरह एक ही सिक्के की दोनों बाजू हैं वैसे ही आत्मा भी गुण–दोष दोनों से ग्रस्त है। संसारी अवस्था में अनन्तकाल में एक दिन भी चेतनात्मा ऐसी नहीं रही जबकि... वह कर्मरहित रही हो। कर्मरहित यदि आत्मा होती तो उसी दिन मोक्ष कहा जाता। क्योंकि एक मात्र मोक्ष ही ऐसा स्थान है जहाँ आत्मा कर्मरहित होती है। इसलिए कर्मरहितपना और मुक्ती दोनों एक साथ ही रहते हैं। या ऐसे कहिए कि कर्मरहित अवस्था का नाम ही मोक्ष है और मोक्ष का नाम ही आत्मा की कर्मरहित अवस्था है।

इस सिद्धान्त के आधार पर... यह स्पष्ट होता हैं कि... संसार में आत्मा कभी भी कर्मरहित रही ही नहीं है। जैसे सोना जब भी खान में था तब मिट्टी पत्थर आदि के साथ ही था। वैसे ही आत्मा जब से संसार में है तब से कर्म सहित–युक्त ही है। इसीलिए कर्मग्रस्त आत्मा संसारी कहलाती है और सर्वथा कर्मरहित आत्मा मुक्त–सिद्ध कहलाती है।

**गुणस्थानों की सीढी–**

जब से आत्मा गुणयुक्त है तब से आत्मा कर्मजनित दोषयुक्त भी है ही। संसारी अवस्था में ऐसा मिश्र स्वरूप है। अब इस आत्मा को समझना चाहिए कि... गुणों को और ज्यादा प्रकट करना और कर्म दोषों को कम करना यही धर्म–कर्तव्य समझकर पुरुषार्थ करना चाहिए। ऐसी समझपूर्वक–ज्ञानजागृतिपूर्वक पुरुषार्थ करेंगे तो ही परिणाम आएगा। कार्यसिद्धि होगी। ऐसे गुणों को प्रकट करने के लिए तथा कर्मदोषों को सर्वथा नष्ट करने के लिए महापुरुषों ने गुणों का स्वरूप दर्शाया है। इसको क्रमशः सुव्यवस्थित करके १४ गुणस्थानकों की व्यवस्था दर्शायी है। इन १४ गुणों के स्थानों का स्थान एक पर एक–एक के बाद एक इस तरह आगे बढती हुई विकास साधती हुई दिशा को दर्शाते हुए एक सीढि जैसी व्यवस्था की है। इस सीढी में १४ सोपान चौदह गुणों के दर्शाए हैं। जो आत्मा के विकास की अवस्था को सूचित करती है।

गुण आत्मा का खजाना है। आत्मा को अपने स्व—गुणों में ही मस्त रहना चाहिए ... तल्लीन रहना चाहिए ... यही उसका घर है। जैसे शादीशुदा स्त्री के लिए ससुराल ही स्वगृह है। और अविवाहित कन्या के लिए पिता—गृह ही स्वगृह है। इसी तरह चेतनात्मा के लिए अपने ज्ञानादि गुण ही अपना घर है। अतः अपने गुणों के घर में ही तल्लीन—मस्त रहना चाहिए। स्वगृह छोडकर कर्म की प्रवृत्ति में जाना अर्थात् शत्रुघर में प्रवेश करने जैसा है। परमात्मा अपने उपदेश में स्पष्ट कहते हैं कि—

**अप्पाणमेव जुज्झाहु, किं ते जुज्झेण बज्झओ।**
**अप्पाणमेव अप्पाणं, जइत्ता सुहमेहए॥ आ.**

हे आत्मन्! तू आत्मा के साथ ही युद्ध कर, बाह्य शत्रुओं के साथ निरर्थक क्यों लडता है? आत्मा के द्वारा ही आत्मा को जीतने में सच्चा सुख मिलता है।

**एगोऽहं नत्थि मे कोई, नाहमन्नस्स कस्सई।**
**एवमदीण मणुसो अप्पाणमणुसासई॥**
**एगो मे सासओ अप्पा, नाण—दंसण संजुओ।**
**सेसा मे बाहिरा भावा, सव्वे संजोग लक्खणा॥**

मैं अकेला ही हूँ। मेरा कोई नहीं है। और न ही मैं किसीका हूँ। इस तरह दीनतारहित मन से आत्मा का अनुशासन करना चाहिए। एक मात्र आत्मा शाश्वत तत्त्व है। शरीर नहीं। और यह आत्मा ज्ञान—दर्शनादि गुणों से परिपूर्ण है। शेष सभी बाह्य भाव हैं। बाहरी हैं। और जो बाहरी हैं वे सब संयोग निमित्त जन्य हैं। इसलिए मुझे तो मेरे आत्मगुणों में ही तल्लीन रहना चाहिए।

### हेय + ज्ञेय + उपादेय = विवेक

हेय अर्थात् त्याज्य, छोडने जैसा। ज्ञेय अर्थात् जानने जैसा। और उपादेय अर्थात् आचरण करने जैसा। इन तीनों के मिलने से विवेक बनता है। विवेक धर्म है जिसकी अनिवार्य आवश्यकता है। विवेकहीन मनुष्य पशुतुल्य कहलाता है। और विवेकी मनुष्य समझदार ज्ञानीतुल्य कहलाता है। गुण—दोष में विवेक आवश्यक है। गुण सदा ही ज्ञेय—उपादेय रहते हैं। जबकि दोष सदा ही त्याज्य—हेय रहते हैं। बस, किसी भी प्रवृत्ति को करने के पहले यदि मनुष्य इन तीनों का विचार करके प्रवृत्ति करे तो कभी भी उसकी प्रवृत्ति विपरीत नहीं हो सकती। यह मनुष्य विवेकी समझदार कहलाएगा। चाहे धर्मक्षेत्र

की प्रवृत्ति हो या चाहे संसार के व्यवहार की प्रवृत्ति हो दोनों क्षेत्रों में विवेकपूर्वक ही प्रवृत्ति करनी हितावह है । प्रत्येक पदार्थ—वस्तु या व्यक्ती—या प्रवृत्ति जब जो भी सामने आए तब सबसे पहले इन विवेक के तीनों पदों में से पहले हेय—त्याज्य का विचार करो । क्या यह त्याज्य है या नहीं ? यदि अंतरात्मा साक्षी देती है कि त्याज्य है—हेय है, तो उसी क्षण उसका त्याग कर देना चाहिए । अब आत्मा के लिए अहितकर वस्तु का त्याग हो जाने के बाद जो ज्ञेय पदार्थ है उन्हें जानना चाहिए । और अन्त में जो उपादेय है उसका आचरण सही करना चाहिए ।

यदि हेय को उपादेय मानकर आचरण करते हैं तो सर्वथा विपरीत होता है और उपादेय को हेय मानकर अज्ञानवश छोड दें तो भी सर्वथा विपरीत होगा । जो आत्मा के लिए श्रेयस्कर मार्ग है उसको कभी भी छोडना नहीं चाहिए । अवश्यरूप से आचरण करना चाहिए । हाँ, दोनों ही पदार्थों को जान तो लेना ही चाहिए । दशवैकालिक आगम शास्त्र में साफ कह रहे हैं कि—

**सोच्चा जाणइ कल्लाणं, सोच्चा जाणइ पावगं ।**
**उभयंपि जाणइ सोच्चा, जं सेयं तं समायरे ॥**

हे चेतन ! कल्याणकारी—श्रेयस्कर मार्ग को अच्छी तरह पहचान लो और इसी तरह पापमार्ग—अहितकर—अकल्याणकर मार्ग को भी अच्छी तरह पहचान लो । इस तरह दोनों मार्गों को अच्छी तरह पहचानकर इन दोनों में से जो आपकी आत्मा के लिए कल्याणकारी—श्रेयस्कर मार्ग लगे उसी का आचरण करो । अन्य का त्याग अवश्य करो ।

### पहले किसको पहचानें ?

गुण और दोष दोनों मार्ग हैं, पुण्य और पाप दोनों मार्ग हैं । धर्म और अधर्म दोनों के मार्ग हैं । अब आप ही सोचिए कि इन दोनों में से पहले किसको पहचाने ? जानें ? क्या श्रेयस्कर—कल्याणकारी मार्ग को पहले पहचाने ? या अहितकर—अकल्याणकारी मार्ग को पहले पहचाने ? उदाहरण से एक बात समझिए— किसी के पिता मृत्यु के समय ५० लाख की पूंजी देकर गए हो । अब पुत्र ५० लाख की पूंजी का मालिक है । उसे पहले क्या करना चाहिए ? क्या पहले व्यापार उद्योग के लिए सोचना चाहिए ? या पहले नुकसान कारक तत्त्वों से बचने के लिए सोचना चाहिए ? कोई चोर आकर चोरी न कर

लें, कोई लूट न जाय, कोई डाका डकैती न कर जाय इसका ध्यान पहले रखना चाहिए ? कोई भी व्यक्ती स्पष्ट उत्तर देगा कि.. किसी भी परिस्थिति में सर्व प्रथम—चोर—गुंडे—डाकु सबका विचार करके उससे पूंजी बचानी चाहिए । बचेगी तो ही आगे व्यापार—उद्योग में लगाकर वह आगे बढ सकेगा ।

ठीक इसी तरह आत्मा का नुकसान—अहित करनेवाले तत्त्वों को पहले पहचानना ही चाहिए । जिनमें—पाप है, कर्म है, अधर्म है । मिथ्यात्वादि है । ये सब आत्मा का अहित—नुकसान करनेवाले तत्त्व हैं अतः इनको सबसे पहले पहचानना ही चाहिए । कल हम धर्माराधनादि करेंगे तब करेंगे, लेकिन आज वर्तमान में जो पापकर्म कर रहे हैं उनको तो पहले आज ही समझ लें . . . पहचान लें . . . ताकि छोड सकें । क्योंकि आज के किये हुए भयंकर पापकर्म भावि में इतना भयंकर रूप लेकर उदय में आएंगे कि शायद कल उन कर्मों के उदय में आने के कारण कैसी परिस्थिति होगी इसका कोई ठिकाना नहीं है । ऐसे अशुभ कर्मों के उदय में धर्म होना असंभव हो जाएगा । इसलिए आज पहले धर्म करने के जाय पाप कर्मों की प्रवृत्ति सर्वथा छोड ही ।देना ज्यादा हितावह है ।

**सबसे बडा धर्म क्या ?—**

थोडी द्विधा यहाँ हो रही है । आप भी विचार करना कि . . . पाप कर्म छोडना और धर्म की प्रवृत्ति करना इन दोनों में से सबसे बडा काम कौनसा है ? अतः कौन सा पहले करना चाहिए ? पहले धर्म करना चाहिए ? या पहले पापकर्म छोडने चाहिए ? ऊपर उन दोनों में पहले—पश्चात का जो क्रम का विचार किया है उसी तरह बडा—छोटा का महत्वपूर्ण—गौण का विचार करें । आखिर धर्म में भी क्या करना है ? पाप की अशुभ प्रवृत्ति छोडने का काम करना है । यदि हम धर्मानुष्ठान की प्रवृत्ति जो दर्शन—पूजा—सामायिक—प्रतिक्रमण—माला—जाप—आयंबिल—उपवास—अट्ठाई आदि करना; तीर्थयात्रादि करना, व्याख्यान श्रवण करना आदि धर्म की अनेक प्रकार की प्रवृत्ति हैं उन में से क्या करना चाहिए ?

यदि आप उपरोक्त सभी धर्म की करणी—आराधना—प्रवृत्ति करने जाते हैं लेकिन जो मूलभूत पाप कर्म है उन्हीं को नहीं छोडते हो तो इन अशुभ पापों की प्रवृत्ति के कारण कल आपका धर्म भी बदनाम होगा । और आपका मन भी धर्म में नहीं लगेगा । चित्त

व्यग्र—व्याकुल रहेगा । आपके मन में भी दंभ जैसा लगेगा कि अरे मैं यह क्या कर रहा हूँ ? आपकी अन्तरात्मा अन्दर से दुःखी होगी । साफ कहेगी कि... मैं यह दंभ कर रहा हूँ । अन्दर पाप की वृत्ति भरी पडी है, पाप की गलत प्रवृत्ति भी कर रहा हूँ, और उसमें ऊपर धर्म की प्रवृत्ति भी कर रहा हूँ । यह दोनों साथ करना कहाँ तक उचित है ? हाँ, सामान्य छोटी सी गलती हो जाय तो फिर भी कुछ चल सकता है । लेकिन पाप की बडी भारी प्रवृत्तियाँ करते रहना और फिर बाद में धर्म की प्रवृत्ति भी करके दुनिया को राजी कर देना यह कहाँ तक उचित है ? सोचना चाहिए ।

इसलिए बडे—बडे पाप की प्रवृत्तियों को छोड देना, सर्वथा न करना, इसके लिए प्रतिज्ञा करना और उसका दृढतापूर्वक पालन करना भी सबसे बडा धर्म ही है । कई प्रकार की धर्म की आराधना में भी पापों को छोडना अनिवार्य है। आप एक तरफ अट्ठाई—मासक्षमणादि बडी बडी तपश्चर्या भी कर लें और उसके बाद बडी भयंकर पाप की गलत प्रवृत्ति भी करें । इससे आपकी तपश्चर्या बदनाम होती है । तपश्चर्या करनेवाला, और तपश्चर्या करनेवाले व्यक्ती के कारण धर्म इस तरह अन्योन्य दोनों बदनाम होते हैं । व्यक्ती तो बडा नहीं है, लेकिन धर्म तो महान है । इसलिए धर्म की रक्षा करना, इज्जत बचाना धर्मी के हाथ में है । वह किस तरह कैसे धर्म कर रहा है ? उस पर आधारित है । अतः यह समझकर चलें कि... धर्माराधना करने के पहले... पापों को छोडना, सर्वथा तिलांजली देना—सबसे बडा धर्म है । आज इस व्याख्या को लोग घोलकर पी गए हैं । अतः पाप छोडने की तरफ लक्ष्य बहुत कम है । हाँ, धर्माराधना—धर्मप्रवृत्ति भी बढती हुई दिखाई देती है, परन्तु सामने दूसरी तरफ पाप प्रवृत्ति घटती हुई भी दिखाई देनी ही चाहिए ।

**आखिर किससे डरना चाहिए ?—**

पाप से डरना चाहिए ? या हमें पाप करते हुए कोई देख ले उससे ? इन दोनों में से किससे डरना चाहिए ? आज किससे लोग ज्यादा डरते हैं ? सभा में से उत्तर— लोग पाप करते हुए कोइ देख ले उससे ज्यादा डरते हैं । सचमुच पापों से डरनेवाले लोग मात्रा में बहुत कम हैं । जो सत्य मार्ग है उसका आचरण करनेवाले कम ? आश्चर्य । अरे ! जो लोग आपको पापकर्म करते हुए देख भी लेंगे तो भी वे देखनेवाले आपका क्या बिगाडेंगे ? आपका क्या नुकसान कर लेंगे ? क्या देखनेवाले आपको मारने—पीटनेवाले हैं ? क्या आपको कोई सजा देनेवाले हैं ? जी नहीं । वे ज्यादा से ज्यादा आपकी बात दुनिया को

कह देंगे इतना ही न ? तो इससे आपको ज्यादा सजा मिलेगी ? या पाप करने के बाद उसके उदय में आने से ... जो नरकादि दुर्गति प्राप्त होगी वह उससे बडा नुकसान होगा । कितने वर्षों तक या शायद कितने भवों तक आपका अधःपतन होगा ? इसका विचार करिए । तब आपको पता चलेगा कि किससे नुकसान की संभावना ज्यादा है ? अतः फिर लक्ष्य बदलिए । पाप करते हुए कोई देख ले उससे ज्यादा पाप कर्म के करने से नुकसान हजारों गुना ज्यादा होता है । सम्यक्दृष्टि जीवों का लक्षण है कि वे पाप से डरते हैं । और मिथ्यादृष्टि जीवों की वृत्ति पाप करते हुए कोई देख ले उनसे डरना ।

**मिथ्यात्व का स्वरूप—**

१८ पापस्थानों में १८ वाँ पाप बडा ही भयंकर पापस्थान है । आखिर यह मिथ्यात्व क्या है ? कैसा है ? इसका स्वरूप क्या है ? इत्यादि सब बातों का विचार करना जरूरी है । जिससे मिथ्यात्व का ख्याल आ जाय । मिथ्यात्व का लक्षण बताते हुए इस प्रकार कहा गया है— **"मिथ्यात्वमोहनीयकर्मपुद्गलसाचिव्यविशेषादात्मपरिणामविशेषरूपत्त्वं मिथ्यात्वस्य लक्षणम् ।"** मिथ्यात्व मोहनीय रूप कर्म पुद्गल की प्रधानता के कारण आत्मा के जो परिणाम विशेष बनते हैं उसे मिथ्यात्व कहते हैं । इस लक्षण के आधार पर मोहनीय कर्म का स्वरूप समझना अनिवार्य लगता है ।

**मोहनीय कर्म का स्वरूप—**

हम आगे आत्मा के स्वरूप के बारे में काफी विचार कर आए हैं । इसी तरह आत्मा पर लगनेवाले सभी कर्मों का भी विचार कर आए हैं । चेतनात्मा है तो कर्म है और संसार में कर्म है तो आत्मा है । अन्योन्य सिद्ध है । क्योंकि आत्मा के बिना कर्म अन्य किसी को लगते ही नहीं है । अतः कर्म जिसको लगते हैं उसे आत्मा कहते हैं । इस तरह कर्म से भी संसार में आत्मा द्रव्य की सिद्धि होती है । और इसी तरह आत्मा के कारण कर्मों की भी सिद्धि होती है । संसार में प्रत्येक आत्माएं कर्म उपार्जन करती हैं । बिना कर्म बांधे कोई जीव संसार में रहता नहीं है । इसलिए कर्म के कर्ता को आत्मा कहते हुए आत्मा का लक्षण करते हुए पू. हरिभद्रसूरि म. फरमाते हैं कि—

**यः कर्ता कर्म भेदानां भोक्ता कर्मफलस्य च ।**
**संसर्ता परिनिर्वाता स ह्यात्मा नान्यलक्षणः ॥**

जो कर्म का कर्ता है और जो किये हुए कर्मों के फल को भुगतनेवाला है, तथा कर्म के कारण ही संसार में जन्म–मरण धारण करते हुए भटकता ही रहता है उसे ही संसारी आत्मा कहते हैं। इस तरह कर्मों के आधार पर आत्मा को सिद्ध किया है। तथा कर्म करनेवाला लक्षण निश्चित किया है।

आत्मा संसारी अवस्था में राग–द्वेष के अधीन होकर भिन्न–भिन्न ८ प्रकार के कर्म उपार्जन करती है—

**रागो य दोसो वि य कम्मबीयं, कम्मं च मोहप्पभवं वयंति।**
**कम्मं च जाईमरणस्स मूलं, दुक्खं च जाईमरणं वयंति॥ उत्त. ३२–७**

अपनी अन्तिम देशनास्वरूप श्री उत्तराध्ययन सूत्र में श्री वीरप्रभु कह रहे हैं कि— राग और द्वेष ये दोनों कर्म के मूल बीज हैं और कर्म मोह से उत्पन्न होते हैं। वही कर्म जन्म–मरण का मूल कारण है। इसलिए जन्म–मरण की गणना दुःख में ही की जाती है। वंदितु सूत्र में कहा है कि— **"एवमट्ठविहं कम्मं रागदोषसमुज्जिअं।"** इस प्रकार आठों कर्म जो राग–द्वेष से ही उपार्जित किये गए हैं वे ही आत्मा का बिगाडते हैं।

संसार में अनन्त काल से जीव राग–द्वेष की प्रवृत्ति करता ही आया है। एक क्षण भी इस संसार में जीव राग द्वेष के बिना रहा ही नहीं है। सतत राग द्वेष की प्रवृत्ति चलती ही रही है। इसीके आधार पर आत्मा को सतत–निरंतर–अखण्ड रूप से कर्मों का बंध होता ही रहा है और इन आठों कर्मों में–एक मोहनीय कर्म का ही बन्ध सबसे ज्यादा रहा है।

मोहनीय कर्म ही बडा भारी प्रबल कर्म है। सबसे ज्यादा संसार में प्रवृत्ति भी मोहनीय कर्म की ही होती है। इसलिए सबसे ज्यादा बंध भी इसी कर्म का होता रहता है। उदय भी सबसे ज्यादा इसी कर्म का रहता है। इसलिए यह एक ही कर्म ऐसा है जो सारा संसार चलाता है। वैसा संसार बनाता है। और जीवों की वैसी हालत करता है। **मुह्यन्ते यत्र जना तत् मोहनीयम्।** जिसके कारण जीव मोहित हो जाते हैं उसे मोहनीय कर्म कहते हैं। सर्वत्र पूरे संसार पर, संसार के अनन्त जीवों पर शिरछत्र की तरह इस एक कर्म का प्रबल साम्राज्य छाया हुआ है। सभी जीव इसके अधीन–ग्रस्त हो चुके हैं।

**शराबी के जैसा मोहनीय कर्म—**

मोहनीय कर्म को समझने के लिए शास्त्रकार महापुरुषों ने उपमा के दृष्टान्त से समझाने की कोशिष करते हुए कहा है कि— शराबी के जैसा यह मोहनीय कर्म है। जैसे एक आदमी शराब पीता है। शराब सडी गली चीजों में से तथा सडाने की प्रक्रिया आदि से बनाई जाती है। ऐसी शराब को पीने से मानव के मन बुद्धि पर उन्माद जैसा असर होता है। उसकी बोल—चाल रहन—सहन क्रिया—प्रवृत्ति सब विपरीत हो जाती है। यह तो संसार में प्रत्यक्ष सिद्ध ही है और सभी के आँखों के सामने की प्रत्यक्ष बात है कि... शराब पीनेवाला उल्टा बोलता है, गाली—गंदे शब्द बोलता है। अत्यन्त हल्के अपशब्द बोलता है। वैसी गन्दी हरकतें—चेष्टाएं करता है। उसकी मति—बुद्धि मदिरा से आविष्ट हो जाती है। अतः ऐसा शराबी, घर में आकर

माँ को पत्नी कहता है और पत्नी को माँ कहकर बुलाता है। इतना ही नहीं उनके साथ वैसा व्यवहार करता है। माँ के साथ पत्नी जैसा व्यवहार करने लग जाय तो कितना बडा अनर्थ होता है, और पत्नी के पैर पडना, आशीर्वाद मांगना आदि माँ के साथ करने जैसा व्यवहार करने लग जाय तो कितना गलत—विपरीत—हास्यास्पद एवं घृणास्पद लगता है। पिता को गाली देने लगता है और नोकर को पिता मान कर पैरों में पडने लग जाता है। यह सब शराब की असर से ग्रस्त होकर करता है सारा व्यवहार बोल—चालादि सर्वथा विपरीत—उल्टा करने लगता है। इस तरह बार—बार शराब पीते रहने से शराबी जो व्यसनग्रस्त—व्यसनों का गुलाम बन जाता है वह फिर भाषा—व्यवहारादि में भी वैसा ही विपरीत वृत्तिवाला बन जाता है।

ठीक वैसी ही दशा मोहनीय कर्म बांधे हुए जीव की है। यह मोहग्रस्त जीव भी सर्वथा अपनी बोल—चाल भाषा, व्यवहार आचरणादि सब कुछ विपरीत ही कर बैठता

है। अब उसकी मान्यता आदि सब विपरीत उल्टी ही हो जाती है। ऐसे मोहनीय कर्म में मुख्य जो मिथ्यात्व है वह प्रथम उसके मन–बुद्धि पर हावी हो जाता है और मान्यता–जानकारी दोनों पर असर करके उसे विकृत–विपरीत कर देता है। जैसे शराबी माँ को पत्नी और पत्नी को माँ ऐसा उल्टा मानता था, व्यवहार भी उल्टा करता था, ठीक वैसे महामूढ मिथ्यामती जीव मोहग्रस्त दशा में आत्मा को ही न माने, शरीर को ही आत्मा कहकर व्यवहार करे। परमात्मा को भी सर्वथा न मानते हुए भगवान वगैरे कुछ नहीं है ऐसी बातें बोलता है। अरे स्वर्ग–नरक, लोक–परलोक, पुण्य–पाप, धर्म–अधर्म मोक्ष आदि कोई तत्त्वभूत पदार्थ है ही नहीं। क्यों इनको मानना ? निरर्थक है। होते हुए भी न मानने की विपरीत विचारणा कराना मिथ्यात्व मोहनीय का कार्यक्षेत्र है। अब ऐसे जीव का ज्ञान भी विपरीत हो तो फिर मान्यता भी विपरीत ही होगी। तथा इन दोनों के सर्वथा विपरीत होने के कारण फिर... उसका आचरण–व्यवहारादि सर्वथा विपरीत ही होगा। यह मिथ्यात्व का स्वरूप है।

**मोहनीय कर्म की प्रकृतियाँ– २८–**

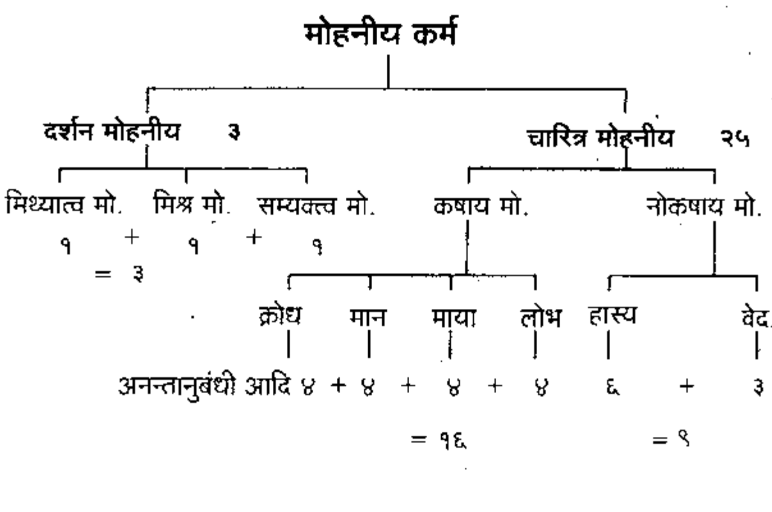


इस तरह ३ + १६ + ६ + ३ = २८ कुल प्रकृतियाँ हैं।

श्री उत्तराध्ययन सूत्र आगम के ३३ वें कम्मपयडी अध्ययन में इस तरह मोहनीय कर्म के भेद–प्रभेद दर्शाए गए हैं—

मोहणिज्जंपि दुविहं, दंसणे चरणे तहा।
दंसणे तिविहं वुत्तं, चरणे दुविहं भवे ॥ ८ ॥
सम्मत्तं चेव मिच्छत्तं, सम्मामिच्छत्तमेव य।
एआओ तिण्णि पयडीओ, मोहणिज्जस्स दंसणे ॥ ९ ॥
चरित्त मोहणं कम्मं, दुविहं, तु विआहिअं।
कसाय वेअणिज्जं तु, नो कसायं तहेव य ॥ १० ॥
सोलसविह भेएणं, कम्मं तु कसायजं।
सत्तविह नवविहं वा, कम्मं नोकसायजं ॥ ११ ॥

**मोहनीय कर्म की प्रचुरता का बना हुआ संसार—**

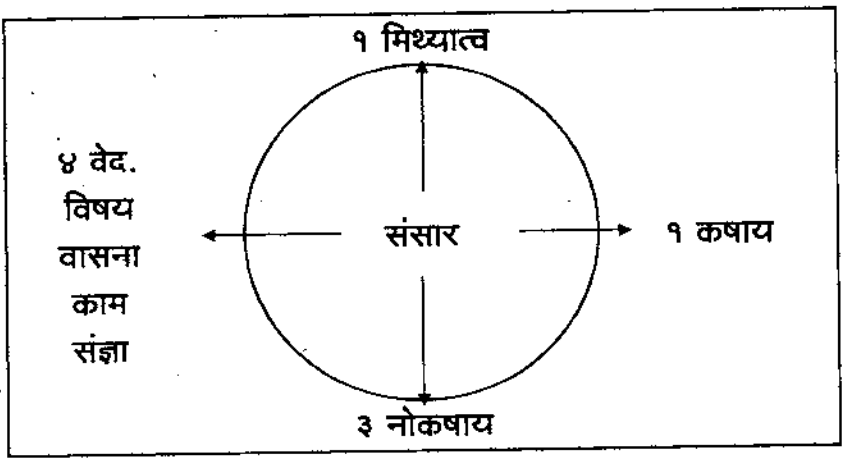


इस समस्त संसार पर एक विहंगावलोकन करने से स्पष्ट लगेगा कि सारा संसार एक मात्र मोहनीय कर्म की प्रचुरता का ही बना हुआ है। एक मकान की जैसे चार दिवालें होती हैं, चारों तरफ दिवालों से घिरा हुआ कोई मकान–भवनादि होते हैं, ठीक वैसे ही इस संसाररूपी मकान की चारों दिवालें मोहनीय कर्म की प्रकृतियों की बनी हुई हैं। जिसमें पहली एक दिवाल तो मिथ्यात्व मोहनीय कर्म की है। बडी ही मजबूत पत्थर की बनी हुई है यह दिवाल। मिथ्यात्व की धारणा–मान्यता काफी ज्यादा मजबूत है। वैसी ही विचारधारा रखकर सभी जीव संसार में व्यवहार करते हैं। बोलते हैं। चलते हैं। वैसे

जीवों को आपने बोलते हुए सुना होगा ? आत्मा परमात्मा कुछ है ही नहीं ? लोक परलोक है ही नहीं । पूर्वजन्म और पुनर्जन्म जैसी कोई बात नहीं है । स्वर्ग—नरक किसी ने देखे ही नहीं है । इसलिए निरर्थक क्यों मानना ? पुण्य—पाप कुछ नहीं है । धर्म—अधर्म जैसा कुछ भी नहीं है । अतः क्यों उपवासादि तप करना ? खाओ—पीओ—मौज करो । कर्म और कर्म का फलादि ये सब हंबक बाते हैं । इसलिए यहीं जो सुख भोगने के लिए मिले हैं बस, उनको भोगते हुए सुख—चैन से जीवन जीओ । इसी तरह किसी भी तत्त्वों की बात को न माननेवाले मिथ्यात्वी जीवों की निन्नानवे फीसदी संख्या में लोगों से भरा हुआ यह संसार है । ऐसे ही लोगों की संख्या ज्यादा है । ऐसे लोग इस तरह बोलकर सर्वथा नास्तिक वृत्ति से कुछ भी न मानते हुए जीते हैं और अपने विचारों की भाषा बनाकर दूसरों को भी अपने विचारवाले बनाते रहते हैं । इस तरह संसार की एक दिवाल मिथ्यात्व की बडी मजबूत है ।

दूसरी दिवाल कषाय की है । कष + आय = कषाय । कष अर्थात् संसार और आय अर्थात् लाभ । ऐसे संसार का लाभ जिससे सदा होता ही रहे उसे कषाय कहते हैं । लाभ अर्थात् वृद्धि । कषायों से संसार बढता ही रहता है । मुख्य रूप से राग और द्वेष ये दो ही प्रधान हैं । राग सद्भाव प्रिय प्रेम रूप है, इच्छारूप है, सानुकूल है । और ठीक इससे विपरीत द्वेष है । यह दुर्भावरूप है । वैमनस्य वैर—दुश्मनीभावरूप है । इन दोनों को कषायों की संज्ञा दी है । ये राग—द्वेष ही सबके केन्द्र में जडरूप हैं । इन्हीं का विस्तार ४ कषायों के रूप में है ।

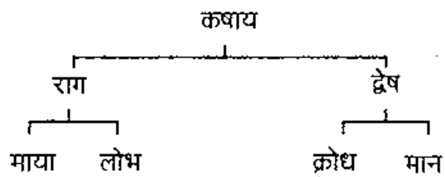


**मायालोभकषायश्चेत्येतद्रागसंज्ञितं द्वन्द्वम् ।**
**क्रोधो मानश्च पुनर्द्वेष इति समासनिर्दिष्टः ॥**

प्रशमरतिकार वाचकमुख्यजी ने संक्षेप—विस्तारभाव की विवक्षा से स्पष्ट किया है कि— राग के अंतर्गत माया और लोभ आते हैं । माया—लोभ का समावेश राग में होता है । राग इनसे बना है । और क्रोध तथा मान का समावेश द्वेष में होता है । अतः ४ क्रोधादि को कषाय कहो या संक्षेप भाव से मात्र राग—द्वेष ही कहो एक ही बात है ।

**ममकाराहंकारावेषां मूलं पदद्वयं भवति ।**
**रागद्वेषावित्यपि तस्यैवान्यस्तु पर्यायाः ॥**

ममकार और अहंकार रूप ये राग और द्वेष दो ही मूल रूप हैं । शेष अन्य सभी तो इनके पर्याय मात्र हैं। ममत्व बुद्धि मेरेपने के भाव को ही ममकार कहते हैं। और अभिमान—गर्व—घमण्ड को अहंकार बुद्धि कहते हैं । चारों कषायों का समावेश इन दोनों में हो जाता है । सर्व कर्मों की मूल जड ये दो ही कारक तत्त्व हैं । ये दोनों तत्त्व संसारी अवस्था में सदा ही आत्मा के साथ रहते हैं । ऐसा पीछा पकडते हैं कि छोडने के लिए ही तैयार नहीं है । राग—द्वेष की तीव्रता से क्रोधादि कषायों की भी तीव्रतम स्थिति खडी होती है । और कषायों की तीव्रता के कारण कलह में बडी भारी तीव्रता आती है । इस तरह तीव्रतम स्थिति की शृंखला से बडे भारी कर्मों का बंध होता है । और कालान्तर में बडी भारी दीर्घ सजा भी भुगतनी पडती है ।

**मिथ्यादृष्ट्यविरमणप्रमादयोगास्तयोर्बलं दृष्टम् ।**
**तदुपगृहीतावष्टविधकर्मबन्धस्य हेतु तौ ॥**

मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और मन—वचन—काया के योग ये चारों राग—द्वेष के सहायक हैं । मिथ्यात्वादि से उपगृहित राग और द्वेष आठों प्रकार के कर्म आत्मा को बंधाते हैं । अतः राग द्वेष के मुख्य सहायक प्रमादादि हैं । इनको कम करके भी हम राग—द्वेष का प्रमाण घटा सकते हैं ।

संसाररूपी महल की दूसरी दिवाल कषाय की है । जो बडी ही मजबूत है । जिसमें सारा संसार फसा हुआ है । कषायग्रस्त सभी जीव हैं ।

संसाररूपी महल की तीसरी दिवाल नोकषाय की है । नो अक्षर अभावसूचक नहीं है । परन्तु सहायक अर्थ में है । यह ६ प्रकार का मुख्य है १) हास्य, २) रति, ३) अरति, ४) भय, ५) शोक और ६) जुगुप्सा । ये सभी मूल कषाय राग—द्वेष—क्रोधादि के मुख्य सहायक हैं । उनको जागृत करने में भी इनकी सहायता रहती है । संसार के सभी जीवों में हसना, प्रीति—अप्रीति, पसंद—नापसंद, भयसंज्ञा, शोक—विषाद—संताप की प्रवृत्ति, तथा दुर्गंछा आदि ये सभी प्रवृत्तियाँ भरी पडी हैं । संसार के जीव इनसे ग्रस्त रहते हैं और सतत वैसी प्रवृत्तियों में फसे रहते हैं ।

इसी संसार रूपी महल की एक और चौथी दिवाल वेद मोहनीय कर्म की है । यहाँ वेद शब्द का अर्थ है काम संज्ञा । स्त्रीवेद, पुरुषवेद, और नपुंसकवेद इन तीनों प्रकार का वेद विषय वासना की प्रबल इच्छा जगाता है । एक दूसरे की अपेक्षा रखकर अपनी प्रबल कामेच्छा को पूर्ण करने के लिए दूसरे का उपभोग करता है । मन वासनाग्रस्त रहता है । ऐसी वेदसंज्ञा तीनों प्रकार की है जो तीनों में पडी हुई है । सबका मन इस काम—वासना से भरा हुआ है । जिससे वैसी प्रवृत्ति सतत चलती रहती है । आज के वर्तमान काल में पूरे संसार में सर्वत्र देखने पर स्पष्ट पता चलता है कि .. छोटे बडे जीव किस तरह इस वेदसंज्ञा के अधीन बने हुए हैं । संसार के इस महल की यह चौथी दिवाल बडी भयंकर कक्षा की है ।

इस तरह संसार रूपी महल जो चार दिवालों का बना हुआ है इसमें ये चारों दिवालें एक मात्र मोहनीय कर्म की बनी हुई है । अतः ऐसा स्पष्ट कहते हैं कि यह सारा संसार एक मात्र मोहनीय कर्म का बना हुआ है । मोहनीय कर्म की प्रवृत्तियों के कारण चलता रहता है । इसी प्रकार की प्रवृत्तियों से नए नए कर्म फिर बंधते रहते हैं । फिर कर्मों का बंध होता रहता है । फिर उन कर्मप्रकृतियों के उदय से वैसी स्थिति होती है । इस तरह संसार में कर्मों की शृंखला चलती ही रहती है । जिससे संसार चलता ही रहता है । संसार महल की इन चारों दिवालों में से हमें यहाँ पर एक मिथ्यात्व का विचार करना है । क्योंकि प्रस्तुत विषय मिथ्यात्व के विवेचन का है । पूरे मोहनीय कर्म का नहीं है । वह कर्मग्रन्थ से तथा "कर्म की गति न्यारी" नामक पुस्तक से समझ लेना चाहिए ।

**मिथ्यात्व की व्याख्या—**

**"मिथ्या नाम विपरीतभावः मिथ्याभावः"** विपरीत भाव = परिणाम को मिथ्यात्व कहते हैं । विपरीतता कब आती है ? जब व्यक्ति स्वयं सही—सत्य स्वरूप पहचानता है । सामान्यरूप से यथार्थता की जानकारी रहती है । फिर भी उसे सत्य न मान कर, या उस सत्य को दबाकर—छिपा कर उससे विपरीत असत्य को ही सही मानने की वृत्ति—विपरीतवृत्ति—मिथ्यात्व कहलाती है । मिथ्या—असत्य झूठे—गलत व्यवहार का भी भाव परिणाम बनाने के अर्थ में 'त्व' भाववाचक प्रत्यय जुडा है । ऐसे मिथ्यात्व की भावना—विपरीत वृत्ति बनाती है । इसके कारण ऐसी वृत्तिवाले जीव की वृत्ति एवं दृष्टि दोनों ही ऐसी बन जाती है । वृत्ती बनने के कारण मिथ्यात्वी कहते हैं और दृष्टि ही वैसी बनने के कारण मिथ्यादृष्टि कहते हैं ।

**मिथ्या दृष्टि—**

जैसे एक व्यक्ती को कमला (पीलीया) रोग हो गया हो तो कमलाग्रस्त उस रोगी को सब पीला ही पीला दिखता है । बस पित्तज कमलारोग के कारण दृष्टि ही वैसी बन चुकी है । ऐसी स्थिति में उसको जो भी दिखाई देगा वह सब दोषग्रस्त दिखाई देगा । यदि वह व्यक्ती समझदार हो तो उस कमलारोग की स्थिति में वैसे देखे गए पदार्थों को वैसी मान न ले । अन्यथा जैसा दिखाई दिया वैसा ही यदि मानकर मान्यता भी वैसी बना लेगा तो बडा अनर्थ हो जाएगा । क्योंकि रोग तो थोडे दिनों का ही है । रोग तो कल मिट भी जाएगा । लेकिन वैसी मान्यता बनाकर माननेवाला व्यक्ती अपनी मान्यता को ज्ञान की धारा को, विश्वास की धारा को वैसी विपरीत वृत्ति वाली मानकर कितने लम्बे काल तक परेशान होगा ? जिसकी कोई कल्पना नहीं कर सकते हैं । शरीर का रोग जाना आसान है परन्तु मान्यता का यह आंतरिक रोग किसी—दवाई या इंजेक्शन से जाना संभव ही नहीं है । शायद कमला रोग तीव्र बनकर मृत्यु भी नीपजा दे तो भी एक जन्म बिगडेगा । लेकिन ... विपरीत मान्यता का मिथ्यात्व का रोग सेंकडों जन्म बिगाड देगा ।

जिस तरह काले रंग के चश्मे (गोगल्स) पहननेवाले व्यक्ती को सफेद कपडा, सफेद दूध भी काला दिखाई देने लगता है । वस्तु काली न होते हुए भी काली—श्याम दिखती है । इसमें दृष्टिदोष महत्वपूर्ण कारणरूप है । इसी तरह मिथ्यात्व की भी ऐसी ही स्थिति है । मिथ्यात्वी जीव की मिथ्यादृष्टि ऐसी ही होती है । कमला रोग वाले रोगी की आँखों से पित्त के कारण पीला दिखता है । काले चश्मे के कारण काला—श्याम दिखता है । ठीक वैसे ही मिथ्यात्व के कारण विपरीत मानने की वृत्ति उस मिथ्यात्वी जीव की आँखों में उभर आती है, जिससे वैसी दृष्टि बन जाती है और वह उसी तरह सब विपरीत देखता है । जिसका अस्तित्व है वे पदार्थ भी इसे नहीं दिखते हैं । जो जैसा है, जिस स्वरूप में है, वैसा नहीं दिखता है । है उससे विपरीत स्वरूप का दिखाई देता है ।

“यथा दृष्टि तथा सृष्टि” जैसी दृष्टि बनती है वैसी सृष्टि बनती है । इस नियमानुसार व्यक्ती की अपनी दृष्टि के आधार पर सृष्टि उसके लिए वैसी बनती है । वह मिथ्यात्वी जीव उसे वैसी मानता है । अतः जगत् का स्वरूप, संसार की यह सृष्टी जैसी है वैसी है ही ... परन्तु इसे देखनेवाले भिन्न—भिन्न वृत्ति के लोगों ने भिन्न—भिन्न रूप में कहा । वर्णन किया । अतः सृष्टि का महत्व नहीं है । क्योंकि वह तो जैसी है वैसी है ही... उसमें तो कोई परिवर्तन होनेवाला नहीं है लेकिन उसे देखनेवाले और देखकर उसका वर्णन करनेवाले पर बहुत बडा आधार रहता है । अतः यदि देखने वाला सम्यग् दृष्टि जीव है तो निश्चित ही वह सृष्टि

को यथार्थ—वास्तविक सत्य स्वरूप में देखेगा और ठीक वैसा ही सत्यस्वरूप जगत के सामने प्रस्तुत करेगा। क्योंकि सत्याग्रही—सत्यान्वेषी—सत्यशोधक सम्यक्दृष्टि जीव था। अतः इसी संकल्प से उस जीव विशेष ने सब छानबीन करके यथार्थ सत्य ही प्राप्त किया, और ठीक इससे विपरीत—मिथ्यादृष्टि जीव सत्य को न पकडते हुए भी विपरीत—असत्य स्वरूप भी ग्रहण कर अपनी मिथ्यादृष्टि के आधार पर वैसा वर्णन करके दूसरों को कह देगा। समझा देगा। अतः यहाँ सृष्टि की अपेक्षा भी कहनेवाले—देखनेवाले की दृष्टि पर सबसे बडा आधार है।

यह समस्त ब्रह्माण्ड, यह सारा जगत् अनादि—अनन्तकाल से, जैसा है वैसा ही है... पर इसे देखनेवाले सभी धर्मों के सभी भिन्न—भिन्न दृष्टा व्यक्तियों ने अपनी—अपनी दृष्टि से देखकर वैसा ही लिखकर शास्त्र बना दिया और आज उसीकी परंपरा—अध्ययन—अध्यापन करने के रूप में चल रही है। परिणाम स्वरूप एक मिथ्यात्वी की मिथ्या मान्यता, मिथ्या विपरीत—विचारणा मिथ्यादृष्टि के आधार पर उस जीव को जीव—जगत के बारे में जैसा दिखाई दिया वैसा उसमें संसार के सामने रख दिया। जैसा है वैसा कहना, और जैसा मुझे दिखाई देता है वैसा कहना इन दोनों में कौन से विचार सही हैं? *Might is Right? or Right is Might?* बस, जो मैंने कहा वही सत्य है या जो सत्य है वही मैंने कहा है? संसार मे दोनों किसम के जीव हैं। मेरा ही सत्य है! बस जो कुछ मैंने कहा वही सत्य है —ऐसी विचारधारा माननेवाले जीवों की संख्या सदा ही ज्यादा रही है और रहेगी। क्योंकि ऐसे जीव राग—द्वेषादि कषायग्रस्त रहते हैं। विशेष रूप से अहंकार घमण्डवृत्ति के अधीन रहते हैं। अपना मोह—ममत्व काफी ज्यादा होने के कारण वैसा हठाग्रह—कदाग्रह की वृत्ति के कारण वैसे कहता है। यह जीव अहंकारादि भाववाला कषायग्रस्त है। अतः ऐसा कदाग्रह रखता है कि जो कुछ भी मैंने कह दिया है वही सत्य है। मेरे मुँह से जो भी निकल गया वही सत्य है। ऐसी उसकी अपनी वृत्ति रहती है। ऐसा जीव मिथ्यात्वी कहलाता है।

दूसरा जीव उससे भिन्न अलग ही किसम का है। इसमें कषायों की न्यूनता रहने से कदाग्रह हठाग्रह जिद्द नहीं रहती है। यह खुल्ले दिमागवाला रहता है। सत्य के नजदीक रहता है। अतः साफ कहता है कि— *Whatever is Right is Might* जो जो भी सत्य है अच्छा है वह मेरा है। सत्य का पक्षपाती है। सत्य को स्वीकारनेवाला है। इसमें सत्य के लिए अपने दरवाजे खुल्ले रखे हैं। सत्य का लक्ष है ऐसा जीव सम्यक्त्वी है। इसकी अपेक्षा भी सम्यक्त्वी का ऐसा लक्ष्य रहता है ऐसा कहना ज्यादा उचित लगता है। संसार

के स्वरूप को, सृष्टि के स्वरूप को, आत्मा—परमात्मादि तत्त्वों को भी सभी धर्मों के, सभी दर्शनों के लोगों ने देखा है, उनके बारे में सोचा—विचारा है । और सबको अपनी—अपनी दृष्टि में जैसा बैठा—जैसा लगा वैसा जगत के सामने कह दिया । जैसा होता है पदार्थ वैसा वह देखें या न भी देखें और वैसा ही वह मानें या न भी मानें फिर भी अहंभाव से जगत के सामने प्रतिपादन कर देता है । बस, इसी कारण संसार में भिन्न—भिन्न मत—मतान्तर बनते हैं और बढते रहते हैं । इन भिन्न—भिन्न मत—मतान्तरों के आधार पर... संप्रदाय भी बन जाते हैं । फिर वे सभी सम्प्रदाय अपनी अपनी विचारधारा के आधार पर संसार में परस्पर लडते—झगडते ही रहते हैं । एक कहता है मेरा सत्य है । दूसरा कहता है कि नहीं, तुम्हारा गलत है, मेरा ही सत्य है । लडते जरूर सत्य के लिए हैं, परन्तु ममत्व—मोह से अपना ही सत्य है यह दिखाने के लिए लडना है उन्हें । अहंभाव के कारण यह कदाग्रह की लडाई चलती ही रहती है । परन्तु चरम सत्य के लिए सर्वज्ञ का वचन कोई पक्ष स्वीकारने के लिए तैयार नहीं होता है ।

**नयवाद की एकान्तता—**

एक हाथी की पहचान करने के लिए, उसके बारे में जानकारी—ज्ञान प्राप्त करने के लिए... सात अन्धे गए । सातों ने हाथी का स्पर्श किया... जिसके हाथ में जो अंग आया उसी का स्पर्श किया । किसी के हाथ में हाथी की पूंछ आई तो उसने कहा कि हाथी तो जाडी रस्सी जैसा है । सूंढ हाथ में आने वाले ने कहा कि हाथी बडे पाईप जैसा है । पैर पकडनेवाले ने कहा कि हाथी तो खंभे—स्तंभ जैसा है । कान पकडनेवाले ने कहा कि हाथी अनाज साफ करने के सूपडे जैसा है । पेट को पकडनेवाले ने कहा कि नहीं... नहीं.. हाथी बडी पानी की टंकी जैसा है । इस तरह सभी ने अपनी अपनी दृष्टि के आधार पर हाथी की पहचान प्राप्त की और जब अपने अपने गाँव गए तब प्ररूपणा भी एक—एक मत के आधार पर वैसी ही की ।

अब सबके अपने—अपने दृष्टिकोण से हाथी की पहचान विषयक प्ररूपणा करने से हाथी का स्वरूप लोगों की समझ में कैसा आएगा ? ये सातों कदाग्रही हठाग्रही एवं मिथ्याभिमानी होने से अपनी—अपनी पक्कड पकडकर रखनेवाले हैं। वे परस्पर अन्दर—अन्दर सबके बीच विचारणा करके अपना मत दूसरों को कहकर उनकी भी विचारधारा सुननेवाले नहीं हैं । चलो, हम सब अपने विचारों को मिलाकर, आदान प्रदान करके भी ज्ञान पूरा करनेवाले नहीं है । वे तो ऐसे विचारवाले हैं कि बस, हमने जो ज्ञान

पाया है वही सत्य है । दूसरों का मिथ्या — असत्य है, हमारा ही सत्य है । इस दृष्टि से अन्दर अन्दर एक दूसरे को मिलकर भी, विचारों का आदान—प्रदान कर ज्ञान के अंश को पूर्ण करना ही नहीं चाहते हैं । और अपनी—अपनी मान्यता जगत को कहते फिरते हैं। इससे जगत् में कितना अज्ञान—मिथ्याज्ञान फैलेगा ?

इस दृष्टान्त को समझने से आपको इसका मर्म समझ में आ चुका होगा । बस, ठीक इन सात मित्रों के जैसे सात नय हैं । १) नैगमनय, २) संग्रहनय, ३) व्यवहारनय, ४) ऋजुसूत्रनय, ४) शब्दनय, ६) समभिरुढनय, और ७) एवंभूतनय । ये सात नय जैन दर्शन में प्रसिद्ध हैं ।

नय—नीयते, गम्यते, ज्ञायते । **प्रतिपत्तुरभिप्रायविशेषो नयः ।** एक वक्ता के अभिप्राय विशेष को नय कहते हैं। **अनन्तांशात्मके वस्तुनि एकोंऽशः तदितरांशौदासीन्येताभिप्रायविशेषो नीयते ज्ञायते स प्रतिपत्तुरभिप्रायविशेषो नयः।** **"अनन्तधर्मात्मकं वस्तु"** वस्तु जो अनन्तधर्मात्मक है उसके अनेक अंशों की उदासीनता गौण करके एक अंश को ही प्राधान्य पूर्वक कहने के व्यक्ती के अभिप्राय विशेष को नय कहा गया है । अतः ये नय आंशिक सत्य को कहते हैं । संपूर्ण सत्य नहीं कह सकते हैं। क्योंकि दूसरे भी नय हैं, वे भी क्या कह रहे हैं ? उन अंशो के बारे में नहीं सोचता है, अन्य सभी अंशों को मिलाकर यदि कहे तो वस्तु का पूर्ण सत्य प्राप्त हो जाय । परन्तु ये सभी एक एक नयवादी दूसरे के नयों की अपेक्षा ही नहीं रखते हैं। वे अपना—अपना स्वतंत्र—एक एक मत को ही देखते हैं, कहते हैं । अन्य नयों की अपेक्षा ही नहीं करते हैं, अतः ये सापेक्षवादी नहीं हैं । निरपेक्षवादी हैं । अतः एकान्तवादी होते हैं । एकान्तवादी सभी मिथ्यात्वी कहलाते हैं । क्योंकि संपूर्ण सत्य को सर्वांशों से सत्यरूप नहीं जानते हैं । लेकिन वस्तु के एक ही अंश को सत्य कहते हैं, मानते हैं । जैसे शरीर के एक अंग—अंगुली मात्र को ही शरीर कहे, लेकिन सभी अंगों—हाथ—पैरादि अंगों को मिलाकर पूर्ण शरीर कहने के लिए तैयार नहीं हैं । अतः एकान्तवादी एकांगवादी कहलाते हैं । नयवादी इसी कारण सत्य के एकांश को ही सत्य कहनेवाले और अन्य अंशों का सर्वथा अपलाप करनेवाले मिथ्यात्वी कहलाते हैं ।

**अनेकान्तवादी ही सत्यवादी होते हैं—**

अनेके अन्ताः वस्तुनः इति अनेकान्ताः **"अनन्तधर्मात्मकं वस्तु"** अर्थात् वस्तु—पदार्थ मात्र अनन्त धर्मात्मक है । उसके अनन्त धर्म जो होते हैं उन अनन्त ही धर्मों की विवक्षा

करते हुए प्रत्येक धर्म की अपेक्षा सहित वस्तु के अनन्त धर्मों को प्रकट करना, कहना इस शाब्दबोध की प्रक्रिया को अनेकान्तवाद कहते हैं। "स्याद्" शब्द से युक्त प्रत्येक अंग कहा जाता है। अतः स्याद् शब्द जो कथंचित् अर्थ में है वह जिस अंग को कहता है उसी समय अन्य अंश की अपेक्षा भी साथ ही रखता है, कहता है। अपेक्षा सहित कहने की प्राधान्यता के कारण सापेक्षवाद कहा जाता है। और कथंचित् अर्थ में स्याद् शब्द के प्रयोगपूर्वक वाक्य रचना कही जाती है। इसलिए "स्याद्वाद" नामकरण भी सही है।

कहते समय एक धर्म की विवक्षा रखकर कहते हुए अन्य अंशों की अपेक्षा ग्रहित रखता है। छोडता नहीं है। ऐसी एक वस्तु में एक धर्म की अपेक्षा से विवक्षा करते हुए उसी धर्म के विरोध धर्म की विवक्षा भी अपेक्षा बुद्धि से साथ ही रखने के कारण सात भंग पडते हैं। अतः "सप्तभंगी" शब्द से संबोधित की जाती है। सप्तभंगी में प्रयुक्त सातों भंग वस्तु के एक धर्म की विरुद्ध और सिद्ध दोनों प्रकार से ७ तरीकों से विचार कर सत्य की पूर्णता को प्राप्त होता है। इसी तरह अनन्त धर्मों की विचारणा सप्तभंगी पद्धति से करके पदार्थ को शुद्ध पूर्ण सत्यात्मक स्वरूप कहा जाता है। उसे ज्ञानियों ने सम्यक् या सत्यासप्तभंगी पद्धति कही है। नयों की भंगी मिथ्या भंगी कही जाती है। इसलिए मिथ्यात्व का क्या और कैसा स्वरूप है वह नयभंगी से ख्याल आ जाता है। जब हम पदार्थ के एक ही धर्म की विवक्षा रखकर बात कहते हैं, विचारणा करते हैं, तब मिथ्यात्व की वृद्धि होती है। और सत्य समाप्त हो जाता है। जब स्याद्वाद की सप्तभंगी द्वारा वस्तु के सभी धर्मों का सापेक्षभाव से बोध प्राप्त किया जाता है। तब सत्य स्वरूप प्रकट होता है। अतः पदार्थ की यथार्थ सत्यता को द्योतित करनेवाला सत्य—सम्यग् दर्शन कहलाता है। इसलिए स्याद्वाद—सापेक्षवाद—अनेकान्तवाद को ही सत्यान्वेषी—सत्य के आग्रही को स्वीकार करना चाहिए। और इसकी प्रमाण सप्तभंगी से सत्य प्रकट करना चाहिए।

### अन्य सभी दर्शन नयवाद की अपेक्षा से मिथ्यादर्शन—

दर्शनशास्त्र का कार्य तत्त्वज्ञान का सत्यस्वरूप प्रतिपादन करने का है। आत्मा—परमात्मा—मोक्षादि तत्त्वभूत पदार्थों का यथार्थ—सत्यस्वरूप प्रकट करना यह दर्शनशास्त्रों का कार्य है। ऐसे पाश्चात्य एवं पौर्वात्य विचारसरणीवाले अनेक दर्शन हैं। लेकिन वे दर्शन भी यदि प्रमाणसप्तभंगी की पद्धति से स्याद्वादपूर्वक वस्तुस्वरूप का यथार्थ वर्णन करें तो ही चरमसत्य का स्वरूप जगत के सामने रख सकते हैं। अन्यथा नयों की एकांशी दृष्टि से प्ररूपणा करनेपर संपूर्ण सत्य को प्रकट नहीं कर पाएंगे और

एकांश सत्य आंशिक सत्य को ही कहनेवाले और अन्यांशों का लोप—अपलाप करनेवाले दर्शन भी संसार में अनेक हैं । अन्ततोगत्वा वे आंशिक—एकांशिक सत्य को ही एकान्त बुद्धि से कहनेवाले दर्शन भी मिथ्यादर्शन बन जाते हैं । कहलाते हैं । अतः उन दर्शनों को यदि सम्यग् दर्शन—सत्य दर्शन बनना हो तो अनेकान्तवादी प्रक्रिया को अपनाना ही पडेगा । एकान्तनय को छोडकर स्याद्वाद—सप्तभंगी की शाब्दबोध पद्धति अपनाकर पदार्थ के यथार्थ संपूर्ण सत्य को ही कहना चाहिए । तभी वे सम्यग् दर्शन कहलाने योग्य बनेंगे । अन्यथा एकान्तवादी मिथ्यादर्शनी बन जाएंगे ।

पू. वादितर्कशिरोमणि आचार्य वादिदेव सूरि महाराज ने स्वरचित "प्रमाणनयतत्त्वालोक" नामक न्यायग्रन्थ में उपरोक्त रहस्य प्रकट किया है । सातवे परिच्छेद में नय और नयाभास का निरूपण करते हुए उन्होंने कौनसा दर्शन किस नय तथा नयाभास को ग्रहण करते हुए कैसे मिथ्यादर्शन बने हैं ? उनका स्पष्ट उल्लेख किया है । उदाहरण के लिए— १) परसंग्रह नय के आभास स्वरूप परसंग्रहनयाभासरूप विचारधारा की मान्यतावाला अद्वैत वेदान्त दर्शन कहलाता है । २) बौद्धदर्शन की शून्यवादी—क्षणिकवादी एकान्त विचारधारा यह ऋजुसूत्र नयाभास का उदाहरण स्वरूप है। सांख्यदर्शन व्यवहारनयाभास स्वरूप है । व्याकरणवादी शब्दनयाभासवादी हैं । नयाभास और दुर्नय दोनों एक ही बात है । प्रमाणनय तत्त्वालोक ग्रन्थ में पू. वादिदेव सूरिमहाराज ने सप्तम परिच्छेद में "नयाभास" शब्द का प्रयोग किया है जबकि . . . पू. हेमचन्द्राचार्य महाराज ने "दुर्नय" शब्द का प्रयोग किया है । आखिर अर्थभेद नहीं है । दोनों बात एक ही है । चार्वाकों का नास्तिक दर्शन यह भी सप्तभंगी की कसोटी पर खरा नहीं उतरता । अतः इसे व्यवहारनयाभास का उदाहरण बताया है । भले ही बृहस्पति का बनाया हुआ वे बता रहे हों परन्तु व्यवहारनय का आभासमात्र दुर्नय है । बडे अच्छे वाद—विवादों में प्रवीण बनकर अनेकों को वाद विवादों में परास्त करनेवाले खुद नैयायिक—वैशेषिक दर्शनों के भी आत्मादि पदार्थों की एकान्तिक विचारणा करके वे भी अपने आप को शुद्ध सत्यवादी नहीं बना सके । और नैगमनयाभासी दिखाया । सही बात तो यह है कि एक ही नय को एकान्तदृष्टि से पकडकर प्रतिपादन करनेवाला निश्चित कहीं न कहीं मार खाता ही है । वह सत्य के सोपान से नीचे उतर ही जाता है । अतः सबको सर्वज्ञसिद्धान्त की पद्धती स्वीकारनी—अपनानी ही चाहिए । इसके बिना उद्धार ही नहीं है । जगत् के सर्व पदार्थों का यथार्थ अन्तिम सत्य जानने—समझने के लिए . . . सर्वज्ञ केवलज्ञानी का सिद्धान्त स्वीकारना ही चाहिए । तभी ऐसे सर्वज्ञवादी दर्शनों को ही . . . सत्यवादी—सम्यग् दर्शनी

दर्शन कहे जा सकते हैं अन्यथा फिर मिथ्यात्वी दर्शन कहना पडेगा । सर्वज्ञ कथित सत्य सिद्धान्त ही स्याद्वाद की सप्तभंगी की कसोटी की परीक्षा पर खरा उतर सकता है । ऐसा सप्तभंगी की कसोटी पर से पास होकर उतरने वाला सर्वज्ञ केवली का वचन कभी भी असत्य—मिथ्या हो नहीं सकता है । नयाभास या दुर्नय हो ही नहीं सकता है । उसे मिथ्या नहीं कह सकते हैं, अपितु सर्वथा सत्य ही कह सकते हैं । इस तरह दार्शनिक विचारधारा का मुख्य कार्य है पदार्थ का चरम सत्यरूप त्रैकालिक सिद्धान्त जगत् को देना । अन्यथा किसी को गलत—सर्वथा मिथ्या दर्शन कहने की आपत्ति आएगी ।

अवधूत योगी आनन्दघनजी महाराज ने भक्ती की मस्ती में मस्त बनकर गाते हुए श्री नमिनाथ भगवान के स्तवन में इस प्रकार की पंक्तियाँ लिखी हैं—

**षट् दरिसण जिन अंग भणीजे, न्याय षडंग जो साधे रे ।**
**नमि जिनवरना चरण–उपासक षड्‌दरिसन आराधे रे ॥ १ ॥**
**जिन सुरपादप पाय वखाणुं सांख्य जोग दोय भेदे रे ।**
**आतमसत्ता विवरण करतां लहो दुग अंग अखेदे रे ॥ २ ॥**
**भेद–अभेद सौगत मीमांसक जिनवर दोय करी भारी रे ।**
**लोकालोक अवलंबन भजीये गुरुगमथी अवधारी रे ॥ ३ ॥**
**लोकायतिक कुछ जिनवरनी अंश विचारी जो कीजे रे ।**
**तत्त्वविचार सुधारसधारा गुरुगम विण किम पीजे रे ॥ ४ ॥**
**जैन जिनेश्वर वर उत्तम अंग अंतरंग बहिरंगे रे ।**
**अक्षरन्यासधरा आराधक आराधे धरी संगे रे ॥ ५ ॥**
**जिनवर मां सघलां दरिसण छे, दरिसणमां जिनवर भजना रे ।**
**सागरमां सघली तटिनी सही, तटिनीमां सागर भजना रे ॥ ६ ॥**

छ दर्शन सब सर्वज्ञ—जिनेश्वर के ही दर्शन के अंगरूप हैं । जैसे हमारे पूरे शरीर के हाथ—पैर अंगुलियाँ आदि एक एक अंग हैं, वे पूर्ण शरीर तो नहीं हैं । उसी तरह सभी दर्शन सर्वज्ञ जिनेश्वर के दर्शन के एक—एक अंग हैं । वे अपने आप में पूर्ण दर्शन नहीं बन सकते हैं । एकान्त विचारधारा के कारण । नमि जिनेश्वर भगवान के चरणों की अर्थात् उनके सिद्धान्त की उपासना करने से ही छहों दर्शन—सभी दर्शन की सामूहिक पूर्ण उपासना होगी । इसलिए यहाँ पर जिनेश्वर पूर्ण पुरुष सर्वज्ञ के छह अंगों पर छह दर्शनों का न्यास (स्थापना) करते हुए बता रहे हैं कि छहों दर्शनों की सम्मिलित उपासना जिनेश्वर नमिनाथ

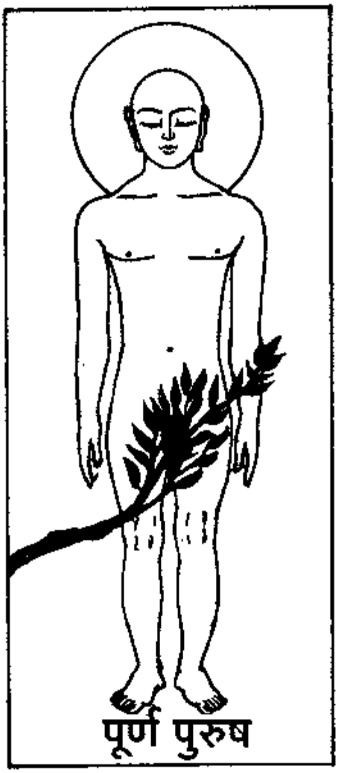


के चरणों में ही हो सकती है। आराधक को छहों दर्शनों में सामंजस्य—संवादिता स्थापित करनी है। जिनेश्वर प्रभु सर्वज्ञ होने से पूर्णपुरुष हैं। सर्वदर्शी होने से उनको विराट विश्वदर्शन भी पूर्ण होता है। आनन्दघन योगी कह रहे हैं कि— पूर्ण पुरुष सर्वज्ञ में वैदिक दर्शन और बौद्धदर्शन समाविष्ट किये गए हैं। चार्वाक—नास्तिकदर्शन होते हुए भी उसका समावेश योगीराज ने पूर्ण पुरुष में किया है। नमिजिन भगवान साक्षात कल्पवृक्ष समतुल्य हैं। उनके दो चरण युगल पर . . . सांख्यदर्शन और योगदर्शन को स्थापित किया है। जिनेश्वर प्रभु को खडे रहने के लिए ये दोनों सांख्य—योग दर्शन मजबूत आधारभूत अंग हैं ऐसा निश्चित होकर मान लो। आत्मस्वरूप का विचार करते समय सांख्ययोग का दर्शन भी ध्यान में लेना चाहिए। घबराइये मत कि ये तो मिथ्यादर्शन हैं और हम इनको कैसे नमिजिन के चरणरूप मानें? नहीं, जैन दर्शन की आत्मा के तत्त्व को सांख्य ने पुरुष के नाम से कहा है। और कर्मतत्त्व को प्रकृति नाम दिया है। शब्दभेद जरूर है परन्तु अर्थभाव में साम्यता है। योगदर्शन में आत्मा की शुद्धीकरण की प्रक्रिया अष्टांगयोग से बताई है।

बौद्ध (सुगत) भेदवादी है। मीमांसक (वेदान्ती) अभेदवादी है। ऐसे ये दोनों नमिजिन रूपी पूर्ण पुरुष के दो हाथ के स्थान पर हैं। लोकालोक के लिए दो हाथ आलंबन रूप हैं। प्रत्येक पदार्थ को विशेष कहकर क्षणिक मानने की धारणा बौद्धदर्शन ने बनाई है। वेदान्त दर्शन ठीक इससे विपरीत नित्य मानता हुआ एक सामान्य कहता है। परन्तु पूर्णपुरुष नमिजिन के अंग बनने पर विरोध दूर हो जाता है। एकान्त क्षणिक—अनित्य और एकान्त नित्य न मानते हुए पदार्थ को द्रव्यस्वरूप से नित्य और पर्यायस्वरूप से अनित्य मानना ही उचित है। यही जिन दर्शन है।

लोकायतिक चार्वाक जो सर्वथा नास्तिक है । नयदृष्टि से पूर्णपुरुष के पैर के स्थान पर है । यह रहस्य गुरुदेव की अमृतवाणी से समझकर आनंद लूटना चाहिए । आत्मानुभव के बिना सब झूठा है ।

नमि जिनेश्वररूपी सर्वज्ञ पूर्ण पुरुष के उत्तमांग मस्तिष्क पर स्थापित किया गया है । जैन दर्शन की आंतरिक दृष्टि आत्मा संबंधी आध्यात्मिक उत्तम है और बाह्य दृष्टि से शारीरिक भी उत्तम है । चित्र में बताए तदनुसार नमि जिन जो सर्वज्ञ पूर्ण पुरुष है उनके मस्तिष्क स्थानपर जैन दर्शन, दोनों चरण युगल पर सांख्य—योगदर्शन, उदर पर चार्वाक, और दोनों हाथों पर बौद्ध और वेदान्त मीमांसक । इस तरह षड्दर्शनों की स्थापना करके अब संयुक्त—सम्मिलित स्वरूप देखने से अनेकान्त की विचारधारा से सभी पदार्थों का सम्यग् स्वरूप स्पष्ट होता है । इससे उपासक—साधक को साधना में आनन्द आएगा । जिनेश्वर पूर्ण पुरुष में छहों दर्शनों का न्यास करके सम्मिलित सापेक्षभाव से देखने पर कोई मिथ्या दर्शन, और कोई सम्यग् दर्शन ऐसा भेद ही नहीं रहता है । सभी के प्रति सद्भाव पैदा होता है ।

नदियाँ सभी स्वतंत्र हैं, उनमें समुद्र नहीं है । लेकिन समुद्र में नदियाँ जरूर सम्मिलित हैं । एकरूप हैं । इसी तरह सभी स्वतंत्र दर्शनों में एकान्त—एक नय की विचारधारा होने से पूर्णता नहीं है । जबकि जैन दर्शन समुद्रसमान पूर्ण दर्शन है । सभी नयों का सापेक्षिक रूप है । सप्तभंगीमय स्याद्वाद युक्त होने से समुद्र समान विशाल दर्शन है । जैसे समुद्र में सभी नदियाँ मिल जाती है ठीक वैसे ही जैन दर्शन में सभी दर्शन मिल जाते हैं । सभी अपेक्षाएँ—स्याद् शब्द से इसमें समा जाती हैं । उत्पाद—व्यय—ध्रौव्य तीनों रूपों से संयुक्त रूप में पदार्थ का प्रतिपादन सर्वज्ञ पूर्ण पुरुषों ने किया है ।

### दर्शनों की विरोधाभासी विचारधारा—

कई दर्शन अपने ही दर्शन में—मत में जिस प्रकार के सिद्धान्तों की प्ररूपणा करते हैं और फिर उन्हें चरम सत्य की मुहर लगाने जाते हैं लेकिन एक सिद्धान्त के विपरीत दूसरा सिद्धान्त जब प्रतिपादित करते हैं तब परस्पर विरोधाभासी विचारणा बन जाती है । जो सामान्य जनता को गुमराह करनेवाली बन जाती है । उदाहरण के लिए... कुछ अंशों को किसी दर्शन के परिप्रेक्ष्य में देखें—

१) **"ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या"** 'ब्रह्म' एक ही तत्त्व सत्य और शेष 'जगत्' तत्त्वादि सर्व मिथ्या है ऐसा कह कर अद्वैतवेदान्त वादियों ने एक ब्रह्म तत्त्व को ही स्वीकार

किया—माना । और यह स्पष्ट कर दिया कि जगत में एक मात्र ब्रह्म एक ही तत्त्व का अस्तित्व है । अन्य किसी का अस्तित्व ही नहीं है इसलिए अद्वैतवाद का सिद्धान्त दिखाया । न + द्वैत = अद्वैत । दो वस्तु का अस्तित्व ही नहीं है । एक ही ब्रह्म है । बस, तदितर कुछ भी जगत में है ही नहीं ।

अद्वैतवादियों की इस विचारधारा का थोडासा यहाँ विचार करना चाहिए । ब्रह्म एक ही तत्त्व होता और जगत् जैसा कुछ भी नहीं होता तो जगत् का स्वरूप कहाँ से आया ? क्या शशशृंग की तरह जगत् सर्वथा अभावरूप है ? यदि सर्वथा अभावरूप ही होता और भावरूप नहीं होता तो ईश्वरद्वारा निर्माण कैसे मानना ? एक तरह वही ईश्वर जो जगत् का निर्माण करता है । उसीने बनाया वह सब जगत अभावरूप होने से मिथ्या और बनानेवाला स्वयं सत्यस्वरूप है ? और ईश्वर की महत्ता सृष्टिनिर्माण करने के कारण ज्यादा बताई जाय और दूसरी तरफ जगत् को मिथ्या कहा जाय इस तरह परस्पर वदतोव्याघात जैसी स्थिति बनती है । अच्छा, ईश्वर शब्द से ब्रह्म वाच्य नहीं है, बात भी सही है, लेकिन ईश्वर आया कहाँ से ? ईश्वर की उत्पत्ति में ब्रह्मा कारणरूप है या नहीं ? "ब्रह्मसूत्र" शांकरभाष्य में सूत्र इस प्रकार कहा गया है कि **"एकोऽहं बहु स्याम् प्रजायेय"** मैं ब्रह्म एक रूप अकेला ही हूँ । अब बहुरूप अनेकरूप बनूँ । अतः प्रजोत्पत्ति करूँ । यह ब्रह्मा का ही कार्य है। अब ब्रह्म को सत्य मान लेना और उसके कार्य उसी की रचना को मिथ्या—अभावरूप कहना कहाँ तक उचित है ? यदि ब्रह्मा को मानने के लिए तैयार हैं तो फिर उसी की रचनारूप जगत् को मानने में कोई तकलीफ नहीं होनी चाहिए । इस प्रकार की परस्पर विरुद्ध विचारों से विरोधाभासी सिद्धान्त कहलाते हैं । इससे सिद्धान्तों की सत्यता नष्ट हो जाती है ।

इसी तरह वेदों में एक बार कहा गया है कि— **"मा हिंस्यात् सर्वभूतानि"** किसी भी जीव को मत मारो । सभी जीवों को मत मारो" यह विधान करके फिर अपवाद रूप से यज्ञ—याग में गाय और अश्व—घोडा मारकर भी यज्ञ करने की आज्ञा दी गई । तो क्या इस में अश्व और गाय की हत्या—हिंसा नहीं होती है ? और ऐसी पंचेन्द्रिय प्राणी गाय घोडे की हिंसा—हत्या से क्या स्वर्ग मिल सकता है ? हिंसा हत्या का पाप तो नरकगति में ले जाता है । नहीं कि स्वर्ग में । अब वे क्या करेंगे कि यज्ञ में हिंसा—हिंसा ही नहीं कही जाती । वह तो उत्तम पुण्य है । इससे स्वर्ग की प्राप्ति भी होती है । और अश्वमेध यज्ञ से युद्ध में विजय प्राप्त होती है । बस, एक मात्र वेद—विहित होने से उस गाय—घोडे की हिंसा हिंसा ही नहीं है । और वैदिकी हिंसा पाप ही नहीं है । अतः नरकगति नहीं स्वर्ग की

प्राप्ति होती है । ऐसी उनकी दी गई सफाई कहाँ तक उचित लगती है ? क्या यज्ञ के नाम पर किसी भी प्रकार की हिंसा की जाय तो कहाँ तक उचित है ? पापादि अधर्म को भी धर्म के नाम की पुष्टि मिल जाएगी । फिर लोग धर्म के ओठे के नीचे अधर्म ही ज्यादा करेंगे । मान्यता सम्यग् कैसे होगी ?

खिस्ती धर्म के पवित्र ग्रंथ बाइबिल में भी *Thou shall not kill at all* यह आज्ञा दी गई है । किसी भी जीव को मत मारो । एक तरफ बाइबिल को पवित्र धर्मग्रन्थ मानना और दूसरी तरफ उसकी आज्ञा बिल्कुल ही न मानना, इतना ही नहीं, सर्वथा विपरीत वर्तन करना यह कहाँ तक उचित है ? खिस्तियों के पादरी—आदि धर्मगुरु भी हो या सामान्य जनता भी हो वे सभी एक रूप से, समानरूप से मांसाहार करते हैं । मांस कहाँ से प्राप्त होता है ? क्या पेड़ पौधों से मांस मिलता है ? कि पंचेन्द्रिय जीवों की हिंसा से मिलता है ? गाय—भैंस, बैल—बकरियाँ आदि पंचेन्द्रिय—बडे प्राणियों की हत्या—हिंसा करके उनके शरीर से ही मांस मिल सकता है । यह हत्या भी सामान्य प्रकार की नहीं होती । बडी क्रूर—कठोर एवं निर्मम तरीकों से हत्या की जाती है । वह आज के विज्ञान के यान्त्रिक युग में आधुनिक स्वयंसंचालित यन्त्रों से बहुत बडे पैमाने पर बहुत ज्यादा तादात् में हजारों लाखों मूक पशुओं की हिंसा की जाती है । फिर उनका मांस खाया जाता है । यह कहाँ तक उचित है ? जब बाइबिल पवित्र धर्म ग्रन्थ में कहीं मांसाहार करने के लिए लिखा ही नहीं है तो फिर उसकी आज्ञा के विरुद्ध निरर्थक ऐसी हिंसादि करते ही जाना, और खाते ही जाना यह कहाँ तक उचित है ?

इस्लाम में भी कुराने शरीफ वैसी आज्ञा नहीं दे रहा है। मांस खाने की आज्ञा—आदेश नहीं दिया है, तो फिर मुस्लिमों में इतनी व्यापक हिंसा कैसे बढी ? क्यों बढी ? फिर वह भी धर्म के नाम पर चल रही है। कुरान में कहीं भी पशु—बकरे—बकरी—गाय—भैंसादि के मारने की आज्ञा नहीं दी है । न ही मांसाहार करने का अल्लाह—खुदा का आदेश—उपदेश कुछ भी नहीं है फिर भी निरर्थक इतने बडे व्यापक प्रमाण में घोर हिंसाचार की प्रचलितता इस्लाम में सर्वत्र कहाँ से आई ?

इस तरह विविध धर्मों—दर्शनों में सम्यग्—शुद्ध स्वरूप न हो तो वे सम्यग् कैसे कहलाएंगे ? मिथ्या ही कहलाएंगे । और उनके वास्तविक—यथार्थ रहस्यों को जनता के सामने उजागर करना चाहिए । अन्यथा मिथ्या भाव की ही वृद्धि होती रहेगी ।

धर्म का आधार सिद्धान्त पर रहता है । अतः सिद्धान्त सत्य—त्रैकालिक एकवाक्यता दर्शनेवाले शाश्वत स्वरूप के प्रतिबोधक होने चाहिए। सिद्धान्तों का ही सक्रिय आचारात्मक स्वरूप क्रियात्मक—व्यवहारात्मक स्वरूप धर्म कहलाता है । अतः धर्मशास्त्रों के सिद्धान्तों का प्रतिपादन यदि सम्यग् सत्य रहेंगे तो उनके आचरण में उतरेंगे । परिणाम स्वरूप धर्म का पालन शुद्ध—सही होगा ।

**क्या मिथ्यात्व अज्ञान मूलक है ?—**

ज्ञान शब्द के आगे "अ" अक्षर लगने से अज्ञान शब्द की रचना हुई है । संस्कृत भाषा के व्याकरण के नियमानुसार 'अ' उपसर्ग के रूप में ज्ञान के साथ जुडा है । इस प्रकार अज्ञान शब्द बना है इसके दोनों अर्थ होते हैं । १) अ निषेध वाची अभाव अर्थ में जुडने से अज्ञान मतलब ज्ञान का अभाव अर्थात् सर्वथा ज्ञान का न होना यह ध्वनित होता है । और दूसरी तरफ दूसरा अर्थ 'अ' अक्षर को अल्पवाची बताकर अल्पार्थक अर्थ में अ प्रयुक्त हुआ है । जिससे अज्ञान शब्द बना है । अतः अज्ञान का अर्थ अल्प ज्ञान यह अर्थ भी ध्वनित होता है ।

किसी भी छोटे से छोटे जीव में भी ज्ञान का सर्वथा अभाव तो सिद्ध हो ही नहीं सकता है । क्योंकि ज्ञान का सर्वथा अभाव अजीव—जड—पुद्गल पदार्थों में ही होता है । जीव में तो वैसे भी सम्भव नहीं है । फिर भी अजीव जड पुद्गल पदार्थ अज्ञानी है ऐसा भाषाकीय व्यवहार भी नहीं होता है । जीव अज्ञानी है ऐसा व्यवहार हो सकता है । एक नियम ऐसा भी है कि जिसमें जो रहता है उसी में कालान्तर में या अन्य अपेक्षा से उसका अभाव भी रह सकता है । अभाव का भी आधार पात्र वही होगा जो भाव का आधार पात्र बना हो । इस नियमानुसार ज्ञान का आधार पात्र जो जीव है उसी में कालान्तर में कर्मादि की प्रचुरता के कारण अज्ञान भी रहेगा । जबकि जीव द्रव्य चेतनात्मा ज्ञानमय—ज्ञानपूर्ण ही है । फिर भी अज्ञानी कैसे कहना ? अतः यहाँ पर भिन्न भिन्न अपेक्षाओं से वाच्य बनाया है । इसमें ज्ञानावरणीय कर्म की प्रचुरता के कारण, आवरण रूप आच्छादक बन जाने से आत्मा का ज्ञानगुण ढक जाता है । अनादि—अनन्त कालीन ऐसी त्रैकालिक शाश्वतता के कारण आत्मा सदा नित्य शाश्वत द्रव्य है । अतः कदापि सर्वथा आत्मा के ज्ञान का अभाव तो हो ही नहीं सकता है । हाँ, जरूर ज्ञानावरणीय कर्म आत्मा पर छा जाता है । गाढ आवरण बन जाता है । जैसे सूर्य पर गाढ काले घने बादलों के छा जाने से जो अन्धकार छा जाता है वह भी रात्री के अन्धेरे के सामने हजारों गुना कम है । फिर भी ऐसी स्थिति में... जो

प्रभारूप प्रकाश वह भी हमारे व्यवहार के लिए पर्याप्त है । उसको सर्वथा रात्री भी नहीं कहेंगे । ठीक इसी तरह आत्मा पर ज्ञानावरणीय कर्म का तीव्रतम आवरण छा जाने के बावजूद भी सर्वथा ज्ञान का अभाव न होकर आंशिक ज्ञान भी प्रकट तो रहेगा ही । अतः अज्ञान का अर्थ ज्ञान का अभाव न करते हुए ज्ञान की न्यूनता--अल्पता ही अर्थ करना उचित है । शास्त्रकार महर्षि फरमाते हैं कि—

**सव्व–जियाणमक्खरस्स अणंतमो भागो निच्चं उग्घाडियो चिट्ठइ ।**
**जइ पुण सोवि आवरिज्जा तेणं जीवो अजीवत्तणं पाउणिज्जा ।।**

आगमशास्त्र में कहते हैं कि— सर्व जीवों में अक्षर = अर्थात् केवलज्ञान के अनन्तवें भाग का ज्ञान भी नित्य प्रकट रहता ही है । यद्यपि भारी ज्ञानावरणीय कर्म के कारण जीवात्मा आवृत्त भी हो, ज्ञान गुण आच्छादित भी हो फिर भी ज्ञान के अनन्तवें भाग के रूप में प्रकट रहने से जीव का जीवत्व टिका हुआ है । जागृत रहेगा । इसी कारण जीव के जीवत्व का एवं ज्ञान का सर्वथा अभाव या नाश होनेवाला ही नहीं है । इसीलिए अज्ञान शब्द ज्ञान की अल्पता की सूचक—द्योतक बनता है ।

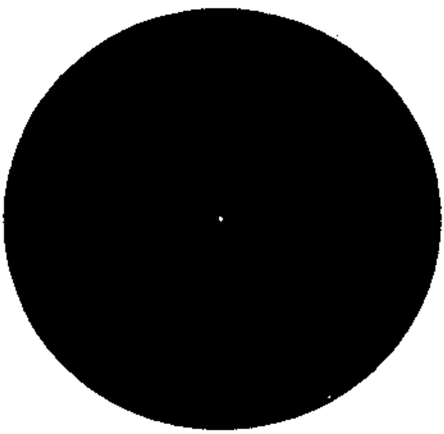

तीव्र ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से जो आत्मा पर आवरण लगा है और उसके उदय से जो अज्ञान सामने आया है वह मिथ्यात्व है या नहीं ? अज्ञानता की उपस्थिति में जो मिथ्यात्व उदय में रहता है वह अनाभोगिक मिथ्यात्व कहलाता है । लेकिन सभी मिथ्यात्व अज्ञानमूलक नहीं रहते हैं । अज्ञान और आग्रह इन दो पर मिथ्यात्व जीता है । अज्ञान और आग्रह की इन दो पटरियों पर मिथ्यात्व की गाडी चलती है । अज्ञान पर तो फिर भी कम लेकिन आग्रह की बुद्धि पर ज्यादा ।

इसलिए **"विपरीतः भावः मिथ्याभावः"** इस प्रकार विपरीत— अल्प—विकृत ज्ञान मिथ्याज्ञान—मिथ्यात्व कहलाता है । दूध यदि प्राकृतिक स्वरूप में ग्रहण किया जाय तो बहुत ही अच्छा रहता है । दूध में शक्कर मिलाया जाय तो शक्कर उसकी प्रकृति

बढानेवाला बनता है। लेकिन ... दूध में यदि नींबू का रस डाला जाय तो वह दूध को विकृत कर देगा। फाड देगा। फटा दूध पीने को मन भी नहीं करेगा। क्योंकि अब उसमें विकृति आ गई है। अतः दूध के प्राकृतिक गुणधर्मों के नष्ट हो जाने से अब विपरीतता आ गई है। वह विपरीत विकृति नुकसान करती है। ठीक इसी तरह मिथ्यात्व सत्य से उल्टा—विपरीत है। सम्यक्त्वी का जो ज्ञान सर्वथा सत्यस्वरूप प्रत्येक विषय में रहता है। लेकिन मिथ्यात्वी का मिथ्याज्ञान प्रत्येक बात में उल्टा बनता है।

**मिथ्यात्व ज्यादा नुकसानकारक है या अज्ञान ?—**

मिथ्यात्व और अज्ञान दोनों का ख्याल आ जाने के पश्चात् अब यह ढूँढ लेना चाहिए कि दोनों में से ज्यादा नुकसानकारक कौन है ?

१) अज्ञान का अर्थ ज्ञान का अभाव लिया जाय ... (यद्यपि सर्वथा ज्ञान का अभाव चेतनात्मा में तो हो ही नहीं सकता है। इसका वर्णन ऊपर कर चुके हैं।) हमारे में किसी एक विषय के ज्ञान का अभाव हो सकता है। किसी में शरीर के अन्दर के अवयवों के कार्य के बारे में सर्वथा जानकारी नहीं होती है, ओपरेशन के विषय के ज्ञान का सर्वथा अभाव होता है। वैसे ज्ञान के अभाव के कारण क्या ज्यादा नुकसान होगा ? यदि हमारे में सूर्य—चन्द्र संबंधी ज्ञान का सर्वथा अभाव हो तो क्या ज्यादा नुकसान होगा ? जी नहीं ? यदि किसी विषय के ज्ञान का अभाव हो तो वह ज्ञान उस व्यक्ती को प्राप्त कराया जा सकता है। आसान है।

२) दूसरे अर्थ में अज्ञान अर्थात् अल्पज्ञान .... यदि किसी व्यक्ती को किसी विषय का ज्ञान बहुत अल्प = कम हो तो कितना नुकसान होगा ? मानों कि हमें राज्यतन्त्र का सर्वथा अल्पज्ञान हो, फिर भी हमारा जीवन चलता रहता है। ज्यादा नुकसान नहीं है। ये दोनों अभाव एवं अल्पार्थक, ज्ञान प्राप्त कराने से समझ सकते हैं, आसानी से।

३) तीसरा व्यक्ती मिथ्यात्वी है। मिथ्या अर्थात् सत्य से—सच्चे अर्थ से सर्वथा विपरीत जानकारीवाला हो। ऐसे विपरीत जानकारीवाले के पास आंशिक सत्य की जानकारी होती है, वह सच्चा मार्ग भी थोडे अर्थ में जानता है लेकिन सर्वथा जानबूझकर विपरीत—उल्टा चल रहा है। दूध में शक्कर डालने की अपेक्षा वह नींबू का रस डालकर दूध को फाडकर—विकृत करके पी रहा है। वैसा व्यक्ती कदाग्रह—दुराग्रह पूर्वक उल्टा ही चल रहा है। ऐसा मिथ्यात्वी व्यक्ती होता है।

सोचिए, इन तीनों में ज्यादा नुकसानकारक कौन होता है ? पहले दो सरल हैं। उन्होंने अपने अज्ञान का निवारण करने के लिए ज्ञान प्राप्त करने के लिए दिल और दिमाग के दरवाजे खुल्ले रखे हैं। जब भी मौका मिले तब ज्ञान प्राप्त करने के लिए यदि उसे समझाया जाय तो वह तैयार रहता है। परन्तु इन दोनों की अपेक्षा मिथ्यात्व हजारों गुना ज्यादा खतरनाक होता है। यह अभिनिवेशभाववाला कदाग्रह—दुराग्रह की पक्कडवाला होता है। अतः जल्दी बदलने के लिए तैयार नहीं है। दिल—दिमाग के रास्ते सब बंद करके रखे हैं।

**मिथ्यात्व का आधार—कषाय—**

क्रोध—मान—माया और लोभ इन चार कषायों में से मिथ्यात्व का आधार किस पर है ? मिथ्यात्व किसके मिश्रण से बनता है ? इसके उत्तर में उदयरलजी महाराज सज्झाय की पंक्ती में स्पष्ट कर रहे हैं— "माया मां मिथ्यात्व रे प्राणी म करीश माया लगार" माया—कपट की वृत्ति में मिथ्यात्व रहता है। यह माया के घोल से बनता है। जैसे रोटी किसमें से बनती है ? गेहूँ के आटे में से। इस तरह मिथ्यात्व का आधार माया—कपट की वृत्ति रखना। किसी के ठगने का कार्य करनेवाला मायावी होता है। वह जानता है कि सच्चा मार्ग क्या है फिर भी उसे उल्टा ठगता है। कपट वृत्ति से सीधा व्यवहार करने के बदले उल्टा व्यवहार करता है वह मायावी है। ठीक इसी कषाय में से मिथ्यात्व का जन्म होता है।

क्रोध आवेशधारक—गुस्सा करनेवाला जरूर होता है। वह मार—पीट भी कर सकता है। परन्तु क्रोध के कारणों में कई बार सत्य का भी आधार होता है। सच्चाई के लिए भी गुस्सा किया जाता है मान—अभिमान करनेवाला मानी—अभिमानी होता है। उसे उपनी सत्ता—पद से मतलब होता है। वह भी कई बार सीधे रास्ते चलता है। लेकिन ... मायावी सीधा चल ही नहीं सकता है। वह वक्र टेढा चलता है। लोभ वृत्तिवाला लोभी अपने को कुछ लाभ हो, मिले उसके लिए प्रयल करता है। वस्तु या पैसे से उसको मतलब है। हाँ, वह लोभ के लिए भाव बढा कर जरूर कहता है। इसलिए झूठ जरूर लगता है। परन्तु माया कपट नहीं करता है। इन चारों प्रकार के कषायों को करनेवालों में ... मायावी—कपट वृत्तिवाला माया—छल करनेवाला मायावी सबसे ज्यादा खतरनाक होता है। मायावी ठग वृत्ति से दूसरों को ठगता है। संसार में तो किसी भी वस्तु आदि के लिए माया—कपट की जा सकती है। लेकिन ज्ञान के क्षेत्र में भी माया—कपट की वृत्ति करके किसी को ठगा जा सकता है। सामनेवाली व्यक्ती को आत्मा—परमात्मा मोक्षादि विषयों

के बारे में किसी को गलत मार्गदर्शन करता है । उल्टा ही सब सिखाता है । उसकी आत्मा को इस श्रद्धा के विषय में ठगता है । किसी की श्रद्धा को नुकसान पहुँचाता है । उसकी सच्ची मान्यता को धक्का पहुँचाता है । इस तरह मायावी उल्टी विपरीत मनोवृत्ति रखता है। उसकी विपरीत वृत्ति के कारण वह स्व–पर दोनों का नुकसान करता है। आत्मा–मोक्षादि विषयों में किसी अन्य व्यक्ती को सही समझ देनी तो दूर रही परन्तु विपरीत उल्टा ही समझाकर उसे उल्टे रास्ते ले जाता है । अपना और दूसरों का दोनों का अहित करता है। अतः स्व–पर उभय घातक होता है मिथ्यात्वी। मिथ्यात्व संसारभ्रमणकारक होता है ।

**मिथ्यात्वी की विपरीत वृत्ति—**

**अदेवे देवता बुद्धिरगुरौ च गुरुता मतिः ।**
**अधर्मे धर्मबुद्धिर्या मिथ्यात्वं तदुदीरितम् ॥**

मिथ्यात्व की वृत्ति के कारण . . . वैसी बुद्धि–दृष्टि के कारण उसकी विचारधारा सर्वथा विपरीत हो जाती है। संसार की सांसारिक दृश्य वस्तुओं के व्यवहार एवं मान्यताओं में मिथ्यात्वी को कहीं कोई तलकीफ नहीं है । संसार के दृश्य सभी हीरा मोती–रत्नों आदि सभी वस्तुओं को वह जानता है–मानता है। घर परिवार में भी सगे–सम्बन्धी सभी व्यक्तियों को वह मानता है । लौकिक व्यवहार की सभी वस्तुओं को जानने–मानने में उसे कोई एतराज नहीं है । सिर्फ लोकोत्तर कक्षा के जो तत्त्वभूत पदार्थ हैं उन्हें मानने में ही आपत्ति है। आत्मा–परमात्मा–मोक्षादि जो अदृश्य तत्त्व हैं जो ज्ञानगम्य हैं उन्हें मानने में ही तकलीफ है । इसके कारण सत्यान्वेषी बुद्धि ही उसकी नष्ट हो जाती है। १) देव २) गुरु और ३) धर्म ये तीन आधारभूत तत्त्व हैं। इनमें सबका समावेश हो जाता है । इन तीनों में सर्वथा विपरीत वृत्ति करके जानना–मानना और जगत में दूसरों को समझाना आदि व्यवहार में सर्वत्र विपरीतता ही रखता है ।

१) देव शब्द यहाँ देवाधिदेव का संक्षिप्त रूप है । जो तीर्थंकर परमात्मा का वाचक है। जो सर्वथा राग–द्वेषरहित वीतरागी हो, धर्मतीर्थ की स्थापना करनेवाले तीर्थंकर भगवान हो, आत्मा के काम–क्रोध–मोहादि समस्त अरियों का नाश करनेवाले अरिहंत हो, तथा जो सर्वज्ञ सर्वदर्शी हो, उन्हें ही उपास्य–आराध्य देव के रूप में मानना ही उचित है । उन्हें देव कहते हैं । लेकिन मिथ्यात्वी इस सत्य को भी छोडकर ठीक इससे विपरीत स्वरूपवाले को ही देव भगवान कहता है । जो राग–द्वेषग्रस्त हो, क्लेश–कषायग्रस्त हो,

काम—क्रोध—मोहादि वाले रागी—द्वेषी हो उनको ही भगवान मानता है। जो तीर्थंकर की कक्षा में प्रवेश ही नहीं सकते हैं, जो अरिहंत नहीं हैं उनको ही वह मिथ्यात्वी भगवान मानता है। तथा सर्वज्ञानी न हो सर्वदर्शी भी न हो तो भी उन्हें भगवान मानता है। सब तत्त्वभूत पदार्थ के केन्द्र में जो प्ररूपक परमात्मा है उनके विषय में ही विपरीत वृत्ति रखनेवाला मिथ्यात्वी की विचारधारा कैसी होगी ?

२) दूसरे क्रम पर भगवान के बाद गुरु का स्थान है। भगवान के ही बताए हुए मार्ग का जगत् को प्रतिपादन करनेवाले गुरु भी कैसे होने चाहिए... किसी जीव का संसार बढानेवाले नहीं होने चाहिए। भले ही सर्वथा वीतरागी न भी हो फिर भी वैरागी तो होने ही चाहिए। सर्वपापमुक्त होने ही चाहिए। गुरु स्वरूप से संसार से विरक्त—काम—मोहादि के त्यागी—तपस्वी होने ही चाहिए। लेकिन मिथ्यादृष्टि जीव ऐसे सुयोग्य गुरुओं को गुरु न मानकर उनसे सर्वथा विपरीत स्वरूपवाले रागी—द्वेषी काममोहादि में डुबे हुए ऐशआरामी—भोगविलासियों को ही गुरु मानता है। नशेबाज व्यसनियों—नशेडियों को ही गुरु मानता है। अरे ! जो हिंसादि की वृत्ति में फसे हुए हैं उनको भी गुरु मानकर पूजता है। पापाचार के त्यागी न भी हो, तपश्चर्या न भी करते हो, फिर भी पापोपदेश करनेवालों को भी गुरु मान लेता है। परिणामस्वरूप मिथ्यात्वी अपना भी बिगाडता है और दूसरों का भी अहित करता है।

३) धर्म के बारें में भी मिथ्यात्वी का रुख सर्वथा विपरीत ही होता है। मिथ्यात्वी आत्मलक्षी—आध्यात्मिक धर्म में रुची न रखता हुआ संसार बढानेवाले आरंभ—समारंभात्मक कार्य प्रवृत्ति में तथा भवभ्रमण बढानेवाले धर्म में रस लेता है। उसे ही ऊँचा धर्म मानकर चलता है। सर्वज्ञ प्ररूपित धर्म को धर्म न मानकर अल्पज्ञों के मत—मतान्तर—संप्रदायों को ही परम धर्म मान लेता है। जिसके लिए सिद्धान्त का आधार कुछ भी न हो उसे ही वह धर्म मानकर चलता है। इस तरह अदेव में देव बुद्धि, अगुरु—कुगुरु में गुरु बुद्धि, तथा अधर्म—हिंसाचारादि पापप्रवृत्ति में धर्मबुद्धि मानकर चलनेवाला मिथ्यात्वी मिथ्यात्वग्रस्त होकर स्व—पर का अहित करता है।

## मिथ्यात्व के भेद-प्रभेद—

**यद्यपि जीवादिपदार्थेषु तत्त्वमिति निश्चयात्मकस्य सम्यक्त्वस्य प्रतिपक्षभूतं मिथ्यात्वं द्विविधमेव पर्यवस्यति - जीवादयो न तत्त्वमिति विपर्यासात्मकं**

**जीवादयस्तत्त्वमिति निश्चयाभावरूपानधिगमात्मकं च। तदाह वाचकमुख्यः "अनाधिगमविपर्ययौ मिथ्यात्वम्" इति। –**

"धर्मपरीक्षा" ग्रन्थ के ८ वे श्लोक की टीका में कहा है कि– जीवादि नौं तत्त्वों में निश्चयात्मक तत्त्वबुद्धि का नाम है सम्यक्दर्शन = सम्यक्त्व। और ठीक इससे विपरीत जीवादि नौं तत्त्वों में वैसी निश्चयात्मक बुद्धि का सर्वथा अभाव और विपरीत उल्टी बुद्धि को मिथ्यात्व कहते हैं। ऐसे मिथ्यात्व के मुख्य दो भेद होते हैं—

१) विपर्यासात्मक       २) अनधिगमात्मक

१) जीवादि तत्त्वभूत पदार्थों को तत्त्वरूप यथार्थ—सही अर्थ में न मानने की वृत्ति को प्रथम विपर्यासात्मक मिथ्यात्व कहते हैं। और २) जीवादि तत्त्वभूत पदार्थ हैं ऐसा ज्ञान ही न होने के कारण, अर्थात् निश्चय ज्ञान के अभावरूप अज्ञान को अनधिगमात्मक मिथ्यात्व कहते हैं। इस तरह उमास्वाति वाचकमुख्यजी ने भी प्रशमरति ग्रन्थ की टीका में भी ऐसे ही भेदों का वर्णन किया है।

वैसे इन दो भेदों में मिथ्यात्व का विभाजन करके स्वरूप वर्णन किया है। परन्तु विस्तार से और ज्यादा स्पष्ट करने की दृष्टि से इन्हीं दो के पाँच भेद करते हुए पंचसंग्रह ग्रन्थकार ने पाँच नाम इस प्रकार दर्शाए हैं—

**अभिग्गेहि अणभिग्गहं च, तह अभिनिवेसियं चेव।**
**संसइअ मणाभोगं, मिच्छत्तं पञ्चहा एव       ॥ ८५ ॥ पंचसंग्रह**

१) अभिग्रहिक, २) अनाभिग्रहिक, ३) अभिनिवेशिक, ४) सांशयिक और ५) अनाभोगिक ये पाँच प्रकार के मिथ्यात्व दर्शाए गए हैं।

### १) अभिग्रहिक मिथ्यात्व—

अभिग्रह अर्थात् एक प्रकार की पकड़। कई लोग ऐसे भी होते हैं जो अपने—अपने मत का आग्रह रखते हैं। हमने जो ग्रहण किया है वही सच्चा धर्म है, भले ही वह गलत भी हो, झूठ भी हो, परन्तु हम तो इसे ही मानेंगे, नहीं छोड़ेंगे ऐसा अभिग्रह अभिग्रहिक मिथ्यात्व कहलाता है। विपरीत बुद्धि के कारण अतात्त्विक किसी भी दर्शन को सत्य मानना एवं युक्त तत्त्वों के प्रति अश्रद्धारूप मति अभिग्रहिक मिथ्यात्व कहलाती है। प्रवाह रूप से आई हुई मान्यता को बिना समझे—विचारे पकड़ के रखना, अपने मत का कदाग्रह (हठ) रखना, उसमें सत्यासत्य की परीक्षा न करना, यह अभिग्रहिक मिथ्यात्व कहलाता

है । उदाहरणार्थ **"तातस्य कुपोयमिति ब्रुवाणः कापुरुषाः क्षारं जलं पिबन्ति"** "यह मेरे बाप का कुआ है" ऐसे बोलनेवाले कायर पुरुष खारा पानी पीते रहते हैं । अन्यत्र मीठा पेय जल मिलने पर भी अपने हढाग्रह के कारण खारा पानी पीते रहना, और मीठा पानी पीने न जाना, यह अभिग्रहिक मति है । ठीक ऐसे ही हिंसाचारादि में धर्मबुद्धि मानकर उसे करते रहना, परन्तु अहिंसा के धर्म को न अपनाना, जैसे गाय को गोमाता मानकर, उसमें ३३ करोड़ देवताओं का वास मानकर, उसकी पूजा भी करना, और यज्ञ—याग—होम—हवन में उसका वध करने की हिंसा को भी धर्म मानने की बुद्धि यह सम्यग् कैसे हो सकती है ? अश्वमेध यज्ञ या पशु पुरोडाशवाले हिंसापरक यज्ञ से स्वर्ग प्राप्ति होती है, ऐसी मान्यता कैसे सम्यग् हो सकती है ? फिर भी हमारी मान्यता हम नहीं छोड़ेंगे, ऐसा मिथ्या आग्रह अभिग्रहिक मिथ्यात्व कहलाता है । सारंभी—परिग्रही, कुशीलवान को भी धर्म बुद्धि से पकड़कर रखना, उन्हें ही आदर्श मानना, एवं दुराग्रह—कदाग्रहवृत्ति से जिसका विवेक रूप दीपक बुझ गया है, ऐसे अविवेकी—पाखंडी एवं पापाचार की भोगलीला चलानेवाला तथा उसे ही धर्म मानकर उसमें ही पड़े हुए एवं उसमें से बाहर न निकलनेवाले अभिग्रहिक मिथ्यात्व से ग्रसित हैं । इसमें सच्चे तत्त्वों के प्रति अश्रद्धा होती है । विपरीत समझ एवं अभिग्रह पकड़ की प्राधान्यता रहती है ।

### २. अनभिग्रहिक मिथ्यात्व—

न अभिग्रंहः इति अनभिग्रहः । अर्थात् पक्कड । न अभिग्रह अर्थात् जिसमें कदाग्रह—दुराग्रह नहीं है, परन्तु सच्चे—झूठे सबके प्रति समान बुद्धि है, उसे अनभिग्रहिक कहते हैं । जैसे मणि और कांच दोनों ही समान हैं । हीरा, रत्न और पत्थर सब एक सरीखे ही हैं । ऐसी ही मान्यता तत्त्व—धर्म—भगवानादि के विषय में रहती हो, उसे अनभिग्रहिक मिथ्यात्व कहते हैं । इस में किसी एक ही भगवान या धर्म का कदाग्रह न रहते हुए, सभी भगवान या धर्म के प्रति समान बुद्धि रहती है । पीलेपन के कारण सोना और पीतल सभी एक सरीखे हैं ऐसा मानना । ठीक वैसे ही कोई विशेष तुलना या परीक्षा आदि न करते हुए धर्म—भगवान—एवं तत्त्व के विषय में भी समान बुद्धि या एक सी धारणा रखना, और कहना कि सब भगवान भगवान ही तो हैं । इसलिए सभी भगवान एक ही है । जगत्पिता एक ही है । मात्र नाम भिन्न—भिन्न हैं । चाहे जो भी कोई नाम भजो भगवान—भगवान के बीच में कोई फर्क नहीं है । उसी तरह सभी धर्म एक ही हैं । धर्म कोई अलग—अलग नहीं हैं । जैसे एक शहर तक पहुँचने के अनेक रास्ते हैं । चाहे जिस रास्ते से जाओ, सभी रास्ते

एक जैसे ही हैं । वैसे ही मोक्ष तक पहुँचने के लिए सभी धर्ममार्ग एक जैसे हैं । इसलिए सभी धर्म एक सरीखें हैं । ऐसी मान्यता अनभिग्रहिक मिथ्यात्वी की होती है ।

ऐसा मिथ्यात्वी भेल–सेल–मिलावट–मिश्रण करनेवाले व्यापारी के जैसा होता है । वह अच्छे–खराब सबका मिश्रण करके चलता है । रागी और वीतरागी, द्वेष और क्षमाशील, क्रोधी और समता के सागर, सर्वज्ञ और कर्मसहित, अनभिग्रहिक मिथ्यात्वी सभी को एक जैसे भगवान के रूप में ही मानता है क्योंकि उसकी बुद्धि ही वैसी है । वह न तो परीक्षा करता है और न ही तुलना करता है । जैसे मणि–कांच–सोना–पीतल, हीरा–पत्थर, दूध–छाछ आदि सभी को एक मानने की बात करता है । मुख्य कहना तो यह है कि ऐसे मिथ्यात्वी में दरअसल या तो ज्ञान ही नहीं है या तुलना करने की बुद्धि ही नहीं है । इसमें यथार्थ समझ का अभाव एवं सरलता मुख्य रूप से कारण बनती है । मतिमंदता एवं जडता के मुख्य कारण से वह मिथ्यात्वी रहता है । जैसे एक फेरीवाला अपने माल की बिक्री के लिए रास्ते पर चिल्लाता रहता है । सब एक–एक रुपया, कोई भी वस्तु खरीदो, सब एक–एक रुपया । ऐसा फेरीवाला जो दस पैसे, चार आने, आठ आने की वस्तु की कीमत भी एक रुपया, और दो–चार–आठ रुपये की वस्तु की कीमत भी एक रुपया, इस तरह सब को एक जैसी बताता है । वैसे ही अनभिग्रहिक मिथ्यात्वी जीव भी सच्चे–झूठे, त्यागी–भोगी सभी भगवान, गुरु और धर्म को एक जैसा ही मानता है । यह उनकी अनभिग्रहिक मिथ्यावृत्ति है । कई बार इस प्रकार के मिथ्यात्वी जीव ऐसा कहकर अपनी बात किसी के दिमाग में ठसाते हैं कि– अरे भाई ! मैं तो उदार वृत्तिवाला हूँ, विशाल भावना वाला हूँ, मैं संकुचितवृत्तिवाला नहीं हूँ । इसलिए सभी भगवान को और सभी धर्म को एक ही मानता हूँ । इसलिए ऐसी उदार या विशाल भावना के कारण मैं बड़ा एवं महान् बनना चाहता हूँ । इस तरह वह अपनी वृत्ति दूसरों को भी समझाता है । स्वाभाविक है कि शब्दों की ऐसी मीठी जाल से दूसरे उसकी मिथ्यावृत्ति की भी प्रशंसा करने लग जाते हैं और उसे एक अच्छा उदार दिल, विशाल भावनावाला मानने लगते हैं ।

अनभिग्रहिक मिथ्यात्वी की ऐसी विचारधारा एवं विशालता और उदारता के बारे में यदि महातर्क–युक्ति एवं बुद्धिपूर्वक सोचें तो कुछ और ही लगेगा । तर्क–युक्ति से ऐसी दुविधा खड़ी करते हैं कि– १) जितना पीला है उतना सोना है, या जितना सोना है उतना पीला है । २) जो चमकती है वह चांदी है या जो चांदी है वह चमकती है । ३) जो स्त्री है वह माता है या जो माता है वह स्त्री है । ४) जहाँ धुँआ होता है वहाँ अग्नि रहती है या जहाँ अग्नि होती है वहाँ धुँआ रहता है । ५) जो मनुष्य है वह खाता है या जो खाता है

वह मनुष्य कहलाता है । ६) जो अरिहंत होते हैं वे भगवान कहलाते हैं या जो भगवान होते हैं वे अरिहंत कहलाते हैं । ७) जो हीरा होता है उसे रंगीन पत्थर कहना या जो रंगीन पत्थर होता है उसे हीरा कहना । ऐसे संदेहास्पद अर्थात् थोडी देर के लिए दुविधा में डालनेवाले ऐसे तर्क—युक्ति वाले कई प्रश्न खड़े होते हैं । परन्तु इनमें सही—सत्य छिपा हुआ है । तर्क एवं युक्तिपूर्वक तीक्ष्ण बुद्धि चलानेवाला इन में से सही सत्य का सार खोज निकालेगा । परन्तु ऐसा अनभिग्रहिक मिथ्यात्वी जो कि मंदमति है वह बुद्धि का उपयोग करने की झंझट में नहीं पड़ता है । तुलना और परीक्षा करने की भी उसकी वृत्ति नहीं होती है । अतः यह सब एक है ऐसा आसानी से कहता और मानता है । यदि परीक्षक बुद्धि से तुलना और परीक्षा करके सत्य खोजने के लिए छानबीन की जाय तो इसमें से हल्का—पतला सा अन्तर रखनेवाला सत्य अन्तर जरूर मिलेगा । छाछ में घी नहीं दिखाई देते हुए भी मंथन करने पर जो नवनीत निकलता है उसमें से घी प्राप्त होता है । सत्य की खोज करना यह सम्यक्त्वी का कार्य है ।

उपरोक्त तर्क—पूर्ण वाक्यों में सत्य खोजने की बुद्धि से यदि देखा जाए तो स्पष्ट दिखाई देता है कि... १) जो सोना होता है वह पीला जरूर होता है परन्तु जो पीला होता है उसे सोना नहीं कह सकते हैं । लेकिन सोने को जरूर पीला कहते हैं । २) जो चांदी होती है वह जरूर चमकती है, परन्तु जो कुछ चमकती हुई हो उसे चांदी नहीं कह सकते हैं, क्योंकि जिंक धातु भी चांदी की तरह चमकीली होती है । अतः न तो जिंक को चांदी कहते हैं और न ही चांदी को जिंक कह सकते हैं । चमकीलेपन के सादृश्य से धातु एक जैसी दिखाई देती है, परन्तु एक नहीं होती है । ३) जो माता होती है वह स्त्री अवश्य ही है, परन्तु जो स्त्री होती है वह माता नहीं भी होती है क्योंकि वंध्या भी स्त्री जरूर है परन्तु वह माता नहीं होती है । इस तरह स्त्रीपने का सादृश्य होते हुए भी मातृत्व भाव अलग ही है । ४) जहाँ धुंआ रहता है वहाँ अग्नि अवश्य ही रहती है परन्तु जहाँ अग्नि रहती है वहाँ धुंआ नहीं भी रहता है । तप्त अयःपिंड अयोगोलक भट्टी में तपाया हुआ लोहे का गोला बाहर रखा हुआ हो वहाँ अग्नि जरूर रहती है, परन्तु धुंआ नहीं होता है । ५) जो मनुष्य है वह जरूर खाता है, परन्तु खानेवाले सभी मनुष्य नहीं भी होते हैं, क्योंकि पशु भी खाते हैं । ६) जो अरिहंत होते हैं वे अवश्य भगवान कहलाते हैं, परन्तु जो भगवान कहलाते हैं वे अरिहंत नहीं भी होते हैं, क्योंकि ऐसे कई रागी—द्वेषी एवं भोगलीलावाले भी अपने आपको भगवान कहते हैं । तथा वर्तमान कलियुग में कई बन बैठे हुए भगवान भी हैं जो भोगलीला एवं पापलीला चला रहे हैं । वे अपने आपको भगवान कहते और कहलाते हैं, वे अरिहंत वीतराग नहीं कहला सकते हैं । कोष के आधार पर 'भग' शब्द के १४ अर्थ

बताए गए हैं। अतः १४ प्रकार के भगवान हो सकते हैं। परंतु अरिहंत तो मात्र वीतरागी–सर्वज्ञ ही होते हैं। ७) जो हीरा होता है, वह जरूर रंगीन पत्थर कहलाएगा, क्योंकि वह पत्थर की जाति के हैं और रंगबिरंगी हैं, परन्तु हर रंगीन पत्थर हीरे की जाती का नहीं होता है। अतः वह हीरा नहीं कहलाता है। रंगीनता का सादृश्य होते हुए भी जाति रूप से हीरे और पत्थर का भेद रहता है।

इस प्रकार के तर्क–युक्त पूर्वक विचार करना अनभिग्रहिक मिथ्यात्वी के लिए बड़ा मुश्किल है। अतः वह बौद्धिक व्यायाम नहीं करना चाहता है। इसलिए सब भगवान एक है। सब धर्म एक है। इत्यादि मानना उसके लिए बड़ा आसान और सरल लगता है, परन्तु अच्छी तरह से विचार करें तो ऐसा लगेगा कि हम ठगे जा रहे हैं। पीला देखकर यदि सोना खरीद लिया तो नुकसान हमारा ही होगा। इसलिए सोने की भी परीक्षा करके ही खरीदना चाहिए। सोने की परीक्षा भी आसान नहीं है। कष–छेद–भेद और ताप इन चार प्रकार से परीक्षा की जाती है। उसी तरह संसार के व्यवहार में हर वस्तु की परीक्षा करके ही उन्हें स्वीकार करें। तार्किकशिरोमणि पूज्य हरिभद्रसूरी महाराज कहते हैं कि **धर्मो धर्मार्थिभिः सदा ज्ञेया परिक्षितैः**। धर्मार्थी–धर्म की इच्छावाली आत्मा को सदा धर्म की परीक्षा करके ही उसे स्वीकारना चाहिए। शायद आप सोचेंगे कि हमें धर्म की परीक्षा करने का क्या अधिकार है ? हम किस बुद्धि से भगवान की परीक्षा करें। हमारे पास कहाँ इतना ज्ञान है कि हम तत्त्वों की परीक्षा कर सकें ? बात सही है। सोचिए, हमने सोने की परीक्षा कैसे की ? कसोटीपर कसके ही परीक्षा की कि यह सोना है। वैसे ही धर्मशास्त्रों ने हमें एक कसौटीरूप सिद्धान्त बताए हैं जिससे हम भगवान और धर्म की भी परीक्षा कर सकते हैं। उदाहरण के लिए **नमो अरिहन्ताणं** पद दिया है। अरिहंत परमात्मा को नमस्कार किया है। भगवान को अरिहंत शब्द से संबोधित किया है, अरि = आंतर शत्रु। काम, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष आदि आत्मा के आभ्यन्तर शत्रु हैं। हंत अर्थात् हनन = नाश करना। अरिहंत अर्थात् राग–द्वेषादि आंतर शत्रुओं के विजेता, ऐसे अरिहंत भगवान को नमस्कार किया गया है। नमुत्थुणं के पाठ में **नमुत्थुणं अरिहंताणं भगवन्ताणं** ये शब्द पहली संपदा में दिये गये हैं। अर्थ है– नमस्कार हो अरिहन्त भगवन्तों को। यहाँ प्रश्न उठता है कि जो–जो अरिहंत होते हैं वे भगवान होते हैं ? या जो जो भगवान होते हैं वे अरिहन्त होते हैं ? इस तर्क का उत्तर यदि हम दें कि जो जो भगवान होते हैं वे अरिहन्त होते हैं तो सोचिए ! यह कहाँ तक सही लगेगा ? क्योंकि संसार में भगवान कई प्रकार के होते हैं, तथा भगवान शब्द के भी कई अर्थ होते हैं। भोगलीला करनेवाले को भी लोग

भगवान कहते हैं । कोई अपने आप ही भगवान बन बैठते हैं । कोई 'संभोग से समाधि' ऐसे पापाचार, दुराचार एवं दंभ चलानेवाले भी भगवान कहलाते हैं । कोई चमत्कारों को दिखाकर भी भगवान बनने का स्वांग करते हैं । इस तरह ऐसे कर्मयुक्त रागी–द्वेषी कई भगवान बन बैठते हैं । वे अरिहंत वीतराग कैसे हो सकते हैं ? क्योंकि अरिहंत तो राग–द्वेषादि सर्व आभ्यन्तर–कर्मशत्रुरहित होते हैं । इसलिए जो–जो भगवान होते हैं वे अरिहंत हैं, ऐसा मानना, या कहना सही नहीं है, तर्क–युक्तिशून्य है । इसलिए **"नमुत्थुणं अरिहंताणं भगवान्ताणं"** इस पाठ की रचना में शब्दों को जो क्रम दिया है, वह इस तर्क–युक्ति का प्रमाण सिद्ध करता है । अतः जो–जो अरिहंत होते हैं वे भगवान अवश्य कहलाते हैं । यही इस परीक्षा (या कसौटी) पर खरा उतरता है । इस दृष्टिकोण से सोचने पर भी सब भगवान एक है यह बात रत्तीभर भी सही नहीं लगती है ।

एक सज्जन ने प्रश्न किया कि भक्तामरस्तोत्र आदि कई स्तुतियों में कई भगवानों के नाम एक साथ लेकर नमस्कार किया गया है तो उसमें क्या समझना चाहिए ? उदाहरण के लिए—

**भवबीजांकुर जनना रागादयो क्षयमुपागता यस्य ।**
**ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै ॥**

**बुद्धस्त्वमेव विबुधार्चितबुद्धिबोधात्**
**त्वं शंकरोऽसि भुवनत्रय–शंकरत्वात् ।**
**धातासि धीर ! शिवमार्गविधेर्विधानात्,**
**व्यक्तं त्वमेव भगवन् ! पुरुषोत्तमोऽसि ॥**

इन स्तुतियों में ब्रह्मा, विष्णु, हर–महादेव, तथा जिन भगवान आदि सभी को एक साथ नमस्कार किया गया है । वैसे ही भक्तामरस्तोत्र की इस स्तुति में भी बुद्ध, शंकर, धाता–विधाता, पुरुषोत्तम आदि भगवान के नामों का एकसाथ उल्लेख करके नमस्कार किया गया है ।

"सब भगवान एक है" ऐसा वे मानते या स्वीकारते होंगे । तभी तो उन्होंने ऐसी स्तुतियाँ की होंगी ?

महाशयजी ! आपका कहना ठीक है । परन्तु इसका रहस्य समझने पर सम्भव है कि भ्रान्ति दूर हो जाय । आपने उपरोक्त स्तुति में सिर्फ भगवान के प्रचलित नामों पर ही ध्यान दिया है, परन्तु समूचे अर्थ पर ध्यान नहीं दिया है ऐसा लगता है । देखिए, सभी को

नमस्कार जरूर किया गया है, परन्तु वह नमस्कार सशर्त किया गया है। **भवबीजांकुरजनना रागादयो क्षयमुपागता यस्य।** अर्थात् भव–संसार के बीजरूप राग–द्वेष आदि का जिसने सर्वथा क्षय कर दिया है ऐसे नामधारी चाहे जो भी कोई हो, भले ही वे ब्रह्मा हो, विष्णु हो, हर हर महादेव हो, या जिनेश्वर भगवान हो, उन सब को मेरा नमस्कार हो। इसमें सब भगवान को एक मानकर नमस्कार नहीं किया गया है, परन्तु यदि वे सभी राग–द्वेषादि आभ्यंतर कर्म–शत्रुरहित हो तो उन्हें मेरा नमस्कार हो, नाम से भले चाहे जो भी कोई हो। जैन धर्म में नाम की महिमा नहीं है, परन्तु गुणों की महिमा है। अतः जैन धर्म व्यक्तिवाची या व्यक्तिपरक नहीं है। यह गुणवाची या गुणपरक है। नमस्कार महामन्त्र में किसी भगवान का नाम नहीं लिया गया है, और न ही नामवाची मन्त्र बनाए गए हैं। इसलिए **"नमो महावीराणं" "नमो आदीश्वराणं"** आदि मन्त्र नहीं दिये गए हैं। वैसे ही **"नमो भगवन्ताणं"** आदि ऐसी वाक्यरचना भी नहीं बनाई गई है। परन्तु **"नमो अरिहंताणं" "नमो सिद्धाणं"** आदि महान अर्थवाले मन्त्रपद दिये गये हैं। इसलिए आदीश्वर, महावीरस्वामी आदि चौबीस तथा भूतकाल आदि अनन्त भगवानों का समावेश इस अरिहंत–सिद्धपद में हो जाता है। अतः नमो महावीराणं आदि पदों की अपेक्षा नमो अरिहंताणं नमो सिद्धाणं आदि पद अनेकगुने अधिक महानार्थक एवं सार्थक हैं। आदीश्वर एवं महावीर स्वामी आदि भी भगवान कब कहलाए ? जब वे अरिहंत बने तब, अर्थात् काम, क्रोध मान, माया, लोभ, राग, द्वेषादि सर्व आत्मशत्रुओं का क्षय करके कर्मरहित वीतराग बने तब वे अरिहन्त भगवान कहलाएं। इसलिए स्तुति में इसे शर्तपूर्वक नमस्कार किया गया है कि– यदि ब्रह्मा, विष्णु, शंकर–महादेव आदि कोई भी हो, परन्तु यदि वे भव–बीजरूप राग–द्वेषादि कर्म से रहित हो तो ही उन्हें नमस्कार हो, अन्यथा नहीं। भक्तामरस्तोत्र की स्तुति में मानतुंगसूरि महाराज ने बुद्ध, शंकर, धाता–विधाता और पुरुषोत्तम आदि शब्दों का प्रयोग व्याकरणानुसार व्युत्पत्तिजन्य अर्थ लेकर जिनेश्वर भगवान को ही बुद्ध, शंकर, विधाता एवं पुरुषोत्तम आदि नामों से सार्थक सम्बोधित किया है।

इस तरह तर्क–युक्ति–बुद्धिपूर्वक विचार किया जाय तो "सब भगवान एक हैं" ऐसी अनभिग्रहिक मिथ्यात्वी की दृष्टि एवं मान्यता लेकर उपरोक्त स्तुतियाँ नहीं की गई हैं। तुलनात्मक एवं परीक्षात्मक बुद्धि से सही–सत्य समझते हुए ऐसी स्तुतियाँ महापुरुषों ने की है, वे महान सम्यग्दर्शनी थे। अतः सम्यक्त्वी तुलना एवं परीक्षा करके सब भगवान में से वास्तविक सही भगवान ढूँढ निकालने में परिश्रम करता है, जबकि मिथ्यात्वी के लिए "सब भगवान एक है", यह कहना बिना बुद्धि के उपयोग के बड़ा आसान है।

अनभिग्रहिक मिथ्यात्वी एक और रसप्रद बात ऐसी कहता है कि— मैं तो "बड़ी उदारवृत्तिवाला हूँ" एवं "विशाल भावनावाला हूँ" इस तरह मैं बिना पक्षपात या भेदभाव के सब भगवान को एक मानता हूँ इसलिए मेरी विशाल भावना बहुत ऊँची है। आपाततः ऊपरी दृष्टि से देखने पर यह बात अच्छे—अच्छे के गले उतर जाती है। कई लोग इसे स्वीकारने भी लग जाते हैं। परन्तु यह भी कहाँ तक सही है? यह देखने के लिए पुनः हमें गहराई में जाकर परीक्षा करनी पडेगी। एक सीधे—सादे उदाहरण से समझा जाय तो कैसा लगेगा? यह आप सोचना। एक पतिव्रता स्त्री यह कहे कि मैं संकुचित वृत्तिवाली नहीं रहना चाहती हूँ, मैं भी उदार भावना एवं विशाल मनोवृत्तिवाली होकर सभी पुरुषों को पति मानना चाहती हूँ। सभी पुरुष मेरे पति हैं। अतः मैं किसी एक को ही क्यों मेरा पति मानूँ? उदारता से सभी को पति मानती हूँ। आखिर दाम्पत्य जीवन का सांसारिक सुख तो सभी से एक जैसा ही मिलता है। सभी पुरुष एक सरीखे ही हैं। मात्र नाम भेद ही भिन्न—भिन्न हैं, परन्तु देह सादृश्य से एक जैसे ही हैं। इसलिए संकुचित बंधन छोड़कर सभी को मेरे पति मानूँ। यह कितनी बडी उदारता है।

सज्जनों! सोचिए, क्या आपकी ही पत्नी यदि ऐसा कहे तो चलेगा? क्या आप इस बात को स्वीकार करेंगे? सभा में से उत्तर— नहीं, नहीं। यह कभी भी बर्दास्त नहीं होगा। वह पतिव्रता स्त्री कैसे कहलायेगी? यदि यह सभी को पति मानती है तो वेश्या कहलायेगी। फिर वेश्या और पतिव्रता में अन्तर क्या रहा? यदि हम हजारों वर्षों का इतिहास देखे तो अनेक सतियाँ एवं महासतियाँ शुद्ध, एक पतिव्रता धर्म पालकर महान हुई हैं। सभी मेरे पति हैं, ऐसा विचार उन्होंने स्वप्न में भी नहीं किया, व्यवहार में भी कोई ऐसा नहीं बोलती है। यदि एक स्त्री पति के विषय में ऐसा नहीं बोल सकती है, तो एक भक्त भगवान के विषय में सब भगवान एक हैं ऐसा बोले, यह कहाँ तक उचित हैं? एक पति के प्रति शुद्ध धर्म पालकर यदि सति—महासति बन जाती है। तो एक भगवान के प्रति शुद्ध धर्म पालकर भक्त महान् सम्यक्त्वी बन सकता है। इसलिए आनंदघन जैसे अवधूत योगी महात्मा भी अपने भगवान को प्रीतम—प्रियतम मानकर स्वयं उसकी पत्नी प्रियतमा भाव से रहकर एक पतिव्रता धर्म की तरह अखंड एवं सचोट श्रद्धायुक्त धर्म से भगवान को कहते हैं कि—

**ऋषभ जिनेश्वर प्रीतम माहरो, और न चाहूँ रे कंत।**
**रीझ्यो साहिब संग न परिहरे, भांगे सादि अनंत॥**

हे ऋषभ जिनेश्वर ! तूही मेरा प्रीतम (भगवान) है, तेरे बिना किसी अन्य को मैं पति (भगवान) नहीं मानता हूँ । इस तरह वीतराग को भगवान मानकर अन्य किसी को भगवान रूप नहीं मानने का शुद्ध सत्य विचार उन्होंने प्रीतम की उपमा की कल्पना से दर्शाया है । इस तरह "सब भगवान एक हैं" "सब धर्म एक हैं" "सभी आत्मा एक हैं" इत्यादि मान्यताएं अनभिग्रहिक मिथ्यात्वी की हैं । यह किसी भी रूप में सम्यग् नहीं हैं । अतः प्रयत्न विशेष से ऐसी मिथ्याधारा दूर करके शुद्ध सम्यक्त्व की मान्यता करना ही लाभदायक है ।

### ३. अभिनिवेशिक मिथ्यात्व—

अभिनिवेश अर्थात् कदाग्रह या हठाग्रह । इस प्रकार के कदाग्रह में यह सत्य और असत्य, तत्त्व और अतत्त्व, धर्म और अधर्म, ईश्वर और अनीश्वर, आदि का स्वरूप यद्यपि मनुष्य जानता है फिर भी वह कदाग्रहपूर्वक अपने हठाग्रह को छोड़ने के लिए तैयार नहीं होता है । कदाग्रह की बुद्धि के कारण अहंकार आदि के वश होकर, जानबूझकर सत्य का लोप करके, असत्य का ही आग्रह रखता है । उसे अभिनिवेशिक मिथ्यात्व कहते हैं । असत्य की पकड़ में अहंकार मुख्य काम करता है । अभिग्रहिक मिथ्यात्वी और अभिनिवेशिक मिथ्यात्वी में अन्तर इतना ही है कि पहला सत्य को न जानते हुए असत्य की पकड़ रखता है, जबकि अभिनिवेशिक मिथ्यात्वी सिद्धांत के सत्य स्वरूप को जानते हुए भी सत्य का लोप करके, अभिमान आदि के कारण, कदाग्रहवश असत्य की पकड़ रखता है । शास्त्रों में जैसे गोष्ठामाहिल की बात आती है, वर्तमानकाल में भी कई लोग ऐसे हैं, जो सिद्धांत का सही स्वरूप जानते हुए भी, सामप्रदाहिक वृत्तियों के वश होकर, अपने पक्ष और गच्छ आदि के वश होकर, असत्य की प्ररूपणा करते हैं । उदाहरणार्थ जिनदर्शन—पूजा आदि का आगम शास्त्रों में उल्लेख होते हुए भी व्यवहार में असत्य की प्ररूपणा करनी कि यह सब झूठ है, गलत है, इसमें पाप है । शास्त्रों में आलू, प्याज आदि कई प्रकार के अनन्तकाय बताए गए हैं, शास्त्र पढ़कर वैसा मानते भी हैं, फिर आचार व्यवहार में अभक्ष्य—अनन्तकाय आदि का भक्षण करते हैं । स्वाभिमान—मोह—ममत्ववश होकर, अपनी बात को वापिस ले लेने में अपमान होने या मान खंडित होने का भय लगता है । इसलिए भी असत्य की पकड़ मजबूत रखता है । मेरा ही कहा हुआ सत्य है ऐसा कदाग्रह रखता है । जो मेरा कहा हुआ है वही सत्य है, परन्तु जो सत्य है वह मेरा नहीं है । *might is right but right is not might* ऐसी उनकी मनोवृत्ति रहती है । यह अभिनिवेशिक मिथ्यात्वी की विचारधारा है, जबकि यह सही नहीं है । वास्तव में देखा जाय तो यह सत्य

है कि *right is might but might may not be right* जो सत्य है वह मेरा जरूर है, परन्तु जो मेरा है वह शायद सत्य न भी हो, यह सम्यक्त्व की सही मान्यता है। परन्तु अभिनिवेशिक मिथ्यात्वी ठीक इससे विपरीत मान्यता हठाग्रहवश रखता है। असत्य की पकड़ रखकर वह जोर–जोर से उसकी विपरीत प्ररूपणा करता है। नया मत निकालने में वह अग्रसर होता है। तथा अपने नये मत को निश्चय की तरफ, या एक तरफ ढालने में, और उसकी मजबूत पकड़ रखने में गौरव मानता है। मरने के अन्तिम क्षण तक भी असत्य को छोड़कर क्षमा–याचना करके सत्य स्वीकार करने की उसकी तैयारी नहीं होती है। जमालि आदि जैसे, निह्नव एकदेशीय नयवाद को मुख्यता देनेवाले, जिन्होंनें भगवान के अनेकान्तिक एकसापेक्षवाद को ठुकराकर, अपनी एकदेशीय एकान्तिक मान्यता को जबरदस्ती लोगों के दिमाग में ठसाने का प्रयत्न किया, वे भी अभिनिवेशिक मिथ्यात्वी कहलाए हैं। अभिग्रहिक मिथ्यात्व, सर्वज्ञ वीतराग के दर्शन को न पाये हुए अन्यमती को, अपने एकमत के आग्रहवाले को होता है जबकि अभिनिवेशिक मिथ्यात्व तो सर्वज्ञ–वीतराग के दर्शन को पानेवाले जीवन में भी हो सकता है, जैसे कि जमालि आदि को था।

**जावइया वयणपहा, तावइया चेव हुँति नयवाया।**
**जावइया नयवाया, तवइयं मिच्छत्तं॥**

जितने ही वचन अभिप्राय विशेष हैं, उतने ही नयवाद होते हैं और जितने ही नयवाद होते हैं, उतने ही मिथ्यात्व के प्रकार होते हैं। **वक्तुरभिप्रायः विशेषो नयः**। नय का लक्षण इस प्रकार बताया है कि वक्ता अर्थात् बोलनेवाले का अभिप्राय, विशेषविचार, नय कहलाता है। नय सभी निरपेक्ष–एकान्तिक होते हैं। एक नय दूसरे नय की अपेक्षा न करता हुआ, स्वतन्त्र चलता है। अतः एकनय मिथ्यात्व कहलाता है। ऐसे जगत में अनेक लोग हैं, अनेकों के अपने–अपने विचार–अभिप्राय भिन्न–भिन्न हैं। कहा गया है कि "पिण्डे पिण्डे मतिर्भिन्ना" हर मनुष्य की मति भिन्न–भिन्न होती है। जितने दिमाग उतने विचार होते हैं। जितने विचार उतने नय होते हैं। अतः जितने नय उतने सभी मिथ्या–स्वरूप होते हैं। अतः एकान्तिक एकनय की पकड़ रखना यह मिथ्यात्व कहलाता है। अन्य नयों का स्वरूप जानता हुआ भी, यदि उनका सापेक्ष रूप से विचार न करते हुए एकान्त एकनय को पकड़कर ही चलता है, तो वह भी अभिनिवेशिक मिथ्यात्वी कहलाता है। यह भी अच्छा नहीं है। अतः सभी नयों का समुदित सापेक्ष ज्ञान करके, उन्हें प्रमाणरूप से स्वीकारने में सम्यक्त्व है।

**४. सांशयिक मिथ्यात्व—**

इस नाम से ही अर्थ स्पष्ट है कि वह संशयप्रधान वृत्तिवाला है। शंकाशील जीवों को ऐसा सांशयिक मिथ्यात्व होता है। हर बात में शंका मुख्य रूप में रहती है। सर्वज्ञ—केवलज्ञानी भगवान के बताए हुए जीव—अजीव, लोक—परलोक, स्वर्ग—नरक, पुण्य—पाप, मोक्षादि तत्त्व वास्तव में होंगे भी सही या नहीं ? क्या मालूम नहीं भी होंगे ? फिर भी सर्वज्ञ भगवान ने लोगों को नरकादि का भय दिखाकर सुधारने के लिए बता दिये होंगे। शंका की आदत पड़ने के कारण वह यहाँ तर्क कुतर्क करने लग जाता है कि महावीरस्वामी भी हुए थे या नहीं ? इस बात में क्या प्रमाण है ? संभव है शायद मुनि महाराजों ने लोगों को नीति—रीति समझाने के लिए कपोलकल्पित रूप से महावीर स्वामी का मनघडंत एक रूपक चरित्र खड़ा कर दिया होगा ? एक युवक ने आकर ऐसा प्रश्न मुझे पूछा। मैंने सोचा कि यह सांशयिक मिथ्यात्वी जीव है। हर बातों में शंका—संशय रखता है। शंका के कुतर्क खड़े करता रहता है। मैंने ईट का जवाब पत्थर से देने की युक्ति से कुतर्क के सामने दुसरा कुतर्क फैंक ही दिया। अरे ! सुन, ये तेरे पिता है इसका तेरे पास क्या प्रमाण है ? किस प्रमाण या प्रूफ से तू यह कहता है कि यह मेरे पिता हैं ?

युवक— महाराज ! मेरी मम्मी ने मुझे बताया है कि ये तेरे पिता है।

मैंने कहा— इसे कैसे सत्य मानें ? तेरी मम्मी झूठ नहीं बोलती है इसका क्या प्रमाण है ? तेरे पास पक्का ठोस प्रत्यक्ष प्रमाण क्या है ? दूसरों के कहने पर तू यह मानता है। इसमें हम कैसे विश्वास रखें ? और यदि मम्मी या पप्पा के कहने पर तू यह माननें या स्वीकार करने को तैयार है, तो परम्परा से चली आती हुई गुरु—शिष्यों की वंशपरम्परा से महाराज यह कहे कि—महावीर स्वामी ऐसे थे, उस समय हुए थे, उन्होंने यह कहा था इत्यादि मानने या स्वीकार करने में तुझे क्या आपत्ति है ? इस तरह युवक कान पकड़कर बात स्वीकार करके गया।

ऐसे सांशयिक मिथ्यात्वी जीव, सत्य जानते और मानते हुए, या धर्म करते हुये भी अपने शंकाशील स्वभाव के कारण भगवान में, गुरु में, धर्म में, धर्म के फल में, तथा तत्त्वों में संशय करते रहते हैं। वे सांशयिक मिथ्यात्वी कहलाते हैं। इस तरह शंका—कुशंका करके अपनी श्रद्धा को वह दूषित करता रहता है और मिथ्यात्व का कलंक लगता रहता है। सम्यक्त्व में भी कदाग्रह—दुराग्रह या पूर्वग्रहवश होकर शंका कुशंकाएं खड़ी करना, यह सांशयिक मिथ्यात्वी का काम है। सर्वज्ञ वीतरागी भगवान पर पूर्ण सचोट श्रद्धा न

होने के कारण उनके वचन में, तत्त्व में, धर्म में, धर्मफल में ऐसी शंकाएँ उसके दिमाग में उत्पन्न होती रहती हैं। मन में बार—बार विचार तरंगें उत्पन्न होती ही रहती हैं, कि यह सत्य होगा या नहीं ? भगवान हुए थे या नहीं ? स्वर्ग—नरक लोक—परलोक होंगे या नहीं ? इस तरह सैंकड़ों प्रकार की शंकाएं भूत के रूप में उसके सिर पर सवार होती रहती हैं। नीतिकार ठीक ही कहते हैं— **संशयात्मा विनश्यति—श्रद्धावान् लभते फलम्।** संशयी—शंकाशील आत्मा विनाश लाती है, नष्ट होती है, नाश की दिशा में जाती है, जबकि श्रद्धावान् जीव फल प्राप्त करता है। यहाँ एक बात का स्पष्टीकरण करना है कि जिज्ञासा—जानने की बुद्धि से यदि शंका प्रकट की जाय, अभ्यास हेतु, वाद—चर्चा या शंका—समाधान के रूप में यदि जिज्ञासावृत्ति से, सहजभाव से शंका या प्रश्न किया जाय, यह गलत नहीं है, यह मिथ्यात्व नहीं है। यह भेद तो पूछनेवाले की वृत्ति से ही स्पष्ट हो जाता है। अतः सांशयिक मिथ्यात्व भी घातक होता है, आत्मा का श्रद्धा से अधःपतन कराता है।

**५. अनाभोगिक मिथ्यात्व—**

एकेन्द्रियादि जीवों को, अज्ञान की प्रधानता के कारण, इस प्रकार का अनाभोगिक मिथ्यात्व होता है। अनाभोग = अज्ञानता। अज्ञानता के कारण तत्त्वों के प्रति अश्रद्धा या श्रद्धा के अभाव में विपरीत श्रद्धा ही अनाभोगिक मिथ्यात्व कहलाता है। यहाँ समझशक्ति का अभाव ही मुख्य कारण है। यह एकेन्द्रियादि जीवों में तो होता ही है, और किसी विशेषविषय के अज्ञान के कारण, विपरीतज्ञान या श्रद्धावाले मनुष्यों में भी होता है। परन्तु ऐसा अनाभोगिक मिथ्यात्व मनुष्य अभिग्रहिक और अनभिग्रहिक मिथ्यात्वी की तरह कदाग्रही की तरह पकड़ नहीं रखता है, परन्तु सरल होता है। यदि उसे कोई सही ज्ञान समझा दे तो वह भूल सुधार कर समझने के लिए तैयार होता है, क्योंकि आग्रह—कदाग्रह रहित होता है, और यदि कोई उसे विपरीत ही समझा दे, तो वह विपरीत ही पकड़कर रखेगा, परन्तु सही मिलने पर भूल सुधार भी लेगा। निगोदादि एकेन्द्रिय जीव तथा पंचेन्द्रिय जीवों तक अव्यक्त अवस्था में यह मिथ्यात्व पड़ा रहता है। यह समझपूर्वक नहीं, परन्तु समझ शक्ति का विकास ही नहीं हुआ है उसके कारण है। वस्तुविषयक सही ज्ञान के अभाव में अज्ञानता के कारण यह मिथ्यात्व पड़ा रहता है।

अश्रद्धा के दो अर्थ हैं। १) विपरीत श्रद्धा और, २) श्रद्धा का अभाव। पहले के तीन मिथ्यात्व, विपरीत श्रद्धारूप अश्रद्धावाले हैं। चौथे सांशयिक मिथ्यात्व में श्रद्धा—अश्रद्धा

दोनों का मिश्र भाव रहता है। क्योंकि श्रद्धा का अभाव है। पाँचवें अनाभोगिक मिथ्यात्व में जीव, जो किसी प्रकार का धर्म या दर्शन पाये ही नहीं है, ऐसे एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय आदि तक के जीवों में, श्रद्धा के अभावरूप मिथ्यात्व है। इस तरह मिथ्यात्व के उपरोक्त प्रमुख पाँच भेद बताए गए हैं। शास्त्रकार महर्षियों ने इस मिथ्यात्व को आत्मा का महाशत्रु बताया है। अनेक कर्मबंध की यह मूल जड़ है। अतः मिथ्यात्व दशा में जीव बड़े भारी कर्मों को बांधता है। अतः मिथ्यात्व से बचने के लिए मिथ्यात्व का स्वरूप भिन्न–भिन्न प्रकारों से, अनेक रीति से बताया है, जिसमें दस प्रकार की संज्ञाएं, अभिग्रहिक आदि मुख्य पाँच भेद, लौकिक–लोकोत्तर भेद से ६ प्रकार का और बताया है, जिसका विवेचन आगे करते हैं।

## किस जीव को कौनसा मिथ्यात्व होता है ?

संसार में भव्य अभव्य और जातिभव्य (दुर्भव्य) आदि मुख्यतः इन तीन प्रकार के जीवों में किस जीव में किस प्रकार का मिथ्यात्व रहता है इस विषय में धर्म परीक्षा ग्रन्थकार कहते हैं कि—

**एतच्च पञ्चप्रकारमपि मिथ्यात्वं भव्यानां भवति। अभव्यानां त्वभिग्रहिकमनाभोगं चेति द्वे एव मिथ्यात्वे स्याताम्। न त्वनभिग्रहिकादीनि त्रीणि, अनभिग्रहिविच्छिन्नपक्षपाततया मलाल्पतानिमित्तकत्वाद् अभिनिवेशिकस्य च व्यापन्नदर्शननियतत्वाद् सांशयिकस्य च सकम्पप्रवृत्तिनिबन्धनत्वाद् अभव्यानां च बाधितार्थे निष्कम्पमेव प्रवृत्तेः ॥** धर्मपरीक्षा श्लोक ८ की टीका

उपरोक्त दर्शाए हुए पाँचों प्रकार के मिथ्यात्व जीवों में होते हैं। एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक के सभी जीव, तथा देवता, नारकी, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि सभी प्रकार के जीव इन पाँच प्रकार के मिथ्यात्व से ग्रस्त रहते हैं। वैसे किसी भी जीव में एक साथ पाँचों प्रकार के मिथ्यात्व होते नहीं हैं। संभवित नहीं हैं। एक प्रकार के जीव में एक प्रकार का मिथ्यात्व हो सकता है। एक प्रकार का मिथ्यात्व जाने के पश्चात् दूसरे प्रकार का मिथ्यात्व आ सकता है। उदा. के लिए अनाभोग प्रकार का मिथ्यात्व जाय और अभिग्रहिक मिथ्यात्व का उदय हो ऐसा हो सकता है। उसी तरह... अभिग्रहिक के जाने के बाद अनभिग्रहिक का उदय हो सकता है तथा अनभिग्रहिक के जाने के पश्चात् सांशयिक का उदय हो सकता है। इन चार प्रकारों में परस्पर परिवर्तन हो सकता है। परन्तु एक अभिनिवेशिक मिथ्यात्व का उदय तो सम्यग्दर्शन प्राप्त होने के बाद—वमन होने के बाद अर्थात् चला जाने के बाद यह

मिथ्यात्व होता है । यह अभिनिवेशिक मिथ्यात्व मात्र भव्य जीवों को ही होता है । वैसे पाँचों प्रकार के मिथ्यात्व भव्यों को प्रधानरूप से होते हैं ।

भव्य और अभव्य दोनों जीवों को अनादि काल से मिथ्यात्व रहता ही है । निगोद की अवस्था में भव्य–अभव्य सभी जीव रहे हुए हो उनको अनाभोग नामक मिथ्यात्व होता है । अन्य नहीं । साक्षात् अथवा परम्परा से भी तत्त्व की अप्रतिपत्ति यह अनाभोग मिथ्यात्व का स्वरूप है । एकेन्द्रियादि जीव जो अव्यक्त अवस्था में हैं ऐसे मुग्ध जीवों को जिन्हें तत्त्व क्या और अतत्त्व क्या कुछ भी ख्याल नहीं है ऐसे जीवों को अनाभोग मिथ्यात्व कहते हैं । अर्थात् जिन जीवों में सर्वथा विचार शक्ती ही नहीं होती है ऐसे जीवों में अनाभोग मिथ्यात्व की प्राधान्यता रहती है ।

**अभिग्रहिक मिथ्यात्व–**

यह भी भव्य–अभव्य दोनों जीवों को संभवित होता है । जीवादि तत्त्वों का वास्तविक स्वरूप का ज्ञान न होते हुए भी स्वयं जीव ने जिस विषय की पक्कड पकड कर रखी है, जिसमें उसकी मान्यता हो उसको छोडने के लिए तैयार ही नहीं है । चाहे लाखों युक्तियों से समझाया जाय परन्तु वह किसी भी परिस्थिति में अपनी पक्कड छोडने के लिए तैयार नहीं है । भले ही वह मन में समझ भी लेता है परन्तु अपनी पक्कड–कदाग्रह छोडने के लिए कभी भी तैयार नहीं रहता है । ऐसे अभिग्रहिक मिथ्यात्व के लिए ६ विकल्प धर्मपरीक्षा ग्रन्थकार ने इस प्रकार दर्शाए हैं–

**णत्थि णिच्चो ण कुणइ, कयं ण वेएइ णत्थि णिव्वाणं ।**
**णत्थि य मोक्खोवाओ, अभिग्गहिअस्स छ विअप्पा ॥ १ ॥**

**णत्थित्ति– (टीका) १) नास्त्येवात्मा, २) न नित्यात्मा, ३) न कर्ता, ४) कृतं न वेदयति, ५) नास्ति निर्वाणम्, ६) नास्ति मोक्षोपाय इत्यभिग्रहिकस्य चार्वाकादिदर्शनप्रवर्तकस्य परपक्षनिराकरणप्रवृत्तद्रव्यानुयोगसारसन्मत्यादिग्रन्थ-प्रसिद्धाः षड्विकल्पाः, ते च सदा नास्तिक्यमयानामभव्यानां व्यक्ता एवेति कस्तेषामभिग्रहिकत्वे संशय इति भावः ।**

छः विकल्प– १) आत्मा है ही नहीं । आत्मा जैसी कोई वस्तु ही नहीं है ।

२) आत्मा नित्य ही नहीं है । यदि आत्मा है ऐसा विचार माने तो उसे सर्वथा नित्य मानना ही नहीं । अनित्य मानें ।

३) आत्मा स्वयं अपने कर्म का कर्ता है ऐसा मानने के लिए तैयार ही नहीं हैं।

४) यदि कर्म का कर्ता मानने जाए तो कृत कर्म को भुगतने पडते हैं ऐसा सर्वथा नहीं मानता है। कर्म भोगने जरूरी नहीं हैं।

५) आत्मा का मोक्ष कभी होता ही नहीं है। संभव ही नहीं है।

६) और जब मोक्ष ही नहीं है तो फिर मोक्ष प्राप्ति के उपायरूप धर्म ही नहीं है।

ये छः विकल्प मिथ्यात्व के हैं। ऐसी विचारसरणी मिथ्यात्वी की है। इन छः विकल्प के केन्द्र में मुख्य विषय एक मात्र आत्मा का है। सारा आधार आत्मा पर है। यदि आप आत्मा को मानें तो फिर आगे के दूसरे विषय मानने का प्रश्न खडा होता है। अन्यथा नहीं। मिथ्यात्वी सबसे पहले केन्द्र में आत्मा को मानने—जानने—समझने स्वीकारने के लिए सर्वथा तैयार ही नहीं है।

**सम्यक्त्वी है या मिथ्यात्वी की परीक्षा ?—**

कौन सा व्यक्ती कैसा है ? कौन है ? श्रद्धाशील सम्यक्त्वी है या मिथ्यात्वी ? आस्तिक है या नास्तिक ? यह पहचान करनी हो तो उपरोक्त छः विकल्पों के प्रश्नों से परीक्षा बडी आसानी से की जा सकती है। इन छः प्रश्नों के बारे में किसका उत्तर कैसा रहता है ? क्या वह आत्मा कर्म और मोक्ष को मानने के लिए तैयार है ? यदि वह सामान्य से भी श्रद्धा युक्त होगा तो निश्चित रूप से "हाँ" के रूप में उत्तर देगा। यदि नहीं मानता होगा तो "ना" के रूप में साफ कह देगा। इससे परीक्षा हो जाती है।

व्यक्ती कौन है इसका कोई महत्व नहीं है। लेकिन वह कैसा है इसीका महत्व ज्यादा है। इन ६ विकल्पों में मुख्य ३ विषय हैं। आत्मा, कर्म और मोक्ष। मात्र इन ३ को मानने से सम्यक्त्व नहीं आ जाता है। अतः साथ ही साथ दूसरे ३ जो आचारात्मक हैं, धर्मात्मक हैं उनका भी स्वीकार करना ही चाहिए। मैं भी मानता हूँ। शब्द मात्र से तो क्या वह सम्यक्दृष्टि हो गया ? जी नहीं। ३ विकल्प अस्तित्व का सूचन करते हैं और अन्य ३ विकल्प उनके यथार्थ स्वरूप का स्वीकार करते हैं। मात्र आत्मा है या नहीं इतना ही मानने मात्र से नहीं चलता है। यदि है तो कैसी है ? नित्य या अनित्य ? यह सम्यग् स्वरूप भी मानना जरूरी है। इसी तरह कर्म है या नहीं ? आत्मा कर्म की कर्ता है या नहीं यह स्वरूप किस तरह मानता है ? इसी तरह यही कर्म करनेवाली आत्मा फल भोक्ता भी स्वयं है या नहीं ? यह भी वास्तविक यथार्थ स्वरूप में माननेवाला सम्यक्त्वी और न माननेवाला मिथ्यात्वी कहलाएगा। इसी तरह मोक्ष के विषय में भी सोचना चाहिए। मोक्ष मानता है

कि नहीं ? और शाब्दिक स्वरूप मात्र से माने इतने से क्या होता है ? मोक्ष प्राप्ति का उपाय भी तो मानना ही चाहिए । मोक्ष की प्राप्ति किसको होती है ? आत्मा को । इसलिए मोक्ष को मानने न मानने का आधार आत्मा को मानने न मानने पर है । यदि आत्मा को ही नहीं मानता है तो ऐसा मिथ्यात्वी मोक्ष को मानेगा ? मोक्ष कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है । अस्तित्वधारक स्वतन्त्र द्रव्यरूप नहीं है । वह तो आत्मा की सर्वथा कर्मरहित अवस्था मात्र है । अतः कर्म मानना भी उतना ही अनिवार्य है । सबका आधार एक मात्र आत्मा पर है । अतः मुख्य रूप से केन्द्रीभूत आत्मा द्रव्य को मानना सम्यक्त्व की पहचान है । मिथ्यात्व के अभाव ही पहचान है ।

**आस्तिकता—नास्तिकता—**

अस्तिभूत पदार्थ जिनकी सत्ता है । जिनका अस्तित्व है ऐसे पदार्थों को जो जैसे हैं उसको वैसे ही मानना आस्तिक व्यक्ती की पहचान है । और अस्तिभूत पदार्थ आत्मादि का अस्तित्व जगत में होते हुए भी ऐसे पदार्थों को सर्वथा न मानना ही नास्तिकता कहलाती है । नास्तिकता की विचारधारावाली व्यक्ती नास्तिक कहलाती है । नास्तिक व्यक्ती निश्चितरूप से मिथ्यात्वी ही होते हैं । और मिथ्यात्वी निश्चित नास्तिक ही होते हैं । नास्तिक व्यक्ति आत्मा—परमात्मा—मोक्षादि किसी भी तत्त्वों को मानने से सर्वथा इनकार करनेवाला होता है ।

कहने के लिए तो वैदिक दर्शनवाले लोगों ने जैन दर्शन को भी नास्तिक कह दिया है । जैन दर्शन जो सर्वज्ञ स्थापित दर्शन है । केवलज्ञानी—सर्वज्ञों ने बताए हुए स्वरूप के आधार पर आत्मादि पदार्थों का प्रतिपादन करनेवाला है । ऐसे जैन दर्शन को नास्तिक किस आधार पर कहना ? कौनसी ऐसी नास्तिक शब्द की व्याख्या जैन दर्शन को लागू होगी ? एक भी नहीं । सिर्फ दार्शनिक क्षेत्र में द्वेष बुद्धि से गाली देने की दृष्टि से ही जैन दर्शन को नास्तिक कह सकते हो अन्यथा कोई विकल्प नहीं है । जैन दर्शन को नास्तिक कहना अर्थात् सर्वज्ञ के सिद्धान्त को नास्तिक कहने जैसा है । सर्वज्ञ—सर्वदर्शी जो अनन्तज्ञानी परमात्मा है ऐसे परमात्मा के वचन जो त्रैकालिक शाश्वत सिद्धान्त स्वरूप हैं उनको नास्तिक की मुहर लगानी इससे बडी अज्ञानता और क्या हो सकती है ?

अस्तिभूत पदार्थ जिनका अस्तित्व है ऐसे आत्मा से लेकर मोक्ष तक के सभी विषयों को मानना — वैसी मानने की दृष्टि — मति रखना ही आस्तिकता है । अतः जैन आत्मा—परमात्मा-, स्वर्ग—नरक, लोक—परलोक, पूर्वजन्म—पुनर्जन्म, कर्म—बंध—क्षय,

पुण्य—पाप, धर्म—अधर्म मोक्षादि सभी तत्त्वभूत अस्तित्ववाले सभी पदार्थों को यथार्थ शुद्धस्वरूप में मानते हैं । अतः उनको नास्तिक किस आधार पर कहना ? अब इन सभी तत्त्वभूत पदार्थों के अतिरिक्त ऐसा कौनसा पदार्थ शेष बचता है जिसको कि जैन नहीं मानते हैं ? या जैन इतने जो सभी अस्तित्त्वधारक पदार्थ मानते हैं इससे और ज्यादा किन पदार्थों को वेदान्ति या नैयायिक मानते हैं ? ऐसा एक भी पदार्थ नहीं मिलेगा जिसके बारे में वैदिक—नैयायिक मानते हैं और उसे जैन नहीं मानते हो । हाँ, शर्त इतनी ही है कि... उस तत्त्वभूत पदार्थ का अस्तित्व जरूर होना ही चाहिए । लेकिन आत्मा से मोक्ष तक के सभी पदार्थों में ऐसी एक भी अस्तित्वधारक पदार्थ नहीं है जिसको जैनों से अतिरिक्त रूप में वैदिक या नैयायिक—वैशेषिक मानते हों ।

हाँ, यदि सभी दर्शनों में तुलना की जाय तो यह स्पष्ट होगा कि... सर्वज्ञवादी जैन आत्मादि पदार्थों का स्वरूप ज्यादा शुद्ध स्पष्ट और सत्य यथार्थ वास्तविक स्वीकारते हैं । जबकि वैदिक—नैयायिक—मीमांसक आदि आकाश—शब्द—अंधकार आदि कई पदार्थों का यथार्थ स्वरूप न स्वीकार कर मनघडंत व्याख्या कर रहे हैं । उदाहरण के लिए शब्द जो पुद्गलजन्य पौद्गलिक परमाणुस्वरूप अस्तित्त्वधारक द्रव्य है, ऐसे शब्द को उन्होंने आकाश का गुण कहकर छोड दिया है । वास्तव में हकीकत यह है कि.... शब्द पौद्गलिक द्रव्य है जो परमाणु स्वरूप है । द्रव्य को गुण कह देना या गुण को द्रव्य कह देना ऐसी विपरीत मान्यता सत्य ज्ञान के क्षेत्र में कैसे चल सकती है ? यथार्थ सत्यस्वरूप न मानकर भी यह कह देना कि जैन पदार्थ का सत्य स्वरूप नहीं मानते हैं अतः वे नास्तिक हैं इससे बडी अज्ञानता जगत में और क्या हो सकती है ?

अंधकार अपने आप में तथा प्रकार के पौद्गलिक परमाणुओं का पिण्डरूप समूहात्मक द्रव्य है । और इसे भी तेजाभाव तम कह देने मात्र से कैसे चलेगा ? वर्तमान में विज्ञान ने भी अपने यन्त्रादि द्वारा शब्द का ग्रहण किया है । छायाचित्रादि द्वारा अन्धकार का स्वरूप भी स्पष्ट कर दिया है । हम यह नहीं कहते हैं कि विज्ञान की मुहर लगे तो ही पदार्थ का सत्य स्वरूप प्रकट होता है । जी नहीं । विज्ञान तो जड पदार्थों पर ही आधारित है और मात्र जड पदार्थों का ही विचार करनेवाला है । विज्ञान कोई दर्शन नहीं है । यह कोई सर्वज्ञवादी दर्शन भी नहीं है । आधुनिक विज्ञान मात्र प्रयोगों एवं प्रयोगशालाओं पर आधारित है । अतः विज्ञान के सिद्धान्त परिवर्तनशील हैं । एकसत्यवादिता विज्ञान के क्षेत्र में नहीं है जो सत्य का अन्तिम स्वरूप—चरम सत्य के रूप में प्रतिपादन कर सके ऐसी और इतनी क्षमता वर्तमान जडाधारित विज्ञान के पास सर्वथा नहीं है । फिर भी टी. वी.,

रेडियो, टेलिफोन आदि साधनों से शब्द—ध्वनि—वर्णादि की पौद्गलिकता सिद्ध होती है यह सही है । और इसमें शब्द—ध्वनि तरंगें तथा वर्णादि पुद्गल—परमाणु स्वरूप में थे ही वैसे, है ही उस स्वरूप के । अतः विज्ञान ने यन्त्रों से उनका ग्रहण किया और पुनः निस्तार किया । इसमें कोई आश्चर्य है ही नहीं । जो जैसा था उसे वैसे स्वरूप में प्रकट किया है । हाँ, प्रयोगात्मक माध्यम से यन्त्रों की सहायता से उन परमाणुओं को ग्रहण करना—विसर्जन करना आदि प्रक्रिया द्वारा जगत् के सामने उपयोगी यन्त्र सामग्री के रूप में बडी तादात में देना आदि द्वारा जिस कार्यक्षेत्र का विस्तार किया है वह जरूर सभी के लिए दृश्य है ।

वैदिक मीमासकादि दर्शनों के पास जैनों को नास्तिक कहने के लिए आधारभूत प्रामाणिक कोई युक्ती नहीं बची ... तब उन्होंने ये कह दिया कि ये जैन हमारे वेदों को नहीं मानते हैं, वेदबाह्य हैं, वेदनिंदक हैं, वेदप्रतिपादित तत्वों को नहीं मानते हैं इसलिए जैन नास्तिक हैं । **"नास्तिको वेदनिंदकः"** ऐसी व्याख्या जो सर्वथा मनघडन्त है इसके आधार पर जैनों को नास्तिक कह दिया । अरे ! सर्वसामान्य मनुष्य भी जिसको स्पष्ट रूप से समझ सकता है कि ... न दिखाई देते हुए भी आत्मादि अदृश्य पदार्थों को ज्ञानगम्य रूप में भी यथार्थ मानना स्वीकारना इसी पर आस्तिकता का आधार है । ठीक इससे विपरीत आत्मा—परमात्मा—मोक्षादि तत्त्वभूत पदार्थों का अस्तित्व होते हुए भी न माननेवाले सर्वथा नास्तिक कहलाते हैं । यह व्याख्या ही सर्वथा सही व्याख्या है । इस व्याख्यानुसार चार्वाक लोकायतिक दर्शनवादी ही सच्चे नास्तिक रहते हैं । क्योंकि वे तो ढोल पीटकर खुल्ले आम कह रहे हैं कि .. आत्मा—परमात्मा—मोक्षादि किसी भी अदृश्य तत्त्वों का अस्तित्व जगत् में है ही नहीं । अतः खाओ पीओ और मौज करो ।

**यावज्जीवं सुखं जीवेन्नास्ति मृत्योरगोचरः ।**
**भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ॥**

नास्तिकवादी चार्वाक् कहते हैं कि— अरे ! जब तक जीओ तब तक सुख—चैन से जीओ । मृत्यु के पश्चात् अगोचर तत्त्व कुछ भी नहीं है । जलकर नष्ट हुए देह के पश्चात् वापिस आनेवाला कोई नहीं है ।

**न स्वर्गो नापवर्गो वा नैवात्मा पारलौकिकः ।**
**नैव वर्णाश्रमादीनां क्रियाश्च फलदायिकाः ॥**

नास्तिकवादी स्पष्ट कहते हैं कि .. न तो कोई स्वर्ग है और न ही कोई मोक्ष है । न ही कोई आत्मा है और न ही कोई लोक—परलोक है । इस तरह आत्मा से लेकर मोक्ष तक

किसी भी पदार्थों का अस्तित्व चार्वाक सर्वथा स्वीकारते ही नहीं हैं । अतः वे पक्के नास्तिक हैं । नास्तिक शब्द की व्याख्या सही अर्थ में यहाँ घटती है । परन्तु जैनदर्शन में नास्तिक शब्द की व्याख्या किसी भी स्थिति में घट ही नहीं सकती है ।

क्या आपको नास्तिकवादी चार्वाक और संपूर्ण आस्तिकवादी जैन दोनों के सिद्धान्त एक जैसे—एक समान ही लगते हैं ? एक सर्वथा नहीं मानता है और दूसरे जैन संपूर्ण शुद्ध सत्यस्वरूप स्वीकारते हैं फिर ये दोनों एक, या एक जैसे एक समान कैसे हो सकते हैं ? आसमान—जमीन का इतना बडा अन्तर बीच में होते हुए भी दोनों को एक समान नास्तिक माननेवाला या वैसा कहनेवाला दुनिया का सबसे बडा मूर्ख गिना जाएगा । फिर भी ऐसा कहनेवाले हैं । जब चार्वाकों के साथ तुलना करने की दृष्टि से जैन दर्शन को नास्तिक सिद्ध नहीं कर सके तो अन्त में **"नास्तिको वेदनिन्दकः"** कहकर वेद के निन्दक—वेद की निंदा करनेवाले होने से जैन नास्तिक कहे जाते हैं । ऐसी वेदान्तियों ने बांग पुकारी है ।

लेकिन ऐसे बुद्धिशाली वेदान्ती ने कभी यह क्यों नहीं सोचा कि नास्तिक और वेदनिन्दक इन दोनों में क्या मेल है ? क्या संबंध है ? क्या ये शब्द एक दूसरे के जन्या—जनक है ? या कार्यकारणभाव का संबंध है इनमें ? क्या हाथी से चिंटी उत्पन्न हो सकती है ? या चिंटी से हाथी उत्पन्न होना संभव है ? कदापि नहीं । तो फिर.... नास्तिक शब्द से वेदनिंदक सिद्ध कहना या वेदनिंदक से नास्तिक सिद्ध करना यह एक और प्रकार की अज्ञानता सिद्ध होगी । जो जगत् के सामने स्पष्ट दिखाई देती है । वेदनिंदक और नास्तिक ये परस्पर विपरीत—विरुद्ध शब्द हैं । इन दोनों शब्दों में परस्पर किसी भी प्रकार का संबंध नहीं है । वेदनिंदक से नास्तिक का अर्थ या नास्तिक से वेदनिंदक का अर्थ कभी निकलता नहीं है । न तो कोई कोष ऐसा अर्थ बता रहा है और न ही कोई व्युत्पत्तिशास्त्र ऐसा अर्थ बता रहा है । यह मात्र वैदिकों की अपनी मनघडंत बात है । जो मात्र बैठा दी गई है । दार्शनिकों की गालीप्रदान पद्धति से ऐसा कह दिया जाता है ।

इस तरह के वैदिकों के उत्तर में कल जैन भी ऐसा कह सकते हैं कि— **नास्तिको आगमनिंदकः** जो सर्वज्ञप्रतिपादित आगमशास्त्रों के निंदक हो, विरोधी हो, वे नास्तिक कहलाते हैं । इस तरह वैदिक भी नास्तिक सिद्ध होंगे । जैनों के कहने से वैदिक नास्तिक और वैदिकों के कहने से जैन नास्तिक इस प्रकार की व्याख्याओं को सभ्य विद्वत् शिष्ट समाज क्या कभी स्वीकार करेगा ? जी नहीं, कभी भी नहीं ।

क्या वैदिक विचारसरणी को न मानने से या वेदप्रामाण्य न मानने मात्र से जैन नास्तिक सिद्ध हो सकते हैं ? यदि इस व्याख्या को प्रमाणभूत—आधारभूत मानकर सोचा जाय तो क्या सांख्य—नैयायिक—मीमांसक—वैशेषिक योग आदि अन्य दर्शन सभी वेदप्रामाण्यवादी हैं ? वेद को ही प्रामाण्यरूप से स्वीकार करके वेद के अनुरूप होकर चलनेवाले हैं । इसलिए इन सभी दर्शनों को नास्तिक नहीं परन्तु आस्तिक गिना जाता है । ऐसी दार्शनिक क्षेत्र में प्रचलित मान्यता है । क्या यह सही है ? या विपरीत ? इसका सूज्ञ विद्वानों को तटस्थबुद्धि से विचार करना चाहिए ।

सभी दर्शनों के अभ्यासु स्थूल रूप से जानते ही होंगे— वैसी ऊपर ऊपर की बडी स्थूल कुछ बातें यहाँ मैं प्रस्तुत करता हूँ जिससे इन कहे जानेवाले आस्तिक दर्शनों में परस्पर विसंवादिता तथा विरोधाभास कितना सूर्यप्रकाश की तरह स्पष्ट है उसका ख्याल आएगा ।

उदाहरणार्थ— वेद अपौरुषेय है । अनादि—अनन्त है । अनुत्पन्न—अविनाशी शाश्वत है । वेद किसी ने बनाया नहीं है ऐसी वैदिकों की विचारधारा है । ठीक इससे विपरीत नैयायिक वेदों को पौरुषेय—पुरुषोच्चारित सिद्ध करते हैं । सेंकडों तर्क—युक्तियाँ देकर अपौरुषेय की युक्ती का खण्डन करके पौरुषेयपना सिद्ध करते हैं । यह बडी स्थूल बात है । बिल्कुल उत्तर दक्षिण जैसी सर्वथा विपरीत मान्यता होते हुए भी क्या नैयायिक वेदनिंदक नहीं कहला सकते हैं ? तो क्या उनको कभी नास्तिक या वेदनिंदक कहा है ? नहीं ? क्यों नहीं ?

दूसरी तरफ वैदिक विचारधारा में ईश्वर ही सृष्टि का कर्ता माना है । सारी चराचर—जीव—अजीव समग्र सृष्टि ईश्वर ने ही बनाई है । और वह भी वेद में देखकर बनाई है । "धाता यथा पूर्वमकल्पयत्" जैसी सृष्टि पूर्वकल्प में थी वैसी वेद में देखकर आज इस कल्प में विधाता ने पुनः निर्माण की है । ईश्वर ही सब कुछ कर्ता—हर्ता—पालनहार—सर्जनहार एवं विसर्जनहार—प्रलयकार है — ऐसी वैदिकी विचारधारा के ठीक विपरीत मीमांसक ईश्वर को सृष्टिकर्ता मानने के लिए तैयार नहीं है । मीमांसक मतवादी—कुमारिल भट्ट, प्रभाकर आदि ईश्वरकृत सृष्टि जगत् कर्तृत्ववाद का खण्डन किया है । मीमांसक इसका विरोध स्पष्ट करते हैं । वे इस मान्यता को मानने के लिए स्पष्ट इन्कार करते हैं । तो क्या यहाँ विसंवादिता विरोधाभास नहीं है ? और क्या ऐसी विरोधाभासी विचारसरणी से नास्तिक कहे गए ? क्यों नहीं ?

सांख्य मतवादी विचारसरणी में २५ तत्त्व मुख्य माने गए हैं । पुरुष—प्रकृतिवादी यह सांख्यदर्शन पुरुष का वर्णन जैसा करता है ठीक वैसा ही वेदान्तीमत में ब्रह्म ब्रह्मा या ईश्वर का नहीं मिलता है । सांख्यों में भी दो प्रकार के मत पहले प्रचलित थे । १) सेश्वर सांख्य और दूसरे निरीश्वर सांख्य । ये सांख्य २५ तत्त्वों के ज्ञानमात्र से मुक्ती मानते हैं । जैसा कि वेद में नहीं है । इस तरह वेद से कई प्रकार की विचारधारा भिन्न होते हुए भी आश्चर्य यह है कि... सांख्य को नास्तिक तो नहीं कहा परन्तु ऊपर से वैदिक—आस्तिक दर्शन कहा है । यह कहाँ तक उचित है ?

योगदर्शन के प्रणेता पतञ्जली ऋषि ने वैदिक विचारसरणि से सर्वथा भिन्न ईश्वर का स्वरूप दर्शाते हुए **"क्लेशकर्मविपाकाश्यैरपरामृष्टपुरुषविशेषो ईश्वरः"** कहा है । इन्होंने पुरुषविशेष को ईश्वर माना है जो क्लेष—कर्म के फल से सर्वथा अलग—भिन्न हो । योगदर्शन में ऐसा ईश्वरविशेष भी सृष्टि का रचयिता—जगत् का कर्ता—पालनहार—सर्जनहार—विसर्जनहार नहीं माना गया है तो क्या यहाँ वैदिक मत से भेद नहीं हुआ ? जरूर हुआ । तो क्या योगदर्शन को कहीं नास्तिक कहा है ? क्या उसे अवैदिक कहा है ? क्यों नहीं ?

बौद्ध दर्शन की तो बात ही अलग है । वह क्षणिकवादी दर्शन आत्मा को सर्वथा मानता ही नहीं है । ईश्वर के बारे में कर्ता—अकर्ता के कोई विचार यह कहाँ प्रकट करता है ? बस, शून्यवाद और क्षणिकवाद का नारा ही इनका सबसे बडा सूत्र है । जयघोष है । हाँ, इस बौद्ध दर्शन को सच्चे अर्थ में नास्तिक कहना ही चाहिए क्योंकि ये आत्मा को सर्वथा मानते ही नहीं है । सभी तत्त्वों का आधारभूत तत्त्व आत्मा ही नहीं मानना है जिस पर सभी मोक्षादि तत्त्व आधारित हैं । बौद्ध दर्शन अवैदिक भी है और पक्का नास्तिक भी है । अतः व्याख्या बरोबर घटित होती है ।

लेकिन एक बात साफ ध्यान में रखिए कि— अवैदिक होने से नास्तिक नहीं है । परन्तु आत्मादि आधारभूत तत्त्व को न मानने से नास्तिक सिद्ध होता है ।

**ईश्वरविषयक भ्रान्ति–भ्रमणा—**

क्या ईश्वर शब्द को जगत् के कर्ता अर्थ में ही रूढ कर दिया गया है ? क्या किसी कोष या व्युत्पत्ति अर्थ का, या व्याकरण शास्त्र का ऐसा नियम है कि... ईश्वर शब्द की निष्पत्ति या उत्पत्ति जगत् कर्ता अर्थ में ही है ? सृष्टिकर्ता अर्थ के सिवाय ईश्वर शब्द बन ही नहीं सकता है ऐसा कोई आधारभूत नियम है ? किस शास्त्र में है ? या किस कोष में

है ? जब कहीं भी आधारभूत प्रमाण नहीं मिलता है तो फिर निरर्थक क्यों ऐसी मान्यता प्रचलित कर दी है कि—ईश्वर अर्थात् सृष्टि का सर्जनहार । क्या ऐसी व्याप्ति बनाई गई है कि.. जो जो सृष्टि कर्ता है वह ईश्वर है या जो जो ईश्वर है वह वह अनिवार्य रूप से सृष्टिकर्ता ही है । क्या यह जरूरी है ? क्या ऐसा हो सकता है ? वैदिक मान्यता जो हो वही सही हो ? ऐसा मानकर वैदिक मान्यता की ही बात सभी दर्शनों को माननी ही चाहिए ऐसा कोई नियम है ?

वैदिक दृष्टिकोण से दूसरे दर्शनों को देखना भी गलती है । क्या ऐसा कोई ठेका सभी दर्शनों ने ले रखा है कि... वैदिक दर्शन—जो और जैसा माने वैसा ही सभी दर्शनों को मानना अनिवार्य है ? जी नहीं, कभी भी नहीं । जैन दर्शन स्वतन्त्र दर्शन है । जैन दर्शन को भूल से भी वैदिक दर्शन से निकला हुआ न मानें । न ही जैन धर्म हिन्दुधर्म से निकली हुई शाखा है । जैन धर्म हिन्दु धर्म की शाखा नहीं है । मात्र यज्ञविहित हिंसा का विरोध करने के लिए ही जैन धर्म निकला है । कोई कहता है कि सिर्फ यज्ञीय हिंसा का निवारण करने के लिए ही महावीर ने अवतार लिया है । महावीर को ही जैन धर्म के संस्थापक बताकर जैन धर्म की शुरुआत आदि करनेवाले महावीर को कहा । और जैन धर्म की शुरुआत भ. महावीर से हुई । आज की पठ्यपुस्तकों में ऐसा लिखा जाता है कि.... *Lord Mahaveer was the founder of Jainism . He was 24th Tirthankara .* आश्चर्य तो इस बात का है कि... एक तरफ तो भ . महावीर को जैन धर्म के प्रवर्तक संस्थापक कह रहे हैं और दूसरी तरफ उनको चौबीसवें तीर्थंकर कह रहे हैं । कहाँ गई इन कहलानेवाले विद्वानों की अक्कल ? क्या बिना अक्कल के भी विद्वान कहलाने योग्य हो सकते हैं ? ऐसे तथाकथित विद्वान पाठ्यपुस्तकों में ऐसा लिखकर अपनी अक्कल का प्रदर्शन करके लाखों को गुमराह करने का एवं असत्य भ्रामक विचारधारा प्रचारित करने का इतना बडा अपराध उन कहलानेवाले विद्वानों पर आएगा ।

ऐसे तथाकथित विद्वानों में महाराष्ट्र—पूना शहर के डॉ . पी . एल . वैद्य का पहला नंबर आता है । उन्होंने तो यहाँ तक सीमा का उल्लंघन कर दिया कि.. जैन धर्म पार्श्व नाम के एक संन्यासी ने निकाला है । पार्श्व नाम का एक बावा था । धीरे धीरे उसने अपने गुट में लोगों को इकट्ठा किया और बाद में अपने आपको पार्श्वनाथ कह दिया और जैन धर्म चलाया । फिर वह अपने आप को जैन धर्म का २३ वां तीर्थंकर कहने लगा । ऐसे जैन धर्म में केवलज्ञान जैसी कोई चीज संभव ही नहीं है । तथा ऐसे जैन धर्म में ४५ आगम भी नहीं है । ये जो हैं वे प्राचीन नहीं हैं । ऐसा जैन धर्म सर्वथा नास्तिक धर्म है । इस प्रकार

की ऐसे भले तथाकथित विद्वान डॉ. पी. एल. वैद्य ने मनघडंत शेख चिल्ली की कल्पनाओं को मराठी भाषा में अपने लेख "अवैदिक किंवा नास्तिक दर्शनें" में लिख दिया है। जिसे पूना की वेदशास्त्रोत्तेजक सभा नामक संस्था ने वर्षों पहले छपवाकर प्रसिद्ध किया था। ऐसे महाअज्ञानी अपनी मनघडंत कल्पना को बाहर फेंक कर सबसे पहले तो वे अपने अज्ञान का अक्कलमंदता का—मूर्खता का प्रदर्शन करते हैं और हजारों लोगों को गुमराह करके भ्रमणा में डालकर भटकाते हैं।

थोडी सी रत्ती भर भी अक्कल ऐसे तथाकथित विद्वान में होती तो क्या वे पार्श्वनाथ को एक तरफ तो बावा संन्यासी कहते और दूसरी तरफ २३ वें तीर्थंकर कहते ? यह तो सर्व सामान्य व्यक्ती को भी समझ में आए ऐसी बात है कि २३ के पहले २२ जरूर होने ही चाहिए। २२ होने के बाद ही २३ वे होते हैं। अतः पार्श्वनाथ को २३ वें कहने से यह प्रमाणभूत स्वयंसिद्ध हो जाता है कि... इनके पहले २२ हुए हैं। अगर इन भले तथाकथित विद्वान ने पहले के २२ के बारे में कोई अभ्यास किया होता या इतिहास के परिप्रेक्ष्य में भी देखा होता तो भी कुछ तो ख्याल आता। लेकिन विनाशकाले विपरीतबुद्धिः की कहावत यहाँ चरितार्थ होती साफ दिखाई देती है।

एक तरफ तो तीर्थंकर कहते हैं और दूसरी तरफ केवलज्ञान को ही मानना नहीं है। इस भले आदमी को रत्ती भर भी जैन सिद्धान्तों का ज्ञान हो ऐसा लगता नहीं है... यदि भूतकाल में हुए अनन्त तीर्थंकरों में भी तीर्थंकरपने के साथ केवलज्ञान की व्याप्ति कैसी है ? ऐसा तर्कबुद्धि से भी विचार किया होता तो भी स्पष्ट हो सकता था। उदाहरण के लिए— जो जो तीर्थंकर हैं वे वे केवलज्ञानी हैं ? या जो जो केवलज्ञानी हैं वे वे तीर्थंकर हैं ? अनिवार्यता किसके साथ जुडती है ? अन्वयव्याप्ति होती है या व्यतिरेकव्याप्ति ? जैसे— जहाँ धुंआ है वहाँ अग्नि है या जहाँ अग्नि है वहाँ धुंआ होता है ? किसका किसके साथ अविनाभावी संबंध है ? इसके उत्तर में व्याप्ति स्पष्ट कहती है कि अग्नि धुंए के बिना भी रह सकती है परन्तु धुंआ कभी भी अग्नि के बिना रहना संभव ही नहीं है। एक लोहे के गोल को भट्टी में तपाकर रख दिया जाय तो वहाँ कभी भी धुंआ नहीं रहता है। हाँ अग्नि जरूर है वहाँ। ठीक वैसे ही इस अन्वय—व्यतिरेकी व्याप्ति के न्याय के आधार पर—यहाँ भी विचार किया जा सकता है कि... केवलज्ञान तीर्थंकर के बिना भी रह सकता है। अतः तीर्थंकर के बिना भी गणधर आदि केवलज्ञानी होते ही हैं। परन्तु वे तीर्थंकर नहीं होते हैं। इसीलिए ही वे गणधर कहलाते हैं। जब केवलज्ञान प्राप्त करते हैं तब वे भी केवलज्ञानी सर्वज्ञ कहलाते हैं। परन्तु तीर्थंकर के साथ केवलज्ञान का अविनाभाव

संबंध जुडा हुआ निश्चित ही है । कोई भी तीर्थंकर बिना केवलज्ञान की प्राप्ति के बने ही नहीं है । जब चारों घाती कर्मों के आवरण का सर्वथा क्षय हुआ है तभी वे केवली—सर्वज्ञ एवं तीर्थंकर बने हैं । अन्यथा नहीं । इसलिए केवलज्ञान—सर्वज्ञता के बिना तीर्थंकर पद नहीं रह सकता है । तीर्थंकर पद के बिना सर्वज्ञता केवलज्ञान अन्यत्र गणधरादि में जरूर रह सकता है । अतः तीर्थंकर कहना और केवलज्ञानी—सर्वज्ञ न मानना यह बडी मूर्खता प्रकट करने जैसी बात है । कुछ भी कह देने के लिए पहले सही सच्चा ज्ञान प्राप्त कर लेना अत्यन्त आवश्यक है । अन्यथा अज्ञानता—मूर्खता का प्रदर्शन होता है ।

**जैन ईश्वरवादी है या अनीश्वरवादी ?—**

ईश्वरवादी शब्द का सीधा अर्थ यह है कि . . . ईश्वर के अस्तित्व को मानना । ईश्वर को मानते हुए उसे केन्द्र में रखकर अपना सारा व्यवहार करना । यह ईश्वरवादी का कर्तव्य है । ईश्वर ने ही जो अपने अनन्त ज्ञान से मोक्ष का मार्ग बताया है उसे ही धर्म मानकर चलना तथा ईश्वर की आज्ञा को ही धर्म मानकर उसके अनुरूप जीवन बनाना यह ईश्वरवादी का कर्तव्य है इन नियमों को पालनेवाले को ईश्वरवादी कहते हैं । वह आस्तिक होता है । अतः अस्तिभाव, सत्तारूप पदार्थों के अस्तित्व को माननेवाला आस्तिक होता है । ठीक इससे विपरीतवृत्तिवाला अनीश्वरवादी कहलाता है । अनीश्वरवादी या निरीश्वरवादी ये दोनों शब्द समानार्थक—एकार्थक ही हैं । व्याकरण के नियमानुसार ईश्वर शब्द के आगे निषेध अर्थ को द्योतित करने के रूप में 'अन्' और 'निर्' उपसर्ग लगे हैं । इस उपसर्गों के साथ ईश्वर शब्द जुडकर सन्धि होकर ऐसा रूप बना है । अनीश्वर अर्थात् न—ईश्वर, निरीश्वर = अर्थात् न—ईश्वर, ईश्वर है ही नहीं, ईश्वर को मानना ही नहीं है । ईश्वर के अस्तित्व का सर्वथा निषेध करनेवाले, ईश्वर को ही न माननेवाले दर्शनों को अनीश्वरवादी या निरीश्वरवादी दर्शन कहते हैं । ऐसे दर्शनों में मुख्य रूप से चार्वाक दर्शन की गणना होती है ।

व्याकरण एवं व्युत्पत्ति शास्त्र के आधार पर ऐसा उपरोक्त अर्थध्वनि स्पष्ट निकलती है । वही यहाँ प्रस्तुत की है । लेकिन कुछ ऐसी मान्यता भी प्रचलित करने का प्रयास किया जाता है कि— ईश्वरवादी अर्थात् ईश्वर को ही सृष्टि का कर्ता माननेवाले, जो जो सृष्टि का कर्ता—सर्जनहार होता है वही ईश्वर है । और जो जो ईश्वर है वही सृष्टि का सर्जनहार है । ऐसी ईश्वरवादियों की अपनी मनघडंत विचारधारा है । इसलिए इसके आधार पर वे कहते हैं कि—ईश्वर को सृष्टि का सर्जनहार—पालनहार—संहारक अर्थ में न माननेवाले निरीश्वरवादी या अनीश्वरवादी कहलाते हैं । लेकिन यह व्युत्पत्ति न तो व्याकरण के

नियमानुसार सिद्ध होती है या न ही कोषादि अन्य के आधार पर। वैदिक परंपराधारी जिस प्रकार का जैसा ईश्वर मानते हैं वे वैसा ही स्वरूप दूसरों पर भी आरोपित कर देना चाहते हैं। यह कहाँ तक उचित है ?

ऐसा कोई नियम नहीं है कि— वैदिक जैसा ईश्वर का स्वरूप मानते हैं ठीक वैसा ही सभी दर्शनों को मानना चाहिए। अन्यथा वे नास्तिक कहलाएंगे। यह सर्वग्राही नियम है भी नहीं और हो भी नहीं सकता है। यह तो वैसे वैदिकों की मनघडंत कल्पना मात्र है। अतः कोई जरूरी नहीं है कि— ईश्वर को सृष्टि के रचयिता, जगत् के कर्ता, पालनहार और सर्जनहार स्वरूप में ही मानना। जी नहीं। बिल्कुल ही नहीं। यदि ईश्वर को वैदिक जैसा कहते हैं वैसा सर्जनहार स्वरूप में मानें तो सेंकडों दोष आते हैं। ईश्वर का वास्तविक स्वरूप ही नष्ट हो जाता है। ऐसे सेंकडों दोषों का ढेर जो ईश्वर को कर्ता माननेवाले के पक्ष में आते हैं उन्हें स्वतन्त्र पुस्तक के रूप में प्रकाशित किये हैं। मेरी ही लिखी हुई ईश्वर विषयक पुस्तक को बुद्धिजीवी वर्ग को अवश्य ही पढना चाहिए। उसमें दिये हुए तर्कयुक्त प्रश्नों और युक्तियों को पढकर बुद्धि के स्तर पर सोचना चाहिए। सृष्ट्यादि स्वरूप में ईश्वर का स्वरूप कितना विकृत हो जाता है, कितनी विकृतियाँ आती हैं ? यह वहाँ पढने से ख्याल आएगा। संक्षिप्त स्वरूप में प्रस्तुत पुस्तक के दूसरे अध्याय में भी थोडा पढिए, ख्याल आएगा। सचमुच आपको सत्य कहता हूँ कि ऐसे पढने के बाद आपकी अन्तरात्मा ऐसे स्वरूपधारी को ईश्वर परमेश्वर—परमात्मा मानने के लिए किसी भी स्थिति में तैयार नहीं होगी। दूध प्राकृतिक रूप में पिया जाता तो अमृत का काम करता है और उसे ही यदि नीबू का रस डालकर फाडकर विकृत करके पिया जाय तो वैसी विकृति नुकसान पहुँचाती है। यह नुकसान शारीरिक है। जबकि ईश्वर के स्वरूप को विकृत रूप में ग्रहण करने पर आध्यात्मिक नुकसान बडा भारी होता है। दूध की विकृति के नुकसान का असर १—२ दिन रहेगा, जबकि ईश्वर की विकृत मान्यता के नुकसान का असर सेकडों जन्मों तक रहेगा। क्योंकि सच्ची श्रद्धा ही खतम हो जाने के बाद मिथ्यात्व ही शेष बचेगा। परिणामस्वरूप मिथ्यात्व सेंकडों जन्मों की भव परंपरा बढा देगा। इसलिए अत्यन्त आवश्यक है कि जिस किसी भी पदार्थ का स्वरूप हम जानें, समझें, स्वीकारें, मानें, अपनाएं उन्हें सेंकडों बार प्रमाणों के छन्नो से छानकर शुद्ध करके ही अपने मन में प्रविष्ट करावें।

जैन दर्शन जो सर्वज्ञवादी दर्शन है। सर्वज्ञ—सर्वदर्शी ऐसे तीर्थंकर परमात्मा को ही ईश्वर—अरे ! ईश्वर तो क्या परमेश्वर रूप में मानता है। ऐसे सर्वज्ञ—सर्वदर्शी वीतरागी को परमेश्वर माननेपर यहाँ सृष्टिकर्ता—सर्जनहार—पालनहार—संहारकादि किसी भी विकृत

स्वरूप को नहीं स्वीकारा गया है । अतः आर्हत् ऐसे सर्वज्ञवादी दर्शन ने ईश्वर का परम शुद्ध—शुद्धतम स्वरूप स्वीकारा है । अतः रत्तीभर विकृति को स्थान ही नहीं है जैन दर्शन में ।

जैन दर्शन को जो अनीश्वरवादी या निरीश्वरवादी कहा जाता है उसका सीधा तात्पर्य ईश्वर की सत्ता के अभाव से नहीं है, परन्तु ईश्वर के कर्तापन आदि से मतलब है । ईश्वर के सर्वथा अभाव को माननेवाले जैन होते तो आदिनाथ भगवान से लेकर महावीरस्वामी तक के २४ तीर्थंकर भगवान को परमेश्वर के रूप में कैसे मानते ? भारत भर में सर्वत्र सेंकडों जैन मंदिरों का अस्तित्व है । कई तीर्थ तो प्रागैतिहासिक काल से अपना अस्तित्व आज भी रख रहे हैं । इन सेंकडों जैन मंदिरों में पूजा—अर्चना पद्धति चलती है । जो सहेतुक शुद्ध पद्धति से अखण्ड परंपरा में आज भी चल रही है । ईश्वर—परमेश्वर विषयक सेंकडों प्रकार के स्तोत्रपाठ—स्तुतियाँ, स्तवन—कीर्तन—भजन आदि हैं, लेकिन उनमें कर्ता—हर्ता अर्थ में कहीं कोई शब्द भी नहीं है । परमेश्वर के गुणों की स्तुतियाँ हैं । अतः ईश्वर को संपूर्ण शुद्ध—शुद्धतर—शुद्धतम स्वरूप में सर्वथा राग—द्वेष रहित वीतरागी, वीतद्वेषी, कर्मक्षय करनेवाले अरिहंत, तीर्थंकर तथा सर्वज्ञ—सर्वदर्शी के रूप में माना गया है । यही परमेश्वर—परमात्मा है । इस हेतु से जैन दर्शन को मात्र आस्तिक ही नहीं अपितु परमास्तिक, शुद्ध आस्तिक कहना ज्यादा उचित है । ऐसी मान्यता सचोट बनानी ही सम्यग् दर्शन है ।

**सम्यग् / मिथ्या मान्यता के कारण सम्यक्त्वी—मिथ्यात्वी—**

यदि आपकी मान्यता सम्यक् है तो आप शुद्ध सम्यक्त्वी हैं, सम्यग् दृष्टि हैं । और यदि आपकी मान्यता सर्वथा विकृत एवं विपरीत है तो आप मिथ्यामति, मिथ्यात्वी एवं मिथ्यादृष्टि हैं । मान्यता देव—गुरु—तत्त्व एवं धर्मादि सभी विषयों में है । 'देव' शब्द संक्षिप्त स्वरूप में ईश्वर—परमेश्वर परमात्मा का ही वाची है । सचमुच, देखा जाय तो जैन दर्शन में—'देवाधिदेव' शब्द है । उसके अंतिम अक्षरों का बना हुआ संक्षिप्त प्रयोग 'देव' शब्द जनसामान्य की जीभ पर चढ गया है । यहाँ 'देव' शब्द से स्वर्ग के देवी—देवता अभिप्रेत नहीं है अतः सूत्र में स्पष्ट करते हुए कह रह हैं कि—

**जो देवाणवि देवो, जं देवा पंजलि नमंसंति ।**
**तं देव—देव महिअं, सिरसा वंदे महावीरम् ।।**

जो स्वर्ग के देवताओं के भी देव है, जिनको देवता भी अंजलिबद्ध प्रणाम—नमस्कार करते हैं, ऐसे देवताओं के भी अधिपति परमात्मा महावीरस्वामी को सिर झुकाकर नमस्कार

करता हूँ। अब इस सूत्रपाठ से देव शब्द के विषय में जो भ्रान्तिभ्रमणा थी, वह सर्वथा दूर हो जाती है। ऐसे स्वर्ग के देवताओं के भी अधिपति ईश्वरादि देवताओं से भी जो पूजे गए हैं उन देवाधिदेव परमेश्वर महावीर स्वामी को नमस्कार किया गया है। क्योंकि स्वर्ग के देवी—देवतादि तो रागी—द्वेषी होते ही हैं जबकि परमात्मा सर्वथा वीतरागी है। अतः देव शब्द स्वर्गवाची देवी—देवताओं के अर्थ में यहाँ प्रयुक्त नहीं है। इस तरह परम शुद्ध अर्थ में देव—ईश्वर का स्वरूप समझकर—जानकर—मानकर मिथ्यात्व के विषचक्र में से बाहर निकलना ही चाहिए।

## मिथ्यात्व की १० संज्ञाएं—

मिथ्यात्व, मिथ्यात्वी या मिथ्या दृष्टि का आधार मात्र ईश्वर पर ही नहीं है। ऐसी १० संज्ञाएं भिन्न भिन्न प्रकार की हैं, जिन पर जीवों की मान्यताएं अलग अलग प्रकार की होती है, बनती है। एक मात्र ईश्वर के विषय में मान्यता सही बन भी जाय परन्तु अन्य सभी विषयों में जीव की धारणा सही सम्यग् न भी बने तो वह जीव पुनः मिथ्यात्वी ही कहलाता है। अतः एक मात्र ईश्वर के विषय में मान्यता शुद्ध कर लेने से—भी चलता नहीं है। अन्य सभी मान्यताओं को भी सुधारनी जरूर चाहिए। यद्यपि सर्वज्ञ—सर्वदर्शी परमात्मा जो सब के केन्द्र में है— अतः केन्द्रीभूत ऐसे परमेश्वर के विषय में मान्यता और समझादि शुद्ध हो जाय, सही हो जाय तो शेष अन्य के लिए ज्यादा कठिनाई नहीं आती है। वे आसान है। ऐसी १० संज्ञाएं इस प्रकार हैं—

**धम्मे अधम्म, अधम्मे—धम्मः, सन्ना मग्ग उमग्गाजी।**
**उन्मार्गे मारग की सन्ना, साधु असाधु संलग्गा जी,**
**असाधु मां साधुनी सन्ना, जीव—अजीव जीव वेदो जी,**
**मुत्ते अमुत्त, अमुत्त मुत्तः, सन्ना दस भेदो जी॥**

### १. धर्म में अधर्म संज्ञा—

क्षमा, मार्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, अकिंचनत्व और ब्रह्मचर्य आदि दस प्रकार के धर्म को धर्म रूप न मानना, तथा ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तपादि का धर्म भी न मानना, तथा दर्शन—पूजा, सामायिक—प्रतिक्रमण, आयंबिल—उपवास, तथा पौषध आदि को धर्मरूप न मानते हुए उसमें अधर्म बुद्धि रखना, यह पहली मिथ्यात्व की संज्ञा है।

२. अधर्म में धर्म की संज्ञा—

हिंसा, झूठ, चोरी, दुराचार, व्यभिचार, एवं संभोग में समाधि, अनाचार आदि पाप प्रवृत्ति रूप अधर्म में धर्म की बुद्धि रखना या उसे धर्म मानना।

३. सन्मार्ग को उन्मार्ग मानना—

जिससे आत्मा का कल्याण हो, पुण्य का बंध हो, या मोक्षमार्ग रूप जो सत्यमार्ग है, उसे उल्टा पाप मार्ग मानना, तथा साधु एवं श्रावक के यम—नियम आदि व्रत—महाव्रतादि के मार्ग को गलत मार्ग मानना। इस तरह हितावह सुमार्ग को उन्मार्ग समझना।

४. उन्मार्ग को सन्मार्ग मानना—

जिससे स्वर्ग की प्राप्ति हो, उसे ही मोक्ष का मार्ग मान लेना, या पशुयाग, नरबलि, अश्वमेध यज्ञ, आदि हिंसाजन्य यागादि से स्वर्ग—मोक्ष की प्राप्ति मानना, भोगलीला में ही धर्म मानना, अन्याय, अनीति, कूटनीति, कुरीति आदि में भी पुण्य मानने की बुद्धि, आदि उन्मार्ग को सन्मार्ग मानना भी मिथ्यात्व कहलाता है।

५. असाधु को साधु मानना—

धन—सम्पत्ति—ऐश्वर्य एवं भोगविलासवाले महाआरम्भी—परिग्रही एवं स्त्री—लुब्ध, मोहासक्त, परभावरत, एवं कंचन—कामिनी के भोगी, ऐसे वेषधारियों को साधु मानना, या उन्हें गुरुरूप मानना यह मिथ्यात्व है।

६. साँधु को असाधु मानना—

जो सच्चे साधु हैं, गुण सम्पन्न हैं, कंचन—कामिनी के सर्वथा त्यागी, तपस्वी, पंचमहाव्रतधारी, आरम्भ—परिग्रह के त्यागी, पंचिंदिय सूत्र में बताए गए छत्तीस गुणसम्पन्न, सच्चे साधु महात्मा को साधुरूप या गुरुरूप न मानना यह भी मिथ्यात्व की वृत्ति है।

७. जीव को अजीव मानना—

संसार की चार गति में ५६३ प्रकार के जीवों के भेद बताए गए हैं, ऐसे कृमि—कीट—पतंग—चूहा—बिल्ली, तोता—मैना, कौआ—कोयल, साँप—मोर, गाय—बैल, भेड़—बकरी, हाथी—घोड़ा, स्त्री—पुरुष एवं वनस्पतिकाय आदि स्थावरों में जीव होते हुए भी उनमें जीव न मानना, एवं वे जीवरहित हैं, अतः उन्हें मारने में, खाने में कोई पाप नहीं

है, इस तरह चेतना लक्षणवाले जीव के अस्तित्व को न मानते हुए उल्टे अजीव—निर्जीव हैं ऐसी बुद्धि रखना, यह मिथ्यात्व की संज्ञा है ।

### ८. अजीव में जीव बुद्धि—

यह ऊपर के पक्ष से ठीक उल्टा है । शरीर, इन्द्रियाँ और मन जो कि जीव रूप नहीं है, जो जड़ है, उन्हें जीव मानना, या पौद्गलिक पदार्थ के संयोजन से या रासायनिक संयोजन आदि से जीव उत्पन्न होता है, या जीव बनाया जा सकता है, इस तरह अजीव में भी जीव मानने की बुद्धि यह भी मिथ्यात्व की संज्ञा है ।

### ९. मूर्त को अमूर्त मानना—

जो मूर्तिमान—साकार रूपी पदार्थ है उसे अरूपी—अमूर्त मानना जैसे पुद्गल स्कंध को अमूर्त—अरूपी मानना, या शरीर, इन्द्रिय और मन को अरूपी—अमूर्त मानना, कर्म मूर्त होते हुए भी उसे अमूर्त मानना, यह विपरीत बुद्धि भी मिथ्या संज्ञा है ।

### १०. अमूर्त को मूर्त मानना—

उपरोक्त बात का यह ठीक विपरीत भेद है । इसमें अरूपी अमूर्त आत्मा को रूपी एवं मूर्त—साकार मानने की बुद्धि होती है। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय आदि अरूपी—अमूर्त पदार्थों को रूपी—मूर्त मानना, यह उल्टी मान्यता मिथ्यात्व की संज्ञा है ।

इस तरह मिथ्यात्व के कारण जिसकी मति विपरीत हो चुकी है, वह ऐसी अनेक विपरीत मान्यताएं रखकर चलता है, एवं विपरीत व्यवहार भी करता है । ऐसे और भी कई विषयों में अनेक संज्ञाएं हो सकती हैं । जैसे, वीतरागी—सर्वज्ञ भगवान को रागी—द्वेषी एवं अल्पज्ञ मानना या सर्वकर्ममुक्त सिद्धात्मा में भी राग—द्वेष की संसारी बुद्धि रखना । सर्वकर्मरहित परमात्मा भी दैत्य—दानवों का दमन करते हैं, इच्छा पूर्ण करनेवाले भगवान कहलाते हैं, या राग—द्वेषवाले भोगलीला करनेवाले भी भगवान होते हैं ऐसी मान्यता रखना, यह मिथ्यात्व की मति है ।

इस तरह मिथ्यात्व के कारण जीव कई प्रकार की विपरीत मान्यताएं रखता है । मिथ्यात्वी का सारा ज्ञान विपरीत बुद्धिवाला होता है । ऐसे मिथ्यात्व को दो विभाग में विभक्त किया गया है—१) तत्त्व पदार्थ के विषय में यथार्थ श्रद्धा का अभावरूप मिथ्यात्व, एवं २) अयथार्थ तत्त्व—पदार्थ पर श्रद्धारूप मिथ्यात्व । वैसे आपाततः देखने पर दोनों

भेदों में कोई विशेष अन्तर नहीं लगता है क्योंकि दोनों ही एक दूसरे के ठीक उल्टे हैं। फर्क इतना ही है कि पहला प्रकार मूढ़ या अज्ञान दशा में या समझदार ज्ञानवाले को भी होता है। इस दूसरे प्रकार के मिथ्यात्व में विचारशक्ति का या ज्ञानदशा का विकास होते हुए भी अभिनिवेश के कारण किसी एक दृष्टि को कदाग्रहवश पकड़कर रखने के कारण विचार शक्ति या ज्ञानदशा अतत्त्व के पक्षपात के कारण मिथ्या—दृष्टि हो जाती है। यह उपदेशजन्य होने के कारण अभिग्रहीत कहलाता है, जबकि पहले प्रकार में श्रद्धा का अभाव रूप जो मिथ्यात्व है उसमें विचार दशा विकसित हुई ही न हो, ऐसे अनादिकालीन कर्मावरण के दबाव से जो मूढ़ दशा होती है, ऐसे समय में तत्त्व की अश्रद्धा या अतत्त्व की श्रद्धा भी नहीं होती है। उस समय मात्र मूढ़ता के कारण अश्रद्धा कह सकते हैं। यह उपदेश निरपेक्ष, नैसर्गिक होने के कारण अनभिग्रहीत कहलाती है। किसी दृष्टि पंथ या पक्ष या विपक्ष का एकान्तिक कदाग्रह अभिग्रहीक मिथ्यात्व कहलाता है। यह अभिग्रहीक मिथ्यात्व विकसित विचारशक्तिवाले मनुष्य में होता है। जबकि मूढदशा का अनभिग्रहीक मिथ्यात्व कृमि—कीट—पतंग—पशु—पक्षी आदि मूर्च्छित चैतन्यवाले जीवों में रहता है।

**लौकिक—लोकोत्तर भेद से ६ प्रकार का मिथ्यात्व—**

> **लोकः लोकोत्तर भेदे षड्विध, देव—गुरु वली पर्वजी,**
> **शक्ते तिहां लौकिक त्रण आदर, करतां प्रथम निगर्वजी।**
> **लोकोत्तर देव माने नियाणे, गुरु ने लक्षणहीना जी,**
> **पर्वनिष्ठ इहलोकने काजे, माने गुरुपद लीना जी॥**

## मिथ्यात्व के ६ भेद

| लौकिक मिथ्यात्व | | | लोकोत्तर मिथ्यात्व | | |
|---|---|---|---|---|---|
| लौकिक देवगत | लौकिक गुरुगत | लौकिक पर्वगत | लोकोत्तर देवगत | लोकोत्तर गुरुगत | लोकोत्तर पर्वगत |

तत्त्व के क्षेत्र में देव—गुरु एवं धर्म की तत्त्वत्रयी बताई गई है। इस तत्त्वत्रयी में धर्मसंबंधी सारा तत्त्वज्ञान समाया हुआ है। अतः इन तीन के बाहर धर्म की कोई बात नहीं है। धर्म की समस्त बातें इन तीन में समा जाती हैं। यहाँ पर लौकिक—लोकोत्तर आदि

दृष्टि से देव—गुरु धर्म की रत्नत्रयी का विचार किया जाता है। जानना, मानना और आचरण करना इन तीनों की दृष्टि से जीवों की सम्यग् एवं मिथ्या दृष्टि रहती है। देव—गुरु—धर्म की तत्त्वत्रयी का स्वरूप अपने रूप में तो यथार्थ सही ही है, परन्तु उनका स्वरूप जाननेवाले हमारे जैसे जीव, जानने के विषय में सही या गलत भी जान सकते हैं। उसी तरह मानना अर्थात् श्रद्धा रखने के विषय में सही या गलत श्रद्धा ही रख सकते हैं। उसी तरह आचरण करने के विषय में सही या गलत आचरण भी कर सकते हैं। जो सही आचरण है वह सम्यक्त्व है और जो गलत आचरण है वह मिथ्यात्व है। इस तरह लौकिक एवं लोकोत्तर दृष्टि से देव, गुरु, धर्म की तत्त्वत्रयी की श्रद्धा एवं आचरण करने के क्षेत्र में जो मिथ्या (गलत) पद्धति है, उस मिथ्यात्व के जो ६ भेद होते हैं उनका विवेचन इस प्रकार है—

**१. लौकिक देवगत मिथ्यात्व—**

देव तत्त्व अर्थात् भगवान के विषय में लौकिक और लोकोत्तर दो भेद होते हैं। सर्वज्ञ—वीतरागी लोकोत्तर कक्षा के देव (भगवान कहलाते हैं जबकि रागी—द्वेषी अल्पज्ञ—भोगी—वैभवी तथा मोहादि दोषग्रस्त संसारी ऐसे लौकिक कक्षा के देव को भगवान रूप मानना यह लौकिक देवगत मिथ्यात्व कहलाता है।

**२. लौकिक गुरुगत मिथ्यात्व—**

इसमें गुरु के विषय की बात है। कंचन—कामिनी के भोगी, संसार के संगी, भोगासक्त एवं भोगलीला या पापलीला में रचे—पचे तथा अनाचारसेवी, कंदमूलादि अभक्ष के भक्षक, तथा उन्मार्गदर्शक ऐसे बाबा, फकीर, जोगी—जोगटा, संन्यासी—तापस आदि को जो गुरुपद उपयोगी ३६ गुण के धारक नहीं है, उन्हें भी गुरु के रूप में मानना यह इस प्रकार का मिथ्यात्व है।

**३. लौकिक पर्वगत मिथ्यात्व—**

धर्माचरण के क्षेत्र में पर्व आदि पवित्र दिनों में जो कर्मक्षयकारक उपासना करनी चाहिए, वह न करते हुए उसका लक्ष्य छोड़कर कुछ और ही करें, या विपरीत ही करें, इससे मिथ्यात्व दोष लगता है। **"आत्मानं पुनाति इति पर्व"** जो आत्मा को पवित्र करे वह पर्व कहलाता है। आत्मा पवित्र कब होगी? जब अशुभ कर्म का क्षय होगा तब। अशुभ पाप कर्म का क्षय कब होगा? जब विशेष रूप से पर्व—दिनों की उपासना करेगी तब। परन्तु जो लोक में प्रसिद्ध है ऐसे लौकिक त्यौहार हैं, जिसमें तप—त्यागादि की कर्मक्षयकारक

साधना का नाममात्र भी नहीं है तथा जिसमें सिर्फ खाना, पीना तथा मनोरंजन का ही एक मात्र उद्देश्य है ऐसे होली आदि पर्व मानना या मनाना यह लौकिक पर्वगत मिथ्यात्व कहलाता है ।

**४. लोकोत्तर देवगत मिथ्यात्व—**

लोकोत्तर कक्षा के सर्वोत्तम देवाधिदेव वीतराग भगवान जो सर्वदोषरहित हैं, राग—द्वेषादि रहित हैं, स्त्री—शस्त्रादि संबंध रहित हैं ऐसे सर्वज्ञ अरिहंत भगवान को मानकर भी इहलोक के सुख की आकांक्षा, पौद्गलिक सुखों की इच्छा, मुझे अच्छी स्त्री मिले, संतान की प्राप्ति हो, धन—धान्य—सम्पत्ति मिले, सत्ता—पद—प्रतिष्ठा—यश—कीर्ति की प्राप्ति हो, आदि सब प्रकार के सांसारिक सुख मिले इसके लिए प्रार्थना या स्तुति करना या भगवान ही यह सब कुछ देनेवाले हैं इस दृष्टि से मानना, या पूजना, या जपना, या मान्यता (मानना) आखड़ी, बाधा रखना । यह लोकोत्तर देवगत मिथ्यात्व कहलाता है । लोकोत्तर कक्षा के देव—गुरु—धर्म तीनों में श्रद्धा या मान्यता जरूर सही है, स्वरूप सही जानता है, परन्तु आराधना या उपासना जिस हेतु से करता है वह गलत है, अतः यह विपरीत भावाचरण रूप मिथ्यात्व है । उदाहरण के रूप में जैसे हलवा, पुड़ी आदि बनानी है, आपको हलवा, पुडी के स्वरूप का ज्ञान भी सही हो, परन्तु यदि बनाने की रीति या विधि सुव्यवस्थित नहीं आती है, और जिस किसी तरह एक भगोने में आटा, घी, शक्कर पानी आदि मिलाने पर हलवा नहीं बनेगा, उल्टी बाजी बिगड़ जाएगी, उसी तरह लोकोत्तर कक्षा के देव—गुरु—धर्म की प्राप्ति आपको जरूर हुई है, परन्तु यदि उपासना—आराधना की रीति या विधि—पद्धति या हेतु सही नहीं है तो विपरीत रीत्ति—हेतु से की गई साधना वह भी मिथ्यात्व पोषक बन जाएगी । इस तरह लोकोत्तर कक्षा के देव—गुरु—धर्म आदि सही होते हुए भी, साधना विपरीत होने के कारण मिथ्यात्व दोष लग जाएगा ।

**५. लोकोत्तर गुरुगत मिथ्यात्व—**

उपरोक्त हेतु ही इस भेद में भी है । सिर्फ भेद इतना ही है कि यहाँ देव के स्थान पर गुरु है । पंचमहाव्रतधारी, संसार के त्यागी, विरक्त वैरागी, त्यागी—तपस्वी, कंचन—कामिनी के त्यागी एवं छत्तीस गुण के धारक साधु—मुनिराजों की मान्यता श्रद्धा एवं ज्ञान तो सही है, परन्तु उपासना की रीति—हेतु विपरीत है । जैसे संसार के त्यागी, वैरागी से संसार के रंग—राग पोषक आशीर्वाद लेना, शादी—सगाई हो जाय, स्त्री—पुत्र—संतान आदि प्राप्त

हो, सत्ता—सम्पत्ति—पद—प्रतिष्ठा, यश, कीर्ति आदि मिले, एवं मैं जेल से छूट जाऊँ, सजा से मुक्त हो जाऊँ, इस केस में जीत जाऊँ, घुड़दौड़ में जीत जाऊँ, संकट से बच जाऊँ, फैक्ट्री—दुकान अच्छी चले आदि के विषय में ऐसी इच्छा या हेतु रखकर गुरु सुश्रुता सेवा, भक्ति आदि करना सांसारिक सुख भोगों की अपेक्षा से साधु सन्तों को मानना—पूजना या वंदन करना या आशीर्वाद लेना यह सब इस प्रकार की मिथ्यावृत्ति है । अतः इसका त्याग ही हितावह है ।

**६. लोकोत्तर पर्वगत मिथ्यात्व—**

सर्वश्रेष्ठ कर्मनिर्जराकारक, मोक्षप्राप्ति के सहायक, ज्ञानपंचमी, मौन एकादशी, पोष—दशमी, आयंबिल ओली, पर्युषण महापर्व एवं संवत्सरी महापर्व आदि पर्वों की आराधना कर्मक्षय के लिए करनी चाहिए। पर्वों में विशेष रूप से तप—त्याग, व्रत—पच्चक्खाण ज्ञान—दर्शन—चारित्र तपादि से आराधना करनी चाहिए और कर्मक्षय एवं आत्मशुद्धि का ही लक्ष्य रखना चाहिए । यही सम्यग् साधना है । परन्तु ठीक इससे विपरीत हेतु से पर्व को त्यौहार के रूप में मनाना, तप—त्याग के बजाय खा—पीकर मनाना, या सन्तान प्राप्ति, शादी, देह सौंदर्य, रूप—स्वरूप आदि अच्छा मिलने की इच्छा से मनाना, स्वर्ग या सुख भोगों की प्राप्ति के लिए मनाना या मानना या मान—अभिमान की पुष्टि, पद—प्रतिष्ठा यश—कीर्ति की प्राप्ति आदि सांसारिक इच्छाओं एवं आशाओं की पूर्ति के हेतु से महापर्वों का मानना या मनाना यह लोकोत्तर पर्वगत मिथ्यात्व है । यह भी सर्वथा त्याज्य है ।

उपरोक्त तीनों लोकोत्तर देव, गुरु एवं धर्म पर्वगत मिथ्यात्व धर्मी आत्माओं को भी लग सकते हैं, यदि वे ऐसी अपेक्षा, आकांक्षा एवं हेतु से करते हों । अतः जैसी देव—गुरु—धर्म की ऊँची श्रेष्ठ लोकोत्तर कक्षा है उनकी उतनी ही श्रेष्ठ ऊँची कक्षा की रीत—विधि एवं कर्मक्षय—आत्मशुद्धि की शुद्ध भावना एवं अच्छे हेतु—लक्ष्य से आराधना—उपासना करनी चाहिए । यही सम्यग् मार्ग है ।

**मिथ्यात्वी जीव—**

**"विपरीतः भावः मिथ्याभावः—मिथ्यात्वम् ।।"**

मिथ्या अर्थात् विपरीतवृत्ति या बुद्धि । मिथ्यात्व अर्थात् विपरीतवृत्ति का भाव । मिथ्या शब्द से भाववाचक अर्थ में मिथ्यात्व शब्द बनाया है । तत्त्व एवं सत्य सिद्धान्त की

किसी भी बात को विपरीत ही मानना यह मिथ्यात्व कहलाता है । हमेशा ही मिथ्यावृत्ति एवं मिथ्याबुद्धि के कारण मिथ्यात्वी जीव की दृष्टि भी मिथ्या—विपरीत बन जाती है । अतः उसे मिथ्यादृष्टि जीव कहते हैं । इसकी गंगा हमेशा उल्टी ही चलती है, अर्थात् देखने, जानने, मानने, समझने, आचारण करने आदि क्षेत्र में मिथ्यात्वी जीव हमेशा विपरीतता ही रखता है । तत्त्व एवं सत्य सिद्धांतविषयक उसका ज्ञान ही अज्ञान रूप में परिणत है, एवं उसकी बुद्धि सदा विपरीत ही चलती है । यहाँ अज्ञान शब्द के दो अर्थ हैं । एक तो ज्ञान का अभाव और दूसरा अल्प या नाम मात्र का ज्ञान और वह भी उल्टा । ज्ञान का अभाव लिखने का अर्थ यह है कि— पदार्थ के सही—सम्यग् यथार्थ ज्ञान का अभाव मिथ्यात्वी में होता है । परन्तु ऐसा अर्थ यहाँ नहीं है कि सर्वथा ज्ञान ही नहीं है, क्योंकि सर्वथा ज्ञान के अभाववाला तो अजीव ही होता है, जबकि ज्ञान एक मात्र जीव द्रव्य का गुण है । मिथ्यात्वी भी मूलतः जीव है ही । अतः वह भी ज्ञानगुणवान् तो है परन्तु उसका ज्ञान यथार्थ सम्यग्ज्ञान से सर्वथा विपरीत ही होता है । अतः वह ज्ञानवान् नहीं अपितु अज्ञानवान् कहलाता है । ऐसी अज्ञानवृत्तिवाला मिथ्यात्वी जीव मुख्यतः नास्तिक ही होता है । आत्मा—परमात्मा; लोक—परलोक, पुण्य—पाप, कर्म—धर्म, स्वर्ग—नरक, पूर्वजन्म—पुनर्जन्म, आश्रव—संवर, तथा बंध—मोक्षादि ऐसे तात्त्विक विषयों में मिथ्यात्वी की वृत्ति हमेशा ही निषेधात्मक विपरीत ही रहती है । इन तत्त्वों के विषय में यह तो सही ज्ञान, जानकारी रखता है, न ही उनमें श्रद्धा—मान्यता रखता है तथा सही दृष्टि से कभी सही आचरण भी नहीं करता है । ऐसे मुख्य ६ पद हैं, जिनमें वह नकारात्मक दृष्टि अपनाता है ।

**नास्ति नित्यो, न कर्ता, न भोक्तात्मा, न निर्वृतः ।**
**तदुपायश्च नेत्याहुर्मिथ्यात्वस्य पदानि षट् ।।** (अध्यात्म—सार)

१. आत्मा नहीं है, २) एकान्त नित्य ही है, ३) आत्मा कुछ भी कर्ता—हर्ता नहीं है, ४) आत्मा भोक्ता भी नहीं है, ५) मुक्ति—मोक्ष जैसा कुछ भी नहीं है, ६) विषयों में मिथ्यात्वी की वृत्ति नकारात्मक ही रहती है । वह पंच महाभूतों के अलावा जन्म—जन्मांतर में जाने—आनेवाले आत्मा नामक कोई पदार्थ को नहीं मानता है । उसी तरह आत्मा को कर्म—धर्म का कर्ता—भोक्ता भी नहीं मानता है । इस तरह सर्वथा नास्तिक विचारधारावाला वह अज्ञानी होता है । अतः संसार के वैषयिक, भौतिक एवं पौद्गलिक सुखों में ही स्वर्ग का सुख मानकर जीता है । ऐसा मिथ्यात्वी जीव विशेष पापरुचिवाला होता है । तत्त्वों में न तो उनकी श्रद्धा होती है, और न ही धर्म के आचरण की कोई भावना रहती है । वह मात्र

अपने दैहिक—भौतिक सुखों की इच्छा करता है। बस, इसके सिवाय भगवान गुरु धर्म आदि उसके लिए कुछ भी नहीं हैं।

### देव–गुरु–धर्म स्वरूप विषयक मिथ्यात्व—

मिथ्यात्वी जीव अपनी अज्ञानपरक मिथ्यावृत्ति के कारण देव—गुरु—धर्म आदि तत्त्वों को नहीं मानता है तथा जैसा स्वरूप देव—गुरु—धर्म का है, ठीक उससे विपरीत ही मिथ्यात्वी मानता है। यह बताते हुए लिखा है कि—

**अदेवे देवबुद्धिर्या, गुरुधीरगुरौ च या।**
**अधर्मे धर्मबुद्धिश्च, मिथ्यात्वं तद्विपर्ययात्॥**

जो देव (भगवान) नहीं है उनमें भगवानपने की बुद्धि, जो त्यागी—तपस्वी गुरू नहीं है उनमें गुरूपने की बुद्धि, जो धर्म नहीं है ऐसे हिंसादि पापाचार में धर्म—बुद्धि रखना यह अज्ञानपरक विपरीत होने के कारण मिथ्यात्व कहलाता है। जो परम अर्थात् सर्वोत्तम, सर्वश्रेष्ठ, सर्वोच्च कक्षा की सर्वकर्मरहित, सर्वज्ञ वीतरागी आत्मा है उसे परमात्मा कहते हैं। उन्हें भी मिथ्यात्वी जीव भगवान के रूप में मानने या स्वीकारने के लिए तैयार नहीं है। जिस तरह सुअर मिष्टान्न आदि शुद्ध भोजन को छोड़कर मल—मूत्र ही पसन्द करता है, उसी तरह मिथ्यात्वी जीव भी वीतरागी—सर्वज्ञ अरिहंत को छोड़कर रागी—द्वेषी, संसारी—भोगलीला एवं पापलीला में आसक्त को भगवान के रूप में मानने की विपरीत बुद्धि रखता है।

मिथ्यात्वी जीव धर्म के विषय में भी श्रद्धा नहीं रखता है, परन्तु ठीक इससे विपरीत वह अधर्म में रुचि रखता है। धर्म से विपरीत अधर्म तो पाप ही कहलाया है। फिर भी मिथ्यादृष्टि जीव अधर्म—पाप में रुचि रखता है। वह अधर्म या पापाचार को ही धर्म मानकर चलता है। जैसे अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह तथा दया—दान शीतल—भाव, तप—तपश्चर्या, यम—नियम, संयम—व्रत, महाव्रत, पच्चक्खाण विरति, भक्ति आदि धर्म के किसी भी प्रकार में श्रद्धा या रुचि नहीं रखता है, क्योंकि धर्म से आत्मा का कल्याण होता है, या मोक्ष होता है ऐसी बात वह नहीं मानता है, क्योंकि मूलतः आत्मा या मोक्षादि को ही नहीं मानता है, फिर आत्मा के कल्याण या मोक्ष की बात ही कहाँ रही? अतः वह व्रत—महाव्रत से विपरीत मौज—शौक में एवं तप—तपश्चर्या से विपरीत खान—पान में, यम—नियम—संयम से विपरीत हिंसा—झूठ—चोरी आदि में ब्रह्मचर्य से विपरीत रंग—राग में एवं भोगादि में मस्त रहना, ऐसा विपरीत रूप मानता है।

न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने ।
प्रवृत्तिरेषां भूतानां, निवृत्तिस्तु महाफला ॥

वह मानता है कि मदिरापान—शराब पीने में कोई दोष नहीं है, न मास खाने में दोष है, न जुआं खेलने मे दोष है और न ही मैथुन सेवन करने में पाप है, इसलिए जब तक जीना है, सुखपूर्वक जीना है, चाहे सिर पर कर्ज करके घी पीकर भी जीना पड़े । इस तरह मिथ्यात्वी जीव किसी में पाप मानने को तैयार नहीं है । वह ऋण—कर्ज बढ़ाकर भी घी पीने के लिए तैयार है । उसी तरह पापों का सेवन करके भी सुख से जीने के लिए तैयार है । मिथ्यात्वी की ऐसी विपरीत अज्ञानवृत्ति एवं पापबुद्धि उसके आचार, विचार और व्यवहार में हमेशा ही स्पष्ट दिखाई देती है । इस तरह मिथ्यात्वी जीव ज्ञान एवं श्रद्धा के विषय में तथा चारित्र (आचार क्रिया) के विषय में, विपरीत मिथ्यावृत्ति वाला ही रहता है ।

**२१ रूप से मिथ्यात्व—**

शास्त्रों में मिथ्यात्व को समझाने के लिए भिन्न—भिन्न दृष्टिकोण से विस्तृत विचार किया गया है । यद्यपि मिथ्यात्व अपने अर्थ में विपरीत मिथ्या भाववाला ही है, तथापि भिन्न—भिन्न दृष्टिकोण से भेद किये गये हैं, जिसमें प्रमुख रूप से मिथ्यात्व के १० संज्ञाएं, स्वरूपगत पाँच भेद, एवं लौकिक—लोकोत्तर दृष्टि से देव—गुरु—धर्मगत ६ प्रकार का मिथ्यात्व है । ये कुल मिलाकर २१ प्रकार बनते हैं ।

उपरोक्त २१ प्रकार के मिथ्यात्व का विस्तृत स्वरूप जानकर या समझकर उनसे बचने का विशेष प्रयत्न करना चाहिए, क्योंकि मिथ्यात्व पापरूप है एवं कर्मबंध का कारण है, अनन्त संसार में परिभ्रमण का मुख्य कारण है, आत्मगुणघातक है एवं विपरीतज्ञान तथा अज्ञान की जड़ है । अतः इससे सर्वथा बचना ही लाभदायक है ।

**मिथ्यात्व को पापस्थानक क्यों कहा ?—**

शास्त्रों मे मुख्यतः १८ पापस्थान बताए गये हैं । इनमें अठारहवाँ मिथ्यात्वशल्य है । यहाँ यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि मिथ्यात्व को पापस्थानक क्यों कहा ? प्रश्न भले ही आश्चर्यकारी हो लेकिन वास्तविकता में उतनी सच्चाई है । पहले तो हम यह सोचें कि पाप क्या है ? पाप क्यों और कैसे बनते हैं ? पाप से कर्म कैसे बंधता है ? तथा पाप का विपाक कैसा होता है ? यद्यपि इस विषय में तीसरी पुस्तक में विचार किया है, फिर भी प्रस्तुत अधिकार में संक्षेप में कुछ और सोच लेते हैं । जीव मन—वचन—काया के द्वारा

प्रवृत्तियाँ करता रहता है । १. मन से सोचना विचारना २. वचन से बोलना आदि वाग्व्यवहार तथा ३. काया (शरीर) से शारीरिक प्रवृत्ति खाना—पीना, सोना—उठना—बैठना, चलना—फिरना, आना—जाना, देखना—सुनना आदि प्रवृत्तियाँ करता रहता है । उपरोक्त मन—वचन—काया के तीनों तरीकों से जो भी प्रवृत्तियाँ होती हैं, वह मात्र दो ही प्रकार की होती हैं— अच्छी या बुरी । अच्छी को दूसरी भाषा में शुभ तथा बुरी को अशुभ कहते हैं । इन्हीं को शास्त्र की भाषा में पुण्य और पाप के नाम दिये जाते हैं । तत्त्वार्थाधिगम सूत्र में पूज्य उमास्वाति म. ने "शुभः पुण्यस्य" "अशुभः पापस्य" इस सूत्र में स्पष्ट किया है । जीव मन से जो भी कुछ सोचता—विचारता है तथा वचन योग से जो भाषा का व्यवहार करता है एवं काया और इन्द्रिय से खाने—पीने, देखने—सुनने आदि की जो क्रिया करता है उनमें शुभ—अशुभ, अच्छी—बुरी, या पुण्य—पाप की ही मुख्य दो प्रकार की प्रवृत्तियाँ होती है । शुभ—अच्छी प्रवृत्ति से पुण्योपार्जन होता है; और अशुभ—खराब प्रवृत्ति से पाप का उपार्जन होता है । ४२ प्रकार के कारण जिन कार्मण—वर्गणा के पुद्गल परमाणुओं का आत्मा में आश्रव (आगमन) होता है तथा आत्मसात् होकर जो कर्म पिण्ड बनता है, उसे कर्म कहते हैं । इस तरह पाप—कर्म (क्या है और कैसे बनते है) की प्रक्रिया है ।

मिथ्यात्व को पापस्थानक इसलिए कहते हैं कि इसमें मन के द्वारा तत्त्वादि के विषय में जो कुछ सोचा विचारा जाता है वह वास्तविक सत्य से विपरीत ही होता है, एवं अश्रद्धा तथा अज्ञानरूप होता है । उसी तरह जैसा विचारता है वैसा व्यवहार में बोलता—चालता है । अतः इस प्रकार की मन—वचन—काया की विपरीत मिथ्याप्रवृत्ति पाप—कर्म बंधाने में कारण बनती है । मिथ्यात्व को अव्वल नंबर का कर्मबंध का मुख्य हेतु गिना है । उमास्वाति म. ने तत्त्वार्थ में बताया है कि—

**मिथ्यादर्शनाविरति—प्रमाद—कषाय—योगा बन्धहेतवः—** मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये पाँच मुख्य रूप से कर्मबंध के हेतु हैं । इनमें सबसे पहला बंध हेतु मिथ्यात्व को बताया गया है । मिथ्यात्व आत्मा के सम्यग्दर्शन गुण का अवरोधक है । अतः इसे अच्छा कैसे कह सकते हैं ? जो आत्मा को विपरीत ज्ञान—अज्ञान—अश्रद्धा में रखे उसे अशुभ—पाप न कहें तो पुण्यरूप शुभ कैसे कह सकते हैं ? जब शुभ नहीं है तब अशुभरूप यह मिथ्यात्व पाप ही कहलायेगा । जो आत्मा को अनेक प्रकार के भारी कर्म बंधाता है, जिस मिथ्यात्व में कर्मबंध की स्थितियाँ उत्कृष्ट कक्षा की पड़ती हैं, जो आत्मा का विकास होने ही न दें, तथा जो आत्मा को संचारचक्र में दीर्घकाल तक परिभ्रमण कराता

रहे, ऐसे मिथ्यात्व को किसी भी रूप में अच्छा कहना यह बड़ी भारी मूर्खता होगी । अतः इसे आत्मा का पहले नम्बर का खतरनाक शत्रुरूप पाप—कर्म कहा गया है ।

जहर (विष) को कैसे अच्छा कहें ? विषैले साँप को कैसे अच्छा मानें ? वेश्या को कैसे अच्छी मान सकते हैं । विष प्राणघातक है । इसके सेवन से मृत्यु हो जाती है । मृत्यु बड़ी दुःखदायी होती है । जहरीला साँप भी बड़ा खतरनाक होता है । उसके काटने से भी मौत की सम्भावना रहती है । अतः जहरीले साँप को यमराज समझकर लोग डरते हैं । वेश्या भी एक प्रकार का सामाजिक दूषण है । सन्निष्ठ सदाचारी सज्जन इसे चरित्रघातक एवं जीवन कलंकी मानकर इसे अस्पृश्य समझता हुआ बचकर रहता है । इस दृष्टिकोण से सोचने पर यह स्पष्ट लगता है कि— जहर, साँप और वेश्या आदि किसी को भी अच्छा नहीं कह सकते । वे अनर्थकारी हैं । जैसे हम इनसे बचकर रहते हैं, वैसे ही मिथ्यात्व भी आत्मगुणघातक है । जहर, साँप और वेश्या से जितना नुकसान नहीं होगा, शायद उससे भी अनेक गुना ज्यादा नुकसान मिथ्यात्व से होता है । साँप के काटने से, या जहर से सम्भव है कि एक ही बार मौत होगी, परन्तु मिथ्यात्व के कारण अनेक बार मरकर जीव को नरक आदि गति में जाना पड़ता है । मिथ्यात्व आत्मा के सम्यग्दर्शन गुण का घात करता है, तथा आत्मा की ज्ञान—स्वभाव दशा को कुण्ठित करता है, उस ज्ञानदशा को मिथ्यात्व सर्वथा विपरीत ही कर देता है । परिणाम स्वरूप आत्मा अज्ञान के घेरे में पड़ी हुई टेढी—मेढी रस्सी के भ्रमवश साँप मारकर रोना, चिल्लाना, दौडना, भागना आदि क्रिया करता है, या कभी ठीक उल्टा साँप को भ्रमवश रस्सी मानकर पकड़ने जाता है और मौत के मुँह में गिरता है, ठीक इसी प्रकार मिथ्यात्वी जीव की भ्रममूलक संदेहास्पद विपर्यय—विपरीत ज्ञानजनक जानकारी, मान्यता, प्रवृत्ति होती है । अतः मिथ्यात्वी यथार्थ सत्य को विपरीत असत्य मानता है, और असत्य को भ्रमवश सत्य मानता है । ऐसे मिथ्यात्व को शुभ या अच्छा कैसे कहें ? एक शराबी शराब के नशे में चकचूर होकर माता, पत्नी, पुत्री, बहन, बेटी, भाभी आदि परिवारजनों के साथ अंट—संट बोलता हुआ असभ्य, अश्लील आदि विपरीत व्यवहार करता है । ऐसी शराब एवं शराबी को कौन भला—अच्छा मानेगा ? मिथ्यात्व भी ठीक शराब के जैसा ही विकृतिकारक है । शराब का नशा तो शायद एक—दो दिन रहता होगा, परन्तु मिथ्यात्व का नशा अज्ञान एवं अश्रद्धा के रूप में जन्मों जन्म तक रहता है । ठीक शराबी की तरह मिथ्यात्वी जीव को अजीव, अजीव को जीव, आत्मा को अनात्मा, मन, इन्द्रियों आदि को आत्मा मानता है, पुण्य को पापरूप और पाप को पुण्यरूप

मानता है, धर्म को अधर्म रूप और अधर्म को धर्म रूप मानता है, जो स्वर्ग नरक है उसे न मानकर यहाँ पर ही सुख–दुःख की चरमावस्था में ही स्वर्ग–नरक मानता है, लोक–परलोक कुछ भी न मानता हुआ जो कुछ है वह यही है ऐसा मानता है, पूर्वजन्म और पुनर्जन्म कुछ भी नहीं है, इस मान्यता के आधार पर चलता हुआ खा–पीकर मौज में मस्त रहना, बंध–मोक्षादि तथा आत्मा–परमात्मा आदि किसी भी तत्त्व में श्रद्धा न रखता हुआ विषय–वासना के वैषयिक भौतिक एवं पौद्गलिक सुखों में लीन रहना चाहता है, कर्म–धर्म को कुछ न मानता हुआ, आत्मकल्याण की बात को सर्वथा न सोचता हुआ मात्र शरीर की ही चिन्ता में लगा रहता है, पुद्गलानंदी और देहानंदी बनकर वह जीवनभर पाप करता रहता है, परन्तु जैसे जहर जानकर या अन्जान सभी के ऊपर समान असर करता है, वैसे ही पाप–कर्म सभी के जीवन में समानरूप से उदय में आते हैं। मिथ्यात्वी जीव दुःखों के सामने त्राहिमाम् पुकार उठता है। अतः महापुरुषों ने मिथ्यात्व को पाप ही नहीं परन्तु सभी पापों में सबसे बड़ा महापाप कहा है। ऐसा महापाप सर्वथा हेय–त्याज्य एवं अनाचरणीय होता है। अतः हमें इससे बचना ही चाहिए।

### कर्म बंध का प्रथम हेतु मिथ्यात्व–

मिथ्यात्व की गणना १८ पापस्थानों में १८ वे पापस्थान के रूप में की गई है। यह सबसे ज्यादा भयंकर कक्षा का पाप है। इससे पाप का आश्रव होता है अर्थात् आत्मा में आगमन होता है। जैसे समुद्र में नदियों द्वारा पानी का आगमन होता है। इसी तरह बाह्याकाश में रहे हुए कार्मण वर्गणा के अशुभ पुद्गल परमाणुओं को जीवात्मा ग्रहण करती है। वह भी मिथ्यात्व की ऐसी वृत्ति में ग्रहण करती है अतः मिथ्यादृष्टि से ग्रहण किये हुए कार्मण वर्गणा के पुद्गल परमाणु आत्मा में आश्रव के रूप में प्रवेश करते हैं। जैसे दूध में शक्कर डालने के बाद हिलाकर मिलाई जाती है। शक्कर के कण–कण घुलकर मिलकर दूध के साथ एकरस हो जाते हैं। ठीक उसी तरह मिथ्याविचारधारा–दृष्टिवृत्ति की प्रवृत्ति द्वारा की जाती मिथ्यात्व पाप के अशुभ आश्रव से आत्म प्रदेशों में आए हुए कार्मण वर्गणा के पुद्गल परमाणुओं का बंध होता है। अर्थात् आत्मा के साथ घुलमिलकर एकरस बन जाते हैं। जैसे लोहे के गोले में अग्नि मिल जाती है और पूरे गोले को लाल बना देती है ठीक वैसे ही बंध की प्रक्रिया में आत्मप्रदेशों को वैसा मिथ्यात्वयुक्त बना देती है। अतः कर्मबंध के मुख्य पाँच हेतुओं— १) मिथ्यात्व, २) अविरति, ३) प्रमाद, ४) कषाय और

५) योग में मिथ्यात्व सबसे पहला बंध हेतु है । ऐसे बंध की स्थिति भी काफी ज्यादा लम्बी चौडी होती है । मोहनीय कर्म की बंध स्थिति शास्त्रकार भगवंतों ने ७० कोडा कोडी सागरोपम की बताई है । जहाँ सागरोपम अर्थात् असंख्य वर्ष होते हैं । वे भी यहाँ पर सिर्फ सादे सागरोपम ही नहीं हैं परन्तु कोडाकोडी सागरोपम हैं । करोडों को करोडों से गुणाकार करने पर कितने असंख्य वर्ष आएंगे ? और फिर ऐसे ७० कोडा–कोडी सागरोपम हैं । अतः अब हिसाब लगाइये कि कितने वर्ष होंगे ? कितना लम्बा काल हुआ ? १ अवसर्पिणी १० कोडा कोडी सागरोपम की होती है । दोनों मिलाकर २० कोडा–कोडी सागरोपम का काल होता है जिसे एक कालचक्र कहते हैं । ऐसे ३ कालचक्र बीतने पर ६० कोडा कोडी सागरोपम का काल होगा । और मोहनीय कर्म की बंधस्थिति ७० कोडा कोडी सागरोपम की है । अतः १० कोडा कोडी सागरोपम प्रमाण १ उत्सर्पिणी और बीतेगी तब ७० कोड़ा कोडी सागरोपम का काल होगा । तब जाकर मोहनीय कर्म जो सत्ता में पडा है उसका काल समाप्त होगा । अब सोचिए, कितना लम्बा–चौडा काल है । इतना ही नहीं १ अवसर्पिणी में २४ तीर्थंकर होते हैं । पुनः १ उत्सर्पिणी में भी २४ तीर्थंकर भगवान होते हैं । ३ ॥ कालचक्र में ७ उत्सर्पिणी–अवसर्पिणियों के ७० कोडाकोडी सागरोपम परिमित काल में कुल मिलाकर ७ चौबीसीयाँ हो जाती हैं । १ चौबीसी में २४ तीर्थंकर भगवान होते हैं । अतः ७ चौबीसीयों में कुल मिलाकर ७ x २४ = १६८ तीर्थंकर भगवान हो जाते हैं इतने तीर्थंकर भगवान हो जाने पर, और उतना लम्बा काल बीतने पर ७० कोडा कोडी सा की मोहनीय कर्म की बंधस्थिति का काल परिपक्व होता है । इस तथ्य पर से यह समझिए कि मिथ्यात्व का बंध कितना गाढ होता है ? अतः ऐसे गाढतम मिथ्यात्व के बंध को छोडने के लिए इससे बचने के लिए. . . भरसक पुरुषार्थ करना ही चाहिए ।

यदि मिथ्यात्व की तीव्रता है तो दूसरे सभी पापों में भी वैसी तीव्रता स्पष्ट दिखाई देगी । हिंसा झूठ चोरी आदि के सभी पाप भयंकर कक्षा की तीव्रतावाले होंगे । उस मिथ्यात्वी जीव का जीवन, मानसिक विचारधारा, भाषा, रहन–सहन, करणी, आचार–विचार आदि सब कुछ सम्यक्त्वी जीव से सर्वथा अलग ही प्रकार का लगेगा । प्रत्येक बात में यह जीव सम्यक्त्वी से अलग ही लगेगा । सम्यक्त्वी जीव का मन–कलेजा–दिल सब कोमल–सुकोमल रहेंगे जबकि मिथ्यात्वी का दिल पत्थर जैसा कठोर, क्रूर रहेगा । अतः मिथ्यात्व की भूमिका में से बहुत जल्दी बाहर निकलना ही चाहिए ।

**साधक को पहले क्या करना चाहिए ?—**

क्या पहले हमें आचरणात्मक धर्म करना चाहिए ? आचरना चाहिए ? या फिर पहले धर्म के प्रति अभाव पैदा करानेवाले मिथ्यात्व को छोडना चाहिए ? एक तरफ मिथ्यात्व की तीव्रता के कारण धर्मश्रद्धा, गुरुश्रद्धादि किसी भी प्रकार की श्रद्धा ही नहीं है और यदि उसे धर्म का क्रियात्मक आचरण कराया जा रहा है तो वह कितना लाभदायी सिद्ध होगा ? यह तो ऐसी बात हुई— पहले से ही पहाडी पथरीली भूमि है और उसमें हम बीज बो रहे हैं, सोचिए, पत्थरों की शिलाओं पर जहाँ धरातल ही योग्य—उचित नहीं है वहाँ कैसे खेती होगी ? बीज अंकुरित कैसे होगा ? ठीक वैसे ही मिथ्यात्व के कारण जिस जीवात्मा का धरातल—भूमिका अभी धर्मसन्मुख ही नहीं बनी है उसको धर्माचरण कराने से भी कितना लाभ होगा ? हाँ, मंद मिथ्यात्ववाली व्यक्ती, या श्रद्धा के किनारे खडी हुई व्यक्ती, यथाशीघ्र लौकिक व्यवहार से तथाप्रकार के धर्म का आचरण कर भी लेगी, लेकिन श्रद्धा के भावपूर्वक की वह साधना नहीं होगी । और वैसी न होने पर उसे लाभ कितना मिलेगा ? अतः आज आप क्या कर रहे हैं ? अट्ठाई या मासक्षमण यह कम महत्व का है लेकिन सर्वप्रथम अपनी अश्रद्धा के भाव को—मिथ्यात्व को तिलांजली दीजिए । दूर करिए । भरसक पुरुषार्थ करके भी मिथ्यात्व की धारणा मिटाइए । श्रद्धालु बनिए . . . फिर आगे बढिए । आप स्वयं इस बात का अनुभव करेंगे कि . . . पहले मैं मिथ्यात्व की उपस्थिति में जो धर्म करता था और श्रद्धा के भाव में जो धर्म कर रहा हूँ इन दोनों में आसमान जमीन का अन्तर है ।

मन्द मिथ्यात्व के घर में रहकर श्रद्धा न होते हुए ज्यादा की जाती हुई धर्माराधना भी कितना लाभ देगी ? और धर्मश्रद्धा जो पानी पर घी तेल की तरह तैर रही है उस श्रद्धा के भावपूर्वक यदि धर्माराधना थोडी भी की जाय तो कितना लाभ होता है ? कितना आनन्द आता है ? आत्मा में यह जो आनन्द आता है यही सूचकांक है कि आपमें श्रद्धा का भाव तैर रहा है । अतः सर्वप्रथम प्रबल पुरुषार्थ करिए मिथ्यात्व को—अश्रद्धा को कम करने का, घटाने का, और सर्वथा मिथ्यावृत्ति बदलने का । सच्ची सम्यग् श्रद्धा के सद्भाव जगाने का प्रयत्न करिए । इसके लिए श्रद्धालुओं सम्यक्त्वियों के साथ, उनके बीच रहिए । सत्संग करिए तो भी ऐसे शुद्ध श्रद्धासंपन्न सम्यक्त्वियों से करिए जिनकी प्रगट श्रद्धा आपको प्रभावित करें । इससे धर्माराधना करने की आपकी भूमिका धरातल बन जाएगा । फिर आप थोडा भी करेंगे तो ज्यादा लाभ होगा ।

**ओघ दृष्टि से–योग दृष्टि में प्रवेश—**

ओघ का अर्थ है अनादि काल से सर्वसामान्य प्रकार से जो संज्ञा या जैसी दृष्टि जीवविशेष की पडी हुई है, या बनी हुई है उसे ओघ दृष्टि कहते हैं। संसार में जन्मजात जीव इसी प्रकार की ओघ दृष्टि वाले ही रहते हैं। भारी पुरुषार्थ के बाद योगदृष्टि में प्रवेश कर पाते हैं। ओघ दृष्टि से तात्पर्य है कि भवाभिनंदिपने के रंग से रंगी हुई धर्मक्रिया करनी। भव अर्थात् संसार, अभिनंदिभाव अर्थात् प्रसन्नता, राजी होते हुए, खुशी व्यक्त करते हुए। भव—संसार के प्रति, संसार के भावों के प्रति सदा राजी रहते हुए जिस किसी भी प्रकार की धर्माराधना करना उसे ओघ दृष्टि कहते हैं। पौद्गलिक विषयों, एवं तज्जन्य सुखों के प्रति तीव्र राग रहता है। उसी की प्राप्ति की आकांक्षा से धर्मकरणी करना। इहलौकिक, एवं परलौकिक दुन्यवी सुखों—भोगों की प्राप्ति की सतत आकांक्षा बनी रहे ऐसी दृष्टि से शुद्ध धर्म की आराधना भी अशुद्ध हेतुपूर्वक करनी यह ओघ दृष्टि का लक्ष्य है। जैसे बच्चे के लिए पढने की अपेक्षा भी खेलने का महत्व ज्यादा है वैसे ही... ओघदृष्टि जीव के लिए... धर्माराधना या धर्म से कर्मक्षय—निर्जरा, आत्मशुद्धि आदि का लक्ष्य बहुत ही कम है, नहीं जैसा ही समझ लीजिए जबकि पौद्गलिक दुन्यवी सुखों—भोगों की लालसा ज्यादा रहती है।

अनन्त काल के एवं अनन्त भवों के परिभ्रमण रूप इस संसार में जीव ने अनेकों बार ऐसी भवाभिनंदिता की ओघ दृष्टि में, मिथ्यात्व की दृष्टि में रह कर भी अनेकबार धर्म किया है। धर्माराधना की है। लेकिन योगदृष्टि न आने से और ओघदृष्टि न हटने से जीव पूरा लाभ उठा नहीं पाया। मात्र स्वार्थ साधने का काम किया। राग—द्वेष की वृत्ति के साथ धर्म किया। दुन्यवी सुख—भोगों की लालसा से धर्म किया। संसार में धर्माराधना के पुण्य—प्रभाव से जन्य प्राप्य सुखभोगों की प्राप्ति भी जीव के मन में प्रलोभन का भाव जगाती है। मन को ललचाती है। लोभ के कारण कोई ज्यादा उस प्रवृत्ति को करता है। ठीक वैसे ही... यहाँ पर भी ओघदृष्टि के कारण भवाभिनंदी अर्थात् संसाररागी जीव यश—कीर्ति—मान—प्रतिष्ठा—सांसारिक सुखों—वैषयिक सुखों पौद्गलिक सुख—भोगों की अभिलाषा की पूर्ति के परिणामपूर्वक—दृष्टिपूर्वक धर्माराधना करता है। इनकी प्राप्ति भी धर्म से होती है। ऐसा जानने के कारण वैसा लोभ ज्यादा जागृत होता है। अतः अनेक जन्मों की इस ओघ दृष्टि से अब बाहर निकलकर योगदृष्टि में आना ही चाहिए। अत्यन्त आवश्यक है। ऐसी आवश्यकता अनिवार्य रूप से महसूस होनी चाहिए।

**योगदृष्टि—**

योगदृष्टि संपूर्णरूप से ओघदृष्टि से विपरीत है। ठीक ओघदृष्टि के भावों—विचारों से योगदृष्टि के विचार—भाव सर्वथा विपरीत ही हैं। पूर्व—पश्चिम की तरह हैं। ओघदृष्टिवाले जीव में जो भवाभिनंदिता दुन्यवी सुख—भोगों की लालसा का लक्ष्य था वह योगदृष्टि में छूट जाता है। सर्वथा बदल जाता है और धर्माराधना का हेतु आत्मशुद्धि—कर्मक्षयादि का बन जाता है। अब उसे कोई पूछे भी सही कि ये जीव ! क्यों यह सामायिक—पूजापाठ—आयंबिल—उपवासादि तप आदि धर्माराधना करता है ? तो वह जीव स्पष्ट उत्तर देगा कि— आत्मकल्याण के लिए धर्म करता हूँ। आत्मोद्धारकारक यह धर्मक्रिया है। अतः यह करनी ही चाहिए। तो ही आत्मा का हित—कल्याण हो सकेगा।

योग दृष्टि समुच्चय—योगविंशिका, योगशास्त्र आदि ग्रन्थों में ८ दृष्टियों का अधिकार आता है। इन ८ दृष्टियों का सुंदर अद्भुत वर्णन किया गया है। इससे स्पष्ट ख्याल आता है कि जीवों की धर्माराधना कैसी होनी चाहिए ? किस प्रकार के भावों से भरी हुई होनी चाहिए ? इसके लिए योगविषयक ग्रन्थों का विशेष अभ्यास करना चाहिए। योगदृष्टिसमुच्चय ग्रन्थ में पू. हरिभद्रसूरी महाराज ८ दृष्टियों के बारे में लिख रहे हैं कि—

**मित्रा तारा बला दीप्रा, स्थिरा कान्ता प्रभा परा।**
**नामानि योगदृष्टीनां लक्षणं च निबोधत** ॥ १३ ॥

१) मित्रा दृष्टि, २) तारा दृष्टि, ३) बला दृष्टि, ४) दीप्रा दृष्टि, ५) स्थिरा दृष्टि, ६) कान्ता दृष्टि, ७) प्रभा दृष्टि, और ८) परा दृष्टि इस प्रकार ८ योग दृष्टियाँ बताई गई हैं। ये आठ दृष्टियों के नाम दर्शाए गए हैं। दृष्टि शब्द से तात्पर्य यहाँ पर है ज्ञान—प्रकाश, या बोध। कितने अंश में किस जीव की कितनी दृष्टि खुली है ? उसे कितना बोध हुआ है ? कैसा हुआ है यह प्रमाण दिखाने के लिए योग विषयक ग्रन्थों ने ऐसी ८ दृष्टियों में जगत् के समस्त जीवों का समावेश किया है। ये मित्रा—तारादि आठों दृष्टियाँ उत्तरोत्तर ऊपर चढते हुए क्रम में हैं। प्रत्येक दृष्टि में अन्तर या भेद एक मात्र उनके ज्ञान के प्रकाश के प्रमाण से होता है। प्रकाश पदार्थ हमेशा ज्ञान में सहायकता के कारण ज्ञान की तुलना में उपमा प्राप्त करता है। यद्यपि हम अपनी दृष्टि से ही देखते हैं, आँखों से ही दिखाई देता है, देखते हैं। लेकिन क्या प्रकाश की सहायता के बिना भी देख पाना संभव है ? कभी नहीं। जैसे ही अन्धेरा हो गया वैसे ही देखना सर्वथा बंध हो जाता है। प्रकाश की सहायता के आधार पर हम देख सकते हैं। अतः यह सहायक माध्यम है। वैसे देखने की शक्ती तो आत्मा की

ही है उसके लिए आँख साधनभूत इन्द्रिय है । आँख आत्मा को ज्ञान पहुँचाती है । अतः इसे ज्ञानेन्द्रिय कहते हैं । इन आँखों से दिखाई देगा, आँखें मात्र साधनभूत रहेगी । परन्तु देखने की क्रिया करनेवाला तो अन्दर चेतनात्मा ही है । देखनेवाला ज्ञानवान् चेतनात्मा है । इसीलिए हम भाषा के प्रयोग में भी स्पष्ट बोलते हैं कि– आखों से देखते हैं, आँखे देखती है ऐसा नहीं कहते हैं । इसलिए "से" का प्रयोग आँखों से अलग–स्वतंत्र देखने की क्रिया करनेवाले आत्मा को सिद्ध करता है । आँखें जो चक्षुइन्द्रिय कहलाती है ये देखकर आत्मा को ज्ञान पहुँचाती है । इस देखने की क्रिया में प्रकाश सहायक बनता है । जितना प्रकाश कम ज्यादा होगा उस प्रमाण में वस्तु का बोध स्पष्ट–अस्पष्ट होगा ।

ठीक वैसा ही ८ दृष्टियों का कार्यक्षेत्र है । इनका अपना–अपना प्रकाश कम–ज्यादा प्रमाण में है । योगदृष्टि समुच्चय ग्रन्थकार महर्षि पू. हरिभद्रसूरि महाराज बता रहे हैं—

**तृण–गोमय–काष्ठाग्नि–कण–दीप–प्रभोपमा ।**
**रत्नतारार्कचन्द्राभा सद्दृष्टे दृष्टिरष्टधा ॥**

१) मित्रा दृष्टि में ज्ञान–प्रकाश–अर्थात् बोध तिनके की अग्नि के कण जितना है ।

२) तारा दृष्टि में ज्ञान–प्रकाश–अर्थात् बोध गोबर–छाण की अग्नि के कण जितना है ।

३) बलादृष्टि में ज्ञान–प्रकाश–अर्थात् बोध काष्ठ की अग्नि के कण जितना है ।

४) दीप्रा दृष्टि में ज्ञान–प्रकाश–अर्थात् बोध दीपक की ज्योति की प्रभा जितना है ।

५) स्थिरा दृष्टि में ज्ञान–प्रकाश–अर्थात् बोध रत्न के प्रकाश के जितना होता है ।

६) कान्ता दृष्टि में ज्ञान–प्रकाश–अर्थात् बोध तारा के प्रकाश के जितना होता है ।

७) प्रभा दृष्टि में ज्ञान–प्रकाश–अर्थात् बोध सूर्य के प्रकाश के जितना होता है ।

८) परा दृष्टि में ज्ञान–प्रकाश–अर्थात् बोध चन्द्र के प्रकाश के जितना होता है ।

इस तरह आठों दृष्टियों से होनेवाले बोध अर्थात् ज्ञान के प्रकाश का प्रमाण कितना ? किस दृष्टि से कितना बोध कम ज्यादा हो सकता है उसको समझने के लिए प्रकाश के साधनभूत पदार्थों में ८ की गणना करके उपमाएं देते हुए ८ के दृष्टान्त दिये हैं । इनमें घास का तिनका, गोबर–छाण, लकडी का कोयला, दीपक की ज्योति, रत्नप्रभा, तारा, सूर्य और चन्द्र इन ८ की गिनती की है । इन आठों में प्रकाश का प्रमाण क्रमशः बढता हुआ बताया है ।

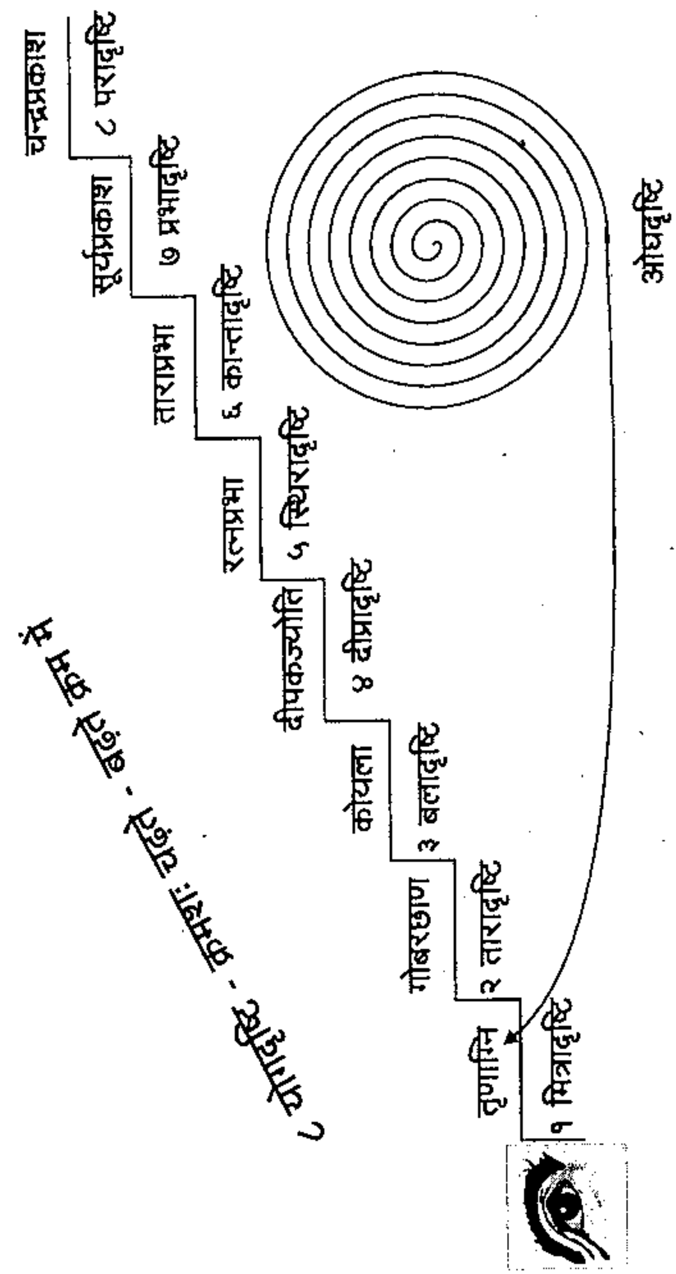
८ योगदृष्टि - क्रमशः चढ़ते - बढ़ते क्रम में
चन्द्रप्रकाश
८ परादृष्टि
सूर्यप्रकाश
७ प्रभादृष्टि
ताराप्रभा
६ कान्तादृष्टि
रत्नप्रभा
५ स्थिरादृष्टि
दीपकज्योति
४ दीप्रादृष्टि
कोयला
३ बलादृष्टि
गोबरछाण
२ तारादृष्टि
तृणाग्नि
१ मित्रादृष्टि
ओघदृष्टि

उपरोक्त चित्र में दर्शाए अनुसार जीव अनादि कालीन—मिथ्यात्व की स्थिति में ओघदृष्टि में भवभ्रमण करता ही रहा। धर्म मिला तो भी धर्म का सही अर्थ में उपयोग नहीं कर सका। धर्म से मोक्ष प्राप्ति हो सकती थी, उसके लिए निर्जरा करते हुए कर्मक्षय करना चाहिए परन्तु ओघदृष्टि में जीव लोभ—लालसा के अधीन हो गया। भवाभिनंदी बन गया। संसार के सुखों की प्राप्ति के लोभ में गिर गया। परिणाम स्वरूप धर्म का उपयोग एकमात्र सांसारिक सुख—भोगों की प्राप्ति के लिए ही करने लगा। इसी ओघदृष्टि की वृत्ति के कारण धर्म मिलने के बाद वह निर्धारित परिणाम रूप मोक्ष का फल नहीं पा सका, निर्जरा करके कर्मक्षय नहीं कर सका और तुच्छ—क्षणिक वैषयिक— पौद्गलिक—इहलौकिक—परलौकिक सुख—भोगों में ही लिपटा रह गया। आसक्त रह गया। परिणामस्वरूप कुछ पाया भी सही और उसमें ही मशगूल रहकर भव—संसार चलाने लगा। इस तरह ओघ दृष्टि में ही अपरिमित काल जीव ने बिता दिया।

ओघ दृष्टि में से बाहर निकलकर योग दृष्टि में लाने के लिए... योग दृष्टि के—आठ दृष्टि के मार्ग पर जीव को चढाना पडेगा। योग दृष्टि की इन ८ दृष्टियों की सीढि के एक—एक सोपान चढते—चढते जीव को बोध का प्रमाण भी बढता जाएगा। ज्ञान का क्षेत्र, प्रकाश का विस्तार भी बढता जाएगा। इन ८ योगदृष्टियों में प्रथम की मित्रादि ४ दृष्टियाँ मिथ्यात्व की दृष्टियाँ हैं। इन आठों दृष्टियों को समझने के लिए जो प्रकाश के दृष्टान्तों से उपमा दी है वह बहुत ही सार्थक दी है। इनमें प्रकाश की स्थिरता, प्रमाण, काल, क्षेत्र, तीव्रता अधिकतमता आदि सबका विचार किया है।

आठों दृष्टियों की उपमा जो तृणादि के साथ दी गई है उनमें प्रकाश की समानता दिखाई है। सभी धर्मों की सादृश्यता नहीं लेनी है। उदा. दाहकतादि की समानता नहीं लेनी है। साधर्म्य प्रकाश के साथ है। प्रकाश न्यूनाधिक है। उसी तरह बोध भी न्यूनाधिक होता है। घास के तिनके को जलाने पर उसका प्रकाश कितना फैलेगा? तिनका जलता हुआ पडा रहेगा, दिखाई देगा परन्तु उसका प्रकाश नहीं फैलेगा। इससे थोडा ज्यादा गोबर के छाणे का प्रकाश रहेगा। यद्यपि गोबर का छान जलता हुआ दिखाई देगा परन्तु उसके प्रकाश में हम लिख—पढ नहीं सकेंगे। इससे आगे—काष्ठाग्नि के प्रकाश का प्रमाण जरूर बढा है। लकडी का कोयला जलता है या लकडी ही जलती हो तो उसके प्रकाश का प्रमाण ज्यादा फैलता नहीं है कि जिसमें पढने लिखने आदि का कार्य किया जा सके। हाँ, इससे कुछ ज्यादा प्रकाश दीपक की ज्योति का होता है। इससे ज्यादा प्रकाश रत्न का होता है। यहाँ तक के चारों का प्रकाश स्थिर नहीं था, स्थायी नहीं था। लेकिन स्थिर दृष्टि से प्रकाश

की स्थिरता का प्रमाण बढा। रत्न का प्रकाश स्थिर रहेगा। प्रकाश का प्रमाण बढा भी सही और नित्यता भी लम्बे काल तक रही। दीपक का प्रकाश भी स्थिर नहीं रहता है, और सदा नित्य भी नहीं रहता है। क्योंकि तेल पर भी आधार रहता है। अतः दीपक की ज्योति का प्रकाश तक मिथ्यात्व बताया गया है। और चौथी स्थिरा दृष्टि से परा दृष्टि तक की चार दृष्टियाँ सम्यक्त्व की हैं। इनका प्रकाश स्पष्ट एवं स्थिर है। क्योंकि सम्यक्त्वी की दृष्टि स्थिर है। रत्न स्थायी पदार्थ है। अतः इसके प्रकाश की प्रभा भी स्थिर है। रत्न का प्रकाश कभी घटता बढता नहीं है। जैसा है वैसा सदा रहता है। इससे भी आगे तारा के प्रकाश की प्रभा भी निरंतर—सतत है। यह भी समाप्त होनेवाली नहीं है, स्थिर—स्थायी है। तारा के प्रकाश से सूर्य का प्रकाश अत्यन्त ज्यादा है। स्थिर—स्थायी रहता है। और अन्त में चन्द्र का प्रकाश बताया गया है। सूर्य के प्रकाश और चन्द्र के प्रकाश में समानता कैसे करें?

आश्चर्य जरूर होगा कि सूर्य के प्रकाश के बाद चढते क्रम में आगे चन्द्र का प्रकाश क्यों बताया? जबकि सूर्य से चन्द्र का प्रकाश प्रमाण में भी कम है। और चन्द्र की कलाओं के कारण प्रमाण कम—ज्यादा भी जरूर होता है। लेकिन इस उपमा को देने के पीछे हेतु यह है कि... चन्द्रप्रकाश सौम्य है, शीतल है। अतः परा दृष्टि तक पहुँचे हुए महापुरुष की सौम्यता—शान्तता बहुत ही श्रेष्ठ कक्षा की होती है। इस अंश की सादृश्यता यहाँ ग्रहित है। प्रकाश मात्र वस्तु के बोध अर्थ में ही सीमित नहीं है। परन्तु आत्मा में विशिष्ट परिणमन अर्थ में भी अभिप्रेत है। आत्मा में बोध परिणति कषायों के शमनादि का परिणाम लाता है। इससे उद्वेग का शमन होता है। फलस्वरूप सौम्यता, शान्तता, शीतलता आदि की वृद्धि की सादृश्यता के कारण चन्द्र की उपमा का दृष्टान्त दिया गया है जो सार्थक है, सहेतुक है। सूर्य प्रकाश में जो उष्णता—उग्रता—दाहकता आदि है उनका यहाँ चन्द्रप्रकाश में अभाव हो जाता है। अब क्रमप्राप्त एक—एक दृष्टि का विचार करें जिससे उस उस दृष्टि स्थान पर रहे हुए जीवों का ख्याल स्पष्ट हो सकेगा।

### १) मित्रा दृष्टि—

**यदाह मित्रायां बोधस्तृणाग्निकणसदृशो भवति, न तत्त्वतोऽभीष्टकार्यक्षमः।**

प्रथम मित्रा दृष्टि में बोध तिनके की अग्नि के समान अल्पतम नाम मात्र ही होता है। अग्नि के कण—एकांश के प्रकाश के जितना ज्ञान का प्रकाश इस मित्रा दृष्टिवाले जीव में रहता है। यद्यपि दिन के प्रकाश में इसका कोई महत्व नहीं रहता है अर्थात् केवली के

ज्ञान के सामने इसका कोई प्रमाण—प्रभाव कुछ भी नहीं रहता है। परन्तु रात्रि के अन्धकार में इस तृणाग्नि का अस्तित्व जरूर रहता है, जो लाल दिखता है। यह प्रकाश फैलाकर दूसरी वस्तुओं को प्रकाशित कभी भी नहीं कर सकता है। परन्तु स्वयं प्रकाशित जरूर रहता है। यहाँ से प्रकाश का अंशमात्र रूप से प्रारंभ जरूर है। कालान्तर में बढता जाएगा। ओघदृष्टि में जो जीव वैषयिक पौद्गलिक सुख की लालसावाली बुद्धि बनाकर धर्म कर रहा था। अब मित्रा दृष्टि का प्रथम सोपान चढने से ओघदृष्टि की यह भवाभिनंदिता की बुद्धि सर्वथा बदल गई। लक्ष्य बदल जरूर गया है। परन्तु अभी भी आत्मा का ही पूर्ण लक्ष्य जगा नहीं है। फिर भी सन्मुख होने की भूमिका बन रही है। यह धीरे—धीरे आगे बढता जाएगा। जागृति जरूर आएगी।

धीरे—धीरे का उदाहरण देते हुए स्पष्ट करते हैं कि जैसे किसी सोए हुए व्यक्ती को उठाने में ४—५ आवाज लगाई और पाँचवी आवाज में वह उठा, तो पहली आवाज में क्या हुआ ? कुछ भी उसके कान पर टकराया या नहीं ? हाँ, टकराया जरूर, परन्तु जागृति नहीं आई, फिर भी जागने की भूमिका बनी। जैसे पहला पत्थर फेंकने पर आम गिरा नहीं, भले ही आम २० वें पत्थर से गिरा, फिर भी पहले पत्थर से ही भूमिका जरूर बन गई। निशाना जरूर बनना शुरु हुआ है। ठीक वैसे ही मित्रा दृष्टि में साधक की दिशा जरूर बनने लगी है। भले ही भाव नहीं बने, फिर भी द्रव्यरूप उस क्रिया में ओघ दृष्टि की वृत्ति की गंध नहीं आती है। इतना परिवर्तन जरूर आया है। अब दर्शन—वंदन पूजादि की धर्मक्रिया भावविहीन होने पर भी द्रव्य क्रिया मात्र रहकर भी भावोल्लासरहित—परिणाम—लक्ष्य विहीन जरूर है, परन्तु आगे के भावि की प्राप्ति की सूचक शुरुआत है। पिता के साथ सामायिक करने बैठे दो वर्ष के बच्चे जैसी स्थिति है इसकी। इस मित्रा दृष्टि का बोध प्रकाश तृणाग्नि की तरह कार्यकारण काल तक भी टिकनेवाला नहीं है। जल्दी बुझ जाता है। इष्टकार्यसिद्धि नहीं कर सकता है। बोध की अल्पता के कारण धर्मबीजों का संस्कार भी बना नहीं सकता है। काल कम है। प्रकाश (ज्ञान) भी काफी कम है। आगे की दूसरी तारा दृष्टि तक पहुँचने में सहायक बनता है।

## २) तारा दृष्टि—

**तारायां तु बोधो गोमयाग्निकणसदृशः। अयमपि एवं कल्प एव, तत्त्वतो विशिष्टस्थितिवीर्यविकलत्वात्, अतोऽपि प्रयोगकाले स्मृतिपाटवासिद्धेः। तदभावे प्रयोगवैकल्यात् ततस्तथा तत्कार्याभावादिति।**

तारा नाम की दूसरी दृष्टि में बोध गोमय—गोबर के छाणे की अग्नि के जैसा है। हाँ, प्रथम मित्रा दृष्टि के तृणाग्नि से गोमयाग्नि का प्रकाश प्रमाण में—तुलना में ज्यादा जरूर है, परन्तु पर्याप्त तो नहीं है । यह अग्नि प्रकाश भी परवस्तु को प्रकाशित द्योतित नहीं कर सकता है फिर भी स्वयं अपनी पहचान तो दे सकता है । इतने अंश में तो सामर्थ्य रहता ही है । अंधकार में पडा हुआ गोमयाग्नि प्रमाण में तृणाग्नि से ज्यादा जरूर लगता है परन्तु अभी तक भी वह इष्टकार्य साधक नहीं बन सकता है । ऐसे अग्निप्रकाश में हम पढ—लिख नहीं सकते हैं । यह भी अल्पकालिक है । स्थिति कम है । ठीक ऐसी ही स्थिति तारादृष्टिवाले व्यक्ति की है । इससे दर्शन—वंदन—पूजनादि क्रिया में भी भावात्मकता आनी संभव नहीं है । अतः ये सब धर्मक्रिया द्रव्यक्रिया ही रह जाती है । तारा दृष्टि के बोध में तात्विक बल या स्थैर्य नहीं होने के कारण क्रिया करने के साथ उस बोध का स्मरण नहींवत् टिक पाता है । अतः धर्मक्रिया यथार्थ नहीं हो सकती है । इस तरह तारा दृष्टि में भावक्रिया संभव ही नहीं बनती है । फिर भी पहली मित्रा दृष्टि से इसका प्रमाण थोडा बढा जरूर है । मिथ्यात्वी जीवों को यह दृष्टि—ऐसा बोध प्रकाश अल्पतमावस्था में रहता है ।

### ३) बला दृष्टि—

**बलायामप्येष काष्ठाग्निकणकल्पो विशिष्ट ईषदुक्तबोधद्वयात्, तद्भवतोऽत्रं मनाक् स्थितिवीर्ये, अतः पटुप्राया स्मृतिरिह प्रयोगसमये, तद्भावे चार्थप्रयोगमात्रप्रीत्या यत्नलेशभावादिति ।**

प्रथम की दो दृष्टियों से यहाँ तीसरी बला दृष्टि में प्रकाश बढा । यहाँ काष्ठाग्नि का प्रमाण है । लकडी जलती हुई पडी हो, अर्थात् कोयले जलते हुए सिगडी में पडे हुए हो . . . परन्तु एक की संख्या में वह भी परवस्तु को प्रकाशित करने में कितना सक्षम—समर्थ हो सकता है ? नहीं । हम उसमें पढ—लिख नहीं सकते हैं । इसमें स्थिरता का समय प्रथम दो दृष्टियों की अपेक्षा जरूर बढा है । प्रथम की दो दृष्टि का बोध तीसरी दृष्टि का बोध—प्रकाश जगाती है । अभी इस बला दृष्टि में भी दर्शन—वंदन—पूजनादि क्रिया में भावात्मकता नहीं आई है । फिर भी कुछ संस्कार बलवान बने हैं, टिकने का काल कुछ बढा है । संस्कार जागृत होने से दर्शन—वंदन—पूजनादि धर्मक्रिया में प्रीति बढती है । धर्मक्रिया में प्रेम बढता है । प्रेमपूर्वक होती है । कुछ सार्थकता जरूर लगती है । धर्मयोग की शुद्ध प्रीति बढने से धर्मक्रिया साधी जा सकती है । भले ही प्रीति संपूर्ण बलवान न भी हो फिर भी कुछ उत्साह—प्रीति धर्मयोग में जगाती है यह दृष्टि । यह बला दृष्टि

दर्शन—वंदन—पूजनादि क्रिया को भावक्रिया अभी भी नहीं बना सकती है, है तो द्रव्यक्रिया ही लेकिन बलादृष्टिवाली व्यक्ती इन क्रियाओं के प्रति अपनी प्रीति—भक्ती जोडती है। इससे ये क्रियाएं अच्छी लगती हैं, पसन्द आती हैं। इनमें मन लगता है। मिथ्यात्व की उपस्थिति यहाँ भी होने से यह मिथ्यात्व इन दृष्टियों को शुद्धरूप में आने ही नहीं देता है।

### ४) दीप्रा दृष्टि—

दीपक की प्रभा के लिए दीप्रा शब्द का प्रयोग यहाँ किया गया है।

**दीप्रायां त्वेष दीपप्रभातुल्यो विशिष्टतर उक्तबोधत्रयात् अतोऽत्रोदग्रे स्थितिवीर्ये तत्पटव्यपि प्रयोगसमये स्मृतिः।**

इस चौथी दीप्रा दृष्टि में बोध—प्रकाश दीपक के प्रकाश जितना होता है। यह जरूर पहली ३ दृष्टियों की अपेक्षा अधिकतर—विशिष्ट कक्षा का होता है। इसके कारण इसके संस्कार, स्थिरता तथा बलवत्तरता का प्रमाण बढता है। दर्शन—वंदन—पूजनादि क्रियाओं में इनका स्मरण काफी अच्छा रहता है। इन क्रियाओं में अब द्रव्यात्मकता होते हुए भी भावात्मकता की शुरुआत होती है। भव के लिए दीप्रादृष्टि में प्रयत्न होता है। भक्तिपूर्वक होता है। इतना प्रयत्न प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान पर मिथ्यात्व की काफी मन्दता को लेकर हो रहा है। उसकी धर्माराधना में बल बढता है। शक्तीकालिक स्थिरता बढती है। ज्ञान का प्रकाश प्रमाण में बढता है। संस्कार भी टिकते हैं। धर्मानुष्ठान में विशेष प्रीति भक्ति सद्भाव जगता है। धर्मक्रियाओं के समय इस चौथी योगदृष्टि के कारण ज्ञान—प्रकाशादि बढते हुए अच्छी स्मृतिरूप में आकर उपस्थित होता है।

दीपक की ज्योति की तरह यहाँ भक्ती के साथ भाव भी जगते हैं, प्रीति—भक्ति बढती हुई भाव को भी बढा देती है। ज्ञान प्रकाश की स्मृति और संस्कार भी धर्मक्रिया के समय उपस्थित रहते हैं। कुछ अंशों में श्रद्धा की भूमिका भी काफी अच्छी बनती है। लेकिन... हाँ एक बात अभी भी ध्यान में रखिए कि सम्यक्त्व प्राप्त नहीं हुआ है।... सम्यक्त्व की पूर्व भूमिका में आगे बढ रहा है। मध्य समुद्र के बीच से इसकी नौका काफी किनारे पर जरूर पहुँच रही है। इस चौथी दीप्रा दृष्टि में श्रद्धा—प्रीति—भक्ती—भावपूर्वक दर्शन—वंदन—पूजनादि धर्मक्रियाएं जीव को मिथ्यात्व की मन्दता की पराकाष्ठा पर पहुँचा देती है। अतः आगमवेत्ता महापुरुष फरमाते हैं कि— श्रद्धा—प्रीति—भक्ती—भावपूर्वक की धर्माराधना मिथ्यात्व गुणस्थान पर... प्रकर्ष पराकाष्ठा पर पहुँचाने में काफ़ी सहायक है। जिसके फलस्वरूप सम्यक्त्व की प्राप्ति हाथ वेंत ही लगती है। अब ज्यादा दूर नहीं

पास ही लगता है । जैसे नाविक को किनारा पास लगता है वैसे सम्यक्त्व का किनारा पास लगता है । अतः ध्यान रखिए... दर्शन—वंदन पूजनादि धर्माराधनाओं का महत्व कितना गुना ज्यादा है ? इनका अस्तित्व कितना महत्वपूर्ण है ? यदि... दर्शन—वंदन—पूजनादि की धर्मक्रियाओं का कोई आलंबन सर्वथा न रखें तो इन जीवों के लिए सम्यक्त्व की प्राप्ति की संभावना कितनी नहींवत् हो जाएगी ? समुद्र में रहना और तैरने के लिए नौका नहीं, कितनी विपरीत विरोधाभासी बात है ? क्या बिना नौका—जहाज के आलंबन के आप स्वयं अपने हाथ से सारा समुद्र तैर सकोगे ? और क्या सभी इतने और ऐसे समर्थ—सक्षम हैं ? ... जी नहीं । संभव नहीं है । तो फिर इस संसार रूप भयंकर समुद्र से पार उतरने के लिए देव—गुरु—धर्म की आराधना उपासना करनी अत्यन्त आवश्यक है । और इस प्रकार की आराधना के लिए क्रियात्मक स्वरूप दर्शन—वंदन—पूजनादि की अनिवार्यता कई गुनी ज्यादा है । और ऐसी आराधना—उपासना करने के लिए.. उनका—देवाधिदेव परमात्मा का गुरु एवं धर्म का आलंबन लेना नितान्त आवश्यक है । परमात्मा के आलंबन के लिए मंदिर—मूर्ति का आलंबन उपयोगी है । गुरु भगवंत के आलंबन के लिए गुरुओं की प्रतिमा भी उपयोगी है । वर्तमानकालीन गुरु तो उपस्थित ही है । धर्माराधना के लिए धर्म की साधन—सामग्रियाँ आवश्यक हैं ।

जैसे क्षुधा लगती है उसके लिए अनाज तरकारियाँ आदि सारी खाद्य सामग्रियाँ आवश्यक हैं और उनको बनाने के लिए—रसोईघर के बर्तनादि तथा अग्नि चूल्हा तवादि सब अनिवार्य रूप से आलंबन है । कोइ कहे— जी नहीं, हम तो बिना अग्नि के रसोई बना लेंगे । तो यह भी कहना असंभवसी बात है । यह सिर्फ शब्दों तक ही सीमित रहता है । व्यावहारिकता उसमें नहीं रहती है । ठीक उसी तरह देव—गुरु—धर्म की उपासना के लिए मंदिर—मूर्ति—उपाश्रयादि आलंबनों की अनिवार्यता इतनी ही जरूरी है । उनके आलंबन के माध्यम से व्यक्ती उस प्रकार के भाव बना सकता है और बढा सकता है जिससे वह मिथ्यात्व को समाप्त करके सम्यक्त्व प्राप्त कर सकता है । सम्यग् श्रद्धा की प्राप्ति इन ऊँचे आलंबनों से हो सकती हो तो इसमें गलत क्या है ? जो भी कोई आलंबन आत्मा के लिए उपकारी सिद्ध हो, आत्मा पर लगे हुए कर्मों का क्षय करने के लिए जो भी आलंबन—प्राप्त हो वे सब हितकारी—उपकारी ही हैं । इसी तरह आत्मा के किसी भी प्रकार के गुण को विकसाने में जो सहायक हो, गुणों की प्राप्ति कराने में जो उपयोगी हो, वे बहुत ज्यादा हितकारी हैं । उनकी आवश्यकता कदम—कदम पर ज्यादा है । अतः आराधनार्थ उनका उपयोग करना ही चाहिए । मंदिर—मूर्ति—उपाश्रयादि दर्शन—वंदन—पूजनादि आराधनार्थ अच्छे आलंबन हैं ।

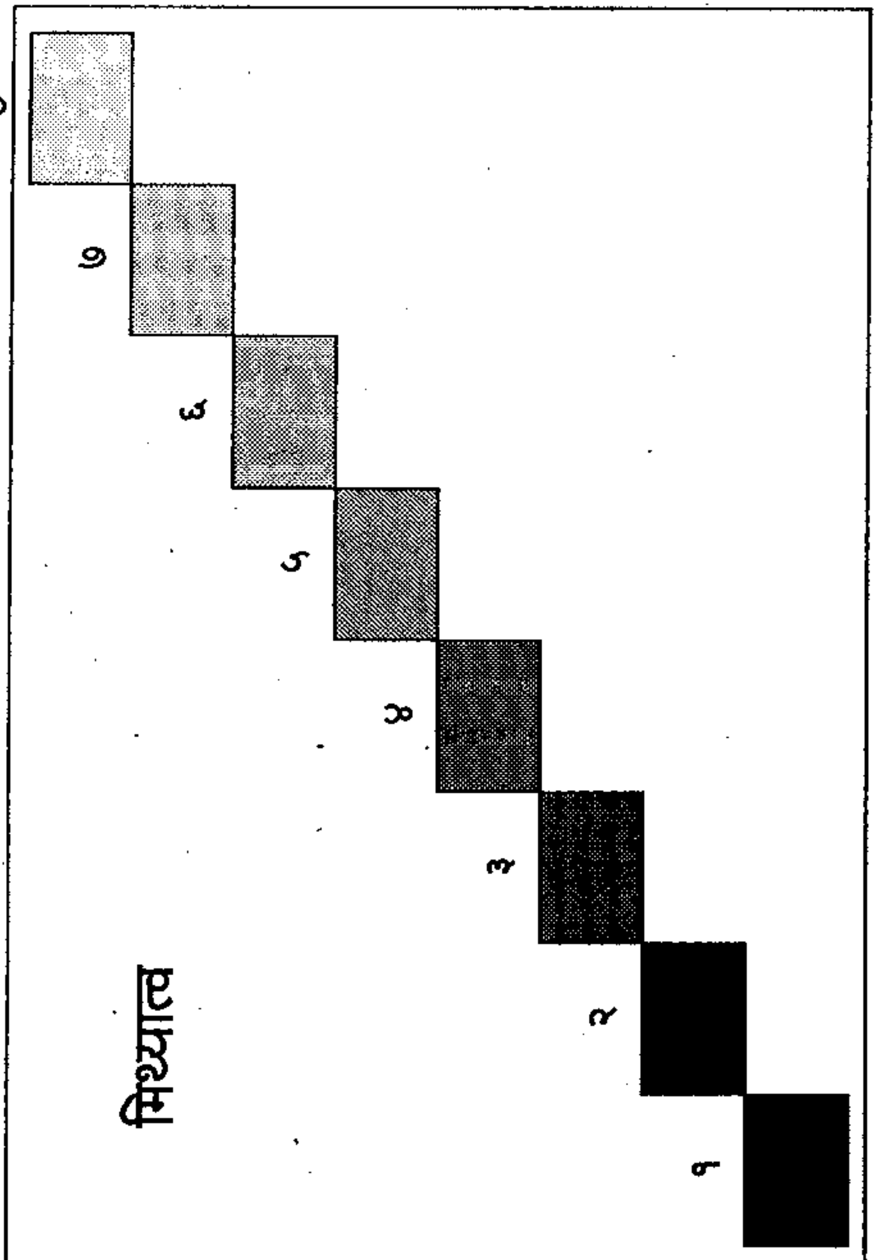
मिथ्यात्व
१
२
३
४
५
६
७
८

**तीव्रता-मन्दता के क्रम से मिथ्यात्व गुणस्थान—**

तीव्रातितीव्र, अतितीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम, तीव्र, मन्द, मन्दतर, मन्दतम शुद्ध इस तरह चढते उतरते क्रम से मिथ्यात्व की भिन्न—भिन्न कक्षाएं हैं। अत्यन्त गाढातिगाढ, अतिगाढ, गाढतर, गाढतम, गाढ इस तरह मिथ्यात्व एक से दूसरा प्रमाण में ज्यादा गाढ बनता जाता है। इसे चढाव उतार के क्रम से समझने का प्रयत्न करें तो स्पष्ट ख्याल आएगा। उदा. के लिए जैसे काले रंग में भी सेकडों प्रकार की तरतमताएं होती हैं। कौआ भी काला है, कोयल भी काली है और कबूतर भी काला है लेकिन सबके कालेपन की मात्रा में काफी अन्तर है।

उपरोक्त चित्र में देखने से ख्याल आएगा। १) सौ प्रतिशत संपूर्ण काला रंग है, २) दूसरा ८०% काला है, ३) ६० प्रतिशत, ४) ४०%, ५) २०%, ६) १०%, ७) ५%, और अंतिम ८) संपूर्ण शतप्रतिशत शुद्ध सफेद है। जिसमें कालापन अंश मात्र भी नहीं है। दूसरे दृष्टान्त से समझने का और प्रयत्न करिए... एक किलो काले रंग में एक बूंद मात्र सफेद रंग मिलाने से काले रंग की कालिमा कितनी कम हुई? फिर २ बूंद, १० बूंद, १०० बूंद, ५०० बूंद, १००० बूंद... इस तरह चढते क्रम से ज्यादा से ज्यादा सफेद रंग मिलाने से काले रंग की कालिमा अन्त में सर्वथा अंशमात्र भी नहीं बचेगी। और दूसरा शुद्ध सफेद रंग जो काले रंग के स्पर्श से सर्वथा दूर है वह कैसा रहेगा?

ठीक ऐसे ही संसार में अनन्त मिथ्यात्वी जीव हैं। एक—एक सफेद रंग की बूंद के आधार पर... जैसे कालेपन में कमी आती है और सफेदी में वृद्धि होती है। ठीक उसी तरह एक मिथ्यात्वी जो अत्यन्त गाढातिगाढ मिथ्यात्व होता है, उसी तुलना में दूसरा कुछ प्रतिशत कम मिथ्यात्वी होता है। तीसरा फिर उससे भी कम मिथ्यात्वी होता है। चौथा और कम, पाँचवा और कम, छट्ठा ५०% कम, सातवाँ ६०% कम, ८ वाँ ७०%, नौवाँ ८०% कम, दसवाँ ९०%, ११ वाँ १००% कम... इस तरह कम—कम मिथ्यात्ववाले जीव होते हैं। कम—कम मिथ्यात्व वाले जीव मन्द मिथ्यात्वी कहलाते हैं। यद्यपि मिथ्यात्व की कमी जरूर है परन्तु सर्वथा अभाव नहीं है। इसलिए सत्ता स्वीकारी गई है।

जैसे गाँव... फिर उससे बडा तालुका, फिर जिल्ला, बडा शहर, फिर राज्य, फिर देश, फिर विश्व... इस तरह बडे से बडे के क्रम में है। उल्टे क्रम से देखने पर... समूचे विश्व से छोटा एक देश.... उससे छोटा एक राज्य, उससे छोटा एक जिल्ला, उससे छोटा एक शहर, फिर तालुका, फिर गाँव, फिर उससे छोटी एक गल्ली, उसमें भी एक मोहल्ला

होता है और अन्त में एक व्यक्तिविशेष का घर होता है, घर में भी एक कमरा छोटा होता है । और कमरे में भी एक कोना छोटा होता है । इस तरह सबसे छोटा सूक्ष्मतम एक परमाणु होता है । अतः बडे से छोटे के क्रम में देखने पर... विस्तार कम—कम... हो जाता है । ठीक इसी तरह आत्मिक अध्यवसायों पर आधारित मिथ्यात्व की मात्रा भी कम... कम ... तथा उल्टे क्रम से अधिक—अधिक होती ही जाती है । ऐसा स्पष्ट दिखाई देता है ।

**आखिर मिथ्यात्व को गुणस्थान क्यों कहा ?—**

मिथ्यात्व की व्याख्या समझने के बाद मिथ्यात्वी जीव कैसा होता है यह स्पष्ट ख्याल में आ जाता है । यहाँ सामान्य मानवी के मन में एक शंका जरूर उठ सकती है कि.... जब जीवों में इतना गाढ मिथ्यात्व है, मिथ्यात्व के तीव्र उदयवाले हैं, सर्वथा श्रद्धारहित एवं विपरीतवृत्तिवाले हैं तो फिर इसे प्रथम गुणस्थान क्यों कहा ? १४ गुणस्थान बताए हैं । जहाँ और जिन स्थानों में आत्मा के गुणों का विकास होता है या आत्म गुण प्रगट होते हैं इसे तो गुणस्थान कहना उचित—योग्य है, परन्तु मिथ्यात्व तो कोई आत्म गुण नहीं है । यह तो मोहनीय कर्म की २८ प्रकृतियों में मिथ्यात्व मोहनीय नामक एक कर्म प्रकृति है । इसके उदय से मिथ्यात्व प्रगट होता है और परिणाम स्वरूप जीव वैसा मिथ्यात्वी कहलाता है । ऐसे मिथ्यात्व के उदय में जीवों की वृत्ति—मति सर्वथा विपरीत—उल्टी होती है । अतः आचार—विचार—व्यवहार—वाणी—वर्तन—मान्यता सभी उल्टे—विपरीत होते हैं । तो फिर प्रश्न यह उठता है कि मिथ्यात्व को पहला गुणस्थान क्यों कहा ?

प्रश्न के हेतु—कारणादि देखने पर बात बिल्कुल सही लगती है । लेकिन महापुरुषों के—जैन शास्त्रों के द्वारा दिये गए समाधान इससे भी ज्यादा युक्तिसंगत लगते हैं । उदाहरण के लिए घने काले घनघोर बादलों के चारों तरफ छा जाने से सूर्य मध्यान्ह में भी छिप जाता है । दृष्टिगोचर ही नहीं होता है । और सामान्य लोग "रात्रि" जैसा आरोपण करके व्यावहारिक भाषा का प्रयोग करते हुए बोलते हैं कि— अरे ! दोपहर में ही रात हो गई । लेकिन सचमुच अमावस्या की अंधेरी रात कहाँ और दोपहर को सूर्य के ढक जाने से होनेवाला अन्धेरा कहाँ ? क्या दोनों समान स्वरूप हैं ? जी नहीं । कितने भी घने गाढ काले मेघों से सूर्य आच्छादित होने के पश्चात भी सूर्यप्रकाश की आभा, प्रभा रहती है, वह दिन का ज्ञान कराती है । ठीक इसी तरह जगत के गाढ से गाढ मिथ्यात्वी जीवों में भी सामान्य सत्यांश का अंशमात्र बोध तो होता ही है । यह मनुष्य है, यह पशु है, यह जड है, यह बच्चा है, यह पत्थर है इत्यादि स्थूलरूप से सामान्य बोध जो अंश मात्र भी है इतना

भी यदि मिथ्यात्वी बोलेगा तो इस अंश को भी सत्य ही कहना पडेगा। हाँ, संपूर्ण सत्य मिथ्यात्वी न भी बोले, आत्मा—परमात्मा—मोक्षादि तत्त्वों को न भी पहचान पाए, फिर भी यह मनुष्य है इत्यादि आंशिक सत्य जरूर बोलता है। इस दृष्टि से भी पहले गुणस्थान पर उसे गिना जाना उचित है। शास्त्रकार महर्षि तो यहाँ तक कहते हैं कि—

**सव्व जीवाणमक्खरस्स अणंतमो भागो, निच्चमुघाडीओ चिट्ठई।**
**जइ पुण सोवि आवरिज्जा तेणं, जीवो अजीवत्तणं पाउणिज्जा॥**

— सभी जीव गात्र में चाहे वह छोटा हो या बडा, निगोद का सूक्ष्म जीव हो या स्थूल जीव हो, सभी जीवों में ज्ञान का अनन्तवाँ भाग भी निश्चित प्रगट होता ही है। यदि ऐसा न हो तो अर्थात् अनन्तवें भाग जितना भी ज्ञान कर्माणुओं से आवृत्त हो जाय तो तो फिर जीव—जीव न रहे अजीव बन जाय। लेकिन पारिणामिक भाव से ऐसा कभी होता ही नहीं है। जीव कभी भी जड बनता ही नहीं है और अजीव—जड कभी जीव बनता ही नहीं है। जीव का अस्तित्व उसके ज्ञानादि गुण के कारण है और अजीव—जड का अस्तित्व उसके ज्ञानादि गुण के कारण है और सजीव—जड का अस्तित्व उसके वर्ण—गंध—रस—स्पर्शादि गुणों द्वारा है। अजीव—जड में कभी ज्ञानादि गुण आते ही नहीं हैं और जीव में से ज्ञानादि का सर्वथा नाश कभी होता ही नहीं है। इसलिए जीव का जीवत्व सदा काल बना रहता है। इस प्रकार के सामान्य आंशिक बोध में आंशिक सत्य भी मिथ्यात्व की कक्षा में प्रकट है। अतः मिथ्यात्व को भी पहले गुणस्थान के रूप में गिना है। और ऐसे मिथ्यात्व से ग्रस्त जो मिथ्यात्वी जीव है वे भी मिथ्यात्व के प्रथम गुणस्थान पर ही गिने जाते हैं।

दूसरी तरफ जीव की विकास यात्रा सर्वप्रथम मिथ्यात्व के गुणस्थान से ही प्रारंभ होती है। सम्यक्त्व का गुणस्थान जरूर चौथा है परन्तु सम्यक्त्व प्राप्ति के लिए सारा पुरुषार्थ तो जीव को पहले मिथ्यात्व गुणस्थान के घर में रहकर ही करना है। यथाप्रवृत्तिकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, अपुनर्बंधकावस्था या आदि धार्मिक की अवस्था जीव को पहले मिथ्यात्व के गुणस्थान पर ही प्राप्त करना है। मार्गानुसारिता के गुणों का विकास भी जीव पहले मिथ्यात्व के गुणस्थान पर रहकर ही करता है। यथाप्रवृत्तिकरण की प्रक्रिया में उत्कृष्ट बंधस्थितियों को अकाम निर्जरा से क्षीण—क्षय करके कम करना, घटाना और अन्तःकोडाकोडी अर्थात् १ कोडाकोडी सागरोपम के अन्दर की करने का सारा काम मिथ्यात्व के घर में रहकर ही करता है। एक बार अन्तःकोडाकोडी की स्थितियाँ करके फिर जीव अपुनर्बंधक अवस्था प्राप्त कर लेता है जिससे पुनः उत्कृष्ट

बंधस्थिति बांधना ही न पडे । यह और ऐसी सारी अवस्थाएं जीव मिथ्यात्व के प्रथम गुणस्थान पर ही कर लेता है । टेस्ट मेच तो खेलेगा तब खेलेगा परन्तु उसके पहले क्रिकेट खेलने की सारी प्रक्रिया उस ग्राउण्ड पर होती है । इसी तरह जीव सम्यक्त्व की सारी तैयारी मिथ्यात्व के घर में रहकर ही करता है अतः मिथ्यात्व की प्रथम गुणस्थान के रूप में गणना की है ।

### मिथ्यात्वी कैसा होता है ?—

मिथ्यात्व के उदय से ग्रस्त मिथ्यात्वी जीव भी भिन्न—भिन्न प्रकार के होते हैं । इसमें कारणभूत मिथ्यात्व की मात्रा का कम ज्यादा होना है। जैसे दूध में शक्कर कम—ज्यादा—ज्यादातर इत्यादि प्रमाण में होने से दूध भी कम—ज्यादा—प्रमाण में मीठा होगा। ठीक उसी तरह मिथ्यात्वी जीव में मिथ्यात्व की मात्रा की तरतमता जितनी कम—ज्यादा प्रमाण में रहेगी उस हिसाब से जीव तीव्र, गाढ या मन्द मिथ्यात्वी कहलाएगा । ऐसे मिथ्यात्व के उदय से ग्रस्त मिथ्यात्वी जीव कैसे होते हैं ? उनके लक्षण कैसे होते हैं ? इत्यादि समझने के लिए लक्षणों की पहचान के कुछ प्रकार यहाँ प्रस्तुत करता हूँ, जिसे समझकर मिथ्यात्वी जीव को पहचानने में सरलता आ सके और आगे फिर उनकी संगत से बचा भी जा सकता है ।

जो परभव—पुनर्जन्म, कर्म सिद्धान्त और जीव का अनादि अस्तित्व ही नहीं मानता है । १८ प्रकार के पापों को भी मानने के लिए तैयार नहीं है । ८ प्रकार के कर्मों को भी मानता नहीं है । कर्मों के बंध—उदय—सत्तादि को मानने की कोई बात ही नहीं है । जो सुदेव—सुगुरु—सद्शास्त्र—सुधर्म को मानने के लिए तैयार ही नहीं है, उन पर श्रद्धा रखने के लिए भी तैयार नहीं है, उल्टा कुदेव—कुगुरु—रागी—द्वेषी देव—देवियों को भगवान मानता है, उन पर ही श्रद्धा रखता है और मात्र दुःखनिवारक सुखदाता संकट—विघ्ननाशक, तथा इच्छानुसार फलदाता मानकर चलता है । भगवान और गुरु को सुख के साधनरूप कारक—मानकर उनका उपयोग उसी के लिए करता है, जिनेश्वर वीतरागी को भगवान मानने के लिए तैयार नहीं है और उनकी आज्ञा रूप धर्म भी यथार्थ रूप से आचरण में उतारने के लिए तैयार नहीं है। आत्मा—परमात्मा, लोक—अलोक, स्वर्ग—नरक, पुण्य—पाप, कर्मबंध—मोक्ष, पूर्वजन्म—पुनर्जन्म, आश्रव—संवर, तथा मोक्ष—अपवर्ग आदि तत्त्वों को होते हुए भी यथार्थ स्वरूप में मानने के लिए बिल्कुल तैयार नहीं है । नास्तिक होता है मिथ्यात्वी । अतः तत्त्वभूत किसी पदार्थ का अस्तित्व होते हुए भी मानने के लिए

तैयार नहीं है । लोकोत्तर कक्षा के किसी भी पदार्थों का अस्तित्व मानने के लिए वह तैयार नहीं है । हाँ, लौकिक द्रव्य पदार्थ जो भी हो उसे ही मानकार वह जीता है । और उन्मत्त भाव से दूसरों को भी वैसा ही कहता फिरता है ।

इसी तरह जो ईश्वर सृष्टि—जगत् के कर्ता सृष्टा—संहर्ता नहीं है उन्हें भी सृष्टिकर्ता—सृष्टा—संहर्ता के रूप में मानकर पूजता है और स्व-स्वार्थ याचना करता रहता है । ऐसी मान्यतानुसार ईश्वर को प्रसन्न करने के विविध उपाय योजता रहता है । कभी बली चढाने का काम करेगा परन्तु पशु हिंसा के महापाप से भी नहीं डरेगा । कभी यज्ञ—याग—होम—हवन करेगा उसमें भी पशुबली, और नरबली आदि को धर्म मानकर चलेगा । ऐसी हिंसाकारी अनेक प्रवृत्तियाँ करते हुए भी उसे धर्म मानकर चलेगा । सर्वज्ञ वीतरागी तीर्थंकर भगवन्तों के द्वारा कथित धर्म के मर्म से—सिद्धान्त से विपरीत ही चलेगा । अनेकान्त सिद्धान्त से हटकर वह एकान्त सिद्धान्त की ही पक्कड मानेगा । सात नयों को सम्मिलित रूप से विचार न करके एक—एक नय की पक्कड और नयाभास की पक्कड में फसता जाएगा । अट्ठारह ही प्रकार के पापों को करने में मस्त रहता है । किसी भी पाप को सही अर्थ में पाप रूप ही मानने—स्वीकारने के लिए तैयार नहीं ऐसा घोर मिथ्यात्वी अपना स्वार्थ साधने के लिए सब पाप को करता रहता है और कई बार वह पाप को भी पुण्य के रूप में, धर्म के सुहावने नाम के नीचे करता है । अब आप ही सोचिए जब पाप को भी धर्म के रंग से रंगकर धर्म के कवच में रखकर कहने—कराने लग जाता है तब कैसी परस्थिति खडी होती है ? अरे ! कुत्ता जंगल में मरे शेर की खाल ओढकर अपने को शेर दिखाता हुआ चलता है ऐसा झूठा नाटक भला कहाँ तक चलेगा ? क्या कुत्ते के भोंकने पर शेर है या कुत्ता यह ख्याल नहीं आएगा ? हिंसा, झूठ, चोरी, दुराचार, व्यभिचार, परिग्रह, संग्रह, क्रोध, लोभादि कषायों तथा अभ्याख्यान, आक्षेप, आरोप परनिंदा, माया, कपट, विषय वासना, अति काम क्रीडा, महामिथ्यात्व आदि सब प्रकार के पापों को करने में पूरी तैयारी—पूरी इच्छा, पाप का भय तो सर्वथा नहीं, ऊपर से पाप से सुख मिलता है, पाप में मजा आती है इत्यादि विचारसरणी से स्वयं ग्रस्त रहता है और दूसरों को भी अपने विचार जाल में फसाने के दाव—पेच खेलता रहता है ।

### संख्या की दृष्टि से मिथ्यात्वी जीव—

उपरोक्त वर्णन यह मिथ्यात्वी जीव की अल्प पहचान है । यहाँ स्थान—संकोच के कारण स्वल्प वर्णन किया है । परन्तु मिथ्यात्व ग्रस्त मिथ्यात्वी जीव का पूर्ण स्वरूप तो

और विस्तृत विवेचन से ज्यादा स्पष्ट समझा जा सकता है । मिथ्यात्वी जीवों की प्राधान्यता संसार में सदा काल रही है । संख्या में मिथ्यात्वियों की बहुमती भी सदा काल रही है । भूतकाल में अनादि—अनन्त काल से मिथ्यात्वियों की संख्या काफी ज्यादा ही रही है और भविष्य में भी रहने ही वाली है । अरे ! यदि भगवान महावीर, पार्श्वनाथ या आदिनाथ आदि तीर्थंकर भगवन्तों की विद्यमानता के काल में भी मिथ्यात्वी जीवों की संख्या बहुमती के रूप में अनेक गुनी ज्यादा थी । उनमें से जो जो समझ सके वे सम्यक्त्वी बन सके और शेष मिथ्यात्वी ही रहे । सभी चौबीसों तीर्थंकर भगवन्तों ने अपनी देशना आदि द्वारा जगत् में से मिथ्यात्व कम करने का ही कार्य किया है । परन्तु मिथ्यात्वी जीवों की संख्या इतनी अनन्त है कि अनन्तकाल तक अनन्त गुनी मेहनत करने के बाद भी शायद अनन्तवें भाग के जीवों को ही मुश्किल से सम्यक्त्वी बना सकते हैं । इसलिए अनन्त तीर्थंकर भगवन्त भूतकाल में हो जाने के बाद आज भी अनन्त जीव मिथ्यात्व के निबिड अन्धकार से ग्रस्त हैं ।

भविष्य में कभी भी मिथ्यात्वी जीवों की संख्या घटने वाली नहीं है । ऐसा न तो कभी हुआ है और न ही कभी होगा कि . . . मिथ्यात्वी जीवों की संख्या घट गई और सम्यक्त्वी जीवों की संख्या बढ गई हो ऐसा कभी नहीं हुआ है । और भविष्य में कभी होगा भी नहीं । निगोद में अनन्तानन्त सूक्ष्म साधारण वनस्पतिकाय से सभी जीव अव्यक्त मिथ्यात्व ग्रस्त होते हैं । स्थूल बादर साधारण वनस्पतिकाय में आलु—प्याजादि के सभी अनन्त जीव अव्यक्त मिथ्यात्वी ही होते हैं । पृथ्वी—पानी—अग्नि—वायु—वनस्पति की कक्षा के एकेन्द्रिय सभी जीव मिथ्यात्वी ही होते हैं । २, ३, ४, इन्द्रियवाले सभी अनन्त जीव मिथ्यात्वी ही रहते हैं । पंचेन्द्रिय तिर्यंच—पशु—पक्षी—जलचर—मछली आदि के अनन्तजीवों में ९९% सभी मिथ्यात्वी ही होते हैं । बडी मुश्किल से शायद १% पशु—पक्षी सम्यग् दृष्टि होंगे । देवगति के चारों निकाय के देवी—देवताओं में भी बहुमती संख्या मिथ्यात्वी जीवों की ही है । नरकगति में असंख्य नारकी जीवों में भी ९९% प्रतिशत नारकी जीव मिथ्यात्वी हैं । बडी मुश्किल से १% या २% नारकी शायद सम्यक्त्वी होंगे । अब रही बात अन्तिम मनुष्य गति की । मनुष्य गति में भी जितने संख्यात मनुष्य हैं उनमें भी बहुमती प्रायः मिथ्यात्वी जीवों की ही है । हाँ, इतना जरूर है कि प्रतिशत—फीसदी की दृष्टि से संख्या में मात्रा जरूर अन्य गतियों की अपेक्षा सम्यक्त्वियों की ज्यादा होगी । परंतु ज्यादा का अर्थ यह नहीं है कि मिथ्यात्वियों की अपेक्षा ज्यादा हो । नहीं । मिथ्यात्वियों की संख्या सम्यक्त्वियों से ज्यादा भूतकाल के अनन्त वर्षों में भी नहीं हुई और भविष्य में

भी होने की संभावना कभी भी नहीं है । इस तरह से संख्या प्रमाण की दृष्टि से सभी गति और जातियों में मिथ्यात्वी जीवों की संख्या अनेकगुनी ज्यादा ही रही है । और भविष्य में भी रहनेवाली है । आप सोचिए, सदा काल शाक—सब्जी—तरकारियाँ बेचनेवालों की संख्या अनेक गुनी ज्यादा ही रही है जबकि हीरे—मोती रत्नादि बेचनेवाले जौहरियों की संख्या सदा काल कम ही रही है । ठीक ऐसी ही स्थिति मिथ्यात्व—सम्यक्त्व में है ।

**कालिक दृष्टि से ३ प्रकार—**

१) अनादि—अनन्त
२) अनादि—सान्त
३) सादि—सान्त

**१) अनादि—अनन्त—मिथ्यात्व—**

अभवी जीव अनादि काल से इस संसार में है और महामिथ्यात्व से ग्रस्त है । अभव्यत्व की कक्षा होने के कारण अनन्त काल में कभी भी मोक्ष में जानेवाले भी नहीं है । अभवी का मिथ्यात्व कभी भी बदलनेवाला, नष्ट होनेवाला भी नहीं है । इनको कदापि सम्यक्त्व होनेवाला भी नहीं है । अतः सदाकाल वह मिथ्यात्वी ही रहेगा । अतः अभव्य की अपेक्षा से अभवी का मिथ्यात्व अनादि—अनन्त कालिक है ।

**२) अनादि—सान्त—**

भव्य जीव जिसका मिथ्यात्व अनादि काल से जरूर होता है । परन्तु भव्य जीव मोक्षगामी है । और मोह सम्यग् दर्शन के सिवाय संभव ही नहीं है । अतः भव्य जीव सम्यग् दर्शन कभी न कभी अवश्य प्राप्त करता ही है । अतः भव्य आत्मा का मिथ्यात्व अनादि—सान्त की कक्षा का है । सान्त अर्थात् अन्त सहित ।

**३) सादि—सान्त—**

जो जीव एक बार सम्यक्त्व प्राप्त करके वमन कर देते हैं, खो बैठते हैं और वापिस मिथ्यात्व धारण कर लेते हैं, उन जीवों का वैसा मिथ्यात्व सादि—सान्त की कक्षा का है । सादि अर्थात् शुरुआत, आरम्भ और सान्त अर्थात् अन्त आना । ऐसे भव्य जीव जो सम्यक्त्व खोकर वापिस मिथ्यात्वी बन जाते हैं उनका मिथ्यात्व सादि—सान्त की कक्षा का है । इस तरह कालिक दृष्टि से मिथ्यात्व के तीन भेद—तीन कक्षाएँ दर्शाई गई हैं ।

**मिथ्यात्वी की संगत कभी न करें—**

जैसा संग वैसा रंग । सोबत के आधार पर असर होती है । कौए की संगत से हंस भी बिगड जाते हैं । जैसे एक जौहरी चोर—गुण्डा—डाकू—लुटेरों की संगत—मित्रता कभी भी नहीं करता है । उनके साथ बैठने उठने का व्यवहार भी नहीं रखता है । दुष्टों के साथ की संगत—मित्रता से जौहरी के लाखों—करोडों की कीमत के रत्नों के जाने का, चोरी होने का, नुकसान का पूरा भय रहता है । अतः समझदार जौहरी भूल से भी उनकी संगत—मित्रता कभी नहीं करता है । ठीक उसी तरह एक सम्यक्दृष्टि जीव को भी समझना चाहिए कि— सम्यक्त्व नामक एक कीमती रत्न उसे प्राप्त हुआ है । अनन्त भूतकाल से जो कभी प्राप्त नहीं हुआ था, ऐसा सम्यक्त्व नामक रत्न अनन्तगुनी मेहनत अपूर्वकरणादि आत्मा की लब्धियों—शक्तियों के स्फुरण से प्राप्त हुई है । अतः सामान्य बात नहीं है । ऐसे कीमती रत्न की प्राप्ति होने के बाद यदि सम्यक्त्वी जौहरी की तरह सावधान जागृत न रहे, और मिथ्यात्वी जीवों की संगत में रहे, यदि उनके साथ मित्रता आदि का व्यवहार भी करे तो मिथ्यात्वी के विचारों की असर—वैसी छाप अपने मानस पर जीव लेकर आता है ।

मिथ्यात्वीं कैसा होता है, उसके आचार और विचार कैसे होते हैं इसका स्वरूप पीछे देख आए हैं । अतः मिथ्यात्वी का बाह्याभ्यन्तर स्वरूप अच्छी तरह समझ लेना अत्यन्त आवश्यक है । नितान्त अनिवार्य है । इससे दो फायदे हैं । एक तो मैं स्वयं वैसे लक्षणवाला हूँ या नहीं ? इस तरह अपनी स्वयं की परीक्षा करके अपने आप को भी पहचान सकते हैं ? यदि मैं खुद ही मिथ्यात्वी हूँ तो मुझे अब सम्यक्त्व प्राप्त करने के लिए आसमान—जमीन एक करनी चाहिए । किसी भी कीमत पर सम्यक्त्व प्राप्त करना ही चाहिए । हर हालत में सम्यक्त्व रत्न प्राप्त करके ही शांति की श्वास लेनी चाहिए । इसके लिए यथाप्रकृतिकरण अपूर्वकरण आदि करण अर्थात् आत्मशक्तिविशेष का स्वरूप समझकर शीघ्र करने के लिए भगीरथ पुरुषार्थ करना ही चाहिए ।

दूसरी तरफ दूसरा फायदा यह है कि . . . मिथ्यात्व का स्वरूप—लक्षणादि देखने पहचानने से आत्मविश्वास दृढ हो जाता है कि मैं वैसा नहीं हूँ । मैं मिथ्यात्व की विचारधारावाला नहीं हूँ । वैसे आचार, वैसी वाणी, वैसे व्यवहारवाला भी नहीं हूँ । तो मुझे आत्मविश्वास संतोष का अनुभव होता है । मन में मानसिक शान्ति होती है । मेरे पास सम्यग् दर्शन रूप कीमती रत्न है । मैं रत्न धारक जौहरी हूँ । ऐसी समझ बढती है और इससे मुझे मेरी जिम्मेदारी—का ख्याल आता है । ऐसे कीमती रत्न के प्रति मुझे कितना सजग प्रहरी—कितना वफादार रहना चाहिए ? इसका स्पष्ट ख्याल आता है ।

सामनेवाली व्यक्ती सम्यक्त्वी है या मिथ्यात्वी है ? इसका अच्छी तरह ख्याल आता है । व्यक्ति को पहचानने की परखबुद्धि प्राप्त होती है । यदि सामनेवाला मिथ्यात्वी है तो उससे बचकर दूर रहना अच्छा है । बहुत फायदे की बात है । मिथ्यात्वी की संगत में बैठने से, उसके विचारों को सुनने से, उसकी कुतर्कों की जाल में फसने से हमारे विचार मलिन हो जाएंगे । और जैसे एक सडा हुआ आम दूसरे आम को भी बिगाडता है वैसे ही एक मलिन खराब विचार--मिथ्यात्व का गंदा हल्का विचार सम्यग् श्रद्धा के दूसरे अनेक विचारों को मलिन करने लगता है । बिगाड देता है । परिणामस्वरूप श्रद्धा के शिखर पर से सम्यक्त्वी का पतन होता है । अतः ऐसे घातक विचारवाले मिथ्यामति से लाखों कोस दूर ही रहना श्रेयस्कर है ।

**संभाव्य ५ अतिचार—**

श्रावक जीवन के व्रतों का स्वरूप वर्णन करने वाला वंदित्तु सूत्र है । जिसमें सम्यक्त्व के विषय में ५ अतिचार बताए हैं । वे इस प्रकार हैं---

**संका--कंख--विगिच्छा, पसंस तह संथवो कुलिंगीसु ।**
**सम्मत्तस्सइआरे, पडिक्कमे देवसिअं सव्वं** ॥ ६ ॥

१) शंका, २) आकांक्षा, ३) विचिकित्सा, ४) अन्यदृष्टि प्रशंसा और ५) संस्तव कुलिंगियों का, इस प्रकार सम्यग् दर्शन के ये ५ अतिचार दोष हैं ।

**१) शंका**— जिनोक्त तत्त्व, सर्वज्ञ वचन, आगम वचन पर संदेह--शंका होनी ।

**२) कांक्षा**– इहलोक--परलोक संबंधी भोगों—उपभोगों की प्राप्ति की इच्छा रखनी, ऐसी इच्छापूर्वक ही धर्म करना यह कांक्षा दोष है ।

**३) विचिकित्सा**– यह मत भी ठीक है और वह मत भी ठीक है, सही है ऐसी अस्थिर विचारधारा, जिसमें सच्चे और झूठे दोनों पंथों—मतों की विचारधारा को समान माननेरूप मिथ्यात्व दोष लगता है । हीरे और नकली कांच के टुकडे दोनों को समान मानने की वृत्ति यह अतिचार है ।

**४) अन्यदृष्टि प्रशंसा**– अभिग्रहीत मिथ्यात्व से वासित क्रियावादी प्रमुख अन्य की प्रशंसा करनी इसे अन्यदृष्टि प्रशंसा नामक अतिचार कहा है । पाखंडियों के गुणों की वृद्धि आदि प्रकर्ष का मन से भी प्रशंसा भाव यह दोष है ।

५) **कुलिंगी संस्तव -** अन्य मिथ्यामति—कुलिंगी आदि के सद्भूत या असद्भूत गुणों आदि का वचन द्वारा कीर्तन करना भी अतिचार है । दोष है ।

सम्यक्त्व रत्न जिसने पाया है उसके पास खजाना है । अतः उसकी जिम्मेदारी है अपने खजाने की रक्षा करने की । मिथ्यात्वी — जिसने कुछ भी पाया ही नहीं है तो फिर उसे किसकी रक्षा करनी है ? उसका कोई नुकसान नहीं है । जो कुछ नुकसान है वह सम्यग्दर्शन पानेवाले को है । इसीलिए सम्यग् श्रद्धावंत को मिथ्यात्व का रूप-स्वरूप अच्छी तरह पहचान लेना चाहिए और तदनुरूप जीवन बनाना चाहिए । मिथ्यात्व क्या है ? कैसा है ? इससे फायदा—नुकसान आदि क्या होता है इत्यादि समझना ही चाहिए । यह समझ में आ सके इसके लिए यहाँ मिथ्यात्व का विशद विवेचन किया है । आत्मा के जो शत्रु हैं उनको भी अच्छी तरह पहचानेंगे तो ही छोड सकेंगे । उनसे छूटने-बचने का उपाय कर सकेंगे । अन्यथा संभव नहीं है । कई बार भ्रांति—भ्रमणा से दोष —विपरीत भाव भी अच्छे लगते हैं । किंपागफलवत् मीठे लगते हैं । अतः अनर्थकारी दोषों—आत्मशत्रुरूप मिथ्यात्वादि को अच्छी तरह पहचान—समझकर उसे छोडने का, उससे बचने का प्रबल पुरुषार्थ करके आगे बढने रूप विकास साध सकें यही सर्वश्रेष्ठ उपाय है—सर्वोत्तम मार्ग है । इस मार्ग को सभी प्राप्त करें और मिथ्यात्व का सर्वथा क्षय करके सम्यक्त्व प्राप्त करने में सफलता प्राप्त करें ऐसी शुभ अभिलाषा ।

॥ इति शम् ॥

## पं. अरुणविजय गणिवर्य महाराज

(राष्ट्रभाषा रत्न
साहित्य रत्न
न्यायदर्शनाचार्य)

आप१८ वर्ष की आयु में ही संसार का त्याग करके महाभिनिष्क्रमण के पंथ पर प्रयाण कर चारित्रधर्म आर्हती दीक्षा स्वीकार करके अणगार जैन साधु बने।

आपने वर्धा से राष्ट्रभाषा रत्न तथा प्रयाग से साहित्य रत्न की उपाधियाँ प्राप्त की। भारतीय विद्या भवन, बंबई से संस्कृत भाषा के माध्यम से दर्शनक्षेत्र में न्याय दर्शनाचार्य की उपाधि प्राप्त की। विविध भाषाओं में लेखन एवं भाषण का उभय प्रभुत्व आपने प्राप्त किया है।

स्व-पर शास्त्र में पारंगत पूज्यश्री ने महाराष्ट्र, गुजरात, राजस्थान, मध्य प्रदेश, कर्नाटक, तमिलनाडु की धरती पर विचरण करके अनेक यशस्वी चातुर्मास किए हैं। शिक्षण शिविरों के माध्यम से युवा पीढी को धर्म सम्मुख कराने में आप विशेष रुचि रखते हैं। सचित्र प्रवचन आपकी विशेषता है।

आप जैन शासन के माने हुए विद्वान एवं कुशल व्याख्याता तथा सिद्धहस्त लेखक भी हैं। आपने अनेक संस्कृत विद्वत् परिषदों का आयोजन किया है।

आपके मार्गदर्शन एवं प्रेरणा से श्री हथूण्डी राता महावीर स्वामी तीर्थ का जीर्णोद्धार एवं सर्वांगिण विकास हो रहा है। वहीं पर श्री महावीर वाणी समवसरण मंदिर व

शास्त्रविशारद ... श्वरजी म. सा. के
पट्टप्रभावक प. ... श्वरजी म. सा. के
पट्टधर पू. आच ... जी म. सा. के गुरुबंधु पू.
आचार्यदेव श्रीमद् ... सा. के आप विद्वान शिष्य
रत्न हैं।